

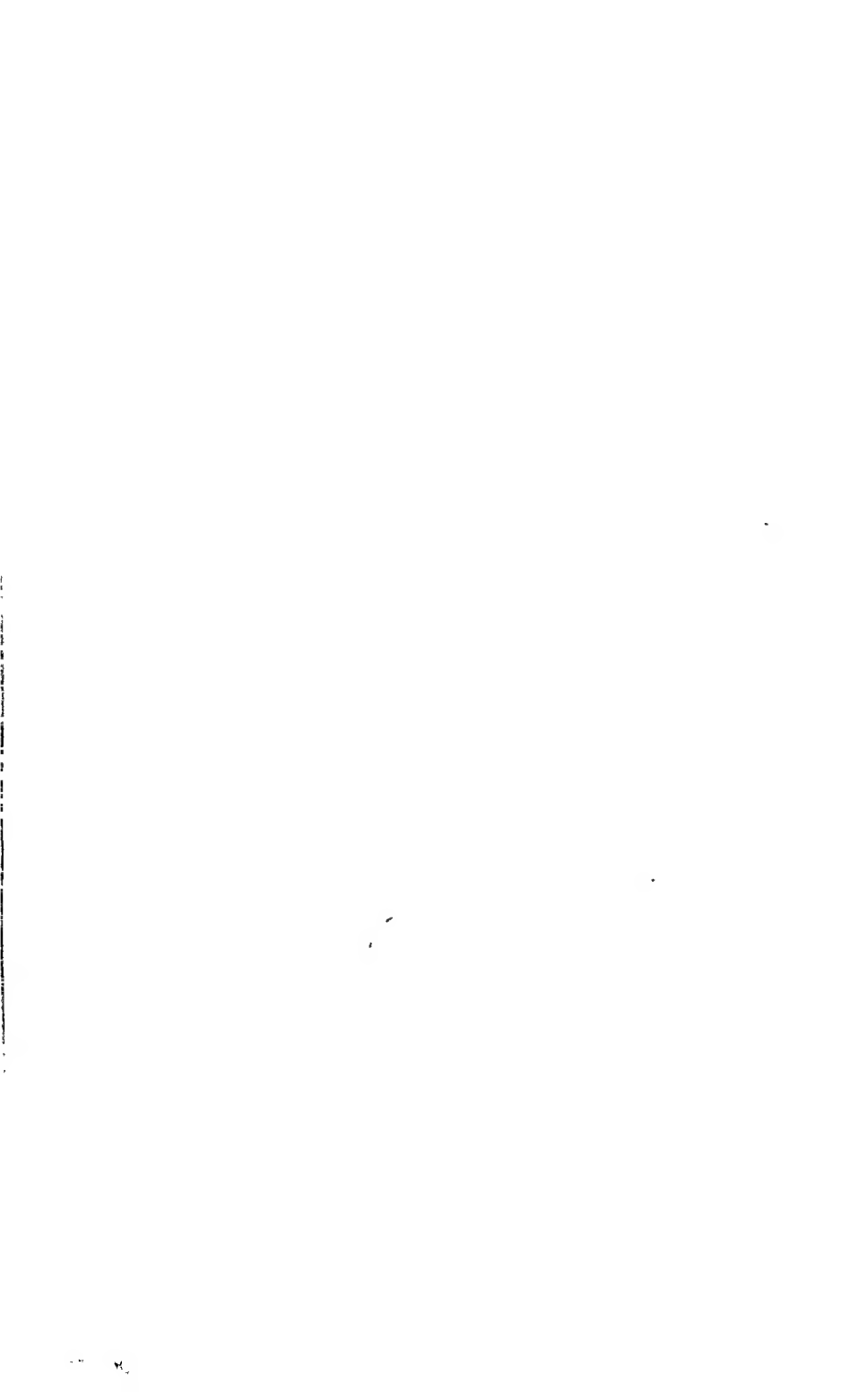
GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

CLASS _____

CALL No

Sa7S / Sāx-Sub

D.G.A. 79.



The Adyar Library Series—No. 86

GENERAL EDITOR :

ALAIN DANIELOU

Director, Adyar Library

SAṄGĪTARATNĀKARA OF SĀRṆGADEVA

WITH TWO COMMENTARIES

Vol. IV—Adhyāya 7

SANGĪTARATNĀKARA

OF

S'ĀRṆGADEVA - Vol. 4

WITH

KALĀNIDHI OF KALLINĀTHA AND
SUDHĀKARA OF SIMHABHŪPĀLA

3596

EDITED BY

PANDIT S. SUBRAHMANYA SASTRI

Vol. IV—Adhyāya 7

THE ADYAR LIBRARY

1953

CENTRAL THEOSOPHICAL

LIBRARY

Acc. No. 35969

Date 1-3-1962

Call No. Sa 78

Sar / Sub

Printed by D. V. Syamala Rau, at the Vasanta Press,
The Theosophical Society, Adyar, Madras 20

FOREWORD

THE present fourth volume completes the edition of the "Saṅgīta Ratnākara" of Sārṅgadeva with its two main commentaries, the "Sudhākara" of Simhabhūpāla and the "Kalānidhi" of Kallinātha. This last and important volume contains only one chapter, the seventh, which deals exclusively with the technique and the art of dancing. This is the most extensive available work on dancing written after the "Abhinava Bhārati," the great commentary of Abhinava Gupta on Bharata's "Nāṭya Sāstra" which dates from the end of the 10th century.

Sārṅgadeva lived about the middle of the 13th century. Simhabhūpāla wrote the first commentary very shortly afterwards. Kallinātha wrote his "Kalānidhi" at the end of the 15th century. We have therefore here a survey of the art of dancing and the literature on the dance for more than two centuries in a period where Hindu civilization was still extremely brilliant.

The plan of the present chapter is not essentially different from that of the well known "Abhinaya Darpaṇa" of Nandikesvara. It is however more extensive and contains much additional information. On the

other hand the treatment of most of the subjects is more brief than in the "Nāṭya Sāstra."

About half of the introductory verses of this chapter (up to verse 42) are common with the introductory chapter of Nandikes'vara's "Abhinaya Darpaṇa." The "Abhinaya Darpaṇa" itself mentions that these verses are the teachings of older authorities.

एतानि पूर्वशास्त्रानुसारेणोक्तानि वै मया । (Abh. Darp. 47.)

Since there seems no reason to doubt the antiquity of the "Abhinaya Darpaṇa", it appears that Śārṅga-deva borrowed them from this authoritative work unless he had access to the sources of Nandikes'vara himself.

The whole chapter also draws most of its material from the Nāṭya Sāstra and its commentaries. A number of passages are quoted almost verbatim, such as verses 78 to 89 on the basic positions of the hands corresponding to Nāṭya Sāstra 9, 4-17. Even where Śārṅgadeva appears to have reshaped the definitions, he did not introduce any new element and the substance of the whole chapter is strictly traditional.

The verses of the Saṅgīta Ratnākara were in turn reproduced in most of the later works. I have noted important borrowings in the "Saṅgīta Sāroddhāra," the "Rasa Kaumudī," the "Abhinava Bharata Sāra Saṅgraha," etc.

The editing of the text of this volume, like that of the previous ones, is the remarkable work of a renowned scholar, Paṇḍita Subrahmaṇya Śāstri, who had just completed it before his death. Mr. Ramachandra Sarma,

who is on the staff of the library, and had worked on this text under the direction of Paṇḍita Subrahmanya S'āstri, has seen the manuscript through the press. Dr. G. Srinivasa Murti, the Adviser and former Director of the Library, has also helped the Editors with valuable suggestions. On behalf of the Adyar Library I express here our indebtedness to Mr. Ramachandra Sarma, Dr. G. Srinivasa Murti, and the Vasanta Press.

December, 1953

ALAIN DANIELOU

व्याख्याद्वयोपेतनर्तनाध्यायस्य विषयानुक्रमः

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| ग्रन्थकृन्मङ्गलाचरणम् | १, २ | अवधूतम् | १९ |
| नाटयोत्पत्तिः, तस्य विभागश्च | ३, ४ | कम्पितम् | २० |
| नाट्यस्य मोक्षसाधनत्वोपपादनम् | ५, ६ | आकम्पितम् | ,, |
| नाट्यादीनां स्वरूपलक्षणम् | ७, ८ | उद्धाहितम् | २१ |
| अभिनयस्य भेदाः, तस्येति- | | परिवाहितम् | ,, |
| कर्तव्यता | ९, १० | अञ्चितम् | ,, |
| नृत्यलक्षणम् | ११ | निहञ्चितम् | २२ |
| नृत्तलक्षणम् | १२ | परावृत्तम् | २३ |
| नृत्यनृत्तयोरवान्तरभेदः | १३ | आक्षिप्तम् | ,, |
| तत्र मतभेदप्रदर्शनम् | १४ | अधोमुखम् | ,, |
| आङ्गिकाभिनयस्य भेदाः | १५ | लोलितम् | ,, |
| नृत्ताध्यायगतपदार्थसंग्रहः | १६, १७ | तिर्यङ्मतोन्नतम् | २४ |
| | | स्कन्धानतम् | ,, |
| अङ्गभेदाः (६) | १७-१६ | आरात्रिकम् | ,, |
| (१) तत्र शिरोभेदाः (१४) | १७-२५ | समम् | २५ |
| | | पार्श्वाभिमुखम् | ,, |
| धुतम् | १८ | | |
| विधुतम् | १९ | (२) हस्तभेदाः (६७) | २५-२८ |
| आधूतम् | ,, | तत्र शास्त्रसंमतप्रदर्शनम् | २९-३२ |

| हस्तप्रकरणम् | पुटसंख्या | संयुतहस्ताः | (१३) | पुटसंख्या |
|-------------------|-----------|------------------|--------|-----------|
| असंयुतहस्ताः (२४) | ३२-९१ | अञ्जलिः | ५१, ५२ | |
| पताकः | ३३ | कपोतः | ५२ | |
| त्रिपताकः | ३४, ३५ | कर्कटः | ५२, ५३ | |
| अर्धचन्द्रः | ३६ | स्वस्तिकः | ५३, ५४ | |
| कर्तरीमुखः | ३६, ३७ | डोलः | ५४ | |
| अरालः | ३७, ३८ | पुष्पपुटः | ,, | |
| मुष्टिः | ३९ | उत्सङ्गः | ५५ | |
| शिखरः | ,, | खटकावर्धमानकः | ,, | |
| कपित्थः | ४० | गजदन्तः | ५६ | |
| खटकामुखः | ४०, ४१ | अवहित्थः | ५७ | |
| शुकतुण्डः | ४१ | निषधः | ५७, ५८ | |
| काङ्गूलः | ४२ | मकरः | ५८ | |
| पद्मकोशः | ,, | वर्धमानः | ५८, ५९ | |
| अलपल्लवः | ४३ | नृत्तहस्ताः (३०) | ५९-८० | |
| सूचीमुखः | ४३, ४४ | चतुरश्रौ | ५९ | |
| सर्पशिराः | ४४ | उद्भृत्तौ | ६० | |
| चतुरः | ४५ | तलमुखौ | ,, | |
| मृगशीर्षः | ४६ | स्वस्तिकौ | ६१ | |
| हंसास्यः | ,, | विप्रकीर्णौ | ,, | |
| हंसपक्षः | ४७ | अरालखटकामुखौ | ६१, ६२ | |
| भ्रमरः | ४८ | आविद्धवक्त्रौ | ६३ | |
| मुकुलः | ४९ | सूच्यास्यौ | ६४ | |
| ऊर्णनाभः | ४९, ५० | रेचितौ | ६५ | |
| संदंशः | ५० | अर्धरेचितौ | ,, | |
| ताम्रचूडः | ५१ | | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| नितम्बौ | ६६ | अप्रसिद्धहस्तपरिज्ञाने लोक- | |
| पल्लवौ | ६६, ६७ | प्रमाणकथनम् | ८३ |
| केशवन्धौ | ,, | अभिनये हस्तानामेव प्राधा- | |
| उत्तानवञ्चितौ | ६८ | न्यप्रदर्शनम् | ८३, ८४ |
| लताकरौ | ,, | अभिनयहस्तानामभिनेयार्थाधीन- | |
| करिहस्तः | ६९, ७० | स्थाननियमकथनम् | ८४ |
| पक्षवञ्चितौ | ७१ | हस्तप्रचारस्य विषयभेदेन | |
| पक्षप्रद्योतकौ | ७१, ७२ | व्यवस्थानिरूपणम् | ८९, ८६ |
| दण्डपक्षौ | ७२ | (३) वक्षोभेदाः (९) | ८७-८९ |
| गरुडपक्षकौ | ७३ | समम् | ८७ |
| ऊर्ध्वमण्डलिनौ | ,, | आशुग्रम् | ८८ |
| पार्श्वमण्डलिनौ | ७४ | निर्भुग्रम् | ,, |
| उरोमण्डलिनौ | ७५ | प्रकम्पितम् | ,, |
| उरःपार्श्वमण्डलिनौ | ७६ | उद्वाहितम् | ८९ |
| मुष्टिकस्वस्तिकौ | ७६, ७७ | (४) पार्श्वभेदाः (९) | ८९, ९० |
| नलिनीपद्मकोशौ | ७७, ७८ | विवर्तितम् | ८९ |
| अलपल्लवौ | ,, | अपस्तम् | ,, |
| उल्बणौ | ७९ | प्रसारितम् | ९० |
| ललितौ | ,, | नतम् | ,, |
| वलितौ | ७९, ८० | उन्नतम् | ,, |
| मतान्तरोक्ता हस्ताः (३) | ८०, ८१ | (५) कटीभेदाः (९) | ९०, ९१ |
| निकुञ्चकः (अ) | ८० | कम्पिता | ९०, ९१ |
| द्विशिखरः (सं) | ८०, ८१ | उद्वाहिता | ,, |
| वरदाभयौ (नृ) | ८१ | | |
| हस्तलक्षणोपसंहारः | ८२-८६ | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------|-----------|---------------------|-----------|
| छिन्ना | ९१ | (१) ग्रीवामेदाः (९) | ९६-९९ |
| विवृत्ता | ,, | समा | ९६ |
| रेचिता | ,, | विवृत्ता | ९७ |
| (६) चरणमेदाः (१३) | ९२-९५ | वलिता | ,, |
| समः | ९२ | रेचिता | ,, |
| अश्रितः | ,, | कुश्रिता | ९८ |
| कुश्रितः | ९३ | अश्रिता | ,, |
| सूची | ,, | त्र्यश्रा | ,, |
| अग्रतलसंचरः | ९३ | नता | ,, |
| उद्धटितः | ९४ | उन्नता | ९९ |
| ताडितः | ,, | (२) बाहुप्रकरणम् | ९९-१२५ |
| घटितोत्सेधः | ,, | बाहुभेदाः (१६) | ९९-१०४ |
| घटितः | ,, | ऊर्ध्वस्थः | ९९ |
| मर्दितः | ,, | अधोमुखः | १०० |
| अग्रगः | ९५ | तिर्यग्गतः | ,, |
| पार्श्वगः | ,, | अपविद्धः | ,, |
| पार्श्वगः | ९५ | प्रसारितः | १०१ |
| स्कन्धभेदाः (५) | ९५, ९६ | अश्रितः | ,, |
| एकोच्चौ | ९५ | मण्डलगतिः | ,, |
| कर्णलग्नौ | ,, | स्वस्तिकः | ,, |
| उच्छिन्नौ | ,, | उद्धेष्टितः | १०२ |
| स्रस्तौ | ,, | पृष्ठानुसारी | ,, |
| लोलितौ | ,, | आविद्धः | १०३ |
| (२) प्रत्यङ्गभेदाः (६) | ९६-१३४ | कुश्रितः | ,, |
| | | नम्रः | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|----------------------|-----------|
| सरलः | १०४ | ललितवर्तनिका | १०९ |
| आन्दोलितः | ,, | वलितवर्तना | ,, |
| उत्सारितः | ,, | गात्रवर्तनिका | ११० |
| | | प्रतिवर्तनिका | ,, |
| वर्तनाः | १०५-१२५ | | |
| वर्तनाभेदाः | १०५ | चालकानां लक्षणकथनम् | ११०-१२४ |
| पताकवर्तना | १०६ | चालकभेदाः (५०) | १११, ११२ |
| अरालवर्तना | ,, | विश्लिष्टवर्तितम् | ११३ |
| शुकतुण्डवर्तना | ,, | वेपथुव्यञ्जकम् | ,, |
| अल्पपद्मवर्तना | ,, | अपविद्धम् | ,, |
| खटकामुखवर्तना | ,, | लहरीचक्रसुन्दरम् | ,, |
| मकरवर्तना | ,, | वर्तनास्वस्तिकम् | ,, |
| ऊर्ध्ववर्तना | ,, | संमुखीनरथाङ्गम् | ११४ |
| आविद्धवर्तना | १०७ | पुरोदण्डभ्रमम् | ,, |
| रेचितवर्तना | ,, | त्रिभङ्गीवर्णसरकम् | ,, |
| नितम्बवर्तना | ,, | डोलम् | ११४ |
| केशबन्धवर्तना | ,, | नीराजितम् | ,, |
| फालवर्तनिका (चक्रवर्तनिका) | ,, | स्वस्तिकाश्लेषचालनम् | ११५ |
| कक्षवर्तनिका | १०८ | मिथःसमीक्ष्यबाह्यम् | ,, |
| उरोवर्तनिका | ,, | वामदक्षविलासकम् | ,, |
| खड्गवर्तनिका | ,, | मौलिरेचितकम् | ,, |
| पद्मवर्तना | ,, | वर्तनाभरणम् | ,, |
| दण्डवर्तना | ,, | आदिकूर्मावतारम् | ,, |
| पल्लववर्तना | १०९ | अंसवर्तनकम् | ११६ |
| अर्धमण्डलवर्तना | ,, | मणिबन्धासिकर्षम् | ,, |
| घातवर्तनिका (अलपल्लव०) | ,, | कलविङ्कविनोदम् | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| चतुष्पत्राब्जम् | ११६, ११७ | पर्यायगजदन्तम् | १२२ |
| मण्डलाग्रम् | ,, | रथनेमि | १२३ |
| वालव्यजनचालनम् | ,, | स्वस्तिकत्रिकोणम् | ,, |
| वीरुधबन्धनम् | ,, | लतावेष्टितकम् | ,, |
| विशृङ्गाटकबन्धनम् | ,, | नवरत्नमुखम् | ,, |
| कुण्डलिचारकम् | ,, | चालकलक्षणोपसंहारः | १२३, १२४ |
| मुरजाडम्बरम् | ११८ | चालकानां प्रयोगकथनम् | |
| द्वारदामविलासकम् | ,, | | १२४, १२५ |
| धनुराकर्षणम् | ,, | | |
| साधारणम् | ,, | (३) पृष्ठोदरयोर्लक्षणकथनम् | १२६ |
| समप्रकोष्ठवलनम् | ,, | (४) जठरभेदाः (४) | ,, |
| देवोपहारकम् | ११८, ११९ | क्षामम् | ,, |
| तिर्यग्गतस्वस्तिकाग्रम् | ,, | खल्लुम् | ,, |
| मणिबन्धगातागतम् | ,, | पूर्णम् | ,, |
| अलातचक्रकम् | ,, | रिक्तपूर्णम् | ,, |
| व्यस्तोत्प्लुतनिवर्तकम् | ,, | | |
| उरभ्रसंबाधम् | १२० | (५) ऊरुप्रकरणम् | १२७, १२८ |
| तिर्यक्ताण्डवचालनम् | ,, | ऊरुभेदाः (५) | १२७ |
| धनुर्वल्लीविनामकम् | ,, | कम्पितः | ,, |
| ताक्ष्यपक्षविलासकम् | ,, | वलितः | ,, |
| कररेचकरत्नम् | १२०, १२१ | स्तब्धः | १२८ |
| शरसंधानम् | १२१ | उद्धर्तितः | ,, |
| मण्डलाभरणम् | १२२ | निवर्तितः | ,, |
| अंसपर्यायनिर्गतम् | ,, | | |
| अष्टबन्धविहारम् | ,, | (६) जङ्घाप्रकरणम् | १२८-१३१ |
| कर्णयुग्मप्रकीर्णकम् | ,, | जङ्घाभेदाः (१०) | १२८ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|----------------------|-----------|
| आवर्तिता | १२९ | विवृतम् | १३४ |
| नता | ,, | समम् | ,, |
| क्षिप्ता | ,, | | |
| उद्वाहिता | ,, | उपाङ्गभेदाः (१२) | १३५-१७७ |
| परिवर्तिता | १३० | (१) दृष्टिप्रकरणम् | १३५-१५० |
| निःसृता | ,, | दृष्टिभेदाः (३६) | १३५, १३६ |
| परावृत्ता | ,, | तत्र रसदृष्टयः (८) | १३६-१३९ |
| तिरश्चीना | ,, | कान्तादृष्टिः | १३६ |
| बहिर्गता | १३१ | हास्या | ,, |
| कम्पिता | ,, | करुणा | १३७ |
| (७) मणिबन्धप्रकरणम् १३१, १३२ | | रौद्री | ,, |
| तस्य भेदाः (५) | १३१ | वीरा | १३७, १३८ |
| निकुञ्चः | ,, | भयानका | ,, |
| आकुञ्चितः | १३२ | बीभत्सा | १३९ |
| चलः | ,, | अद्भुता | ,, |
| भ्रामितः | ,, | | |
| समः | ,, | स्थायिभावदृष्टयः (८) | १३९-१४२ |
| (८) जानुप्रकरणम् १३३, १३४ | | द्विधा | १३९, १४० |
| जानुभेदाः (७) | | दृष्टा | ,, |
| संहतम् | १३३ | दीना | ,, |
| कुञ्चितम् | ,, | क्रुद्धा | १४१ |
| अर्धकुञ्चितम् | ,, | दृप्ता | ,, |
| नतम् | ,, | भयान्विता | ,, |
| उन्नतम् | १३४ | जुगुप्सिता | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| विस्मिता | १४२ | भ्रूभेदाः (७) | १९० |
| | | सहजा | " |
| व्यभिचारिदृष्टयः (२०) | १४२-१९० | पतिता | १९१ |
| शून्या | १४२ | उत्क्षिप्ता | " |
| मलिना | १४३ | रेचिता | " |
| श्रान्ता | " | निकुञ्चिता | १९२ |
| लज्जिता | " | भ्रुकुटी | " |
| शङ्किता | १४४ | चतुरा | १९३ |
| मुकुला | " | (३) पुटप्रकरणम् | १९३-१९४ |
| अर्धमुकुला | " | | |
| ग्लाना | १४५ | पुटभेदाः (९) | १९३ |
| जिह्वा | " | प्रसृतौ | " |
| कुञ्चितः | १४६ | कुञ्चितौ | " |
| वितर्किता | " | उन्मेषितनिमेषितविवर्तिताः | १९४ |
| अभितप्ता | " | स्फुरितौ | " |
| विषण्णा | १४७ | पिहितौ | " |
| ललिता | " | विचालितौ | " |
| आकेकरा | " | समौ | " |
| विकोशा | १४८ | (४) तारकाप्रकरणम् | १५५-१५८ |
| विभ्रान्ता | " | | |
| विप्लुता | " | तस्याः कर्माणि | १५५ |
| त्रस्ता | १४९ | तस्या भेदाः (२) | " |
| मदिरा | " | स्वनिष्ठानि ताराकर्माणि (९) | १५५ |
| दृष्टिप्रकरणोपसंहारः | १५० | भ्रमणम् | " |
| (२) भ्रूप्रकरणम् | १५०-१५२ | वलनम् | " |
| | | पातः | " |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| चलनम् | १५५ | (६) नासाप्रकरणम् | १६०, १६१ |
| प्रवेशनम् | ,, | नासाभेदाः (६) | १६० |
| विवर्तनम् | ,, | स्वाभाविकी | ,, |
| समुद्बृत्तम् | ,, | नता | १६० |
| निष्क्रामः | ,, | मन्दा | १६१ |
| प्राकृतम् | ,, | विकृष्टा | ,, |
| विषयनिष्ठानि तारा- | | विकूणिता | ,, |
| कर्माणि (८) | १५६ | सोच्छ्वासा | ,, |
| समम् | १५७ | (७) अनिलप्रकरणम् | १६२-१६६ |
| साचि | ,, | उच्छ्वासनिःश्वासभेदाः (१९) | १६२ |
| अनुवृत्तम् | ,, | तत्र मतान्तरप्रदर्शनम् | १६२ |
| अवलोकितम् | ,, | अनिलभेदाः (१०) | ,, |
| विलोकितम् | १५८ | समः | ,, |
| उल्लोकितम् | ,, | भ्रान्तः | ,, |
| आलोकितम् | ,, | विलीनः | ,, |
| प्रविलोकितम् | ,, | आन्दोलितः | ,, |
| (५) कपोलप्रकरणम् | १५९ | कम्पितः | ,, |
| कपोलभेदाः (६) | | स्तम्भितः | ,, |
| कुञ्चितौ | १५९ | उच्छ्वासः | ,, |
| कम्पितौ | ,, | निःश्वासः | ,, |
| पूर्णौ | ,, | सूत्कृतः | ,, |
| क्षामौ | ,, | सीत्कृतः | ,, |
| फुल्लौ | ,, | स्वमतेन भेदाः (९) | ,, |
| समौ | ,, | स्वस्थौ | ,, |
| | | चलौ | १६३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| प्रवृद्धः | १६३ | खण्डनम् | १७० |
| निरस्तः | ,, | छिन्नम् | ,, |
| उल्लासितः | १६४ | चुक्कितम् | ,, |
| विमुक्तः | ,, | ग्रहणम् | १७१ |
| विस्मितः | ,, | समम् | ,, |
| स्वलितः | ,, | दष्टम् | ,, |
| प्रसृतः | १६५ | निष्कर्षणम् | ,, |
| मतान्तरोक्तानां दशविधश्चा- | | | |
| सानां लक्षणकथनम् १६५, १६९ | | (१०) जिह्वाप्रकरणम् १७२, १७३ | |
| (८) अधरप्रकरणम् १६६-१६९ | | जिह्वाभेदाः (६) | १७२ |
| अधरभेदाः (१०) | १६६ | ऋज्वी | ,, |
| विवर्तितः | ,, | सृक्कानुगा | ,, |
| कम्पितः | १६७ | वक्रा | ,, |
| विसृष्टः | ,, | उन्नता | १७३ |
| विनिगूहितः | ,, | लोला | ,, |
| संदष्टकः | १६८ | लेहिनी | ,, |
| समुद्रः | ,, | (११) चिबुकप्रकरणम् १७३-१७५ | |
| उद्वृत्तः | ,, | चिबुकभेदाः (८) | १७३, १७४ |
| विकासी | ,, | व्यादीर्णम् | ,, |
| आयतः | १६९ | श्वसितम् | ,, |
| रेचितः | ,, | वक्रम् | ,, |
| (९) दन्तकर्मप्रकरणम् १६९-१७१ | | संहतम् | ,, |
| दन्तकर्मभेदानि (८) | १६९ | चलसंहतम् | १७५ |
| कुट्टनम् | ,, | स्फुरितम् | ,, |
| | | चलितम् | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|-------------------------|-----------|
| लोलम् | १७५ | वियुक्तौ | १७८ |
| (१२) वदनप्रकरणम् | १७६, १७७ | तत्र कराङ्गुलिभेदाः (७) | |
| वदनभेदाः (५) | १७६ | संयुताः | ॥ |
| व्याभुग्नम् | ॥ | वियुताः | ॥ |
| भुग्नम् | ॥ | वक्राः | ॥ |
| उद्वाहि | ॥ | वलिताः | ॥ |
| विधुतम् | १७७ | पतिताः | ॥ |
| विवृतम् | ॥ | कुञ्चन्मूलाः | ॥ |
| विनिवृत्तम् | ॥ | प्रसृताः | ॥ |
| पार्ष्णिगुल्फकराङ्गुलिभेदानां | | चरणाङ्गुलिभेदाः (५) | १७९ |
| लक्षणम् | १७८ | अधःक्षिप्ताः | ॥ |
| तत्र पार्ष्णिभेदाः (८) | ॥ | उत्क्षिप्ताः | ॥ |
| उत्क्षिप्ता | ॥ | कुञ्चिताः | ॥ |
| पतिता | ॥ | प्रसारिताः | ॥ |
| उत्क्षिप्तपतिता | ॥ | संलग्नाः | ॥ |
| अन्तर्गता | ॥ | चरणतलभेदाः (५) | १८० |
| बहिर्गता | ॥ | पतिताग्रम् | ॥ |
| मिथोयुक्ता | ॥ | उद्धृताग्रम् | ॥ |
| वियुक्ता | ॥ | भूमिलग्रम् | ॥ |
| अङ्गुलिसङ्गता | ॥ | उद्धृतम् | ॥ |
| तत्र गुल्फभेदाः (५) | ॥ | कुञ्चन्मध्यम् | ॥ |
| अङ्गुष्ठसंश्लिष्टौ | ॥ | तिरश्चीनम् | ॥ |
| अन्तर्यातौ | ॥ | मुखरागप्रकरणम् | १८०, १८१ |
| बहिर्गतौ | ॥ | मुखरागस्य लक्षणम् | १८० |
| मिथोयुक्तौ | ॥ | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| तस्य भेदाः (४) | १८१ | अग्रगतः | १८२ |
| स्वाभाविकः | ,, | अधोगतः | ,, |
| प्रसन्नः | ,, | पार्श्वगतः | ,, |
| रक्तः | ,, | संमुखागतः | ,, |
| श्यामः | ,, | हस्तकरणानां सामान्यलक्षणम् | १८३ |
| हस्तप्रचारभेदाः (१५) १८२, १८३ | | तेषां भेदाः (४) | ,, |
| तत्र भरतमतप्रदर्शनम् (३) | | आवेष्टितम् | १८४ |
| उत्तानः | १८२ | उद्वेष्टितम् | १८५ |
| अधोमुखः | ,, | व्यावर्तितम् | ,, |
| पार्श्वतःपाणिः | ,, | परिवर्तितम् | १८५-१८८ |
| तत्रान्यमतप्रदर्शनम् (२) | | करकर्माणि | (२०) १८९ |
| उग्रगः | ,, | धूननम् | ,, |
| अधस्तलः | ,, | श्लेषः | ,, |
| तत्र स्वमतप्रदर्शनम् (१५) | | विश्लेषः | ,, |
| उत्तानः | ,, | क्षेपः | ,, |
| अधस्तलः | ,, | रक्षणम् | ,, |
| पार्श्वगतः | ,, | मोक्षणम् | ,, |
| अग्रतस्तलः | ,, | परिग्रहः | ,, |
| स्वसंमुखतलः | ,, | निग्रहः | ,, |
| ऊर्ध्वमुखः | ,, | उत्कृष्टः | ,, |
| अधोमुखः | ,, | आकृष्टिः | ,, |
| पराङ्मुखः | ,, | विकृष्टिः | ,, |
| संमुखः | ,, | ताडनम् | ,, |
| पार्श्वतोमुखः | ,, | तोलनम् | ,, |
| ऊर्ध्वगः | ,, | छेदः | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------|-----------|----------------------|-----------|
| भेदः | १८९ | वलितोरु | १९७ |
| स्फोटनम् | ,, | मण्डलस्वस्तिकम् | १९८ |
| मोटनम् | ,, | वक्षःस्वस्तिकम् | ,, |
| विसर्जनम् | ,, | आक्षिप्तरेचितम् | १९९ |
| आह्वानम् | ,, | अर्धस्वस्तिकम् | २०० |
| तर्जनम् | ,, | दिक्स्वस्तिकम् | ,, |
| करक्षेत्राणि (१४) | १९० | पृष्ठस्वस्तिकम् | २००, २०१ |
| पुरःपार्श्वम् | ,, | स्वस्तिकम् | ,, |
| पश्चात्पार्श्वम् | ,, | अञ्चितम् | २०१, २०२ |
| ऊर्ध्वशिरः | ,, | अपविद्धम् | ,, |
| अधःशिरः | ,, | समनखम् | ,, |
| ललाटम् | ,, | उन्मत्तम् | २०३ |
| कर्णौ | ,, | स्वस्तिकरेचितम् | ,, |
| स्कन्धः | ,, | निकुट्टिकम् | २०४ |
| उरः | ,, | अर्धनिकुट्टिकम् | ,, |
| नाभिः | ,, | कटीच्छिन्नम् | २०५ |
| कटी | ,, | कटीसमम् | ,, |
| शीर्षकः | ,, | भुजङ्गत्रासितम् | २०६ |
| ऊरुद्वयम् | ,, | अलातम् | ,, |
| नृत्तकरणप्रकरणम् | १९०-२५२ | विक्षिप्ताक्षिप्तकम् | २०७ |
| तस्य सामान्यलक्षणम् | १९१ | निकुञ्चितम् | ,, |
| तेषामुद्देशः (१०८) | १९२, १९४ | घूर्णितम् | २०८ |
| तलपुष्पपुटम् | १९५, १९६ | ऊर्ध्वजानुः | ,, |
| लीनम् | १९७ | अर्धरेचितम् | २०९ |
| वर्तितम् | ,, | मत्तलि | ,, |
| | | अर्धमत्तलि | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------|-----------|------------------|-----------|
| रेचकनिकुट्टकम् | २१० | उरोमण्डलम् | २२० |
| ललितम् | ,, | आवर्तम् | ,, |
| वलितम् | २१०, २११ | कुञ्चितम् | २२०, २२१ |
| दण्डपक्षम् | ,, | डोलापादम् | ,, |
| पादापविद्धकम् | ,, | विवृतम् | ,, |
| नूपुरम् | २१२ | विनिवृतम् | २२२ |
| भ्रमरम् | ,, | पार्श्वक्रान्तम् | ,, |
| छिन्नम् | २१२, २१३ | निशुम्भितम् | २२२, २२३ |
| भुजङ्गत्रस्तरेचितम् | ,, | विशुद्धान्तम् | ,, |
| भुजङ्गाञ्चितम् | ,, | अतिक्रान्तम् | ,, |
| दण्डरेचितम् | २१३, २१४ | विवक्षितम् | २२४ |
| चतुरम् | ,, | विवर्तितम् | ,, |
| कटिभ्रान्तम् | ,, | गजविक्रीडितम् | ,, |
| व्यंसितम् | २१५ | गण्डसूचि | २२५ |
| क्रान्तम् | ,, | गरुडप्लुतम् | ,, |
| वैशाखरेचितम् | २१६ | तलसंस्फोटितम् | २२५, २२६ |
| वृश्चिकम् | ,, | पार्श्वजानु | ,, |
| वृश्चिककुट्टितम् | २१६, २१७ | गृध्रावलीनम् | ,, |
| वृश्चिकरेचितम् | ,, | सूचि | २२७ |
| लतावृश्चिकम् | ,, | अर्धसूचि | ,, |
| आक्षिप्तम् | २१७, २१८ | सूचीविद्धम् | ,, |
| अर्गलम् | ,, | हरिणप्लुतम् | २२८ |
| तलविलासितम् | ,, | परिवृतम् | ,, |
| ललाटतिलकम् | २१९ | दण्डपादम् | ,, |
| पार्श्वनिकुट्टकम् | ,, | मयूरललितम् | २२९ |
| चक्रमण्डलम् | २१९, २२० | प्रेङ्खोलितम् | ,, |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| संनतम् | २२९ | गङ्गावतरणम् | २३९ |
| सर्पितम् | २३० | करणानामितिकर्तव्यतानिरूपणम् | |
| करिहस्तम् | „ | | २४० |
| प्रसर्पितम् | „ | चत्प्लुतिकरणानि | २४०-२५२ |
| अपक्रान्तम् | २३१ | तेषामुद्देशः (३६) | २४०, २४१ |
| नितम्बम् | „ | अञ्चितम् | २४२ |
| स्खलितम् | २३१, २३२ | एकचरणाञ्चितम् | „ |
| सिंहविक्रीडितम् | „ | भैरवाञ्चितम् | „ |
| सिंहाकर्षितम् | „ | दण्डप्रणामाञ्चितम् | २४३ |
| अवहित्यकम् | २३३ | कर्तर्यञ्चितम् | „ |
| निवेशम् | „ | अलगम् | „ |
| एडकाक्रीडितम् | २३४ | कूर्मालगम् | „ |
| जनितम् | „ | ऊर्ध्वालगम् | २४४ |
| उपसृतम् | „ | अन्तरालगम् | „ |
| तलसंवद्धितम् | २३५ | लोहडी (लुठितं) | „ |
| उद्वृतम् | „ | कर्तरीलोहडी (कर्तरीलुठितं) | „ |
| विष्णुक्रान्तम् | २३६ | एकपादलोहडी (एकपादलुठितं) | २४५ |
| लोलितम् | „ | | |
| मदस्खलितम् | „ | दर्पसरणम् | „ |
| संभ्रान्तम् | २३७ | जलशयनम् | „ |
| विष्कम्भम् | „ | नागबन्धम् | „ |
| उद्धतम् | १३८ | कपालचूर्णनम् | २४६ |
| शकटास्यम् | „ | नतपृष्ठम् | „ |
| ऊरुद्वृतम् | „ | मत्स्यकरणम् | „ |
| वृषभक्रीडितम् | २३९ | कारस्पर्शनम् | २४७ |
| नागापसर्पितम् | „ | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|------------------|-----------|
| एणप्लुतम् | २४७ | सूचीविद्धः | २५९ |
| तिर्यक्करणम् | „ | अपराजितः | „ |
| तिर्यगाञ्चितम् | „ | वैशाखरेचितः | २६० |
| तिर्यक्स्वस्तिकम् | २४८ | पार्श्वस्वस्तिकः | „ |
| सूच्यन्तानि | „ | भ्रमरः | २६१ |
| बाह्यभ्रमरी | „ | आक्षिप्तकः | „ |
| अन्तर्भ्रमरी | „ | परिच्छिन्नः | २६१, २६२ |
| छत्रभ्रमरी | २४९ | मदविलसितः | „ |
| तिरिपभ्रमरी | „ | आलीढः | २६२, २६३ |
| अलगभ्रमरी | „ | आच्छुरितः | „ |
| चक्रभ्रमरी | „ | पार्श्वच्छेदः | „ |
| अञ्चितभ्रमरी | २५० | अपसर्पितः | २६४ |
| शिरोभ्रमरी | „ | मत्ताक्रीडः | „ |
| दिग्भ्रमरी | „ | विद्युद्भ्रान्तः | २६५ |
| समपादाञ्चितम् | २५१ | विष्कम्भापसृतः | „ |
| भ्रान्तपादाञ्चितम् | „ | मत्तस्खलितः | २६६ |
| स्कन्धभ्रान्तम् | २५२ | गतिमण्डलः | „ |
| अङ्गद्वाराः | २५२-२७४ | अपविद्धः | २६७ |
| तत्र पूर्वरङ्गलक्षणम् | २५२-२५४ | विष्कम्भः | „ |
| अङ्गहारलक्षणम् | २५५ | उद्धृष्टः | „ |
| मातृकादीनां लक्षणम् | „ | आक्षिप्तरेचितः | २६८ |
| अङ्गहारविभागः | २५६ | रेचितः | २६९ |
| अङ्गहारकरणप्रयोगे कालनियमः | „ | अर्धनिकुट्टकः | २७० |
| स्थिरहस्तः | २५८ | वृश्चिकापसृतः | २७१ |
| पर्यस्तकः | „ | अलातकः | „ |
| | | परावृत्तः | „ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|---------------------|-----------|
| परिवृत्तकरेचितः | २७२ | उत्स्पन्दिता | २८७ |
| उद्बृत्तकः | २७३ | अङ्किता | ,, |
| संभ्रान्तः | ,, | स्पन्दिता | २८८ |
| स्वस्तिकरेचितः | २७४ | अवस्पन्दिता | ,, |
| अङ्गहाराणां प्रयोगनियमः | ,, | बद्धा | ,, |
| रेचकलक्षणम् | २७५ | जनिता | २८९ |
| चारीणां सामान्यलक्षणम् | २७६ | ऊरुद्बृत्ता | ,, |
| चारीप्रयोगे इतिकर्तव्यता | २७७ | भौमचारीणां विनियोगः | २८९, २९० |
| चारीणां स्वरूपकथनम् | २७८ | | |
| चारीणां विभागः | २७९ | अकाशिक्यः (१६) | |
| तत्र भौम्यः | ,, | अतिक्रान्ता | ,, |
| आकाशिक्यः | २८० | अपक्रान्ता | २९१ |
| देशीप्रसिद्धाश्चार्यः | ,, | पार्श्वक्रान्ता | ,, |
| तत्र भौम्यः | २८१ | मृगप्लुता | २९२ |
| ,, आकाशिक्यः | २८२ | ऊर्ध्वजानुः | ,, |
| | | अलाता | ,, |
| भौम्यः (१६) | | सूची | २९३ |
| समपादा | ,, | नूपुरपादिका | ,, |
| स्थितावर्ता | २८३ | डोलापादा | ,, |
| शकटास्या | २८४ | दण्डपादा | २९४ |
| विच्यवा | २८५ | विद्युद्भ्रान्ता | ,, |
| अध्यर्धिका | ,, | भ्रमरी | ,, |
| चाषगतिः | ,, | भुजङ्गत्रासिता | २९५ |
| एडकाक्रीडिता | २८६ | आक्षिप्ता | ,, |
| समोत्सरितमत्तल्ली | ,, | आविद्धा | ,, |
| मत्तल्ली | २८७ | उद्बृत्ता | २९६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------------|-----------|------------------|-----------|
| आसां विनियोगः | २९६ | आकुञ्चिता | ३०३ |
| हस्ताभिनयचार्योर्गुणप्रधान- | | स्तम्भक्रीडनिका | ३०४ |
| भावव्यवस्था | २९७ | लङ्घितजङ्घिका | „ |
| करक्षेत्रेषु कव्या एव प्राधान्य- | | स्फुरिता | „ |
| प्रदर्शनम् | „ | अवकुञ्चिता | „ |
| कव्याश्रयनाद्यनृत्ययोर्हस्त- | | सङ्घट्टिता | ३०५ |
| नियमः | २९८ | खुत्ता | „ |
| देशीचार्यः (५४) | | स्वस्तिका | „ |
| रथचक्रा | „ | तलदर्शिनी | „ |
| परावृत्ततला | २९९ | पुराटिका | ३०६ |
| नूपुरविद्धा | „ | अर्धपुराटिका | „ |
| तिर्यङ्मुखा | „ | सरिका | „ |
| मराला | ३०० | स्फुरिका | „ |
| करिहस्ता | „ | निकुट्टिका | ३०७ |
| कुलीरिका | „ | लताक्षेपः | „ |
| विश्लिष्टा | ३०१ | अङ्गुस्खलितिका | „ |
| कातरा | „ | समस्खलितिका | „ |
| पार्श्वरेचिता | „ | विद्युद्भ्रान्ता | ३०८ |
| ऊरुताडिता | „ | पुरःक्षेपा | „ |
| ऊरुवेणी | ३०२ | विक्षेपा | „ |
| तलोद्वृत्ता | „ | हरिणप्लुता | ३०९ |
| हरिणत्रासिका | „ | अपक्षेपा | „ |
| अर्धमण्डलिका | „ | डमरी | „ |
| तिर्यक्कुञ्चिता | ३०३ | दण्डपादा | „ |
| मदालसा | „ | अङ्घ्रिताडिता | ३१० |
| तिर्यक्संचारिता | „ | जङ्घालङ्घनिका | „ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|-------------------------|-----------|
| अलाता | ३१० | पार्श्वक्षेपनिकुटिता | ३१५ |
| जङ्घावर्ता | ,, | पार्श्वक्षेपाख्यकुटिता | ,, |
| वेष्टनम् | ३११ | चतुष्कोणकुटिता | ,, |
| उद्वेष्टनम् | ,, | मध्यस्थापनकुट्टा | ३१६ |
| उत्क्षेपः | ,, | तिरश्चीनकुट्टा | ,, |
| पृष्ठोत्क्षेपः | ,, | पृष्ठलुठिता | ,, |
| सूची | ३१२ | पुरस्ताल्लुठिता | ,, |
| विद्धा | ,, | अनुलोमविलोमा | ,, |
| प्रावृतम् | ,, | प्रतिलोमानुलोमिका | ,, |
| उल्लोलः | ,, | समपादनिकुटिता | ,, |
| कोहलोक्ता मधुपसंज्ञकाश्चार्यः | | चक्रकुट्टनिका | ३१७ |
| ३१३-३१७ | | मध्यचक्रा | ,, |
| | | मध्यलुठिता | ,, |
| चारीणामुद्देशः | ३१३, ३१४ | वक्त्रकुट्टनिका | ,, |
| पुरःपश्चात्सरा | ,, | स्थानकलक्षणम् | ३१७-३१९ |
| पश्चात्पुरःसरा | ,, | तेषामुद्देशः | ,, |
| त्रिकोणचारी | ,, | तत्र पुरुषस्थानकानि (६) | |
| एकपदकुट्टिता | ,, | | ३१९, ३२० |
| पादद्वयकुट्टिता | ,, | वैष्णवम् | ३२१ |
| पादस्थितिनिकुट्टिता | ,, | समपादम् | ३२२ |
| क्रमपादनिकुट्टिता | ३१५ | वैशाखम् | ३२३ |
| पार्श्वद्वयचारिणी | ,, | मण्डलम् | ,, |
| डमरुकुट्टिता | ,, | आलीढम् | ३२४ |
| डमरुद्वयकुट्टिता | ,, | प्रत्यालीढम् | ३२४, ३२५ |
| पुरःक्षेपनिकुट्टिता | ,, | स्त्रीस्थानकानि (७) | |
| पश्चात्क्षेपनिकुट्टिता | ,, | आयतम् | ३२५, ३२६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------|-----------|----------------------|-----------|
| अवहित्थम् | ३२७ | शैवम् | ३३४ |
| अश्वक्रान्तम् | ,, | गारुडम् | ३३५ |
| गतागतम् | ३२८ | कूर्मासनम् | ,, |
| वलितम् | ,, | नागबन्धम् | ,, |
| मोटितम् | ,, | वृषभासनम् | ,, |
| विनिवर्तितम् | ३२९ | उपविष्टस्थानकानि (९) | ,, |
| देशीस्थानकानि (२३) | ,, | स्वस्थम् | ३३६ |
| स्वस्तिकम् | ,, | मदालसम् | ,, |
| वर्धमानम् | ,, | क्रान्तम् | ,, |
| नन्द्यावर्तम् | ३३० | विष्कम्भितम् | ३३७ |
| संहतम् | ,, | उत्कटम् | ,, |
| समपादम् | ,, | स्रस्तालसम् | ,, |
| एकपादम् | ,, | जानुगतम् | ३३८ |
| पृष्ठोत्तानतलम् | ३३१ | मुक्तजानु | ,, |
| चतुरश्रम् | ,, | विमुक्तम् | ,, |
| पार्श्वविद्धम् | ,, | सुप्तस्थानकानि (६) | |
| पार्श्वपाश्वर्गतम् | ,, | समम् | ३३९ |
| एकपार्श्वगतम् | ३३२ | आकुञ्चितम् | ,, |
| एकजानुगतम् | ,, | प्रसारितम् | ,, |
| परावृत्तम् | ,, | विवर्तितम् | ,, |
| समसूचि | ३३३ | उद्वाहितम् | ३४० |
| विषमसूचि | ,, | नतम् | ,, |
| खण्डसूचि | ,, | वृत्तिसामान्यलक्षणम् | ,, |
| ब्राह्मम् | ३३४ | तस्या विभागः | ३४१ |
| वैष्णवम् | ,, | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|-------------------|-----------|
| तत्र भारतीवृत्तिः | ३४१ | दण्डपादम् | ३५४ |
| सात्त्वतीवृत्तिः | ३४२ | क्रान्तम् | ३५५ |
| आरभटीवृत्तिः | ,, | ललितसंचरम् | ३५६ |
| कैशिकीवृत्तिः | ३४२, ३४३ | सूचीविद्धम् | ,, |
| वृत्तीनामवान्तरभेदाः | ३४३, ३४४ | वामविद्धम् | ३५७ |
| वृत्तीनां प्रयोजनकथनम् | ,, | विचित्रम् | ,, |
| न्यायसामान्यलक्षणम् | ३४५ | विद्धतम् | ३५८ |
| प्रविचाराणां सामान्यलक्षणम् | ,, | अलातम् | ३५८, ३५९ |
| तेषां वृत्तिषु प्रयोगविधिः | | ललितम् | ,, |
| | ३४६, ३४७ | | |
| मण्डलानां सामान्यलक्षणम् | ,, | लास्याङ्गानि (१०) | ३६०-३६३ |
| तेषामुद्देशः | ३४८ | तेषामुद्देशः | ३६० |
| भौममण्डलानि (१०) | | चालिः | ,, |
| भ्रमरम् | ३४९ | चालिवडः | ३६१ |
| आस्कन्दितम् | ३४९, ३५० | लढिः | ,, |
| आवर्तम् | ,, | सूकम् | ,, |
| शकटास्यम् | ३५१ | उरोङ्गणम् | ३६२ |
| अङ्कितम् | ,, | धसकः | ,, |
| समोत्सरितम् | ३५२ | अङ्गहारः | ३६३ |
| अध्यर्धम् | ,, | ओयारकः | ,, |
| एडकाक्रीडितम् | ३५३ | विहसी | ,, |
| पिष्टकुट्टम् | ,, | मनः | ,, |
| चाषगतम् | ३५४ | रेखालक्षणम् | ३६४ |
| आकाशिकमण्डलानि (१०) | | श्रमविधिः | ३६४, ३६५ |
| अतिक्रान्तम् | ,, | पात्रलक्षणम् | ३६५, ३६६ |
| | | पात्रगुणाः | ३६७ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| पात्रदोषाः | ३६८ | सभासदो लक्षणम् | ३९३ |
| पात्रमण्डनानि | ३६९ | सभापतिलक्षणम् | ३९४ |
| उपाध्यायलक्षणम् | ३७० | सभासंनिवेशः | ३९५, ३९६ |
| संप्रदायलक्षणम् | ३७२, ३७३ | नवरसलक्षणम् | ३९७-४४४ |
| संप्रदायगुणदोषाः | ३७४ | | |
| शुद्धपद्धतिः | ३७४-३७६ | रसस्य प्राधान्यत्वोपपादनम् | ३९७ |
| गौण्डलीविधिः | ३७७-३८४ | तस्य सामान्यलक्षणम् | ३९८, ३९९ |
| पेरणिलक्षणम् | ३८४-३८८ | तत्र दृष्टान्तरूपणम् | ४०० |
| तस्याङ्गानि | ३८५ | रसविभागः | ,, |
| तत्र वर्धरलक्षणम् | ,, | तत्र मतान्तरप्रदर्शनम् | ४०१ |
| वर्धरभेदाः (६) | ,, | स्थाधिभावानामुद्देशः | ,, |
| पडिवाटः | ३८६ | स्थायिसंचारिणोर्विभागः | ४०२ |
| अपडपः | ,, | व्यभिचारिभावाः, तेषामुद्देशः | ४०३ |
| सिरिपटः | ३८७ | सात्त्विकभावाः, तेषामुद्देशः | ,, |
| अलगपाटः | ,, | रसानां परस्परजन्यजनक- | |
| सिरिहिरः | ,, | भावनिरूपणम् | ४०४ |
| खलुडुलः | ३८८ | रसानां वर्णदेवतानिरूपणम् | ,, |
| विषमाङ्गस्य लक्षणम् | ,, | रसविशेषलक्षणम् | ४०५ |
| पेरणिपद्धतिः | ३८९, ३९० | तत्र शृङ्गारः | ४०५, ४०६ |
| आचार्यलक्षणम् | ३९१ | विभावानां सामान्यलक्षणम् | ४०७ |
| नटलक्षणम् | ,, | तत्र शृङ्गारविभावः | ,, |
| नर्तकलक्षणम् | ३९२ | अनुभावानां लक्षणम् | ४०८ |
| वैतालिकलक्षणम् | ,, | तत्र शृङ्गारानुभावः | ४०९ |
| चारणलक्षणम् | ,, | विप्रलम्भलक्षणम् | ४१० |
| कोल्हाटिकलक्षणम् | ३९३ | विप्रलम्भस्य रसत्वाक्षेपः | ४११ |
| | | तत्र दृष्टान्तः | ४१२ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--|--|
| तस्य परिहारः ४१३, ४१४ | तस्य भेदाः ४३४, ४३५ |
| शृङ्गारे वर्णनीया दशावस्थाः ४१४, ४१५ | (७) बीमत्सः, तस्य विभावादयः ,, बीमत्सभेदाः ४३५, ४३६ |
| (२) हास्यलक्षणम् ४१५, ४१६ तस्य विभावाः ,, ,, | (८) अद्भुतः, तस्य विभावादयः ४३६, ४३७ |
| स्मितादीनां लक्षणम् ४१७, ४१८ | तस्य भेदौ ४३८ |
| (३) करुणलक्षणम्, तस्य विभावाः ४१९, ४२० अनुभावाः ४२०, ४२१ विलापनपरिदेवनयोः स्वरूप- | (९) शान्तः, तस्य विभावाः ,, अनुभावाः ४३९ शान्तस्य स्वरूपलक्षणम् ४४० तत्र मतान्तरेण रसान्तर- |
| निरूपणम् ४२१ | शङ्का ४४१ |
| करुणस्य त्रैविध्यम् ४२२ | तद्दूषणम् ४४२ |
| रुदितस्य त्रैविध्यम् ४२२, ४२३ | भक्त्यादीनां तत्रान्तर्भाव- |
| (४) रौद्रलक्षणम्, तस्य विभावाः ४२३ | कथनम् ,, |
| तस्यानुभावाः ४२४ | रत्यादिस्थायिभावव्यवस्था |
| तस्य संचारिणः ४२५ | ४४३, ४४४ |
| तस्य शङ्कापरिहारः ४२६ | व्यभिचारिणां लक्षणम् |
| भावानां स्थिरत्वाक्षेपः ४२७ | ४४४-४६६ |
| स्थायिनो भेदाः ४२८ | तत्र निर्वेदः ४४४, ४४५ |
| (५) वीरलक्षणम्, तस्य विभावाः | ग्लानिः ४४५, ४४६ |
| ४२८, ४२९ | शङ्का ४४६, ४४७ |
| अनुभावाः ४३० | औग्र्यम् ४४७, ४४८ |
| तत्र नयादीनां लक्षणम् ४३०, ४३१ | दैन्यम् ,, |
| वीरस्य भेदाः ४३२ | असूया ,, |
| (६) भयानकः, तस्य विभावाः ,, | मदः ४४९ |
| अनुभावाः ४३३ | श्रमः ४५० |

| | पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------|-----------|----------------------------------|
| तत्र चिन्ता | ४९० | व्यभिचारिणां रसोपयोगित्वम् |
| धृतिः | ४९१ | ४६९, ४६६ |
| स्मृतिः | ४९१, ४५२ | सात्त्विकलक्षणम् ४६६-४७१ |
| ब्रीडा | " | |
| मोहः | ४९२, ४९३ | मतान्तरेण सत्त्वशब्दार्थः ४६८ |
| आलस्यम् | " | सात्त्विकभेदाः, तत्र स्तम्भः ४६९ |
| चापलम् | ४९३, ४९४ | स्वेदः ४७० |
| हर्षः | " | रोमाञ्चः " |
| अमर्षः | ४९४, ४९५ | स्वरभेदः " |
| विषादः | " | वेपथुः " |
| अपस्मारः | ४९५, ४९६ | वैवर्ण्यम् ४७०, ४७१ |
| जडता | " | अश्रु " |
| वितर्कः | ४९६, ४९७ | प्रलयः " |
| सुप्तम् | " | भावलक्षणनिगमनम् " |
| औत्सुक्यम् | " | नाटकादिनिर्माणे कविनियमः |
| अवहित्यम् | ४९८ | ४७१, ४७२ |
| मतिः | " | ग्रन्थोपसंहारः " |
| बोधः (विबोधः) | ४९९ | कवेः सहृदयप्रार्थना ४७३, ४७४ |
| व्याधिः | ४९९, ४६० | श्लोकार्धानामनुक्रमणिका |
| उन्मादः | ४६०, ४६१ | ४७५-५३३ |
| गर्वः | " | उदाहृतवाक्यानामनुक्रमः |
| आवेगः | ४६२, ४६३ | ५३४-५४३ |
| मरणम् (मृतिः) | ४६३, ४६४ | विशेषपदानि ५४४-५८४ |
| त्रासः | ४६४, ४६५ | Recurrences and Parallels |
| निद्रा | " | ५८५-६०० |

ॐ

शिवाभ्यां नमः

श्री-निःशङ्क-शार्ङ्गदेव-प्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

चतुरकल्लिनाथ-विरचितया कलानिध्याख्यटीकया सिंहभूपाल-
विरचितया संगीतसुधाकराख्यटीकया च समेतः

सप्तमो नर्तनाध्यायः

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।

आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम् ॥ १ ॥

कलानिधिः

अथ गीतवाद्योपकार्यत्वेनाभेदातिशयोपायभूतं नर्तनं प्रतिपिपाद-
यिषुः शार्ङ्गदेवः प्रकरणादौ तत्परिसमास्यादिफलाकाङ्क्षया समुचितेष्ट-
देवतां नर्तनस्पृष्टगुणत्वेन स्तौति—आङ्गिकमित्यादिना । भुवनम् ; परि-
दृश्यमानप्राणिलोकः ; यस्य ; शिवस्य ; आङ्गिकम् ; अङ्गव्यापारो भवति ।
शिवस्य जगद्रूपत्वादिति भावः । सर्ववाङ्मयम् ; वेदशास्त्रादिसमस्तं शब्द-
जातं यस्य वाचिकं वाग्व्यापारो भवति । चन्द्रतारादि ; चन्द्रादिज्योतिषां

शिवप्रसादसंप्राप्तनिःसीमज्ञानसंपदा ।

तन्यते शार्ङ्गदेवेन नर्तनं तापकर्तनम् ॥ २ ॥

मण्डलं यस्य आहार्यं हारकेयूरादिविभूषणं भवति । सात्त्विकं ; सत्त्व-
गुणप्रधानम् । अत्र शिवशब्देन कूटस्थस्य परशिवस्य विवक्षितत्वात्तत्सात्त्विकं
तस्याविरुद्धम् । तं शिवं नुम इति संबन्धः । अत्राङ्गिकादिशिवगुणवाचकैः
श्लिष्टशब्दैः प्रकरणप्रतिपाद्यस्य नर्तनस्याभिधानमपि द्रष्टव्यम् । एवमिष्टदेवतां
स्तुत्वा प्रकरणस्य विषयादीन् दर्शयति— शिवप्रसादेत्यादिना । शिवप्रसाद-
संपदानिःसीमज्ञानसंपदा शार्ङ्गदेवेन मया तापकर्तनं नर्तनं तन्यत इति
संबन्धः । तत्र नर्तनं विषयः । तापकर्तनमित्यनेनाध्यात्मिकादितापत्रयोच्छेदः
प्रयोजनं दर्शितम् । तदर्थिन एवाधिकारिण आक्षिप्यन्ते । संबन्धस्तु
तापत्रयोच्छेदननर्तनयोः साध्यसाधनभावः । नर्तनस्य ग्रन्थस्य च प्रतिपाद्य-
प्रतिपादकभावः ॥ १, २ ॥

सुधाकरः

गीतवाद्ये उक्ते, अशिष्टं नृत्तं विवक्षुस्तत्सूचकं मङ्गलमाचरति—आङ्गि-
कमिति । तं शिवं शंकरं नुमः वर्णयामः । यस्य सर्वं भुवनमाङ्गिकम्,
अङ्गानां समूह आङ्गिकम् ; पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वात् । सर्वं च वाङ्मयं विद्याजातं
यस्य वाचिकम् वाक्समूहः ; ‘निःश्वसितमस्य वेदाः’ इति श्रुतत्वात् ।
चन्द्रतारदि यस्याहार्यं कार्यम् ; सकलजगत्कर्तृकत्वात् । अथवा चन्द्रतारादि
यस्याहर्षमलंकरणम् ; चन्द्रमौलित्वात् । सात्त्विकं सत्त्वगुणप्रधानम् ; यद्यपि
पुराणादिषु तमोगुणः परमेश्वरः श्रूयते ; तथापि हरिहरयोरभेदविवक्षयोक्तम् ।
अथवा सत्त्वं सत्ता, तयोपलक्षितः सात्त्विकः, तमित्यर्थः । पक्षे तन्नृत्तं नुमः । यस्य
भुवनं सर्वमाङ्गिकमभिनयनम् ; शिवं शुभमित्यर्थः । तथा वाचिकमभिनयनं सर्व-
संबन्धाभिर्वाग्भिर्मीयत इति वाङ्मयम् ; तदपि शुभम् । चन्द्रतारादि, आहार्य-
मभिनयनम् ; चन्द्रशब्देन अङ्गोपलक्षणं मुखं लक्षयित्वा तारकान्वितया तया

नाट्यं नृत्यं तथा नृत्तं त्रेधा तदिति कीर्तितम् ।
 नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः ॥ ३ ॥
 ततश्च भरतः सार्धं गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
 नाट्यं नृत्यं तथा नृत्तमग्रे शंभोः प्रयुक्तवान् ॥ ४ ॥
 प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः ।
 तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरताय व्यदीदृशत् ॥ ५ ॥
 लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदृशत् ।
 बुद्ध्या तण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन् ॥ ६ ॥
 पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम् ।
 तया द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः ॥ ७ ॥
 ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदाश्रिताः ।
 एवं परंपराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

प्रत्यङ्गोपलक्षणम् । ततश्च प्रत्यङ्गक्रियारूपमाहर्षमभिनयनं यस्य शुभम् । तथा सात्त्विकमभिनयनं कम्पादिकं यस्य शुभम् ; तं नर्तनं नुम इति संबन्धः । एवमुचितं मङ्गलमाचर्य विषयं प्रतिजानीते—शिवप्रसादेति । ईश्वरप्रसादेन प्राप्ता निःसीमा निरवधिका ज्ञानसंपत् येन ; तापकर्तनं संतापनाशकं निर्वापकमित्यर्थः ॥ १, २ ॥

(क०) विषयत्वेनोद्दिष्टं नर्तनं विभजति—नाट्यमित्यादिना । तदिति । नर्तनम् । नाट्यादिभेदभिन्नस्य नर्तनस्येह गतिं दर्शयति—नाट्यवेदमित्यारभ्य, एतल्लोके प्रतिष्ठितमित्यन्तेन । नाट्यवेदमिति । वेद्यतेऽनेन धर्मार्थाविति व्युत्पत्त्या ऋगादिमुख्यवेदमूलत्वेन च चतुर्मुखेण दत्तस्य वेदत्वे सिद्धे तदर्थभूतनाट्यप्रतिपादकभरतमुनिप्रणीतस्य चतुर्विध-पुरुषार्थफलस्य शास्त्रस्य वेदमूलत्वेन वैदिकत्वं वेदितव्यम् । अयमेवोपवेदेषु परिगणितश्च ; “सामवेदस्योपवेदो गान्धर्ववेदः” इति । नाट्यवेद एव

ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ।

पाठ्यं चाभिनयान् गीतं रसान् संगृह्य पद्मभूः ॥ ९ ॥

व्यरीरचत्रयमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।

गीतप्राधान्यविवक्षया गान्धर्ववेद उच्यते । अभिनयप्राधान्यविवक्षया तु नाट्यवेद इति चोच्यते । तस्य च मुख्यवेदसारसंग्रहत्वं दर्शयितुमाह—
ऋग्यजुरित्यादि । ऋग्वेदात्पाठ्यस्य संग्रहणम् ; तस्य मन्तरूपत्वेन शब्दप्रधानत्वादिति मन्तव्यम् । पाठ्यं नाम वाचिकाभिनेयः । यजुर्वेदादभिनयानां संग्रहमपि ; तस्य पाठाक्षरोद्धाटनं च । सामवेदात् गीतम् ; तस्य नादात्मकत्वादिति मन्तव्यम् । अथर्वणाद्रसानां शृङ्गारादीनां संग्रहणमपि ; तस्य मारणमोहनाद्यभिचारकर्मप्रतिपादकत्वेन रसप्रधानत्वादिति भावः । इदं त्रयमिति । नाट्यनृत्यनृत्तानीत्यर्थः । धर्मकामार्थमोक्षदमिति । यो यं यं पुरुषार्थमुद्दिश्य प्रयुङ्क्ते स तस्य सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३-९-॥

(सु०) नर्तनं लक्षयति—नाट्यमिति । नर्तनं त्रिप्रकारम् ; नाट्यं नृत्यं नृत्तमिति । एतेषां मूलोत्पत्तिमाह—नाट्यवेदमिति । चतुर्मुखो ब्रह्मा, भरतमुनये नाट्यवेदं वेदतुल्यं नाट्यशास्त्रं ददौ । तमध्यापयदित्यर्थः । तदधीत्य भरतः शंभोः नाट्यत्रितयं प्रायुनक् ; ततस्तत्प्रयोगदर्शनेनोद्धतं स्वप्रयुक्तं प्रयोगं स्मृत्वा तण्डुनाम्ना स्वगणमुख्येन हरो भरताय दर्शयामास । भरतस्य अग्रतः प्रीत्या पार्वत्याः लास्यम् समदीदृशत् । बुद्धेति । तण्डोः सकाशात्तण्डवं बुद्ध्वा, भरतादयो मुनयो मनुष्येभ्योऽप्यवादिषुः । पार्वती तु बाणात्मजामुषाम्, लास्यम् अनुशास्ति स्म अशिशिषित । शास्तिर्द्विकर्मकः । तया ; उषया द्वारवतीगोप्यः, ताभिः ; गोपीभिः सौराष्ट्रयोषितः । ताभिः ; सौराष्ट्रनारीभिस्तु नानाजनपदाश्रिताः स्त्रियः शिक्षिताः । इत्थं परंपराप्राप्तमेतन्नाट्यं लोके प्रतिष्ठामगमत् । ऋगिति । क्रमादृगादिवेदचतुष्टयात् वाद्यमभिनयं गीतं शृङ्गारादीन् रसांश्च गृहीत्वा इदं त्रयं गीतनृत्तवाद्यप्रतिपादकं शास्त्रं पद्मभूः ब्रह्मा

कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्यवैदग्ध्यानां प्रवर्धनम् ॥ १० ॥

औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम् ।

दुःस्वार्तिशोकनिर्वेदस्वेदविच्छेदकारणम् ॥ ११ ॥

अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं ध्रुवम् ।

जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा ॥ १२ ॥

न किञ्चिद् दृश्यते लोके दृश्यं श्रान्वयमतः परम् ।

सर्वदा कृतकृत्येनाप्यक्लिष्टेष्टप्रदायके ॥ १३ ॥

प्यरीरचत् । तेनैव रसप्रतिपादनसिद्धेरित्यर्थः । किमर्थमित्यपेक्षायां प्रयोजनं हेतुगमैर्चतुभिः विशेषणैराह—धर्मकामार्थेत्यादिना ॥ -३-९- ॥

(क०) नान्तरीयकतया कीर्त्यादयोऽपि रिष्टार्थाः सिध्यन्तीत्याह—

कीर्तिप्रागल्भ्येत्यादिना । प्रागल्भ्यं प्रौढता ; शास्त्रविषये । वैदग्ध्यं चतुरता ;

लोकविषये । स्थैर्यं नाम प्रवृत्ताध्यवसायादचालनम् । धैर्यं तु शोकहर्षयो-

र्बुद्धेरेकरूपत्वम् । नाट्यादिप्रयोगदर्शनेन दुःखाद्यनिष्ठनिवृत्तिरपि भवतीत्याह

—दुःस्वार्तीत्यादि । दुःखं बाह्येन्द्रियपरितापः ; आर्तिर्वाचिकः परितापः ;

शोको मनसः संतापः ; निर्वेदः शून्यचित्तत्वम् ; स्वेदः कायिकः संताप इति

दुखादीनां भेदा द्रष्टव्याः । पूर्वं नाट्यादेर्मोक्षसाधनत्वमुक्तम्, इदानीं तस्यैव

मोक्षरूपतामर्थापत्त्या साधयति—अपि ब्रह्मेत्यादि । ब्रह्मविदामपि तेषां

नारदादीनामत्रासक्त्यतिशयादिति भावः । इदं न केवलं नारदादीनां मनो

जहार ; अपि तु सकललोकस्यापीत्यभिप्रायेणाह—न किञ्चिद् दृश्यत इति ।

ननु विषयासक्तमनसो लोकस्य मनोहरत्वेनास्य कथमुत्कर्ष इत्याशङ्क्या-

स्योत्कर्षत्वं दर्शयितुं विषयनिवृत्तमनसाप्येतदनुसंधेयमित्याह—सर्वदेति ।

कृतकृत्येन ; कृतमृणत्रयापाकरणादिकृत्यं येन स तथोक्तस्तेन ; तस्यानन्तरमपि

संसारप्रवर्तकधर्मसंचिकीर्षया कर्तव्यबुद्धेरभावः । कृतकृत्यशब्देन साधन-

द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये ते पर्वकाले विशेषतः ।

नृत्तं त्वत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे ॥ १४ ॥

यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे ।

नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि ॥ १५ ॥

ब्रह्मणोक्तं प्रयोक्तव्यं मङ्गल्यं सर्वकर्मसु ।

चतुष्टयसंपन्नो मुमुक्षुरुच्यते । अक्लिष्टेष्टप्रदायके इति हेतुगर्भितं विशेषणम् । अक्लिष्टमिष्टं मोक्षः, तस्य प्रदायके यतो नाट्यनृत्ये अतस्ते मुमुक्षुणापि सर्वदा द्रष्टव्ये इति योजना । अयमभिप्रायः—नाट्यनृत्ययोरनुकरणात्मकत्वेनालीकत्वात्तन्निर्दर्शनेन लोकव्यवहारस्याप्यलीकत्वे भाव्यमाने सच्चिदानन्दस्वभावात्मकविषयं ज्ञानं दृढं भवति । विषयसुखाभिलाषिणस्तु किमुतेत्यपिशब्दार्थः । सर्वदा दर्शनासंभवेऽपि पर्वकाले विशेषतो द्रष्टव्ये इत्याह—
पर्वकाल इति । पर्वकाल उत्सवकालः ॥ -१०-१३- ॥

(सु०) नाट्यस्यावश्यंभावितया कीर्त्यादयोऽपि सिध्यन्तीत्याह—कीर्तीत्यादिना । कीर्तिः; यशः; प्रगल्भः; प्रतिभा, तस्य भावः; सौभाग्यम्; सुभगत्वम्; वैदध्यम्; चतुरत्वमेतेषां प्रवर्धनम् । औदार्यम्; उदारस्वभावः; स्थैर्यम्; कार्यस्याध्यवसायः; धैर्यम्; हर्षशोकयोः समानरूपत्वम्; एषां विलासस्य च कारणं भवति । दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदानां विच्छेदकारणं भवति । अपि च ब्रह्मानन्दादप्यधिकमिदं नाट्यं श्रेष्ठमित्यर्थः । अत एव नारदादीनां चित्तानि जहार । न किञ्चिदिति । इतः नाट्यादिन्नितयादन्यद् दर्शनीयं श्रोतव्यं च लोके न दृश्यते । सर्वदेति । कृतकृत्येन मुमुक्षुणापि, अक्लिष्टेष्टप्रदायके; दुःखासंपृक्तं यत्सुखं तत्प्रदायके नाट्यनृत्ये द्रष्टव्ये इत्यर्थः । पर्वकाले; महोत्सवकाले, ते विशेषतो द्रष्टव्ये इति ॥ -१०-१३- ॥

(क०) नाट्यनृत्ययोः प्रयोगसमयमुक्त्वा नृत्तस्य प्रयोगसमयमाह—
नृत्तं त्विति ॥ -१४, १५- ॥

नाट्यादित्रितयस्यातः प्रपञ्चमभिदध्महे ॥ १६ ॥

नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम् ।

चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः ॥ १७ ॥

नर्तनं नाट्यमित्युक्तं स त्वत्राभिनयो भवेत् ।

काव्यबद्धं विभावादि व्यञ्जयन्यो नटे स्थितः ॥ १८ ॥

(सु०) नाट्यनृत्ययोः कालविशेषमुक्त्वा नृत्तस्य प्रयोगसमयमाह—नृत्तं त्विति । स्पष्टोऽर्थः ॥ -१४, १५- ॥

(क०) नाट्यादीनां स्वरूपं वक्तुमाह—नाट्यादीति । तत्र नाट्य-
शब्दस्य लक्षकतां वक्तुं तस्य मुख्यार्थतां दर्शयति—नाट्यशब्दो रसे
मुख्य इति । मुख्यः; वाचक इत्यर्थः । तस्य लक्ष्यार्थं दर्शयति—
रसाभिव्यक्तीत्यादि । मुख्यार्थस्य रसस्य नर्तनभेदत्वासंभवान्मुख्यार्थबाधे
सति, तस्य रसस्य व्यञ्जकत्वेन संबन्धिनश्चतुर्विधाभिनयोपेतस्य नर्तनविशेषस्य
लक्ष्यार्थत्वात् तत्र च वर्तमानोऽयं नाट्यशब्दो लाक्षणिक इत्यर्थः । नाट्य-
विशेषणत्वेन प्रसक्तस्य चतुर्विधस्याभिनयस्य सामान्यं लक्षणमाह—स
त्वित्यादि । स इति वक्ष्यमाणः परामृश्यते । काव्यबद्धमिति । अत्र
काव्यशब्देन नाटकादीनि रूपकाण्युच्यन्ते । तेषामेव नटाभिनेयार्थत्वात् ।
तत्र नाटकादौ कविना निबद्धं विभावादि; आदिशब्देन अनुभावसात्त्विक-
संचारिस्थायिभावा गृह्यन्ते । विभावादि व्यञ्जयन्; प्रकाशयन्, सामाजि-
कानाम्; प्रेक्षकाणाम्; निर्विघ्नां रससंविदम्; निर्विघ्नां निरन्तरायां, तत्र
व्यवधानमेवान्तरायाः, अव्यवहितमित्यर्थः । रससंविदमानन्दानुभूतिं जन-
यन्, नटस्थितः; नटे स्थितो योऽर्थो विद्यते स त्वभिनयो भवेत् ।
तुशब्दोऽवधारणे, स एवेति । न तु चेष्टामात्रमित्यर्थः । अत्राभिनयव्यञ्ज-
क-

सामाजिकानां जनयन्निर्विघ्नां रससंविदम् ।
 लक्षणानि विभावादेर्वक्ष्ये रसनिरूपणे ॥ १९ ॥
 आङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोऽपरः ।
 चतुर्धाभिनयस्तत्राङ्गिकोऽङ्गैर्दर्शितो मतः ॥ २० ॥
 वाचा विरचितः काव्यनाटकादिस्तु वाचकः ।

त्वेन प्रसक्तानां विभावादीनां लक्षणान्यध्यायान्ते रसनिरूपणावसरे वक्ष्यन्त
 इत्याह—लक्षणानीत्यादि ॥ -१६-१९ ॥

(सु०) नाट्यादीनां स्वरूपं वक्तुं प्रतिजानीते—नाट्यादीति । यतः
 नाट्यादित्रितयं प्रशस्तमतः कारणात् नाट्यनृत्यनृत्तानां प्रपञ्चं लक्षणादिविस्तरं
 कथ्यते । लक्षणया रसस्य अभिव्यञ्जकत्वेन आङ्गिकादिचतुर्विधाभिनयोपेतं
 नर्तनमित्युच्यते । अभिनयलक्षणमाह—स त्विति । काव्यनाटकादिरित्यादि-
 शब्देन रूपकाणि विवक्षितानि । तेषामभिनेयार्थत्वात् । तत्र कविना निबद्धं
 विभावानुभावव्यभिचारादिकं स्थायीभावस्य कारणम्, कार्यं सहकार्यादिकं
 वक्ष्यमाणं व्यञ्जयन् सामाजिकानां प्रेक्षकाणां निर्विघ्नाम् अव्यवहितां यो
 रससंविदं जनयति सोऽभिनयः । लक्षणानीति । विभावादेर्लक्षणानि अग्रे
 रसनिरूपणावसरे वक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥ १६-१९ ॥

(क०) सामान्येन लक्षितस्याभिनयस्य विशेषानाह—आङ्गिक
 इत्यादि । बुद्धिविदितपदपदार्थैः अनुकर्तृभिः अङ्गैः करचरणादिभिः करणैः
 दर्शित आङ्गिकः । काव्यनाटकादिस्त्विति । तुशब्दोऽवधारणे । काव्य-
 नाटकादिरेवेत्यर्थः । न तु लोकव्यवहारार्थं शब्दमात्रमित्यर्थः । हारकेयूरे-
 त्यादि । अनुकार्यगताभरणसजातीयत्वेनानुकर्त्रा धृतं हारादिविभूषणमाहार्या-
 भिनयः । आदिशब्देन धनुराद्यायुधं पुरस्कृतं ध्वजयानादि च विभूषणत्वेन
 ग्राह्यम् । तस्यापि शोभाहेतुत्वेन विभूषणत्वात् । आहार्यस्यापि अनुकार्य-

आहार्यो हारकेयूरकिरीटादिविभूषणम् ॥ २१ ॥

सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावुकेन विभावितः ।

इतिकर्तव्यता तस्य द्विविधा परिकीर्तिता ॥ २२ ॥

लोकधर्मी नाट्यधर्मीत्येते च द्विविधे पुनः ।

चित्तवृत्त्यर्पिका काचिद्बाह्यवस्त्वनुकारिणी ॥ २३ ॥

इति भेदद्वयं प्राहुर्लोकधर्म्याः पुरातनाः ।

ज्ञापकत्वेनाभिनयत्वं द्रष्टव्यम् । सात्त्विकैर्भावैरिति । स्तम्भादिभिरष्ट-
मिर्वक्ष्यमाणैर्भावैः । भावुकेन ; भावनाव्यापारवता नटेन प्रेक्षकेण च ।
विभावित इति । स्तम्भादीनां सकलरससाधारणत्वेन दुर्विवेचितत्वेऽपि
तत्तद्रसं प्रति नियतत्वेन सूक्ष्मेक्षिकया संभावितः ॥ २०, २१- ॥

(सु०) अभिनयस्य भेदानाह—आङ्गिक इति । तान् भेदान्
लक्षयति—चतुर्थेति । तत्र अङ्गैः शिर आदिभिर्वक्ष्यमाणैः करणैर्दर्शित
आङ्गिकः । वाचिकस्तु काव्यनाटकादिद्वारा वाचा अभिनेतव्यः । हारकेयूर-
किरीटादिना बाह्यनिमित्तको रचनाविशेष आहार्यः । सात्त्विकैः कम्पादिभिः
भावविशेषैः भावुकेन विभावितः सात्त्विकः ॥ २०, २१ ॥

(क०) चतुर्विधस्याप्यभिनयस्य प्रथमं तावद् द्विविधामितिकर्तव्यता-
माह— इतिकर्तव्यता तस्येत्यादि । इतिकर्तव्यता ; प्रकारनियमः । एते
च पुनर्द्विविधे इति । एते ; लोकधर्मीनाट्यधर्म्यौ । चित्तवृत्त्यर्पिकेति ।
चित्तवृत्त्यर्पिकेति लोकधर्म्या एको भेदः । बाह्यवस्त्वनुकारिणीति द्वितीयः ।
उभे अप्यन्वर्थे वेदितव्ये । चित्तवृत्तौ अर्पितस्यार्थस्य प्रदर्शकत्वेन
प्रवृत्ता । यथा, “गर्वेऽप्यहमिति तज्जैर्ललाटदेशोत्थितः कार्यः” इति
पताकहस्तविनियोगे मुनिनोक्तम् । तत्र चित्तवृत्त्यर्पितस्य गर्वस्य प्रदर्शन-
प्रकारः चित्तवृत्त्यर्पिका । बाह्यवस्त्वनुकारिणीति । बहिःस्थितं पद्मादि
वस्त्वनुकरोतीति । यथा पद्मकोशहस्तकमलादिनिरूपणे ॥ -२२, २३- ॥

आश्रित्य कैशिकीं वृत्तिमेका नाट्योपयोगिनीम् ॥ २४ ॥
 तद्योग्यां लौकिकीं शोभां करोत्यावेष्टितादिभिः ।
 अंशेनैवोपजीवन्ती लोकधर्म्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥
 नाट्यधर्म्या अपि प्राज्ञा भेदद्वन्द्वमिदं जगुः ।

(मु०) तस्य द्विविधेति कर्तव्यतामाह—इतिकर्तव्यता
 नाम प्रकारनियमविशेषः । सा द्विविधा, लोकधर्मी, नाट्यधर्मी चेति । एते अपि
 द्विप्रकारे । तदेव द्विविधे लोकधर्म्या आह—चित्तवृत्त्येति । लोकधर्म्या चित्त-
 वृत्त्यपिकेत्येको भेदः, द्वितीयस्तु बाह्यवस्त्वनुकारिणीति ॥ -२२, २३- ॥

(क०) नाट्यधर्म्या अपि भेदद्वयमाह—आश्रित्येत्यादि । तत्रैका
 नाट्योपयोगिनी कैशिकी वृत्तिमाश्रित्य तद्योग्यां लौकिकीं शोभां करोती-
 त्यन्वयः । कैशिकीमिति ;

‘वागङ्गाभिनयानां या सौकुमार्येण निर्मिता ।

उल्लसद्गीतनृताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा ।

निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूत तां सौन्दर्यैकजीविताम् ।’

इति कैशिकीलक्षणं वक्ष्यति । अत एव नाट्योपयोगिनी ; नाट्ये अवस्था-
 नुकरण उपयोगोऽस्या अस्तीति तथोक्ता । पुरुषस्यापि लोके व्यव-
 हारानुकरणदशायां मार्दवमपेक्ष्यत इति भावः । यथा लोके यः कश्चन
 पुरुषो यं कंचनाहितं पुरुषं लगुडादिना प्रहृतवान्, तत्साक्षिभूतोऽप्यस्त-
 मनुकरोति, अनेनैवं प्रहृतमिति । तत्रानुकरणस्य आरोपितत्वेनार्थक्रियाभावात्
 मृदुत्वमेव तस्य दृश्यते । अतः सौकुमार्यात्मिका कैशिकी नाट्योपयोगिनी
 भवति, ताम् आश्रित्य, तद्योग्यां नाट्योपयोगिनीं लौकिकीं शोभां
 करोति । अन्यां नाट्यधर्मीमाह—आवेष्टितादिभिरित्यादि । आवेष्टितो

आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् ॥ २६ ॥

तन्नृत्यं मार्गशब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनाम् ।

द्वेष्टितव्यावर्तितपरिवर्तितास्त्यैः चतुर्भिः वक्ष्यमाणैः करणैः उपलक्षिता ।
अन्या अंशैकदेशेन लोकमुपजीवन्त्येव प्रवर्तते । लोकायत्तस्वभावेत्यर्थः । एवं ;

“हस्तमन्तरितं कृत्वा त्रिपताकं प्रयोक्तृभिः ।

जनान्तिकं प्रयोक्तव्यमपवारितकं तथा ॥”

इत्यादि मुनिना यदुक्तं तत्सर्वमपि यथायोगं नाट्यधर्मीद्वये द्रष्टव्यम् ।
एवमाङ्गिकाभिनये धर्मीणां चतुष्टयं दर्शितम् । वाचिकादावपि यथासंभव-
मूहनीयम् । वाचिकाभिनयेऽपि केवलवाक्प्रचारणं लोकधर्मी ; रागयुक्त-
वाक्प्रचारणं नाट्यधर्मी । आहार्याभिनयेऽपि हारकेयूगादिभूषणं लोकधर्मी ;
फूत्कृतं ध्वजयानादिभूषणं नाट्यधर्मी । सात्त्विकाभिनयेऽपि नटेन भावयित्वा
स्वरूपतो दर्शिताः स्तम्भादयो लोकधर्मी ; त एव साक्षात्कृता हस्ताभिनयेन
दर्शिता नाट्यधर्मी । चित्तवृत्त्यर्पिकादयोऽवान्तरभेदा अपि वाचिकादिषु
यथासंभवं मतिमद्भिरुन्नेयाः ॥ -२४, २५- ॥

(मु०) एतयोर्लक्षणमाह—आश्रित्येति । तत्रैका वक्ष्यमाणां कैशिकीं
वृत्तिं, तद्योग्यां ; नाट्योपयोगिनीमाश्रित्य, लोकिकीं शोभां या करोति सैका
चित्तवृत्त्यर्पिका । अन्या आवेष्टितादिभिः वक्ष्यमाणैः चतुर्भिः करणैः,
बाह्यवस्त्वनुकारिणीभेदेन अंशैकदेशेन लोकमुपजीवन्त्येव प्रवर्तते । इदमेव
लोकधर्म्या भेदद्वयं नाट्यधर्म्यामतिदिशति — नाट्यधर्म्या इति ॥ २४, २५- ॥

(क०) अथ नृत्यं लक्षयति— आङ्गिकाभिनयैरेवेत्यादि । यत् ;
नर्तनम्, आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति, तन्नृत्यमिति संबन्धः ।
अत्र आङ्गिकाभिनयैरिति बहुवचनमाङ्गिकावान्तरभेदविवक्षाभावादनुपपद्य-

गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम् ॥ २७ ॥

आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः ।

मानमाङ्गिकादिभिरित्यवगमयति । तेन आङ्गिकादिषु चतुर्ष्वपि प्राप्तेषु बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानात् त्रय एवेत्यवधारणेन तत्रैको निवर्तनीयः । निवर्त्यान्तरस्याप्रतीतेः । तत्र वाचिकादिषु कस्य निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां यदि वाचिको निवर्त्येत, तदा आङ्गिकस्योपजीव्यत्वाभावादप्रवृत्तिरेव स्यात् । अतो यत्राङ्गिकस्तत्र वाचिकोऽभ्युपेयः । सात्त्विकाहार्ययोर्मध्ये सात्त्विकस्यैव आङ्गिके अन्तरङ्गत्वेनोपादेयत्वे पारिशेष्याद्बहिरङ्ग आहार्य एव निवर्तनीयो भवति । भावानेवेत्यवधारणेन रसास्तदाभासाश्च निवर्त्यन्ते । एतदुक्तं भवति—“आहार्याभिनयं मुक्त्वा आङ्गिकवाचिकसात्त्विकैरुपेतमतो भावानामेवाभिव्यञ्जकं यन्नर्तनं तन्नृत्यम्” इति । तथाचोक्तं भावप्रकाशकृता ;

“वागङ्गसत्त्वाभिनया भावाः स्युर्नाट्यकर्मणि ।

रसोऽभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यसमुच्चयात् ॥”

इति । नृत्यवेदिनां मार्गशब्देन प्रसिद्धमिति । ते नृत्यं मार्गशब्देन व्यपदिशन्तीत्यर्थः ॥ -२६, २६- ॥

(सु०) एवं नाट्यं लक्षयित्वा नृत्यनृत्ते लक्षयति—आङ्गिकेति । आङ्गिकैरेव अभिनयैः शिर आदिभिः यद् भावान् स्थायिनो व्यभिचारिणो वा व्यनक्ति, तत् नृत्यज्ञैः मार्ग इत्युज्यते ॥ -२६, २६- ॥

(क०) अथ नृत्तं लक्षयति—गात्रविक्षेपमात्रं त्विति । सर्वाभि नयवर्जितम् ; आङ्गिकादिचतुर्विधाभिनयवर्जितम् । आङ्गिकोक्तप्रकारेणेति । आङ्गिकाभिनये अङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गानां यः प्रकार उक्तः, तेन प्रकारेण गात्र-विक्षेपमात्रं तु नृत्तविदो नृत्तं विदुः । तुशब्दो नृत्तस्य नाट्यनृत्ताभ्यां वैलक्ष-प्यद्योतनाय ॥ -२७, २७- ॥

ताण्डवं लास्यमित्येतद् द्वयं द्वेधा निगद्यते ॥ २८ ॥

वर्धमानासारिताद्यैर्गीतैस्तत्तद्ध्रुवायुतम् ।

करणैरङ्गहारैश्च प्राधान्येन प्रवर्तितम् ॥ २९ ॥

तण्डूक्तमुद्धतप्रायप्रयोगं ताण्डवं मतम् ।

लास्यं तु सुकुमाराङ्गं मकरध्वजवर्धनम् ॥ ३० ॥

(सु०) नृत्तलक्षणमाह—गात्रेति । अभिनयं विना केवलगात्रविक्षेपो नृत्तमित्युच्यते ॥ -२७, २७- ॥

(क०) अथ नृत्यनृत्ययोरवान्तरभेदौ दर्शयति—ताण्डवमित्यादि । एतद् द्वयम्; एतयोः संनिहितयोः नृत्तनृत्ययोः द्वयम् । तत्र ताण्डवं लक्षयति—वर्धमानेत्यादि । वर्धमानादीनि गीतानि मद्रकादिषूक्तानि द्रष्टव्यानि । तत्तद्ध्रुवायुतमिति । सा सा भ्रवा तत्तद्ध्रुवा प्रावेशिक्यादिका, तथा युक्तम् । प्रावेशिक्यादयो भ्रवाश्च भारतीये ध्रुवाध्याये द्रष्टव्याः । करणैः; तलपुष्पपुटादिभिः वक्ष्यमाणैः नृत्तकरणैः; अङ्गहारैः; स्थिरहस्तादिभिश्च । प्राधान्येनेति । कचित्करणाङ्गहारक्रमं हित्वा रीत्यर्थः । उद्धतप्रायप्रयोगमिति ताण्डवस्यासाधारणं लक्षणम् । इतरस्य तु लक्षणांशस्य साधारण्यसंभवात् । तण्डूक्तमिति संज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तकथनम् । लास्यस्यासाधारणं लक्षणमाह—लास्यं त्वित्यादि ॥ -२८-३० ॥

(सु०) नृत्तनृत्ययोरवान्तरभेदौ लक्षयति—ताण्डवमिति । एतद् द्वयं नृत्तनृत्ययोर्द्वयम्, ताण्डवलास्यभेदेन द्वेधा निगद्यते । तयोर्लक्षणमाह—वर्धमानेत्यादि । तालाध्यायोक्तैः वर्धमानादिभिः गीतैः, प्रावेशिक्यादिभिः ध्रुवादिभिः संयुक्तैः करणैः, अङ्गहारैश्च प्राधान्येन प्रवर्तितं, तण्डुना प्रोक्तम्, उद्धतप्रचुरप्रयोगेण च संयुक्तं ताण्डवमित्युच्यते । लास्यं तु सुकुमारैः अङ्गैर्युक्तं मकरध्वजवर्धनमिति ॥ -२८-३० ॥

विषमं विकटं लघ्वित्येतद्भेदत्रयं विदुः ।

नृत्तस्य तत्र विषमं स्याद्रज्जुभ्रमणादिकम् ॥ ३१ ॥

विरूपवेषावयवव्यापारं विकटं मतम् ।

उपेतं करणैरल्पैरञ्चिताद्यैर्लघु स्मृतम् ॥ ३२ ॥

नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् ।

तदाद्यभरतेनोक्तं रसभावसमन्वितम् ॥ ३३ ॥

नाट्यं तन्नाटकेष्वेवोपयुक्तं तद्गतानतः ।

विहाय त्रीनभिनयानाङ्गिकोऽत्राभिधीयते ॥ ३४ ॥

(क०) प्रसङ्गान्नृत्तस्यैवान्यद्भेदत्रयं दर्शयति—विषममित्यादि ।
अल्पैरञ्चिताद्यैरिति । क्रियावैचित्र्याभावात् अञ्चितादीनि नृत्यकरणानि
अल्पानि भवन्ति ॥ ३१, ३२ ॥

(सु०) मतान्तरेण नृत्तस्य भेदत्रयं विभज्य लक्षयति—विषममिति ।
तत्र रज्जुभ्रमणादिकं विषममुच्यते । विरुद्धरूपवेषावयवक्रियादिभिर्युक्तं विकटम्,
यथा पेरण्यादिवत् । अञ्चिताद्यैः अल्पैः करणैर्युक्तं लघ्वित्युच्यते ; यथा उत्सवादौ
ग्राम्ययोषितामिति ॥ ३१, ३२ ॥

(क०) अत्र नृत्तेषूपयोगित्वेनाङ्गिकाभिनयस्य स्वरूपं प्रपञ्चयिष्यन्नाट-
काद्युपयोगित्वमात्रेण नृत्तानुपयोगिनां वाचिकादीनामप्रपञ्चने हेतुं दर्शयति
— नाटकस्थितेत्यादि । वाक्यार्थाभिनयो रसाभिनयः ; पदार्थाभिनयो
भावाभिनयः । अत्र नाटकशब्दः प्रकरणाद्युपलक्षणम् । तेन 'नाटकेष्वेव'
इत्यत्र नाटकादिष्विति द्रष्टव्यम् । तद्गतान् अभिनयानिति । तद्गतान् ;
नाट्यगतान् वाचिकसात्विकाहार्यान् ॥ ३३, ३४ ॥

(सु०) नाटकेति । नाटके स्थितो यो वाक्यार्थः, पदार्थश्च अभिनयात्मकं
रसभावसमन्वितं नाट्यं संगीताद्युपयुक्तमिति, तदुपयुक्तानाहार्याद्यभिनयत्रयं मुक्त्वा
आङ्गिकः कर्तव्य इति ॥ ३३, ३४ ॥

तस्य शाखाङ्कुरो नृत्तं प्रधानं त्रितयं मतम् ।
 तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना ॥ ३५ ॥
 अङ्कुरो भूतवाक्यार्थमुपजीव्य प्रवर्तितः ।
 वर्तना सा भवेत्सूची भाविवाक्योपजीवनात् ॥ ३६ ॥
 करणैरङ्गहारैश्च साधितं नृत्तमुच्यते ।
 नात्रोपयोगिनौ सूच्यङ्कुरावुक्तौ प्रसङ्गतः ॥ ३७ ॥
 अङ्गान्यत्र शिरो हस्तौ वक्षः पार्श्वे कटीतटम् ।
 पादाविति षडुक्तानि स्कन्धावप्यपरे जगुः ॥ ३८ ॥

(क०) आङ्गिकाभिनयस्य भेदान् दर्शयति—तस्य शाखाङ्कुर , प्रधानमिति । आङ्गिकाभिनयोक्तेतराङ्गापेक्षया शाखादेः प्रधान्यमित्यर्थः । प्रसङ्गात्सूचीं लक्षयति—सा भवेत्सूचीति । नृत्तं लक्षयति—करणैरित्यदि । ननु लक्षितस्यापि नृत्तस्य पुनर्लक्षणं कथमिति चेत्, उच्यते । पूर्वं सर्वाभिनयशून्यमाङ्गिकाभिनयप्रकारेण प्रवर्तितं गात्रविक्षेपमात्रं नृत्तमित्युक्तम् । इदानीं त्वाङ्गिकाभिनयस्य आङ्गिकत्वेन मध्ये प्रयोज्यं करणाङ्गहारनिर्वृत्तं नृत्तमुक्तमिति भेदो द्रष्टव्यः ॥ ३५—३७ ॥

(सु०) आङ्गिकस्य भेदान् लक्षयति—तस्येति । तस्य ; आङ्गिकाभिनयस्य शाखाङ्कुरनृत्तानि प्रधानानि । तेषां लक्षणमाह—तत्रेति । विचित्रकरव्यापारः शाखा, भूतवाक्यार्थमुपजीव्य प्रवर्तिता वर्तनाव्यापारोऽङ्कुरः । सैव वर्तना भविष्यद्वाक्योपजीवनात् सूचीत्युच्यते । करणैः अङ्गहारैश्च यत्साधितं तन्तुत्तमुच्यते । यद्यपि सूच्याङ्कुरयोरेत्रोपयोगौ न स्तः । तथापि, प्रसङ्गतः प्रयोगेणोक्त इति द्रष्टव्यम् ॥ ३५—३७ ॥

(क०) अस्मिन् नृत्ताध्याये संग्राह्यान् पदार्थाननुक्रमेणोद्दिशति—अङ्गान्यत्रेत्यादिना । अङ्गान्तरेष्विति । शिरसो व्यतिरिक्तेषु करणयोरि-

प्रत्यङ्गानि पुनर्ग्रीवा बाहू पृष्ठं तथोदरम् ।
 ऊरू जङ्घे षडित्याहुरपरे मणिबन्धकौ ॥ ३९ ॥
 जानुनी भूषणानीति त्रयमत्राधिकं जगुः ।
 दृष्टिभ्रूपुटताराश्च कपोलौ नासिकानिलः ॥ ४० ॥
 अधरो दशना जिह्वा चिबुकं वदनं तथा ।
 उपाङ्गानि द्वादशेति शिरस्यङ्गान्तरेषु तु ॥ ४१ ॥
 पार्श्विगुल्फौ तथाङ्गुल्यः करयोः पादयोस्तले ।
 मुखरागश्च करयोः प्रचाराः करणानि च ॥ ४२ ॥
 कर्माणि पाणिक्षेत्राणि करणानि द्विधा ततः ।
 शुद्धान्युत्प्लुतिपूर्वाणि चाङ्गहाराः सरेचकाः ॥ ४३ ॥
 चार्यः शुद्धाश्च देशीस्थाः स्थानकान्यथ वृत्तयः ।
 न्यायाः सप्रविचाराश्च मण्डलान्यखिलान्यपि ॥ ४४ ॥
 लास्याङ्गानि ततो रेखा श्रमः पात्रस्य लक्षणम् ।
 गुणदोषा मण्डनं च तस्योपाध्यायलक्षणम् ॥ ४५ ॥
 संप्रदाया गुणा दोषास्तस्य शुद्धा च पद्धतिः ।
 गौण्डल्याश्च विधिः सम्यग्लक्ष्म पेरणिनस्ततः ॥ ४६ ॥
 तत्पद्धतिरथाचार्यो नटनर्तकलक्षणम् ।

त्थर्थः । पार्श्विगुल्फकराङ्गुलिपादाङ्गुलिपादतलानि पञ्चोपाङ्गानि ज्ञेयानि ।
 'तथा अङ्गुल्यः करयोः पादयोस्तले' इत्युद्देशे तु करयोरङ्गुल्य इति योजनी-
 यम् । तले इति तु संनिहितयोः पादयोरेव योजनीयम् । 'करणयोस्तले' इति
 तु तयोः करणप्रचारभेदकत्वेन वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । सरेचका इति ।
 रेचकानामङ्गहारङ्गतयैव प्रयोगः, न पार्थक्येनेति द्योतयितुमङ्गहारविशेषणत्वे-

वैतालिकश्चारणश्च कोह्लाटिकसभासदः ॥ ४७ ॥

सभापतिः सभायाश्च निवेशो रसलक्षणम् ।

भावलक्षणमित्यस्मिन्नध्याये ब्रूमहे क्रमात् ॥ ४८ ॥

अथ शिरोभेदाः—

धृतं विधुतमाधूतमवधूतं च कम्पितम् ।

आकम्पितोद्वाहिते च परिवाहितमञ्चितम् ॥ ४९ ॥

निहञ्चितं परावृत्तमुत्तिक्ष्णसाधोमुखे तथा ।

नोद्देशो द्रष्टव्यः । एवं, 'न्यायाः सप्रविचाराश्च' इत्यत्रापि प्रविचाराणां न्यायाङ्गत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ३८-४८ ॥

(सु०) अत्र नृत्ताध्याये अभिधेयान् पदार्थान् संगृह्णाति—अङ्गानीति । शरीरादीनि षडङ्गानि भवन्ति । केचित् स्कन्धावपि सप्तमङ्गं कथयन्ति । प्रत्यङ्गानि ग्रीवादीनि षट् । अपरे तु मणिवन्धादीनि त्रीणि प्रत्यङ्गान्याधिकमाहुः । दृष्ट्यादीनि शिर आद्युपाङ्गानि द्वादश; अङ्गान्तरेषु तु पार्श्विगुल्फादीन्यष्टौ करचरणयोरुपाङ्गानि, चत्वारि मुखरागादीनि; करयोः प्रचाराः, करकरणानि; हस्तक्षेत्राणि; नृत्तकरणानि; उत्प्लुतिकरणानि; सरेचका अङ्गहाराः; शुद्धचार्यः; देशीचार्यः; स्थानकानि; कैशिक्यादयो वृत्तयः; सप्रविचारा न्यायाः; मण्डलानि; चाल्यादीनि लास्याङ्गानि; रेखालक्षणम्; श्रमविधिः; पात्रलक्षणम्; पात्रगुणाः; पात्रदोषाः; पात्रमण्डनं च; उपाध्यायलक्षणम्; संप्रदायनिरूपणम्; संप्रदायगुणाः, दोषाश्च; संप्रदायस्य शुद्धपद्धतिः; गौण्डलीविधिः; पेरणीलक्षणम्; पेरणीपद्धतिः; आचार्यलक्षणम्; नटनर्तकवैतालिकचारणकोह्लाटिकसभासदानां लक्षणम्; सभापतिलक्षणम्; सभासंनिवेशनिरूपणम्; नवरसलक्षणम्; व्यभिचारादिभावानां लक्षणम्; सात्त्विकादिभावानां निरूपणम्; नाटकादिनिर्माणे नियमनिरूपणमित्येतानि अस्मिन् नृत्ताध्याये कथयाम इति ॥ ३८-४८ ॥

(क०) तत्राङ्गेषु प्रथमोद्दिष्टस्य शिरसो भेदानुद्दिशति—धृतं विधुतमित्यादि ॥ ४९-५१ ॥

लोलितं चेति विज्ञेयं चतुर्दशविधं शिरः ॥ ५० ॥
 तिर्यङ्मतोन्नतं स्कान्धानतमारात्रिकं समम् ।
 पार्श्वाभिमुखमित्यन्यान् भेदान् पञ्चापरे जगुः ॥ ५१ ॥
 पर्यायेण शनैस्तिर्यग्गतमुक्तं धृतं शिरः ।
 शून्यस्थानस्थितस्यैव पार्श्वदेशावलोकने ॥ ५२ ॥
 अनाश्वासे विस्मये च विषादेऽनीप्सिते तथा ।
 प्रतिषेधे च तस्योक्तः प्रयोगो भरतादिभिः ॥ ५३ ॥

इति धृतम् (१)

(सु०) तत्र प्रथमोद्दिष्टशिरोभेदानाह—धृतमिति । धृतम्, विधृतम्, आधृतम्, अवधृतम्, कम्पितम्, आकम्पितम्, उद्धाहितम्, परिवाहितम्, अञ्चितम्, निहञ्चितम्, परावृत्तम्, उत्क्षिप्तम्, अधोमुखम्, लोलितमिति चतुर्दशविधं शिरः । अपरे तिर्यङ्मतोन्नतम्, स्कान्धानतम्, आरात्रिकम्, समम्, पार्श्वाभिमुखमित्यन्यान् पञ्च भेदानाहुः ॥ ४९—५१ ॥

(क०) यथोद्देशं लक्षणानि सविनियोगमाह—पर्यायेण शनै-
 रित्यादि । संज्ञावाहनयोरपीत्यत्र संज्ञेति गूढार्थसूचिका चेष्टा संज्ञोच्यते ।
 एवं संज्ञोपदेशयोरित्यादावपि द्रष्टव्यम् । बल्लभानुकृताविति । लीलाया-
 मित्यर्थः । “प्रियानुकरणं लीला” इत्युक्तत्वात् । हनुधारण इति ।
 रुक्चिन्तादिविषयं यद्धस्तेन हनुधारणं तस्मिन् अञ्चितं शिरः कार्यमित्यर्थः ।
 सर्वदिक्कैरिति । स्वरूपतो भिन्नानामपि शिरोभेदानां यत्र येषु केषु-
 चिदर्थेषु विनियोगसाम्यं दृश्यते ; तत्र विकल्पविज्ञानादेकेनोचितेन प्रयोगः
 कर्तव्यः ॥ ५२—७७ ॥

इति भरतोक्तं चतुर्दशविधं शिरः ।

(सु०) तत्र धृतं लक्षयति—पर्यायेणेति । क्रमेण वामदक्षिणयोः शनैः तिर्यक्
 नम्रीभूतं शिरः धृतमित्युच्यते । तस्य विनियोगमाह—शून्येति । विजनस्थाने

द्रुतगत्या तदेव स्याद्विधुतं तत्प्रचक्षते ।

शीतार्ते ज्वरिते भीते सद्यः पीतासवे तथा ॥ ५४ ॥

इति विधुतम् (२)

आधूतं तु सकृत्तिर्यगूर्ध्वानीतं शिरो मतम् ।

गर्वेण स्वाङ्गवीक्षायां पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे ॥ ५५ ॥

शक्तोन्वित्यभिमाने च प्रयोगस्तस्य कीर्तितः ।

इत्याधूतम् (३)

यदधः सकृदानीतमवधूतं तदुच्यते ॥ ५६ ॥

स्थित्यर्थे देशनिर्देशे संज्ञावाहनयोरपि ।

आलापे च प्रयोक्तव्यमिदमाहुर्मनीषिणः ॥ ५७ ॥

इत्यवधूतम् (४)

स्थितस्य पुरुषस्य, पार्श्वप्रदेशयोरुभयोरीक्षणे, अनाश्वासे, विस्मये, विषादे, अनीप्सिते, अनिच्छायां ; तथा प्रतिषेधे च विनियोगः ॥ ५२, ५३ ॥

इति धुतम् (१)

(सु०) विधुतं लक्षयति—द्रुतेति । तदेव धुतं, द्रुतगत्या ; शीघ्रगत्या क्रियमाणं विधुतमित्युच्यते । अस्य विनियोगमाह—शीतेति । शीतार्ते ; शैत्येन पीडिते, ज्वरिते, भीते, तथा सद्यःपीतासवे च विनियोगः ॥ ५४ ॥

इति विधुतम् (२)

(सु०) आधूतं लक्षयति—आधूतमिति । सकृत् ; एकवारं, तिर्यक् ; ऊर्ध्वीकृतं शिर आधूतमित्युच्यते । तस्य विनियोगमाह—गर्वेणेति । गर्वेण स्वाङ्गविलोकनादिषु, पार्श्वस्थस्य ऊर्ध्वनिरीक्षणे, अहं शक्तोन्वित्यभिमाने च विनियोगः ॥ ५५-॥

इत्याधूतम् (३)

(सु०) अवधूतं लक्षयति—यदिति । सकृत् ; एकवारं यद् अधः कृतं शिर

बहुशो द्रुतमूर्ध्वाधः कम्पनात्कम्पितं शिरः ।

ज्ञानेऽभ्युपगमे रोषे वितर्के तर्जने तथा ॥ ५८ ॥

त्वरितप्रश्नवाक्ये च प्रयोक्तव्यमिदं शिरः ।

इति कम्पितम् (५)

आकम्पितं तदेव स्याद् द्विःप्रयुक्तं शनैर्यदि ॥ ५९ ॥

एतत्पौरस्त्यनिर्देशप्रश्ने संज्ञोपदेशयोः ।

आवाहने स्वचित्तस्थकथने च प्रयुज्यते ॥ ६० ॥

इत्याकम्पितम् (६)

अवधूतमित्युच्यते । तस्य विनियोगमाह—स्थित्यर्थ इति । स्थित्यर्थे; प्रतिष्ठार्थे, देशनिर्देशे, संज्ञायाम्, आवाहने, आलापे च प्रयोक्तव्यम् ॥ -५६, ५७ ॥

इत्यवधूतम् (४)

(सु०) कम्पितं लक्षयति—बहुश इति । बहुवारं द्रुतं, शीघ्रम्, ऊर्ध्वमधश्च कम्पनात् कम्पितं शिरो भवति । तस्य विनियोगमाह—ज्ञान इति । ज्ञाने; अभ्युपगमे; अङ्गीकारे, रोषे; कोपे, वितर्के; संशये, तर्जने; भर्त्सने, तथा त्वरितप्रश्नवाक्ये च विनियोगः ॥ ५८- ॥

इति कम्पितम् (५)

(सु०) आकम्पितं लक्षयति—आकम्पितमिति । तदेव कम्पितं शिरः शनैः यदि द्विःप्रयुक्तं, तदा आकम्पितम् । एतस्य विनियोगमाह—एतदिति । पौरस्त्यनिर्देशे, प्रश्ने, संज्ञायाम्, उपदेशे च, तथा आवाहने, स्वचित्तस्थाभि-प्रायावेदने च प्रयुज्यते ॥ -५९, ६० ॥

इत्याकम्पितम् (६)

सकृदूर्ध्वं शिरो नीतमुद्वाहितमुदीरितम् ।

शक्तोऽहमिति कार्येऽस्मिन्नभिमाने प्रयुज्यते ॥ ६१ ॥

इत्युद्वाहितम् (७)

परिमण्डलिताकारभ्रामितं परिवाहितम् ।

लज्जाभरोद्भवे माने वल्लभानुकृतौ तथा ॥ ६२ ॥

विस्मये च स्मिते हर्षामर्षयोरनुमोदने ।

विचारे च विचारज्ञाः कार्यमाहुरिदं शिरः ॥ ६३ ॥

इति परिवाहितम् (८)

शिरः स्यादञ्चितं किञ्चित्पार्श्वतो नतकंधरम् ।

रुक्चिन्तामोहमूर्च्छासु तत्कार्यं हनुधारणे ॥ ६४ ॥

इत्यञ्चितम् (९)

(सु०) उद्वाहितं लक्षयति—सकृदिति । एकवारमूर्ध्वीकृतं शिर उद्वाहितं भवति । अस्मिन् कार्ये शक्तोऽहमित्यभिमाने तस्य प्रयोगः ॥ ६१ ॥

इत्युद्वाहितम् (७)

(सु०) परिवाहितं लक्षयति—परिमण्डलितेति । परितो मण्डलाकारेण भ्रामितं शिरः परिवाहितम् । तस्य लज्जाभरोद्भवे ; माने ; वल्लभानुकृतौ , विस्मये ; स्मिते ; हर्षामर्षयोरनुमोदने ; विचारे च विनियोगः ॥ ६२, ६३ ॥

इति परिवाहितम् (८)

(सु०) अञ्चितं लक्षयति—शिर इति । किञ्चित् अल्पं पार्श्वप्रदेशेन नतमाननं प्राप्तः कन्धरो यस्य, तथाविधं शिर अञ्चितं भवति । रुक् ; रोगः, चिन्ता ; विचारः, मोह ; विभ्रमः, मूर्च्छा ; वक्ष्यमाणलक्षणः, हनुधारणे, हनुः मुखाम्रं तस्य धारणे, च विनियोगः ॥ ६४ ॥

इत्यञ्चितम् (९)

उत्क्षिप्तबाहुशिरसं मग्नग्रीवं निहश्चितम् ।
 विलासे ललिते गर्वे बिम्बोके किलिकिञ्चिते ॥ ६५ ॥
 मोहयिते कुट्टमिते माने स्तम्भे च तद्भवेत् ।
 विलासो गमनादिः स्याच्चेष्टाश्चिष्टाङ्गया कृता ॥ ६६ ॥
 कान्तायाः सुकुमाराङ्गोपाङ्गत्वं ललितं विदुः ।
 बिम्बोक्स्विष्टलाभेन जाताद्रवादिनादरः ॥ ६७ ॥
 हर्षाद्रोदनहास्यादि प्रोच्यते किलिकिञ्चितम् ।
 मोहयितं प्रियकथादृष्ट्यादौ तन्मयात्मता ॥ ६८ ॥
 केशादिग्रहजे हर्षे दुःखवद्वेदनं तु यत् ।
 तत्स्यात्कुट्टमितं मानो रोषः प्रणयसंभवः ॥ ६९ ॥
 स्यात्तु निष्क्रियता स्तम्भो नवोढाप्रियसङ्गमे ।

इति निहश्चितम् (१०)

पराङ्मुखीकृतं शीर्षं परावृत्तमुदाहृतम् ॥ ७० ॥

(सु०) निहश्चितं लक्षयति—उत्क्षिप्तमिति । उत्क्षिप्तम् उच्चीकृतं बाहुः
 शिरा यस्मिन्, मग्ना ग्रीवा यस्मिन्, तथाविधं शिरो निहश्चितं भवति । तस्य
 विलासादिषु विनियोगः । विलासादीनां लक्षणमाह—विलास इत्यादिना ।
 आच्छिष्टं सुन्दरमङ्गं यस्याः, तथाविधया नार्या कृता गमनादिचेष्टा विलासः ।
 कान्तायाः सुकुमाराङ्गोपाङ्गत्वं ललितम् । इष्टलाभजगर्वात् अनादरो बिम्बोक्ः ।
 हर्षेण रुदितहास्यादिकं किलिकिञ्चितम् । प्रियस्य गुणश्रवणे, तस्य दर्शने,
 तच्चरणविन्यासध्वनिश्रवणादौ वा तन्मयत्वं मोहयितम् । हर्षे केशादिग्रहणे
 जाते सति दुःखवद्वेदनं कुट्टमितम् । प्रणयजरोषो मानः । निष्क्रियता
 स्तम्भ इति ॥ ६५-६९ ॥

इति निहश्चितम् (१०)

(सु०) परावृत्तं लक्षयति—पराङ्मुखीकृतमिति । पराङ्मुखीकृतं शिरः

तत्कार्यं कोपलज्जादिकृते वक्त्रापसारणे ।
परावृत्तानुकरणे पृष्ठतः प्रेक्षणे तथा ॥ ७१ ॥

इति परावृत्तम् (११)

ऊर्ध्ववक्त्रं शिरो ह्येयमुत्क्षिप्तं तत्प्रयुज्यते ।
दर्शने तुङ्गवस्तूनां चन्द्रादिव्योमगामिनाम् ॥ ७२ ॥

इत्युत्क्षिप्तम् (१२)

लज्जादुःखप्रणामेषु स्यादन्वर्थमधोमुखम् ।
इत्यधोमुखम् (१३)

शिरः स्याल्लोलितं सर्वदिक्कैः शिथिललोचनैः ॥ ७३ ॥
निद्रागदग्रहावेशमदमूर्च्छासु तन्मतम् ।
इति लोलितम् (१४)

इति भरतोक्तं चतुर्दशविधं शिरः

परावृत्तम् । कोपलज्जादिकृते ; वक्त्रापसारणे ; परावृत्तानुकरणे ; पृष्ठतः प्रेक्षणे च
तस्य विनियोगः ॥ -७०, ७१ ॥

इति परावृत्तम् (११)

(सु०) उत्क्षिप्तं लक्षयति—ऊर्ध्वेति । ऊर्ध्ववक्त्रं शिर उत्क्षिप्तम् । तस्य
व्योमगामिनां चन्द्रादीनाम्, तुङ्गवस्तूनां दर्शने च विनियोगः ॥ ७२ ॥

इत्युत्क्षिप्तम् (१२)

(सु०) अधोमुखं लक्षयति—लज्जेति । अधः मुखं यस्य तत्, अधो-
मुखमन्वर्थनामकम् । तस्य लज्जादुःखप्रणामेषु विनियोगः ॥ ७२- ॥

इत्यधोमुखम् (१३)

(सु०) लोलितं लक्षयति—शिर इति । सर्वदिक्कैः ; सर्वा दिशो येषु तानि

तिर्यङ्नतोन्नतिं प्राप्तं शिरस्तिर्यङ्नतोन्नतम् ॥ ७४ ॥

बिम्बोकादिषु कान्तानां तत्प्रयोगं प्रचक्षते ।

इति तिर्यङ्नतोन्नतम् (१)

स्कन्धानतं तदाख्यातं स्कन्धे यन्निहितं शिरः ॥ ७५ ॥

तन्निद्रामदमूर्च्छासु चिन्तायां तत्प्रयुज्यते ।

इति स्कन्धानतम् (२)

स्कन्धे तु किञ्चिदाश्लिष्य भ्रान्तमारात्रिकं स्मृतम् ॥ ७६ ॥

विस्मये दृश्यते तच्च पराभिप्रायवेदने ।

इत्यारात्रिकम् (३)

सर्वदिक्काणि, तथाविधैः सर्वदिक्कैः शिथिलैः लोचनैर्युक्तं शिरो लोलितं भवति ।

तस्य निद्रागदग्रहावेशमदमूर्च्छासु विनियोगः ॥ -७३, ७३- ॥

इति लोलितम् (१४)

इति भरतोक्तं चतुर्दशविधं शिरः ।

(सु०) मतान्तरोक्तं पञ्चविधं शिरो लक्षयति—तिर्यगित्यादिना । तिर्यक् पार्श्वतः नतोन्नतिं प्राप्तं शिरो नतोन्नतमित्युच्यते । तस्य कान्तानां बिम्बोकादिषु विनियोगः ॥ -७४, ७४- ॥

इति नतोन्नतम् (१)

(सु०) स्कन्धानतं लक्षयति—स्कन्धानतमिति । स्कन्धे यन्निहितं शिरः स्कन्धानतमित्युच्यते । तस्य निद्रामदमूर्च्छासु, चिन्तायां च विनियोगः ॥ -७५, ७५- ॥

इति स्कन्धानतम् (२)

(सु०) आरात्रिकं लक्षयति—स्कन्धे इति । स्कन्धे तु किञ्चित् आश्लिष्य,

स्वाभाविकं समं शीर्षं स्वभावाभिनये मतम् ॥ ७७ ॥

इति समम् (४)

पार्श्वाभिमुखमन्वर्थं पार्श्वस्थस्यावलोकने ।

इति पार्श्वाभिमुखम् (५)

इति पञ्च शिरःप्रकाराः ।

इत्येकोनविंशतिविधं शिरः ॥

हस्तभेदानामुद्देशः—

पताकत्रिपताकोऽर्धचन्द्राख्यः कर्तरीमुखः ॥ ७८ ॥

अरालमुष्टिशिखरकपित्थखट्कामुखाः ।

शुकतुण्डश्च काङ्गूलः पद्मकोशोऽलपल्लवः ॥ ७९ ॥

सूचीमुखः सर्पशिराश्चतुरो मृगशीर्षकः ।

शिरः, आरात्रिकं भवति । तस्य विस्मये पराभिप्रायवेदने च विनियोगो दृश्यते ॥ -७६, ७६- ॥

इत्यारात्रिकम् (३)

(सु०) समं लक्षयति—स्वाभाविकमिति । स्वाभाविकं विकारहीनं शीर्षं सममुच्यते । तस्य विनियोगः स्वभावाभिनये भवति ॥ -७७ ॥

इति समम् (४)

(सु०) पार्श्वाभिमुखं लक्षयति—पार्श्वेति । पार्श्वाभिमुखमित्यन्वर्थं शिरः । तस्य पार्श्वस्थस्यावलोकने विनियोगः ॥ ७७- ॥

इति पार्श्वाभिमुखम् (५)

इति मतान्तरोक्तं पञ्चविधं शिरः ।

आहत्येकोनविंशतिविधं शिरः ॥

(क०) अथ हस्तभेदानुद्दिशति—पताक इत्यादिना । अभिनेयव-

हंसास्यो हंसपक्षश्च भ्रमरो मुकुलस्तथा ॥ ८० ॥
 ऊर्णनाभश्च संदशस्ताम्रचूडोऽपरः करः ।
 असंयुता मता हस्ताश्चतुर्विंशतिरित्यमी ॥ ८१ ॥
 अभिनेयवशादेषां संयुतत्वमपीष्यते ।
 अञ्जलिश्च कपोताख्यः कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥ ८२ ॥
 डोलः पुष्पपुटोत्सङ्गौ खट्कावर्धमानकः ।
 गजदन्तोऽवहित्यश्च निषधो मकरस्तथा ॥ ८३ ॥
 वर्धमानश्चेति हस्ताः संयुताः स्युस्त्रयोदश ।
 एतेऽभिनयहस्ता स्युः सप्तत्रिंशन्मुनेर्भताः ॥ ८४ ॥
 चतुरश्रौ तथोद्घृतौ हस्तौ तलमुखाभिधौ ।
 स्वस्तिकौ विप्रकीर्णाख्यावरालखटकामुखौ ॥ ८५ ॥

तादेषां संयुतत्वमपीष्य इति । अभिनेयः; अभिनययोग्योऽर्थः ।
 तद्वशात् एतेषां पताकादीनां चतुर्विंशत्यसंयुतहस्तानां संयुतत्वमपीष्यत
 इति । यथा वक्ष्यति पताकहस्तविनियोगे; ‘उचितौ विच्युतौ कार्या-
 वेतावन्योन्यसंमुखौ’ इति । तथा भरतेनाप्युक्तं चतुरहस्तविनियोगे;

“नयनौपम्यं पद्मदलरूपणं हरिणकरणनिर्देशम् ।

संयुतकरणेनैव तु चतुरेणैतानि कुर्वीत ॥”

इति । एवं हस्तान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् । ननु त्रयोदशसंयुतहस्तानां त्रिंशन्नृत्त-
 हस्तानां च हस्तद्वयनिष्पाद्यत्वे समानेऽप्युद्देशेऽञ्जल्यादीनामेकवचनेन निर्देशः ।
 चतुरश्रादीनां द्विवचनेन निर्देशः कथमिति चेत्; उच्यते—अञ्जल्यादी-
 नामभिनयहस्तत्वेनार्थगमकत्वनियमात् संयुतत्वव्यतिरेकेणार्थगमकत्वाभावात्
 संयुताकारेणैकहस्तत्वम् । तेनैकवचनिर्देश एवोपपन्नस्तेषाम् । चतुरश्रादीनां

आविद्धवक्त्रौ सूच्यास्यौ रेचितावर्धरेचितौ ।
 नितम्बौ पल्लवौ केशबन्धावुत्तानवञ्चितौ ॥ ८६ ॥
 लताख्यौ करिहस्तश्च पक्षवञ्चितकाभिधौ ।
 पक्षप्रद्योतकौ दण्डपक्षौ गरुडपक्षकौ ॥ ८७ ॥
 ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ पार्श्वमण्डलिनावपि ।
 उरोमण्डलिनौ स्यातामुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ ८८ ॥
 मुष्टिकस्वस्तिकावन्यौ नलिनीपद्मकोशकौ ।
 अलपद्मावुल्लणौ च ललितौ वलिताविति ॥ ८९ ॥
 नृत्तहस्ता मतास्त्रिंशन्नृत्तमात्रोपयोगिनः ।
 एतानभिनयेऽप्याहुः शास्त्रतः संप्रदायतः ॥ ९० ॥

तु नृत्तहस्तत्वेन शोभामात्रोपयोगित्वात् तस्य चैकेनापि साध्यत्वात् प्रयोगे
 पृथक्स्वातन्त्र्यं दर्शयितुं तेषां द्विवचननिर्देश एवोपपन्नः । यद्यप्येवं पृथक्
 स्वातन्त्र्यम्, तथापि चतुरश्रावित्यादिकयोरेकरूपयोः ‘अरालखटकामुखौ’
 इत्यादिकयोः भिन्नरूपयोर्वा एकैकहस्तत्वेन परिगणनं तु तयोरन्योन्यापेक्षया
 मिलितयोरेव शोभातिशयहेतुत्वविवक्षयेति द्रष्टव्यम् ।

ननु च नृत्तप्रस्तावे अभिनयहस्तानामुद्देशलक्षणपरीक्षाभिः कोऽर्थः ?
 इति चेत्, उच्यते—‘आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः’ इति
 खल्लुक्तम् । तस्यायमर्थः—आङ्गिकाभिनये शिरोहस्तादिभेदानामर्थावगमकत्वे
 यो यः प्रकार उक्तः, स एवार्थावगमकत्वं विहाय, नर्तकेच्छया यथाशोभं
 ताललयानुगतत्वेन प्रयुक्तश्चेत् नृत्तं भवतीति । अतोऽत्राङ्गिकाभिनयप्रकारो-
 ऽवश्यमादौ वक्तव्य इत्यचोद्यमेतत् । किञ्च अभिनयप्रस्तावे नृत्तमप्युपकरोति ।
 आवेष्टितादिभिः अभिनयस्या विच्छिन्नाकारतामपोह्य वाक्यार्थविश्रान्ति-
 प्रतीतिजननात् । यथाह—अभिनवगुप्ताचार्यो भारतीयविवृतौ, “ एते च

त्रयोदश संयुताव्यतिरेकेण न स्वार्थस्य गमकाः” ; इत्युक्त्वा, “ एतेषां त्वमि-
नयहस्तानां छिद्रच्छादनेनैकवर्तनानुप्रवेशादलातचक्रप्रतिमां दर्शयितुं, मसृणो-
द्धतवर्तनात्मकतया चैकवाक्यार्थवीश्रान्ततां प्रथयितुं, नृत्तस्य च वस्तुभूतत्वे-
नोक्तस्य स्वरूपमभिधातुं, ‘नृत्यन्तौ चेटयौ’ इति नृत्तादिविषये च
सूच्यङ्कुरादावुपयोगमपि दर्शयितुं नृत्तशब्देन विशेष्यं निर्दिशति—नृत्त-
हस्तानित्यादिना । ” नृत्तहस्तानधिकृत्य तेनैव, “ संयुतासंयुतरूपोपजीविन
एत इत्येकाकिनोऽपि प्रयुज्यन्ते ” इति (नाट्य० अ० ९-१०) अत अञ्ज-
ल्यादीनां संयुतरूपतैव । चतुरश्रादीनां तूभयरूपतेति सर्वमवदातम् । अथ कथं
चतुरश्रादीनामुद्देशमध्ये, ‘करिहस्तश्च’ इत्येकवचननिर्देश इत्यत्र ग्रन्थकारः
स्वयमेवोपपत्तिं वक्ष्यतीत्यलम् । नृत्तमात्रोपयोगिन इति केषांचिन्मतम् । अन्ये
तु एतान् नृत्तहस्तान् शास्त्रतः संप्रदायत अभिनयेऽप्याहुः ॥ -७८-९० ॥

(सु०) हस्तभेदानुदिशति—पताक इति । पताकादयस्ताम्रचूडान्ता
असंयुतहस्ताश्चतुर्विंशतिः ; यथा—पताकः, त्रिपताकः, अर्धचन्द्रः, कर्तरी-
मुखः, अरालः, मुष्टिः, शिखरः, कपित्थः, खटकामुखः, शुकुतुण्डः, काङ्गूलः,
पद्मकोशः, अलपल्लवः, सूचीमुखः, सर्पशिराः, चतुरः, मृगशीर्षकः, हंसास्यः,
हंसपक्षः, भ्रमरः, मुकुलः, ऊर्णनाभः, संदशः, ताम्रचूड इति । एतेषामभिनय-
वशात्संयुतत्वमप्यङ्गीक्रियते । अञ्जल्यादयो वर्धमानान्ता संयुतहस्तास्त्रयोदश ;
यथा—अञ्जलिः, कपोतः, कर्कटः, स्वस्तिकः, डोलः, पुष्पपुटः, उत्सङ्गः,
खटकावर्धमानकः, गजदन्तः, अवहित्थः, निषधः, मकरः, वर्धमान इति । एते
सर्वे मिलित्वा सप्तत्रिंशदभिनयहस्ता मुनेरभिमताः । चतुरश्रादयो ललितान्तास्त्रि-
ंशन्नृत्तहस्ताः नृत्तमात्रोपयोगिन एव । यथा—चतुरश्रौ, उद्वृतौ, तलमुखौ,
स्वस्तिकौ, विप्रकीर्णौ, अरालखटकामुखौ, आविद्धवक्त्रौ, सूच्यास्यौ, रेचितौ,
अर्धरेचितौ, नितम्बौ, पल्लवौ, केशवन्धौ, उत्तानवञ्चितौ, लताकारौ, करिहस्तः,
पक्षवञ्चितौ, पक्षप्रद्योतकौ, दण्डपक्षकौ, गरुडपक्षकौ, ऊर्ध्वमण्डलिनौ, पार्श्व-
मण्डलिनौ, उरोमण्डलिनौ, उरःपार्श्वार्धमण्डलिनौ, मुष्टिकस्वस्तिकौ, नलिनी-

लताख्यौ हि मुनिर्वक्ति नृत्ताभिनयगोचरौ ।

सूच्यन्तेऽन्ये साहचर्यात्तेनाभिनयगोचराः ॥ ९१ ॥

पद्मकोशौ, अलपद्मकौ, उल्बणौ, ललितौ, वलिताविति । केचित् एतान् नृत्तहस्तान् अभिनयेऽप्याहुः । कुतः ? शास्त्रात् संप्रदायाच्चेति ॥ -७८-९०- ॥

(क०) तत्र शास्त्रं तावद्दर्शयति—लताख्यौ हि मुनिर्वक्ति नृत्ताभिनयगौचराविति । यथाह मुनिः—

“तिर्यक्प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ तथैव च ।

लताख्यौ च करौ ज्ञेयौ नृत्ताभिनयनं प्रति ॥”

इति । संप्रदायं दर्शयति—सूच्यन्ते साहचर्यात्तेनाभिनयगोचरा इति । अस्यार्थः—नृत्तहस्तेषु लताभिनयहस्तयोरभिनयविषयत्वे मुनिवचनेन शास्त्रेण सिद्धे तेन लताहस्तेन साहचर्यादन्ये नृत्तहस्ता अभिनयगोचराः सूच्यन्त इति । अयमेव संप्रदायो ज्ञेयः । शास्त्रानुक्तस्यापि शास्त्रेणाभ्यनुज्ञातस्य शास्त्राविरोधिनेऽर्थविशेषस्य आचार्यशिष्यपरंपरया यदुपदेशप्रदानं स संप्रदाय इत्येतल्लक्षणलक्षितत्वात् । तथाचोक्तम्—

“यो यत्सम्यग्विजानीते स यद्वदति तत्स्वतः ।

स संप्रदायः कथितो विष्णुना लोकजिष्णुना ॥” इति,

“यत्र कुत्रचिदाख्याता संस्थितिश्चानुपूर्वतः ।

स संप्रदायः कथितो यथा स्वर्णविभूषणे ॥”

इति च ॥ ९१ ॥

(सु०) ननु भरताशास्त्रे नृत्तहस्तानामभिनये विनियोगो न दृश्यते । तत्कथमुक्तं शास्त्रत इति ? तत्राह—लताख्याविति । मुनिः ; भरतः, लताख्यौ हस्तौ, नृत्ते अभिनये च कथयति । अतः कारणात् अन्येऽपि लताख्यहस्त-साहचर्यात् चतुरश्रादयोऽप्यभिनयविषयाः सूच्यन्ते ज्ञाप्यन्त इति ॥ ९१ ॥

युक्तिः संप्रदायाच्च लोकतोऽत्र विशेषधीः ।

यथा हि करिहस्तेन हस्ती लोकेऽभिनीयते ॥ ९२ ॥

भट्टाभिनवगुप्ताद्यैरिदमभ्युपगम्यते ।

सर्वे च मिलिताः सन्तः सप्तषष्टिरिमे कराः ॥ ९३ ॥

चतुःषष्टित्वमेतेषां न युक्त्यागमगोचराः ।

चतुःषष्टित्वमेवं वा तेषां सूरिभिरूह्यताम् ॥ ९४ ॥

(क०) एवं शास्त्रसंप्रदायाभ्यां नृत्तहस्तानामभिनयविषयत्वमपि विद्यत इति सामान्येनाभिनयविषयत्वे ज्ञाते कुत्र कस्य कथमभिनय इति विशेष-जिज्ञासायामाह—युक्तिः संप्रदायाच्च लोकतोऽत्र विशेषधीरिति । अत्र नृत्तहस्तानामभिनयविषयत्वे, विशेषधीः; विशेषज्ञानम्, क्वचित् युक्तिः; प्रयोक्तुरुपपत्तिविशेषात्, क्वचित् संप्रदायात्; आचार्योपदेश-परंपरायाः, क्वचित् लोकतः; लोकचरितात्, एकैकस्मात् द्वाभ्यां त्रिभ्यो वा द्रष्टव्यम् । तत्र लोकतो ज्ञेयमुदाहृत्य दर्शयति—यथा हि करिहस्तेन हस्ती लोकेऽभिनीयत इति । तदेतदाचार्यैरप्यङ्गीकृतमित्याह—भट्टाभि-नवगुप्ताद्यैरिदमभ्युपगम्यत इति । हस्तसंख्यां मिलित्वा दर्शयति—सर्वे चेति । संयुतासंयुतनृत्तहस्ता अत्र सर्वशब्देनोच्यन्ते । लोके तावत्तेषां चतुःषष्टित्वप्रसिद्धिरप्रामाणिकीत्याह—न युक्त्यागमगोचर इति । लोक-प्रसिद्धचन्यथानुपपत्त्या चतुःषष्टित्वे युक्तिं ग्रन्थकारः स्वबुद्ध्या कल्पयति—चतुःषष्टित्वमेवं वेत्यादिना ॥ ९२—९४ ॥

(सु०) कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह—युक्ति इति । प्रयोक्तुरुपपत्तिविशेषात्, आचार्योपदेशपरंपर्यात्, लोकाचाराच्च द्रष्टव्यम् । लोकाचारमेव दर्शयति—यथा हीति । करिहस्तेन गजाभिनयो लोके दृश्यते । भट्टाभिनवगुप्तादयः; भरत-शास्त्रटीकाकाराः, इदम्; करिहस्ताभिनयम् । अभ्युपागमगत् अङ्गयकार्षुः ।

कर्तव्यौ स्वस्तिकौ हस्तौ विप्रकीर्णविशेषणौ ।
 करौ हि स्वस्तिकीभूय विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥ ९५ ॥
 स्वतन्त्रयोरतो नास्ति प्रयोगो विप्रकीर्णयोः ।
 उरोमण्डलिनावेवं पार्श्वमण्डलिनोरिह ॥ ९६ ॥
 विशेषणे चोल्बणयोः कर्तव्यावलपल्लवौ ।
 विशेषणविशेष्ये च न स्यातां भिन्नगामिनी ॥ ९७ ॥
 नीलमुत्पलमित्यत्र न हीष्टं पङ्कजद्वयम् ।
 प्रसिद्धेरुपपत्त्यर्थं युक्तिरेषा मयोदिता ॥ ९८ ॥
 आचार्याणां तु सर्वेषां पृथगुद्देशलक्षणे ।
 वदतां स्वस्तिकाद्येषु न विशेषणता मता ॥ ९९ ॥

एते सर्वेऽपि मिलिताः संयुताः, असंयुताः, नृत्तहस्ताश्च सप्तषष्टिः । ननु लोके चतुःषष्टिहस्तका इति प्रसिद्धिः, तत्कथमुच्यते सप्तषष्टिरिति ? अत्राह—चतुःषष्टित्वमिति । शास्त्रेण युक्त्या वा न चतुःषष्टित्वं घटते, भरतादिशास्त्रेष्वदृष्टत्वात् । अभिनयार्थमेतेषामवश्यंभावाच्च । अथवा अनेन प्रकारेण सूरिभिः ज्ञातृभिः एतेषां हस्तकानां चतुःषष्टित्वमूहनीयम् ॥ -९२-९४- ॥

(क०) स्वस्तिकादीनां विप्रकीर्णादिविशेषणतायुक्तिर्लोकप्रसिद्धचवगतचतुःषष्टित्वनिर्वाहायस्मभिरेवोक्ता, न त्वाचार्यसंमतेत्याह—आचार्याणां त्विति ॥ ९५-९९ ॥

(सु०) तमेव प्रकारमाह—कर्तव्याविति । स्वस्तिकौ हस्तौ विप्रकीर्णविशेषणौ कर्तव्यौ । हि यस्मात् कारणात् पूर्वं स्वस्तिकौ भूत्वा पश्चात् विच्युतौ पृथग्भूतौ विप्रकीर्णावित्युच्येते । अत एव स्वस्तिकाभ्यां पृथग्भूतयोर्विप्रकीर्णयोर्न प्रयोगः । एवमेव उरोमण्डलिनौ पार्श्वमण्डलिनौ विशेषणम् । इह अलपल्लवौ च उल्बणयोर्विशेषणम् । ननु विशेषणत्वेऽपि भेदो भविष्यति ।

निकुञ्चकमयुक्तेषु करं द्विशिखरं पुनः ।
 युक्तेषु नृत्तहस्तेषु त्वधिकौ वरदाभयौ ॥ १०० ॥
 ब्रुवन्तः केचिदाचार्या हस्तसप्ततिमूचिरे ।
 तेषामीषद्विकारेऽपि विनियोगेष्वनन्यता ॥ १०१ ॥

अथासंयुता हस्ताः—

तर्जनीमूलसंलग्नाकुञ्जिताङ्गुष्ठको भवेत् ।
 पताकः संहताकारः प्रसारिततलाङ्गुलिः ॥ १०२ ॥
 वस्तुस्पर्शे चपेटे च पताकालालनादिषु ।
 ज्वालासूर्ध्वगतास्वस्याङ्गुल्यः प्रविरलाश्वलाः ॥ १०३ ॥
 धारास्वधोगताः पक्षिपक्षे त्वस्य कटिस्थिते ।

तत्राह—विशेषणेति । विशेषणं विशेष्यं च यस्मात् भिन्नपदार्थाविति न दृष्टम् ।
 अत्र दृष्टान्तमाह—नीलमिति । प्रसिद्धेति । लोकप्रसिद्धयपपादनाय मया एषा
 युक्तिरुक्ता । आचार्याणाम् ; भरतादीनाम् । पृथक्पृथग्गुद्देशलक्षणं च वदता
 स्वस्तिकादिषु विशेषणं नाभिमतम् ॥ -९९-९९- ॥

(क०) कैश्चिदाचार्यैरधिकहस्तत्रयाङ्गीकारेण हस्तसप्ततिरुक्तेत्याह—
 निकुञ्चकमित्यादि । तेषां त्रयाणां स्वेनापरिगणने हेतुमाह—तेषामीषद्वि-
 कारेऽपि विनियोगेष्वनन्यतेति ॥ १००, १०१ ॥

(सु०) मतान्तरेण हस्तत्रयमुद्दिशति—निकुञ्चकमिति । असंयुतहस्तकेषु
 निकुञ्चकमेकः, युक्तेषु पुनः, संयुतहस्तेषु शिखरः, नृत्तहस्तेषु वरदाभयाविति
 केचिदाचार्याः हस्ताः सप्ततिरित्याहुः । तेषां मते अन्येभ्य ईषद्विकृतत्वेऽपि
 विनियोगे अन्यत्वं नास्ति । तुल्यतैवेत्यर्थः ॥ -१००, १०१- ॥

(क०) अथ पताकादीनां यथोद्देशकं सविनियोगानि लक्षणान्याह—

ऊर्ध्वं गच्छन्नुच्छिन्नेषु पुष्करप्रहतौ त्वधः ॥ १०४ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्कटिक्षेत्रादुत्क्षेपाभिनये करः ।

आभिमुख्ये मुखक्षेत्रमागच्छन्निजपार्श्वतः ॥ १०५ ॥

स्वपार्श्वे कम्पमानस्तु प्रतिषेधे भवत्यसौ ।

शीघ्रं वर्षन्नधिष्ठाय पताकः क्षालने परम् ॥ १०६ ॥

पताकं तु शनैर्वर्षन् मर्दने मार्जने तथा ।

उत्पादने धारणे च शिलादिस्थूलवस्तुनः ॥ १०७ ॥

उचितौ विच्युतौ कार्यावेतावन्योन्यसंमुखौ ।

अधोगतोच्छ्रितचलाङ्गुलिर्वायूर्मिवेगयोः ॥ १०८ ॥

इति पताकः (१)

तर्जनीमूलेत्यादि । अत्र पताकादीनां हस्तानां पताकाद्याकारवत्त्वेन पताकादिशब्दाभिधेयत्वम् । पताकादिशब्दानां च स्ववृत्तिनिमित्तपताकाद्यर्थप्रकाशकत्वात् । अत्र तत्तदभिधेयानां हस्तानां तत्तदर्थप्रदर्शकत्वं च कचिदनुक्तमप्यनुसंधेयम् । तत्र पताकहस्तविनियोगे चपेटेऽस्युच्यते । चपेटो नाम प्रसारितनिरन्तराङ्गुलितलेन हस्तेन वटुचेटादीनामस्थाने प्रहारः ॥ १०२-१०८ ॥

इति पताकः (१)

(सु०) पताकं सक्षयति—तर्जनीति । तर्जन्या मूले संलग्न आकुञ्चितो ऽङ्गुष्ठो यस्य तथाविधः, संहताकारः मिलिताकारः, प्रसारिततलाङ्गुलिः; आसारिततलाङ्गुलिश्च पताक इति । तस्य विनियोगमाह—वस्त्विति । एष पताकः वस्तुस्पर्शः; चपेटे च; चपेटो नाम हस्तघातः, पताकालालनादिषु; पताको ध्वजः, तस्य लालने प्रयोगः । यदा अङ्गुल्य ऊर्ध्वं गताः प्रविरलाः चलाश्च भवन्ति, तदा ज्वालासु प्रयोगः । यदा अङ्गुल्य अधोगताः तदा वर्षधारासु प्रयोगः । पक्षिपक्षाभिनये तु कटिस्थितो भवति । ऊर्ध्वं गच्छन्

स एव त्रिपताकः स्याद्वक्रितानामिकाङ्गुलिः ।
 दध्यादिमङ्गलद्रव्यस्पर्शादौ स विधीयते ॥ १०९ ॥
 पराङ्मुखः स्यादाह्वाने लग्नद्रव्यङ्गुलिकुञ्चनात् ।
 बहिः क्षिप्ताङ्गुलिद्वन्द्वोऽधस्तलोऽनादरोज्झिते ॥ ११० ॥
 नमस्कारे त्वसौ कार्यः शिरस्थः पार्श्वतस्तलः ।
 उत्तानिताङ्गुलिद्वन्द्वो वदनोन्नमने मतः ॥ १११ ॥
 संदेहे दधदङ्गुल्यौ क्रमेणैव नतोन्नते ।
 अधोमुखः शिरःप्रान्ते भ्रमन्नुष्णीषधारणे ॥ ११२ ॥

पताकः उच्छिष्टेषु उच्चेषु प्रयुज्यते । अधोगच्छन् पुष्करप्रहतौ प्रयुज्यते ।
 कटिक्षेत्रादूर्ध्वं गच्छन् उत्क्षेपाभिनये प्रयुज्यते । निजपार्श्वतः ; स्वपार्श्वतः
 मुखक्षेत्रमागच्छन् आभिमुख्ये भवति । असौ ; पताकस्तु स्वपार्श्वं कम्पमानः
 सन् प्रतिषेधे विनियुज्यते । शीघ्रमिति । पताकम् अधिष्ठाय शीघ्रं घर्षन्
 क्षालने अभिनयेत् । शनैः घर्षन् कृतः पताकस्तु, मर्दने मार्जने च विनियु-
 ज्यते । तथा उत्पाटने, शिलादिस्थूलवस्तुनो धारणे च अन्योन्यसंमुखावेतौ
 पताकौ विच्युतौ संलग्नौ कार्यौ । अधोगतोच्छ्रितचलाङ्गुलिः ; अधोगता
 उच्छ्रिता चलाश्च अङ्गुलयो यस्य, तथाविधः सन् पताकः वायूर्मिवेगयोः
 अभिनये च कार्यः ॥ -१०२-१०८- ॥

इति पताकः (१)

(क०) त्रिपताकहस्तविनियोगे—तादृगेव किरीटस्य धृतौ मूर्धो-
 र्ध्वदेशग इति । उष्णीषधारणामिनये, अधोमुखः शिरः प्रान्ते भ्रमन्निति
 यादृगुक्तः, तादृगेव मूर्ध्वोर्ध्वदेशगश्चेति । अमयर्थः—अधोमुखस्त्रिपताक-
 हस्तः प्रथमं शिरःप्रान्ते आन्त्वा, ततः तदूर्ध्वदेशे पूर्वावृत्त्यर्धपरिमाणवत्तया
 आन्त्वा, ततोऽप्यूर्ध्वदेशे तदर्धावृत्तिपरिमाणवत्तया भ्रमन् किरीटस्य धृतौ
 धारणाभिनये भवति । शिरस उपरिभाग आनुपूर्व्येण स्थूलमूलसूक्ष्माग्रत्वदर्शने

तादृगेव किरीटस्य धृतौ मूर्धोर्ध्वदेशगः ।

अनिष्टे गन्धवाग्धोषे नासास्यश्रोत्रसंवृतिम् ॥ ११३ ॥

अङ्गुलीभ्यां क्रमात्कुर्वन् पक्षिस्रोतोऽनिलेषु तु ।

क्षुद्रेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रमाद्गच्छन् दधत्तथा ॥ ११४ ॥

अधोमुखचलाङ्गुल्यौ कटिक्षेत्रगतः करः ।

अस्त्रे तन्मार्जने च स्यादधो यान्तीमनामिकाम् ॥ ११५ ॥

नेत्रक्षेत्रगतां बिभ्रत्तिलके तु ललाटगाम् ।

अलकस्यापनयने दधत्तामलकान्विताम् ॥ ११६ ॥

इति त्रिपताकः (२)

मुकुटप्रतीतिर्भवेदित्यर्थः । अनिष्ट इत्यादि । अङ्गुलीभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यां नासासंवृत्तिं कुर्वन् अनिष्टं गन्धमभिनयेत् । तथा आस्यसंवृत्तिं कुर्वन् अनिष्टां वाचमभिनयेत् । तथा श्रोत्रसंवृत्तिं कुर्वन् अनिष्टं घोषमभिनयेदिति क्रमो द्रष्टव्यः । तथा अधोमुखचलाङ्गुल्यौ दधत् कटिक्षेत्रगतः कर ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्गच्छन्तु क्रमात् क्षुद्रेषु पक्षिस्रोतोऽनिलेषु भवतीत्यन्वयः ॥ १०९—११६ ॥

इति त्रिपताकः (२)

(सु०) त्रिपताकं लक्षयति—स एवेति । सः ; पताक एव वक्रिता अनामिकाङ्गुलिर्यस्मिन्, तथाविधः त्रिपताको भवति । स च दध्यादिमङ्गल-द्रव्यस्पर्शे विनियुज्यते । लग्नस्य द्व्यङ्गुलादेराकुञ्चनात् पराङ्मुख आह्वाने च विनियुज्यते । बहिः क्षिप्तमङ्गुलिद्वन्द्वं यस्य अधस्तलः तधाविधः करः अनादरे, नमस्कारे च कार्यः । उत्तानिताङ्गुलिद्वन्द्वः पार्श्वतलस्थः वदनोन्नते, क्रमेण अङ्गुल्यौ नतोन्नते दधन् संशये विनियुज्यते । द्वौ अङ्गुलौ अधोमुख-शिरः प्रान्ते भ्रमन् उष्णीषधारणे प्रयोज्यः । स एव मूर्धोर्ध्वदेशगः किरीट-धारणे प्रयोज्यः । अनिष्टे निषेधे अङ्गुलीभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यां नासिका-

एकतोऽङ्गुलिसंघाते यत्राङ्गुष्ठे स्थितेऽन्यतः ।
 चन्द्रलेखाकृतिर्भाति सोऽर्धचन्द्रोऽभिधीयते ॥ ११७ ॥
 उपर्युत्तानितोऽर्धेन्द्रावूर्ध्वगो बालपादपे ।
 पराङ्मुखस्तु खेदे स्यात्कपोलफलकं दधत् ॥ ११८ ॥
 प्रयोक्तव्यः कृशे मध्ये बलान्निर्वासनादिषु ।

इत्यर्धचन्द्रः (३)

अश्लिष्टमध्यमा पृष्ठे संस्थिता तर्जनी यदा ॥ ११९ ॥

संवृतिं कुर्वन् अनिष्टं गन्धमभिनयेत् । तथा आस्यसंवृतिं कुर्वन् अनिष्टां वाच-
 मभिनयेत् । तथैव श्रोत्रसंवृतिं कुर्वन्ननिष्टं घोषमभिनयेदिति क्रमोऽनुसंधेयः ।
 तथा अधोमुखचलाङ्गुल्यौ धारयन् कटिक्षेत्रगतः कर ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्गच्छन्
 क्रमेण क्षुद्रेषु पक्षिस्तोतोऽनिलेष्वपि भवति । तथैव अधोमुखेन च अङ्गुल्यौ
 कटिक्षेत्रे वर्तमाने अस्त्रे रक्तस्त्रावे, तन्मार्जने च स्यात् । अधोगच्छन्तीमनामि-
 काङ्गुलीं नेत्रप्रदेशे विभ्रत् धारयन् तिलकविरचने कार्यः । ललाटे वर्तमाना-
 मलिकयुक्तामनामिकां दधानो अलकस्य अपनये; अपसारणे विनियुज्यते
 ॥ १०९-११६ ॥

इति त्रिपताकः (२)

(सु०) अर्धचन्द्रं लक्षयति—एकत इति । एकतः प्रदेशे अङ्गुलिसंघाते
 अङ्गुलिसमूहे, अङ्गुष्ठे च पृष्ठे पृथगन्यतः स्थिते सति, यः करः चन्द्रलेखा-
 कृतिवद्भाति सोऽर्धचन्द्रः । एष उपरिप्रदेशे उत्तानीकृतश्चेत् तदा अर्धेन्द्रौ,
 तदेव ऊर्ध्वगश्चेत् बालपादपे च अभिनयने कार्यः । पराङ्मुखस्तु खेदे;
 तदेव कपोलफलकं दधत्; गण्डफलकं धारयन् कृशे, मध्ये, दौवारिककृत-
 बलान्निर्वासने च कार्यः ॥ ११७-११८- ॥

इत्यार्धचन्द्रः (३)

(क०) कर्तरीमुखलक्षणे—पृष्ठे अश्लिष्टमध्यमेति समभिव्याहारात्

त्रिपातकस्य हस्तस्य तदा स्यात्कर्तरीमुखः ।

अलक्तकादिना पादरञ्जने पतने पुनः ॥ १२० ॥

मध्यमां तर्जनीस्थाने पुनस्तत्रैव तर्जनीम् ।

दधानोऽधोगतोऽथाग्रस्थोत्ताने लेख्यवाचने ॥ १२१ ॥

इति कर्तरीमुखः (४)

तर्जन्यादिष्वङ्गुलीषु प्राच्याः प्राच्याः परा परा ।

दूरस्थोच्चा मनाग्वक्रा धनुर्वक्रा तु तर्जनी ॥ १२२ ॥

अङ्गुष्ठः कुञ्चितो यत्र तमरालं प्रचक्षते ।

मध्यमायाः पृष्ठमेव गम्यते । पृष्ठं पाश्चात्यो भागः । विनियोगे च—

मध्यमां तर्जनीस्थान इति । तर्जन्यां मध्यमाङ्गुलिपुरोभागं नीतायां

मध्यमा तर्जनीस्थाने स्थिता भवति । पुनस्तत्रैव तर्जनीमित्यनेन तर्जन्या

एव व्यापारः, न मध्यमाया इति गम्यते । एवं दधानोऽधोगतः पतने

भवतीत्यन्वयः ॥-११९-१२१ ॥

इति कर्तरीमुखः (४)

(सु०) कर्तरीमुखं लक्षयति—अश्लिष्टेति । त्रिपातकहस्तस्य तर्जनी

असंलग्ना सती मध्यमाङ्गुलिपृष्ठे यदा तिष्ठति, तदा कर्तरीमुखः । तस्य विनियो-

गस्तु—अलक्तकादिना, यावकादिना चरणरञ्जने कार्यः । तर्जनीस्थाने मध्यमां,

पुनस्तत्रैव तर्जनीं धारयन्, अग्रे अधोगत उत्तानश्च यदि स्यात् तदा पतने,

अथ अग्रस्थोत्ताने लिखितवाचने च विनियोगः कार्यः ॥ -११९-१२१ ॥

इति कर्तरीमुखः (४)

(क०) अरालहस्तलक्षणे—तर्जन्यादिष्वङ्गुलीषु प्राच्याः प्राच्याः

परा परेति । मध्यमापेक्षया तर्जनी प्राची ; अनामिकापेक्षया कनीयसी

परेति द्रष्टव्यम् । तत्र परा परा मध्यमादिः प्राच्याः प्राच्याः तर्जन्यादेः

आशीर्वादादिषु प्रोक्तः स पुंसां हृदयस्थितः ॥ १२३ ॥

अधः स्त्रीणां केशबन्धे केशानां च विकीर्णने ।

द्वित्रिः कार्योऽन्यपार्श्वार्त्तु स्वपार्श्वं वर्तुलभ्रमः ॥ १२४ ॥

आव्रजन् जनसंघे स्यादाह्वाने पतदङ्गुलिः ।

विवाहे त्वङ्गुलाग्रस्थस्वस्तिकाकारयोजितम् ॥ १२५ ॥

प्रदक्षिणं करद्वन्द्वं स्याद्भ्रमत्केवलं पुनः ।

प्रदक्षिणं भ्रमन् कार्यो देवतानां प्रदक्षिणे ॥ १२६ ॥

कस्त्वं कोऽहं क संबन्ध इत्यसंबद्धभाषणे ।

बहिः पुनः पुनः क्षिप्ताङ्गुलिर्भालस्थितः पुनः ॥ १२७ ॥

भालस्वेदापनयने त्रिपताकोदितेषु च ।

इत्यारालः (५)

सकाशात् । दूरस्थोच्चा मनाग्वक्रा कर्तव्येति । पूर्वापूर्वापेक्षया परापरासु दूरस्थत्वाद्याधिक्यं द्रष्टव्यम् ॥ १२२-१२७- ॥

इत्यारालः (५)

(सु०) अरालं लक्षयसि—तर्जनीति । तर्जन्यादिषु अङ्गुलीषु, पूर्वस्याः पूर्वस्याः सकाशात् परा परा अङ्गुलीषु दूरस्थोच्चा मनाग्वक्रा वा भवति । तर्जनी तु धनुराकारेण वक्रा ; अङ्गुष्ठः यत्र कुञ्चितो भवेत् तम् अरालं प्राहुः । तस्य पुरुषहृदयस्थितस्य आशीर्वादादिषु विनियोगः । अधःस्थितः सन् स्त्रीणां केशबन्धे तथा केशानां च विकीर्णने ; पृथक्करणे च द्वित्रिः कृतः सन् प्रयुज्यते । अन्यपार्श्वसकाशात् स्वपार्श्वं वर्तुलभ्रममाव्रजन् जनसंघे जनसमूहे विनियुज्यते । पतदङ्गुलिः ; पतन्त्य अङ्गुलयो यस्य, तथाविध आह्वाने कार्यः । विवाहे ; विवाहसमये तु अङ्गुल्यग्रयोः स्वस्तिकाकारस्य योजनं यस्य ; तथा-विधमरालं करद्वन्द्वं केवलं प्रदक्षिणं भ्रमन् प्रयुज्यते । पुनः प्रदक्षिणं भ्रमन्

तलमध्यस्थितैर्लग्नैरङ्गुल्यग्रैरगोपितैः ॥ १२८ ॥

निपीड्य मध्यमां तिष्ठत्यङ्गुष्ठो मुष्टिरुच्यते ।

कुन्तनिस्त्रिंशदण्डादिग्रहे विविधयोधने ॥ १२९ ॥

धावने प्राङ्मुखाङ्गुष्ठो मल्लयुद्धे करद्वयम् ।

इति मुष्टिः (६)

मुष्टेरूर्ध्वकृतोऽङ्गुष्ठः शिखरः संप्रयुज्यते ॥ १३० ॥

शक्तितोमरयोर्मोक्षे धनुर्भलाङ्कुशग्रहे ।

अलकोत्पीडने मुष्टिः कार्यः सोऽप्यस्य लोकतः ॥ १३१ ॥

इति शिखरः (७)

देवतानां प्रदक्षिणे कार्यः । बहिः ; बहिःप्रदेशे, पुनः पुनः क्षिप्ता अङ्गुलयो यस्मिन्, तथाविधोऽरालः कस्त्वम् ? कोऽहम् ? कः संबन्धः ? इत्यसंबन्धभाषणे संबन्धाभावभाषणे प्रयुज्यते । भालस्थितः ; भाले निटिले स्थितोऽरालः पुनः भालस्वेदापनयने, त्रिपताकोदितेषु वस्तुषु च प्रयोज्यः ॥ १२२-१२७- ॥

इत्यरालः (५)

(मु०) मुष्टिं लक्षयति—तलमध्येति । तलमध्यस्थितैः लग्नैः संश्लिष्टैः अङ्गुलीनामग्नैः अगोपितैः प्रकटैः अङ्गुष्ठो मध्यमां पीडयित्वा तिष्ठति सति मुष्टिर्नामा हस्तकः । स च कुन्तादिग्रहणे विविधयुद्धे विनियुज्यते । तदेव मुष्टिः प्राङ्मुखाङ्गुष्ठश्चेत् तदा धावने, शीघ्रगतौ प्रयुज्यते । मल्लयुद्धे तदेव मुष्टिः करद्वयेन प्रयुज्यते ॥ -१२८, १२९- ॥

इति शिखरः (६)

(क०) शिखरहस्तविनियोगे—मुष्टिः कार्य इति । कुन्तग्रहणादावित्यर्थः । सोऽप्यस्य लोकत इति । सः ; मुष्टिः, अस्य शिखरस्य कार्ये लोकतः लोकानुसाराद्भवतीत्यर्थः ॥ -१३०, १३१ ॥

इति शिखरः (७)

अङ्गुष्ठाग्रेण लग्नाग्रा तर्जनी शिखरस्य चेत् ।
 कपित्थः स्यात्तदा कार्यो धारणे कुन्तवज्रयोः ॥ १३२ ॥
 चक्रचापगदादेश्च शराकर्षादिकर्मणि ।
 अन्योन्यकार्यविषयौ कपित्थशिखरौ क्वचित् ॥ १३३ ॥

इति कपित्थः (८)

अनामिकाकनीयस्याबुत्क्षिप्ते कुटिलीकृते ।
 विरले चेत्कपित्थस्य तदा स्यात्खटकामुखः ॥ १३४ ॥

(सु०) शिखरं लक्षयति—मुष्टेरिति । ऊर्ध्वं उच्चः कृतः अङ्गुष्ठो यस्मिन्, तथाविधो मुष्टिरेव शिखरः । तस्य विनियोगस्तु—शक्तितोमरमोक्षणे ; तोमरः कुन्तविशेषः, धनुर्ग्रहणे, ^१भल्लादिग्रहणे, अङ्कुशग्रहणे च प्रयुज्यते । अलोकोत्पीडने ; अलकानामुत्पीडने मुष्टिः कार्यः । सोऽप्यस्य शिखरस्य लोकानुसारतः कार्यः ॥ -१३०, १३१- ॥

इति शिखरः (७)

(सु०) कपित्थं लक्षयति—अङ्गुष्ठेति । अङ्गुष्ठाग्रेण ; अङ्गुष्ठस्य अग्रे अङ्गुल्यो यस्मिन्, एवंविधः तर्जनी संश्लिष्टाग्रभागभवति चेत्, तदा कपित्थो भवति । तस्य नियोगस्तु—कुन्तस्य, वज्रस्य, हीरकस्य च धारणे, चक्रचापगदादेश्च, शराकर्षणादिव्यापारे च प्रयुज्यते । कपित्थशिखरौ क्वचित् व्यापारविशेषे परस्पर-कार्यविषयौ प्रयोक्तव्यौ । शिखरकार्ये कपित्थः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥ १३२-१३३-॥

इति कपित्थः (८)

(सु०) खटकामुखं लक्षयति—अनामिकेति । यदा कपित्थ एव अनामिकाकनीयस्यौ द्वे अङ्गुली ऊर्ध्वमुत्क्षिप्ते, कुटिलीकृते, विरले च तदा खटकामुखः । तस्य विनियोगस्तु—अयमुत्तानश्चेत् वल्गुचामरधारणे, कुसुमाव-

^१ भल्लः, शस्त्रविशेषः

उत्तानस्तुरगादेः स्याद्वल्गाचामरधारणे ।

कुसुमावचये मुक्तास्रग्दामधारणे तथा ॥ १३५ ॥

शरमन्थाकर्षणे च संमुखो दर्पणग्रहे ।

कस्तूरिकादिवस्तूनां पेषणेऽधस्तलौ करौ ॥ १३६ ॥

ताम्बूलवीटिकावृन्तच्छेदनादौ च स स्मृतः ।

इति खटकामुखः (९)

अरालस्य यदात्यन्तवक्रे तर्जन्यनामिके ॥ १३७ ॥

शुकतुण्डस्तदा स स्यात्प्रेमकोपे नवेष्यया ।

नाहं न त्वं न मे कृत्यं त्वयेति वचने तथा ॥ १३८ ॥

धूताक्षपातनादौ स्यात्सावज्ञे तु विसर्जने ।

आह्वाने च बहिश्चान्तः क्रमात्क्षिप्ताङ्गुलिर्भवेत् ॥ १३९ ॥

इति शुकतुण्डः (१०)

चये, मुक्तास्रग्दामधारणे; तथा शरमन्थाकर्षणे च प्रयुज्यते । अयं संमुखश्चेत्, दर्पणग्रहणे, कस्तूरिकादिवस्तूनां चूर्णीकरणे च प्रयुज्यते । अयमधस्तलः स्थितश्चेत्, ताम्बूलवीटिकावृन्तच्छेदनादौ च प्रयुज्यते ॥ १३४-१३६-॥

इति खटकामुखः (९)

(सु०) शुकतुण्डं लक्षयति—अरालस्येति । अरालस्य पूर्वोक्तहस्तकस्य तर्जन्यनामिके द्वे अङ्गुल्यौ यदा अत्यन्तवक्रीकृतौ भवेताम्, तदा शुकतुण्डाख्यो हस्तो भवति । तस्य विनियोगमाह—स इति । सः; शुकतुण्डः, नवेष्यया प्रेमकोपे, प्रीतिकोपे, 'नाहं न त्वम्', 'त्वया न मे कृत्यमस्ति,' इति वचने, धूताक्षपातनादौ, सावज्ञविसर्जने च प्रयुज्यते । अयमेव बहिरन्तश्च क्रमात् क्षिप्ता अङ्गुलयो यत्र, तथाविधः शुकतुण्डः आह्वाने विनियुज्यते ॥ -१३७-१३९ ॥

इति शुकतुण्डः (१०)

काङ्गूलेऽनामिका वक्रा भवेदूर्ध्वा कनीयसी ।

ऊर्ध्वास्त्रेताग्रिसंस्थानास्तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमाः ॥ १४० ॥

फलेऽल्पे च मिते ग्रासे स्याद्विडालपदादिषु ।

चिबुकग्रहणे चैव बालकानां विधीयते ॥ १४१ ॥

इति काङ्गूलः (११)

अङ्गुष्ठाङ्गुलयो यस्मिन्नलगाग्रा धनुर्नताः ।

विरलाः पद्मकोशोऽसौ कार्यो देवार्चने बलौ ॥ १४२ ॥

द्विस्त्रिर्वा विप्रकीर्णाग्रः पुष्पाणां प्रकरे करः ।

फले बिल्वकपित्थादौ स्त्रीणां च कुचकुम्भयोः ॥ १४३ ॥

इति पद्मकोशः (१२)

(सु०) काङ्गूलं लक्षयति—काङ्गूले इति । यत्र अनामिका वक्रा भवेत् । कनीयसी च ऊर्ध्वा ऊर्ध्वाकारा उच्चा भवेत् । एतस्मिन्नेव तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमाः त्रेताग्रिवत् त्रिकोणाकाराः स्थिताः, स एव काङ्गूलः । अस्य विनियोगमाह—फले इति । अल्पे फले ; लघीयसि फले, परिमितग्रासे, विडालपदानुकरणादिषु, बालकानां चिबुकग्रहणे च विधीयते ॥ -१४०, १४१- ॥

इति काङ्गूलः (११)

(क०) पद्मकोशहस्तलक्षणे—अङ्गुष्ठाङ्गुलय इति । अङ्गुष्ठादयोऽङ्गुलय इत्यर्थः ॥ १४२, १४३ ॥

इति पद्मकोशः (१२)

(सु०) पद्मकोशं लक्षयति—अङ्गुष्ठेति । यस्मिन् अङ्गुष्ठाङ्गुलयः अलगाग्राः धनुराकारेण नताः विरलाश्च भवन्ति, स पद्मकोशः । तस्य विनियोगमाह—असौ ; पद्मकोशः, देवार्चनादौ, बलिप्रदाने च कार्यः । अयमेव करः द्विस्त्रिर्वा विप्रकीर्णाग्रश्चेत् पुष्पाणां प्रकरे, बिल्वकपित्थादौ फले, स्त्रीणां कुचकुम्भयोः मर्दने च विनियोगः ॥ १४२, १४३ ॥

इति पद्मकोशः (१२)

व्यावर्तिताख्यं करणं कृत्वैव समवस्थिताः ।

यस्याङ्गुल्यः करतले पार्श्वगाः सोऽलपल्लवः ॥ १४४ ॥

अलपद्मः स एव स्यादङ्गुलीनां च केचन ।

अस्य व्यावर्तितस्थाने परिवर्तितमूचिरे ॥ १४५ ॥

कस्य त्वमिति नास्तीति वाक्ययोः प्रतिषेधने ।

तुच्छायुक्तानृतत्वोक्तिष्वेव स्त्रीभिः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

इत्यलपल्लवः (१३)

ऊर्ध्वप्रसारिता यत्र खटकामुखतर्जनी ।

हस्तः सूचीमुखः स स्यादभिनेयमिहोच्यते ॥ १४७ ॥

शस्त्रे चक्राभिधे कुम्भकारोपकरणे तथा ।

रथाङ्गे जनसंघाते भ्रमन्ती तर्जनी भवेत् ॥ १४८ ॥

(क०) अलपल्लवलक्षणे—व्यावर्तिताख्यं करणमिति । आवेष्टित-
प्रक्रियया कनिष्ठाद्यङ्गुलिकृतया या करवर्तना तद्व्यावर्तितं करणम्
॥ १४४—१४६ ॥

इत्यलपल्लवः (१३)

(सु०) अलपल्लवं लक्षयति—व्यावर्तिताख्यमिति । व्यावर्तिताख्यं
करणं कृत्वा, यस्य अङ्गुल्यः करतले पार्श्वगाः समवस्थिताः सोऽलपल्लवः ।
मतान्तरमाह—अलपद्म इति । केचन आचार्याः अस्य अङ्गुलीनां व्यावर्तित-
मिममेव अलपद्म इत्याहुः । अस्य व्यावर्तितस्थाने परिवर्तितमप्युचिरे । तस्य
विनियोगमाह—कस्येति । कस्य त्वमिति, नास्तीति वाक्ययोः प्रतिषेधने,
तुच्छायुक्तानृतत्वोक्तिषु स्त्रीभिः प्रयुज्यते ॥ -१४३-१४५- ॥

इत्यलपल्लवः (१३)

(सु०) सूचीमुखं लक्षयति—ऊर्ध्वेति । यत्र खटकामुखस्य तर्जनी ऊर्ध्व-
प्रसारिता, स सूचीमुखारूपो हस्तः स्यात् । तस्याभिनेयस्तु—चक्राभिधे शस्त्रे,

ऊर्ध्ववक्त्राधोमुखी च निजपार्श्वगता तथा ।
 पार्श्वान्तराब्जिजं पार्श्वमायान्ती च क्रमाद्भवेत् ॥ १४९ ॥
 पताकायां भवेदूर्ध्वा साधुवादे च दोलिता ।
 एकत्वे तर्जनी चोर्ध्वा नासास्था श्वासवीक्षणे ॥ १५० ॥
 अधस्तले पार्श्वयुक्ते संयोगे विरहे पुनः ।
 वियुक्ते च विधातव्ये शार्ङ्गदेवेन कीर्तिते ॥ १५१ ॥

इति सूचीमुखः (१४)

पताको निम्नमध्यो यः स तु सर्पशिराः करः ।
 देवेभ्यस्तोयदानेऽसावुत्तानोऽधोमुखः पुनः ॥ १५२ ॥
 भुजङ्गमतौ स स्यादास्फाले करिकुम्भयोः ।
 भुजास्फोटे च मल्लानां नियुद्धादिषु कीर्तितः ॥ १५३ ॥

इति सर्पशिराः (१५)

कुम्भकारोपकरणे, तथा रथाङ्गे, जनसंघाते च अयं सूचीमुखो भ्रमत्तर्जनीको भवेत् । तथा अयमेव तर्जनी ऊर्ध्ववक्त्रा, अधोमुखी च निजपार्श्वगता भवेत्, तदा पताकायाम् । साधुवादे; त्वया साधुकृतमित्युक्तौ तु आन्दोलिता तर्जनी ऊर्ध्वा भवेत् । एकत्वे तर्जनी चोर्ध्वा यदि नासास्था भवेत्, तदा श्वासविलोकने प्रयोज्यः । अधस्तले तर्जनीकरः पार्श्वसंयुक्ते सति संयोगेऽभिनेयः । विरहे पुनः तथैव वियुक्तो विधातव्य इति ॥ १४७-१५१ ॥

इति सूचीमुखः (१४)

(सु०) सर्पशिरसं लक्षयति—पताक इति । निम्नमध्यः; निम्नो नीचो मध्यो यस्य तथाविधः पताक एव करः सर्पशिराः । असौ उत्तानश्चेत् देवेभ्यः तोयदाने कार्यः । अयमधो मुखश्चेत्, भुजङ्गमतौ; गजकुम्भास्फालने; मल्लानां भुजास्फोटे; नियुद्धादिषु च कार्यः ॥ १५२, १५३ ॥

इति सर्पशिराः (१५)

अस्याङ्गुष्ठो मध्यमाया मध्यपर्वोदरं श्रितः ।
 ऊर्ध्वा कनीयसी यत्र चतुरं तं करं विदुः ॥ १५४ ॥
 अन्ये पताकाङ्गुष्ठस्य मध्यमामूलसंस्थितिम् ।
 ईषच्च पृष्ठतो यान्तीं कनिष्ठां च परे जगुः ॥ १५५ ॥
 नये वदनदेशस्थो युतौ द्वौ मणिबन्धयोः ।
 विनयेऽथ विचारे स्यात्पार्श्वगोऽथ हृदि स्थितः ॥ १५६ ॥
 ऊहापोहौ च लीलायामुद्वेष्टितयुतः करः ।
 कैतवेऽक्षप्रेरणे च भवेदूर्ध्वतलः समे ॥ १५७ ॥
 अङ्गुष्ठमध्यमन्योन्यबन्धनेन तु मार्दवे ।
 चातुर्यवचने त्वेतौ संयुतौ चतुरोदितौ ॥ १५८ ॥

इति चतुरः (१६)

(सु०) चतुरं लक्षयति—अस्येति । अस्य ; सर्पशिरसोऽङ्गुष्ठः, मध्य-
 माया अङ्गुल्या मध्यपर्व उदरं श्रितः सन्, कनीयसी ऊर्ध्वा उच्चा यत्र
 जायते, तं करं चतुराख्यं हस्तकं विदुः । मतान्तरमाह—अन्य इति ।
 अन्ये ; आचार्याः, चतुराख्ये हस्तके पताकाख्यस्य हस्तस्य अङ्गुष्ठस्य
 मध्यमाया मूले संस्थितिमाहुः । अन्यन्मतान्तरमाह—पर इति । परे तु ;
 आचार्याः, कनिष्ठां च ईषत् किञ्चित् पृष्ठतः, स्वस्य पृष्ठतो यान्तीं गतामाहुः ।
 अस्य विनियोगस्तु—अयं वदनदेशस्थो यदि भवति, तदा नये नीतिमार्गे
 विचारणे कार्यः । मणिबन्धयोर्द्विवेतौ युक्तौ चेत्, तदा विनये कार्यः ।
 अयमेव यदि पार्श्वगतः, तदा विचारे कार्यः । यदि हृदि स्थितश्चेत्, तदा
 ऊहापोहयोः । यदि उद्वेष्टितयुतः कश्चेत् तदा लीलायां प्रयोज्यः । समे ऊर्ध्वत-
 लश्चेत् तदा कैतवे, अक्षप्रेरणे च कार्यः । अङ्गुष्ठमध्यमयोरन्योन्यं बन्धने
 कृते सति मार्दवे विनियुज्यते । एतौ द्वौ चतुरोदितौ संयुतौ युक्तौ चेत्, तदा
 चातुर्यवचने प्रयोज्यौ ॥ १५४-१५८ ॥

इति चतुरः (१६)

सर्पशीर्षकरस्योर्ध्वं यदाङ्गुष्ठकनिष्ठिके ।

मृगशीर्षस्तदा हस्तः स त्वधोवदनो भवेत् ॥ १५९ ॥

अद्येहसांप्रतार्थेषूत्तानोद्धूताक्षपातने ।

गण्डादिक्षेत्रसंस्थस्तु गण्डादिस्वेदमार्जने ॥ १६० ॥

इति मृगशीर्षः (१७)

लग्नास्त्रेताग्रिसंस्थानास्तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमाः ।

शेषे यत्रोर्ध्वविरले हंसास्यः सोऽभिधीयते ॥ १६१ ॥

अयं मृदुनि निःसारे श्लक्ष्णेऽल्पे शिथिले लघौ ।

मर्दितं मथितं क्षिप्तं दधदग्रं विधूनितम् ॥ १६२ ॥

औचित्याच्च्युतयुक्तं तु कुसुमावचयादिषु ।

इति हंस्यास्यः (१८)

(सु०) मृगशीर्षं लक्षयति—सर्पशीर्षेति । ऊर्ध्वाकृताङ्गुष्ठकनिष्ठिकः सर्पशीर्ष एव मृगशीर्षः । अस्य विनियोगस्तु—यद्ययमधोवदनो भवेत्, तदा अद्य, इह, सांप्रतमित्यस्मिन्नर्थे कार्यः । अयमुत्तानश्चेत् द्यूते, अक्षपातने च कार्यः । अयं गण्डादिक्षेत्रसंस्थश्चेत्, गण्डादिस्वेदमार्जने योज्यः ॥ १५९, १६० ॥

इति मृगशीर्षः (१७)

(क०) हंसास्यहस्तविनियोगे—अयं मृदुनि निःसारे श्लक्ष्णेऽल्पे शिथिले लघौ मर्दितं मथितं क्षिप्तं दधदग्रं विधूनितमिति । अयं हंसास्यो मर्दितमग्रं दधन्मृदुनि निःसारे च प्रयुज्यते । मथितमग्रं दधत् श्लक्ष्णे विनियुज्यते । क्षिप्तमग्रं दधदल्पे विनियुज्यते । विधूनितमग्रं दधत् शिथिले लघौ च विनियुज्यते । एवं योजनीयम् ॥ १६१—१६२- ॥

इति हंस्यास्यः (१८)

यदि किञ्चिन्नमनूलं तर्जन्याद्यङ्गुलित्रयम् ॥ १६३ ॥

पताकस्य तदा हस्तं हंसपक्षं प्रचक्षते ।

अयमाचमने कार्यश्चन्दनाद्यनुलेपने ॥ १६४ ॥

हनुदेशगतस्तु स्याद् दुःखजे हनुधारणे ।

मण्डलीकृतबाहू तौ महास्तम्भप्रदर्शने ॥ १६५ ॥

आलिङ्गने च प्रत्यक्षे परोक्षे स्वस्तिकीकृतौ ।

रोमाञ्चाद्यनुभावैस्तु रसेष्वेव यथारसम् ॥ १६६ ॥

अनुभावा रसवशात्कार्या हस्तान्तरेष्वपि ।

इति हंसपक्षः (१९)

(सु०) हंसास्यं लक्षयति—लप्तेति । यत्र तर्जन्याद्यङ्गुलिप्रमध्यमाः ; त्रेता-
ग्निसंस्थानाः ; त्रेताग्नवत् त्रिकोणाः संस्थिताः ; संलग्नाः ; परस्परं संलग्ना
भवन्ति । शेषे ; अनामिकाकनिष्ठिके, ऊर्ध्वे विरले च यत्र भवेत् स
हंसास्यः । अस्य विनियोगमाह—अयमिति । अयं हंसास्यः मर्दितमग्रं
दधन्मृदुनि, निःसारे च प्रयुज्यते । मथितमग्रं दधत् श्लक्ष्णे विनियुज्यते ।
क्षिप्तम् उत्क्षिप्तमग्रं दधदल्पे नियुज्यते । विधूनितमग्रं दधत् शिथिले लघौ च
विनियुज्यते । कुसुमावचयादिषु अयमौचित्यात् च्युतयुक्तं यथातथा विनियुज्यते
॥ १६१-१६२- ॥

इति हंसास्यः (१८)

(क०) हंसपक्षहस्तविनियोगे—परोक्षे स्वस्तिकीकृताविति । अप्र-
त्यक्षे कृत आलिङ्गने, स्वस्तिकीकृतौ पार्श्वव्यत्यासेन अन्योन्यांसपर्यन्तं
प्रापितावित्यर्थः । रोमाञ्चेत्यादि । रोमाञ्चादीनां सात्त्विकत्वेऽपि, अनु-
पश्चाद्भवतीति व्युत्पत्त्या अनुभावत्वमप्युपपन्नम् । आदिशब्देनानुभावत्वेन

अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ श्लिष्टाग्रे तर्जनी नता ॥ १६७ ॥

यत्रोर्ध्वविरले शेषे स करो भ्रमरो भवेत् ।

ग्रहणे दीर्घनालानां पुष्पाणामयमिष्यते ॥ १६८ ॥

कर्णपूरे तालपत्रे कण्टकोद्धरणादिषु ।

इति भ्रमरः (१०)

प्रसिद्धाः कटाक्षवीक्षणभुजाक्षेपादयो विलासा गृह्यन्ते । यथारसम् ; स्वाभिव्यङ्ग्यं प्रकृतरसमनतिक्रम्येत्यर्थः । रसेषु ; शृङ्गारादिषु ; एषः, हंसपक्षः । प्रयोज्यो भवतीति शेषः । हंसपक्षोक्तं रसव्यञ्जकत्वं हस्तान्तरेष्वपि द्रष्टव्यमित्याह—अनुभावा इति ॥ -१६३-१६६- ॥

इति हंसपक्षः (१९)

(सु०) हंसपक्षं लक्षयति—यदीति । किञ्चिद् ; अल्पं, नमत् ; नमनं प्राप्तं मूलं यस्य ; तथाविधस्य पताकस्य तर्जन्याद्यङ्गुलित्रयं यदि स्यात्, तदा हंसपक्षः । अस्य विनियोगमाह—अयमिति । अयं हंसपक्षः आचमने, चन्दनाद्यनुलेपने हनुदेशगतः कार्यः । दुःखजे तु हनुधारणे । मण्डलीकृतबाहू ; मण्डलीकृतौ वर्तुलाकारौ बाहू ययोः, तथाविधौ तौ द्वौ हंसपक्षौ महास्तम्भप्रदर्शने कार्यः । आलिङ्गने ; संस्पर्शे, स्वस्तिकीकृतौ तौ हंसपक्षौ प्रत्यक्षपरोक्षालिङ्गनयोर्यथायोगं विनियोगः कार्यः । एषः ; हंसपक्षस्तु रोमाञ्चाद्यनुभावैः यथारसमभिनेयः । एवं हस्तान्तरेष्वपि रसवशात् अनुभावाः कार्याः ॥ -१६३-१६६- ॥

इति हंसपक्षः (१९)

(सु०) भ्रमरं लक्षयति—अङ्गुष्ठेति । अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ श्लिष्टे अग्रे तर्जनी यत्र, तद्वत् नम्रीभूतौ शेषे अनामिकाकनिष्ठिके ऊर्ध्वं विरले च स्तः, स भ्रमराख्यो हस्तकः । तस्य विनियोगमाह—ग्रहण इति । अयं दीर्घनालकुसुमग्रहणे, कर्णपूरे, तालपत्रे, कण्टकोद्धरणादिषु च विनियुज्यते ॥ -१६७, १६८-॥

इति भ्रमरः (२०)

यत्राङ्गुष्ठाग्रलम्बाश्च संहताङ्गुलयोऽखिलाः ॥ १६९ ॥
 ऊर्ध्वाश्च मुकुलः स स्यात्पद्मादिमुकुलाकृतौ ।
 बलिकर्मणि देवानां पूजने भोजनादिषु ॥ १७० ॥
 मुहुर्विकास्य प्रकृतिं नीतो दाने त्वरान्विते ।
 मुखचुम्बे तु कान्तानां संनिधौ विटचुम्बने ॥ १७१ ॥
 कुचकक्षादिदेशस्थः स्यादाच्छुरितके करः ।
 यदाङ्गुलीपञ्चकेन सशब्दं नखलेखनम् ॥ १७२ ॥
 कुचादौ कामसूत्रज्ञास्तदाच्छुरितकं विदुः ।

इति मुकुलः (२१)

पद्मकोशस्य यत्र स्युरङ्गुल्यः पञ्च कुञ्चिताः ॥ १७३ ॥
 ऊर्णनाभः स चौर्येण ग्रहे कैशग्रहादिषु ।
 शिरःकण्डूयने कार्यश्चिबुकक्षेत्रगौ च तौ ॥ १७४ ॥

(सु०) मुकुलं लक्षयति—यत्रेति । यत्र ; अङ्गुष्ठाग्रलम्बाः ; अङ्गुष्ठस्य
 अग्रेण लम्बमग्रं यासां, तथाविधाः, संहताः ; मिलिताः, अखिला अप्यङ्गुलयः
 ऊर्ध्वाकाराश्च सन्ति ; स मुकुलाख्यो हस्तकः । स च, पद्मादिमुकुलाकृतौ ;
 पद्ममुकुलाकारादिषु, बलिकर्मणि, देवानां पूजने, भोजनादिषु च विनियुज्यते ।
 अयमेव मुकुलः, पुनः विकास्य ; विकासं प्राप्य, प्रकृतिं नीतः ; स्वभावं
 प्रापितश्चेत्, त्वरान्विते दाने कार्यः । अयमेव करः, कान्तानां संनिधौ
 मुकुलीकृत्य मुखचुम्बने, अथवा विटचुम्बने, विटाश्चुम्बन्तीति विटचुम्बनं
 तस्मिन् ; कुचकक्षादिदेशस्थः सन् आच्छुरितके विधीयते । आच्छुरितक-
 लक्षणमाह—यदेति । यदा अङ्गुलीपञ्चकेन कुचकक्षादौ, सशब्दनखलेखनं,
 तदा आच्छुरितकमिति कामसूत्रज्ञा आहुः ॥ -१६९-१७२- ॥

इति मुकुलः (२१)

(सु०) ऊर्णनाभं लक्षयति—पद्मकोशस्येति । यत्र पूर्वोक्तपद्मकोशस्य
 पञ्च अङ्गुल्यः कुञ्चिताः स्युः, स ऊर्णनाभः । तस्य विनियोगमाह—

कार्यौ सस्वस्तिकौ सिंहव्याघ्रादिनखरायुधे ।

इत्यूर्णनाभः (२२)

अरालाङ्गुष्ठतर्जन्यौ लग्नाग्रे निम्नतां गतः ॥ १७५ ॥

किञ्चिच्चैतलमध्यस्थस्तदा संदंश उच्यते ।

स त्रेधा स्यादग्रजश्च मुखजः पार्श्वजः क्रमात् ॥ १७६ ॥

प्राङ्मुखः संमुखः पार्श्वमुख इत्यस्य लक्षणम् ।

कण्टकोद्धरणे सूक्ष्मकुसुमावचयादिषु ॥ १७७ ॥

प्रयोक्तव्योऽग्रसंदंशो धिगित्युक्तौ तु रोषतः ।

वृन्तात्पुष्पोद्धृतौ वर्तिशलाकाञ्जनपूरणे ॥ १७८ ॥

कर्तव्यो मुखसंदंशः संदंशः पार्श्वजः पुनः ।

गुणनिक्षेपणे मुक्ताफलानां वेधने तथा ॥ १७९ ॥

निरूपणे च तत्त्वस्य सद्वितीयोऽथ भाषणे ।

सरोषे वामहस्तेन किञ्चिदग्रविवर्तनात् ॥ १८० ॥

अलक्तकादिनिष्पेषेऽप्येष श्रीशार्ङ्गिणोदितः ।

इति संदंशः (२३)

स इति । सः; ऊर्णनाभः चौर्येण केशादिषु ग्रहणे, शिरःकण्डूयने च कार्यः । सिंहव्याघ्रादिनखरायुधाभिनये, चिबुकक्षेत्रगौ, चिबुकक्षेत्रवर्तमानौ तौ द्वावूर्णनाभौ स्वस्तिकौ स्वस्तिकसंयुक्तौ कार्यौ ॥ -१७३, १७४- ॥

इत्यूर्णनाभः (२२)

(सु०) संदंशं लक्षयति—अरालेति । यत्र अराल एव अङ्गुष्ठतर्जन्यौ परस्परलग्नाग्रे निम्नतां गते, किञ्चित् तलमध्यस्थे च भवतः, तदा संदंशो भवति । तस्य भेदानाह—स इति । संदंशः त्रिविधः; अग्रजः, मुखजः, पार्श्वज इति । प्राङ्मुख अग्रजः; संमुखो मुखजः; पार्श्वमुखः पार्श्वज इति । अस्य विनियोगस्तु—कण्टकोद्धरणे, सूक्ष्मकुसुमावचयादिषु च प्रथमः कार्यः । रोषतः धिगित्युक्तौ; वृन्तात् पुष्पोद्धरणे; वर्तिशलाकाञ्जनपूरणे च द्वितीयः । मुक्ताफ-

भ्रमरस्य तलस्थे चैत्कनिष्ठोपकनिष्ठिके ॥ १८१ ॥
 ताम्रचूडस्तदा हस्तो बालाह्वानेऽथ भर्त्सने ।
 गीतादितालमाने च शैघ्रचविश्वासनादिषु ॥ १८२ ॥
 सशब्दच्युतसंदंशः कार्योऽसौ छोटिकोच्यते ।
 प्रसारितकनिष्ठस्य मुष्टेर्यताम्रचूडताम् ॥ १८३ ॥
 विनियोगं सहस्रादिसंख्यानिर्देशनेऽस्य च ।
 केऽप्युच्युस्तत्तु निश्शङ्को नैच्छलक्ष्येष्वदर्शनात् ॥ १८४ ॥

इति ताम्रचूडः (२४)

इति चतुर्विंशतिरसंयुतहस्ताः ।

अथ संयुतहस्ताः—

पताकहस्ततलयोः संश्लोषादञ्जलिर्मतः ।

लानां गुणनिक्षेपणे, तथा च्छिद्रकरणे च तृतीयः कार्यः । तथा तत्त्वस्य निरूपणे सद्वितीयः, संयुक्तकरणेन कार्यः । एषः; संदंशः वामहस्तेन किञ्चिदग्रविवर्तनात् सरोषभाषणे, अलक्तकादिनिष्पेषेऽपि विनियोग इति शार्ङ्गदेवेन कथितम् ॥ -१७९-१८०- ॥

इति संदंशः (२३)

(सु०) ताम्रचूडं लक्षयति—भ्रमरस्येति । भ्रमरस्य; पूर्वोक्तभ्रमराख्य-हस्तकस्य, कनिष्ठोपकनिष्ठिके; कनिष्ठानामिके द्वे अङ्गुल्यौ करतले यदा भवतः, तदा ताम्रचूडः । तस्य विनियोगमाह—बालेति । बालानामाह्वाने, भर्त्सने, गीतादितालमाने, शीघ्रार्थे, विश्वासने च, असौ; ताम्रचूडः सशब्दं यथा तथा च्युतसंदंशः कार्यः, स च छोटिकेत्युच्यते । मतान्तरमुपन्यस्य दूषयति—प्रसारितेति । प्रसारिता मुक्ता कनिष्ठिका यस्य, तथाविधा मुष्टिरचना ताम्रचूड इति । यद्यपि महाराष्ट्रदेशे, अस्य ताम्रचूडस्य सहस्रादिसंख्यागो निर्देशे प्रयोगे दृश्यते; तथाप्यन्यत्र लक्ष्येष्वदर्शनात् शार्ङ्गदेवो नैच्छत् ॥ -१८१-१८४- ॥

इति ताम्रचूडः (२४)

इति चतुर्विंशतिरसंयुतहस्ताः ।

(सु०) अथ त्रयोदशसंयुतं हस्तकं लक्षयिष्यन्, तेष्वञ्जलिं लक्षयति—

देवतागुरुविप्राणां नमस्कारेष्वयं क्रमात् ॥ १८५ ॥

कार्यः शिरोमुखोरस्थो नृभिः स्त्रीभिर्यथेष्टतः ।

इत्यञ्जलिः (१)

कपोतोऽसौ करौ यत्र श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकौ ॥ १८६ ॥

अस्य कूर्मक इत्यन्यां संज्ञां हस्तविदो विदुः ।

प्रणामे गुरुसंभाषे विनयाङ्गीकृतौ त्वयम् ॥ १८७ ॥

प्राङ्मुखः सशिरःकम्पः स्त्रीकापुरुषयोर्भवेत् ।

इति कपोतः (२)

अन्योन्यस्यान्तरैर्यत्राङ्गुल्यो निःसृत्य हस्तयोः ॥ १८८ ॥

अन्तर्बहिश्च दृश्यन्ते कर्कटः सोऽभिधीयते ।

पताकेति । पताकहस्ततलयोः संयोगात् अञ्जलिः । स च, शिरस्थः देवतान-
मस्कारे ; मुखस्थः गुरुनमस्कारे ; उरस्थः ब्राह्मणनमस्कारे च नृभिः पुरुषैः
क्रमेण कार्यः । स्त्रीभिस्तु स्वेच्छयेति ॥ १८४- , १८५- ॥

इत्यञ्जलिः (१)

(क०) संयुतहस्तेषु कपोतलक्षणे—कपोतोऽसौ करौ यत्र श्लिष्ट-
मूलाग्रपार्श्वकाविति । श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकाविति विशेषकथनात्तलयोर्विश्लिष्ट-
त्वं गम्यते । तेनाञ्जलितोऽस्य वैलक्षण्यं द्रष्टव्यम् ॥ -१८६, १८७- ॥

इति कपोतः (२)

(सु०) कपोतं लक्षयति—कपोत इति । श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकौ ; श्लिष्टं
संबद्धं मूलमग्रं पार्श्वं ययोः ; तथाविधं करद्वयं यत्र, असौ कपोतः । अस्य विनि-
योगमाह—अस्येति । अस्य ; कपोतस्य कूर्मक इत्यन्यां संज्ञां केचिदाहुः ।
अयं प्राङ्मुखः प्रणामे, गुरुसंभाषणे, विनयाङ्गीकरणे च कार्यः । स एव प्राङ्मुखः
सन् यदि सशिरःकम्पः स्यात्, तदा स्त्रीकापुरुषयोश्च प्रयोज्यः ॥ -१८६, १८७- ॥

इति कपोतः (२)

अन्तःस्थिताङ्गुलिः कार्यञ्चिन्तायामथ मर्षणे ॥ १८९ ॥

ऊर्ध्वं पार्श्वेऽग्रतो वा स्यात्पराङ्मुखतलाङ्गुलिः ।

अङ्गानां मोटने चाथ बृहद्देहे स्वसंमुखः ॥ १९० ॥

जठरक्षेत्रगः पृष्ठे त्वङ्गुलीनां हनुं दधत् ।

खेदे च संकुचर्त्तिकचिदन्योन्याभिमुखाङ्गुलिः ॥ १९१ ॥

शङ्खस्य धारणे सोऽयं जृम्भादौ बहिरङ्गुलिः ।

इति कर्कटः (३)

एकस्य मणिबन्धेऽन्यमणिबन्धस्थितौ करौ ॥ १९२ ॥

देहस्य वामपार्श्वस्थावुत्तानौ स्वस्तिको मतः ।

अत्रारालौ पताकौ वाभिनये वशगौ करौ ॥ १९३ ॥

(क०) कर्कटहस्तविनियोगे—पराङ्मुखतलाङ्गुलिरिति । अत्र हस्त-
योः पराङ्मुखतलाङ्गुलित्वं परस्परापेक्षया अभिनेत्रपेक्षया च द्रष्टव्यम् । बृहद्देहे
स्वसंमुख इत्यत्र स्वशब्दोपादानादभिनेतृसंमुखत्वमेव ॥ -१८८-१९१- ॥

इति कर्कटः (३)

(सु०) कर्कटं लक्षयति—अन्योन्येति । यत्र द्वयोर्हस्तयोः अङ्गुल्यः
अन्योन्यस्य ; परस्परं मध्ये निर्गत्य, अन्तर्वा बहिश्च दृश्यन्ते स कर्कटः ।
तस्य विनियोगमाह—अन्तरिति । अन्तःस्थिताङ्गुलिश्चेत् चिन्तायां, मर्षणे
च कार्यः । ऊर्ध्वगो वा पार्श्वगो वा प्राङ्मुखतलाङ्गुलिः सन् अङ्गानां मोटने ;
स्वसंमुखः सन् बृहद्देहे ; जठरक्षेत्रगः सन् अङ्गुल्या हनुं धारयन् खेदे ; संकुच्य
किञ्चिदन्योन्याभिमुखाङ्गुलिः सन् शङ्खधारणे ; बहिरङ्गुलिः सन् जृम्भादौ
च कार्यः ॥ -१८८-१९१- ॥

इति कर्कटः (३)

(सु०) स्वस्तिकं लक्षयति—एकस्येति । यत्र एकस्य हस्तस्य मणि-
बन्धे, अन्यहस्तमणिबन्धस्योपरि स्थिते सति, उभावपि करौ उत्तानौ

विच्युतः स्वस्तिकः स्त्रीभिरेवमस्तीति भाषणे ।

गगने सागरादौ च विस्तीर्णे संप्रयुज्यते ॥ १९४ ॥

इति स्वस्तिकः (४)

लम्बमानौ पताकौ तु श्लथांसौ शिथिलाङ्गुली ।

डोलो भवेदसौ व्याधौ विषादे मदमूर्छयोः ॥ १९५ ॥

संभ्रमादौ यथायोगं स्तब्धो वा पार्श्वडोलितः ।

इति डोलः (५)

सर्पशीर्षो मिलद्बाह्वपार्श्वः पुष्पपुटो भवेत् ॥ १९६ ॥

धान्यपुष्पफलादीनामपां च ग्रहणेऽर्पणे ।

कार्यः पुष्पाञ्जलौ चैष प्रोक्तः सोढलसूनुना ॥ १९७ ॥

इति पुष्पपुटः (६)

देहस्य सव्यपार्श्वे तिष्ठतः, तदा स्वस्तिकः । अस्य विनियोगमाह—
अत्रेति । अत्राभिनेतव्यवशात् अरालौ वा पताकौ वा स्वस्तिकौ कार्यौ । स
च विच्युतः सन् स्त्रीभिः एवमस्तीतिभाषणे, गगने, विस्तीर्णे सागरादौ
च कार्यः ॥ -१९२-१९४ ॥

इति स्वस्तिकः (४) .

(सु०) डोलं लक्षयति—लम्बमानाविति । पताकाख्यौ करौ लम्ब-
मानौ सस्तांसौ शिथिलाङ्गुली यदा भवेतां, तदा डोलाख्यो हस्तकः ।
तस्य विनियोगमाह—असाविति । असौ; डोलः व्याधौ, विषादे, मदे,
मूर्च्छायाम्, संभ्रमादौ यथायोगं स्तब्धो निश्चलो वा, डोलायमानो वा यथा
स्यात्तथा कार्यः ॥ १९५, १९६- ॥

इति डोलः (५)

(सु०) पुष्पपुटं लक्षयति—सर्पशीर्ष इति । मिलद् बाह्वं पार्श्वं
ययोस्तथाविधौ द्वौ सर्पशीर्षौ पुष्पपुटाख्यो हस्तकः । अस्य विनियोगमाह—
धान्येति । अयं च, धान्यपुष्पफलादीनां ग्रहणे, अपाम् अर्पणे, पुष्पाञ्जलौ च
कार्यः ॥ -१९६-१९७ ॥

इति पुष्पपुटः (६)

अन्योन्यस्कन्धदेशस्थावरालौ स्वस्तिकीकृतौ ।
 स्वसंमुखौ च विततावुत्सङ्गो गीयते करः ॥ १९८ ॥
 देहदक्षिणभागस्थं स्वस्तिकं केचिदूचिरे ।
 अधस्तलत्वमप्यन्येऽन्योन्यकक्षानुवेशिनीः ॥ १९९ ॥
 अङ्गुलीः करयोः पृष्ठद्वयं पार्श्वमुखं विदुः ।
 करावरालयोः स्थाने सर्पशीर्षावितीतरे ॥ २०० ॥
 अतिप्रयत्नसाध्येऽर्थे शीताल्लिङ्गनयोरपि ।
 प्रसाधनानङ्गीकारे लज्जादौ चैव योषिताम् ॥ २०१ ॥

इत्युत्सङ्गः (७)

खटकामुखयोः पाण्योः स्वस्तिके मणिबन्धने ।
 अन्योन्याभिमुखत्वे वा खटकावर्धमानकः ॥ २०२ ॥
 ताम्बूलग्रहणादौ स्यात्कामिनां प्रथमे रसे ।
 पुष्पाणां ग्रन्थने सत्यभाषणादौ मतान्तरे २०३ ॥
 कुमुदोत्पलकुन्तेषु रूपणे शङ्खधारणे ।

इति खटकावर्धमानकः (८)

(सु०) उत्सङ्गं लक्षयति—अन्योन्येति । अन्योन्यस्कन्धदेशस्थौ अरालौ यत्र स्वस्तिकीकृत्य, स्वसंमुखौ; स्वस्य पुरस्तात् विततौ चेत्, तदा उत्सङ्गः । मतान्तरमाह—केचिदिति । केचित् देहदक्षिणभागस्थं स्वस्तिकमाहुः । अन्ये तु अधोगततलाङ्गुलित्वमप्याहुः । परे तु पृष्ठद्वयं पार्श्वभिमुखं यथा तथा करयोरङ्गुलीः अन्योन्यकक्षानुवेशिनीः यदा भवेयुः, तदा, उत्सङ्गमित्याहुः । इतरे अरालयोः स्थाने सर्पशीर्षावित्याहुः । अस्य विनियोगस्तु—अतिप्रयत्नसाध्येऽर्थे; शीते; आलिङ्गने, प्रसाधनानङ्गीकारे; स्त्रीणां लज्जादौ च कार्यः १९८-२०१ ॥

इत्युत्सङ्गः (७)

(क०) खटकावर्धमानस्य विनियोगे—प्रथमे मत इति । मणि-

स्कन्धकूर्परयोर्मध्यमन्योन्यस्य यदा करौ ॥ २०४ ॥

दधाते सर्पशिरसौ गजदन्तस्तदोदितः ।

आकुञ्चत्कूर्परौ स्कन्धदेशस्थौ सर्पशीर्षकौ ॥ २०५ ॥

अन्योन्याभिमुखौ लक्ष्म गजदन्ते जगुः परे ।

एष शैलशिलोत्पाटे गतागतयुतः करः ॥ २०६ ॥

विवाहस्थाननयने स्याद्भूवरयोरयम् ।

स्तम्भग्रहेऽतिभारे च श्रीसोढलमुतोदितः ॥ २०७ ॥

इति गजन्तः (९)

बन्धस्वस्तिकत्वपक्ष इत्यर्थः । मतान्तर इति । अन्योन्यसंमुखत्वपक्ष इत्यर्थः ॥ २०२, २०३- ॥

इति खटकावर्धमानः (८)

(सु०) खटकावर्धमानं लक्षयति—खटकामुखयोरिति । खटकामुखयोः पाण्योः मणिबन्धे स्वस्तिके वा अन्योन्याभिमुखत्वे वा खटकावर्धमानो भवति । अस्य विनियोगस्तु—ताम्बूलग्रहणादौ; कामिनां प्रथमे रसे; शृङ्गार-रसप्रयोजकेऽर्थे, पुष्पाणां च ग्रथने च कार्यः । मतान्तरे तु सत्यभाषणदौ कुमु-दानामुत्पलानां कुन्तानां च रूपणे, शङ्खस्य धारणे च कार्यः ॥२०२, २०३॥

इति खटकावर्धमानः (८)

(क०) गजदन्तहस्तविनियोगे—एष इति प्रथमलक्षणलक्षितो निर्दिश्यते । अतः शैलशिलोत्पाटादिषु विनियोगस्तस्यैवेति ज्ञातव्यम् । अत्राभिनयहस्तानां भरताद्युक्तासमस्तविनियोगाकथनं नृत्तेऽभिनयहस्तानाम-प्राधान्यज्ञापनार्थम् । अथ नृत्तहस्तादीनामपि चतुरश्रादीनां स्रगाद्या-कर्षणादभिनयदिवप्रदर्शनम्, “सूच्यन्तेऽन्ये साहचर्यात्” इति पूर्वोक्त-

वक्षसोऽभिमुखौ सन्तौ शुक्रतुण्डावधोमुखौ ।
कृत्वा नीतावधो यत्र सोऽवहित्योऽभिधीयते ॥ २०८ ॥
दौर्बल्योत्सुक्यनिःश्वासगात्रकाश्येष्वसौ भवेत् ।

इत्यवहित्यः (१०)

मुकुलस्य कपित्थेन वेष्टनान्निषधो भवेत् ॥ २०९ ॥
शास्त्रार्थसम्यग्रहणे स स्यान्निषेषणे तथा ।

स्यार्थस्य निर्वाहार्थमभिनये नृत्तस्य संनिपत्योपकारकाङ्गत्वं दर्शयितुं चेति
मन्तव्यम् ॥ -२०४-२०७ ॥

इति गजदन्तः (९)

(सु०) गजदन्तं लक्षयति—स्कन्धेति । यत्र सर्पशिरसौ करौ स्कन्ध-
कूर्पयोः मध्यप्रदेशं यदा दधाते तदा गजदन्तः । मतान्तरमाह—पर इति ।
परे; आचार्याः आकुञ्चितौ कूर्परौ ययोः, तथाविधौ स्कन्धदेशे वर्तमानौ
अन्योन्याभिमुखौ सर्पशीर्षकौ लक्ष्म जगुः । अस्य विनियोगमाह—एष इति ।
एषः; गजदन्तः गतागतयुतः सन् शैलोत्पाटने, वधूनां वराणां च
विवाहस्थाननयने, स्तम्भग्रहणे, अतिभारे च कार्यः ॥ -२०४-२०७ ॥

इति गजदन्तः (९)

(सु०) अवहित्यं लक्षयति—वक्षस इति । यत्र शुक्रतुण्डाख्यौ हस्तौ
पूर्वं वक्षःसंमुखौ, पश्चादधोमुखौ कृत्वा, अधःप्रदेशे च यत्र नीतौ सोऽव-
हित्यः । अस्य विनियोगस्तु—दौर्बल्ये; औत्सुक्ये; निःश्वासे; गात्रकाश्ये
च कार्यः ॥ २०८, २०८- ॥

इत्यवहित्यः (१०)

(सु०) निषधं लक्षयति—मुकुलस्येति । कपित्थेन संवेष्टनात् मुकुल एव
निषधो भवति । अस्य विनियोगमाह—शास्त्रार्थेति । सः; निषधः, शास्त्रार्थदिः

सम्यक्च रथापिते तथ्यमिदमित्यभिभाषणे ॥ २१० ॥

प्रथमं गजदन्तं तु निषधं केचिद्वचिरे ।

स शौर्यधैर्यगाम्भीर्यगर्वादिषु मतस्तथा ॥ २११ ॥

इति निषधः (११)

उपर्युपरि विन्यस्तौ यत्रान्योन्यमधोमुखौ ।

ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ पताकाख्यौ करौ स मकरः स्मृतः ॥ २१२ ॥

स नक्रमकरादीनां क्रव्यादद्वीपिनामपि ।

सिंहादीनामभिनये नदीपूरस्य चेष्ट्यते ॥ २१३ ॥

इति मकरः (१२)

हंसपक्षौ स्वस्तिकत्वं प्राप्तौ यदि पराङ्मुखौ ।

वर्धमानस्तदा हस्तः कपाटोद्घाटने भवेत् ॥ २१४ ॥

सम्यग्ग्रहणे; निष्पेषणे; सम्यक्स्थापिते; इदं तथ्यमित्यभिभाषणे च कार्यः । मतान्तरमाह—केचिदिति । केचित् आचार्याः, प्रथमं तु गजदन्तं निषधमाहुः । सः शौर्यधैर्यगाम्भीर्यगर्वादिषु प्रयुज्यते ॥ -२०९-२११ ॥

इति निषधः (११)

(सु०) मकरं लक्षयति—उपरीति । यत्र पताकौ उपर्युपरि विन्यस्तौ अन्योन्यमधोमुखौ ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ च क्रियेते स मकरः । अस्य विनियोगमाह—स इति । स; मकरः नक्रमकरादीनां जलजन्तूनाम्, क्रव्यादद्वीपिनां सिंहादीनां मांसभक्षिणाम्, नदीपूरस्य वाप्यादेरभिनयप्रदर्शने च कार्यः ॥ २१२, २१३ ॥

इति मकरः (१२)

(सु०) वर्धमानं लक्षयति—हंसपक्षाविति । यत्र हंसपक्षौ स्वस्तिकत्वं नीतौ, करौ च पराङ्मुखौ भवतः, स वर्धमानः । अस्य विनियोगमाह—

विच्युतः स्वस्तिकस्तद्वक्षःस्थलविदारणे ।
सर्पशीर्षो हंसपक्षस्थानेऽस्मिन्नपरे जगुः ॥ २१५ ॥
अपरेऽभ्युपजग्मुस्तं स्वस्तिकेन विना कृतम् ।

इति वर्धमानः (१३)

इति त्रयोदशसंयुतहस्ताः ।

पुरोमुखौ समस्कन्धकूर्परौ खटकामुखौ ॥ २१६ ॥
स्थितौ वक्षःपुरोदेशे वक्षसोऽष्टाङ्गुलान्तरे ।
चतुरश्राविति प्रोक्तौ स्रगाद्याकर्षणे करौ ॥ २१७ ॥
इति चतुरश्रौ (१)

कपाटेति । एष कपाटोद्घाटने कार्यः । यदा विच्युतः सन् स्वस्तिकत्वमाप्नोति,
तदा वक्षःस्थलविदारणे प्रयुज्यते । मतान्तरमाह—सर्पशीर्ष इति । अपरे
आचार्याः, अस्मिन् वर्धमाने हंसपक्षस्थाने सर्पशीर्षमाहुः । परे त्वाचार्याः तं
वर्धमानं स्वस्तिकेन विना अभ्युपजग्मुः ॥ २१४, २१५- ॥

इति वर्धमानः (१३)

इति त्रयोदशसंयुतहस्ताः ।

(क०) नृत्तहस्तेषु चतुरश्रयोर्लक्षणे—पुरोमुखाविति । प्रयोक्ता
यदिङ्मुखोहस्तयोरपि तदिङ्मुखत्वमेव पुरोमुखत्वं द्रष्टव्यम् । न त्विन्द्र-
दिङ्मुखत्वं प्रयोक्तृसंमुखत्वं वा ॥ २१६-, २१७ ॥

इति चतुरश्रौ (१)

(सु०) अथ त्रिशन्नृत्तहस्तान् लक्षयति—पुरोमुखाविति । प्रागभि-
मुखौ समानस्कन्धकूर्परौ पूर्वोक्तखटकामुखौ वक्षसोऽष्टादशाङ्गुलान्तरे वक्षः-
पुरोदेशे वर्तमानौ चतुरश्राख्यौ करौ भवतः । तयोर्विनियोगस्तु—स्रगाद्याकर्षणे
कार्यौ ॥ २१६-, २१७ ॥

इति चतुरश्रौ (१)

चतुरश्रीकृत्य पाण्योः कृतयोर्हंसपक्षयोः ।

उत्तानोऽधो व्रजत्येको वक्षोऽन्यो यात्यधोमुखः ॥ २१८ ॥

यदा स्यातां तदोद्बृत्तौ तालवृन्तनिरूपणे ।

तावेव तालवृन्ताख्यावदन् नृत्तकोविदाः ॥ २१९ ॥

प्राङ्मुखौ हंसपक्षाख्यौ व्यावृत्तिपरिवर्तितौ ।

जयशब्दे प्रयोक्तव्याबुद्बृत्तौ मेनिरे परे ॥ २२० ॥

इत्युद्बृत्तौ (२)

भूत्वोद्बृत्तौ स्थितौ त्र्यश्रौ हंसपक्षौ स्वपार्श्वयोः ।

जातौ मिथः संमुखस्थतलौ तलमुखौ मतौ ॥ २२१ ॥

बुधैरभिधाते तौ मधुरे मर्दलध्वनौ ।

इति तलमुखौ (३)

(क०) उद्बृत्तहस्तयोर्द्वितीयलक्षणे—व्यावृत्तपरिवर्तिताविति । व्यावृत्तोऽन्तर्वर्तितः, परिवर्तितो बहिर्वर्तित इत्यर्थः ॥ २१८—२२० ॥

इत्युद्बृत्तौ (२)

(सु०) उद्बृत्तयोर्लक्षणमाह—चतुरश्रीकृत्येति । द्वौ हस्तौ चतुरश्रीकृत्य, ततः तयोः हंसपक्षीकृतयोः मध्ये एक उत्तानः सन् यद्यधो गच्छति, अपर अधोमुखः सन् वक्षःप्रदेशमागच्छति, तदा उद्बृत्ताख्यौ हस्तौ भवतः । एतौ तालवृन्ताभिनये नियुज्येते । नृत्तकोविदाः तावेव तालवृन्ताख्यावित्यवदन् । मतान्तरमाह—प्राङ्मुखाविति । सव्यापसव्यभ्रमणे व्यावृत्तपरिवर्तितेन त्यक्तौ हंसपक्षौ उद्बृत्ताविति परे मेनिरे । अनयोर्विनियोगस्तु—जयशब्दे प्रयोक्तव्याविति ॥ २१८—२२० ॥

इत्युद्बृत्तौ (२)

(सु०) तलमुखयोर्लक्षणमाह—भूत्वेति । यत्र हस्तौ उद्बृत्तौ भूत्वा,

अश्लिष्टहंसपक्षाभ्यां स्वस्तिकः स्वस्तिकौ करो ॥ २२२ ॥

इति स्वस्तिकौ (४)

विप्रकीर्णौ तु तावेव सहसा स्वस्तिके च्युते ।

नीचाग्राबुन्नताग्रौ वा कुचाभ्यां पुरतः स्थितौ ॥ २२३ ॥

पराङ्मुखौ हंसपक्षौ विप्रकीर्णौ जगुः परे ।

इति विप्रकीर्णौ (५)

पताकस्वस्तिकं कृत्वा व्यावृत्तिपरिवर्तने ॥ २२४ ॥

ततः त्र्यश्रौ विषमौ स्थितौ यौ, तौ हंसपक्षौ परस्परसंमुखतलौ जातौ चेत्, तदा तलमुखौ भवतः । अनयोर्विनियोगमाह—बुधैरिति । बुधैः, तौ तलमुखौ मधुरे मर्दलध्वनौ ; मृदङ्गनादे प्रयोगमभिधाते ॥ २२१, २२१- ॥

इति तलमुखौ (३)

(सु०) स्वस्तिकयोर्लक्षणमाह—अश्लिष्टेति । अश्लिष्टाभ्याम् असंयुक्तहस्तकाभ्यां पूर्वोक्तः स्वस्तिकः कृतश्चेत्, तदा स्वस्तिकाख्यौ हस्तौ भवतः ॥ -२२२ ॥

इति स्वस्तिकौ (४)

(सु०) विप्रकीर्णयोर्लक्षणमाह—विप्रकीर्णाविति । तावेव स्वस्तिकौ सहसा च्युतौ सन्तौ विप्रकीर्णावित्युच्येते । मतान्तरेणान्यथा लक्षयति—नीचाग्राविति । नीचमग्रं ययोः, तथाविधौ उन्नताग्रौ यदा कुचाभ्यां पुरस्तात् विद्यमानौ हंसपक्षौ पराङ्मुखौ असंमुखौ चेत्, विप्रकीर्णावित्यन्ये अवादिषुः ॥ २२३, २२३- ॥

इति विप्रकीर्णौ (५)

(क०) अरालखटकामुखयोर्लक्षणे—पताकस्वस्तिकं कृत्वेति ।

ऊर्ध्वास्यौ पद्मकोशौ च व्यावृत्तिपरिवर्तने ।
 क्रमात्कृत्वा यत्र वाममुत्तानारालमाचरेत् ॥ २२५ ॥
 खटकामुखमन्यं बाधोमुखं चतुरश्रतः ।
 स्वस्तिकेनाथवा यद्वा कृत्वारालौ करावुभौ ॥ २२६ ॥
 खटकामुखसंज्ञौ तावरालखटकामुखौ ।
 'वणिजां सचिवादीनां वितर्केऽसौ प्रयुज्यते ॥ १२७ ॥
 अन्ये त्वाहुरुरोग्रस्थः प्राङ्मुखः खटकामुखः ।
 अरालः प्रोन्नताग्रोऽन्यस्तिर्यगीषत्प्रसारितः ॥ २२८ ॥
 पार्श्वव्यत्ययतो यद्वा स्वपार्श्वं चेत्करौ स्थितौ ।
 तलान्तरौ तदा स्यातामरालखटकामुखौ ॥ २२९ ॥

इत्यरालखटकामुखौ (६)

पताकहस्तयोः स्वस्तिकमित्यनेन मणिबन्धकृतः स्वस्तिको गम्यते । विशेषा-
 नभिधानात् । व्यावृत्तिपरिवर्तने इत्यत्र कृत्वेत्यनुषङ्गनीयम् । ततः पद्मकोशा-
 विति द्विवचनोपादानेन स्वस्तिकत्वं तयोर्नेष्यत इति ज्ञायते । अतस्तयो-
 र्व्यावृत्तिपरिवर्तने क्रमात्कृत्वेत्यन्वयः । अत्रापि पताकस्वस्तिकवदेव पद्म-
 कोशयोरपि स्वस्तिकं कृत्वा व्यावृत्तिपरिवर्तनयोः क्रियमाणयोर्न चारुतातिशय
 इति मत्वा, अभिनवगुप्तपादैर्नलिनीपद्मकोशोक्तवर्तनं कर्तव्येत्यवधारितम् ।
 सा च यथा—

“अन्योन्यसंमुखौ सन्तौ संश्लिष्टमणिबन्धकौ ।

पद्मकोशौ पृथक्प्राप्तौ व्यावृत्तिपरिवर्तने ॥

नलिनीपद्मकोशौ स्तः”

इति वक्ष्यमाणनलिनीपद्मकोशानुगुणलक्षणानुसारेणात्र पद्मकोशयोर्व्यावृत्ति-

भुजाग्रयोः कूर्परयोरंसयोः सविलासयोः ।

सतोः पताकौ व्यावृत्तिं विधाय भवतो द्रुतम् ॥ २३० ॥

अधस्तलौ चेदाविद्धवक्त्रौ हस्तौ तदोदितौ ।

विक्षेपवलने प्राहुः प्रयोगं कृतिनस्तयोः ॥ २३१ ॥

इत्याविद्धवक्त्रौ (७)

परिवर्तने कर्तव्ये इति नाट्याचार्यसंप्रदायोऽवगन्तव्यः । किंचात्र पद्म-
कोशयोः क्रियायां क्रमादित्युच्यते, तत्र पताकस्वस्तिकस्य पद्मकोशयोश्च
वचनक्रमेणैव क्रियाक्रमस्यावगतत्वात्तदर्थमनर्थकं क्रमग्रहणं पद्मकोशयोर्व्या-
वृत्तिपरिवर्तनक्रियाक्रमस्यापि पाठक्रमेणैवावगतत्वात्तदर्थमप्यनर्थकं सद्धर्व-
स्थयोः पद्मकोशयोरेकस्य व्यावृत्तिमितरस्य परिवृत्तिं तथा परिवर्तितस्य
व्यावृत्तिमव्यावर्तितस्य परिवर्तनं च क्रमात्कृत्वैतज्ज्ञापयतीति ग्रन्थकाराभि-
प्रायो वेदितव्यः ॥ -२२४-२२९ ॥

इत्यारालखटकामुखौ (६)

(सु०) अरालखटकामुखयोर्लक्षणमाह—पताकेति । पताकस्वस्तिका-
नन्तरं पूर्वोक्तव्यावृत्तिपरिवर्तने, तत ऊर्ध्वास्यौ ऊर्ध्वमुखौ, पद्मकोशौ च व्यावृत्ति-
परिवर्तने क्रमात्कृत्वा, यत्र वामम्; वामहस्तमुत्तानमरालं कुर्यात्, अन्यं खटका-
मुखं च अधोमुखं कुर्यात् । ततः चतुरश्रः, अथवा स्वस्तिकेन, यद्वा अरालौ करौ
कृत्वा, खटकामुखौ द्वौ करौ स्यातां तदा अरालखटकमुखौ । असौ वणिजां,
सचिवादीनां वितर्के प्रयुज्यते । मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । अन्ये आचार्याः,
खटकामुखः करः पूर्वाभिमुखः अग्रे तिष्ठन्, अन्यस्तु करः अरालः अत्युन्नताग्रः
तिर्यक्प्रदेशे किञ्चित्प्रसारितः, द्वावपि करौ पार्श्वव्यत्यासेन स्वपार्श्वे वा वक्ष्य-
माणतलान्तरौ स्थितौ सन्तौ अरालखटकामुखौ भवेतामिति ॥ -२२४-२२९ ॥

इत्यारालखटकामुखौ (६)

(क०) आविद्धवक्त्रयोर्विनियोगे—विक्षेपवलन इति । विक्षेपः

मध्यमासंगताङ्गुष्ठौ चतुरश्रप्रदेशगौ ।
 सर्पशीर्षौ क्रमात्तिर्यक्प्रसरन्तौ प्रदेशिनीम् ॥ २३२ ॥
 बहिःप्रसारितां धत्तौ यदा सूचीमुखौ तदा ।
 पताकौ प्रथमं कार्यौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ २३३ ॥
 भ्रान्त्वा प्रसारणं चात्र विशेषं केचिद्विचरे ।
 मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ सर्पशीर्षाकृती करौ ॥ २३४ ॥
 रेचितस्वस्तिकौ केचिदूचुः सूच्यास्यलक्षणम् ।

इति सूच्यास्यौ (८)

संभ्रमः । तेन बलनं वक्रतया गमनम्; तस्मिन् ॥ २३०, २३१ ॥

इत्याविद्धवक्त्रौ (७)

(सु०) आविद्धवक्त्रयोर्लक्षणमाह—भुजाग्रयोरिति । भुजाग्रेषु कूर्परांसेषु सविलासेषु सक्तौ द्वौ पताकौ करौ व्यावृत्तिं विधाय, यदि अधस्तले भवेतां तदा आविद्धवक्त्रौ हस्तौ उदितौ । कृतिनः नृत्तशास्त्रज्ञाः, तयोः विक्षेपबलने; विक्षेपेण संभ्रमेण कार्यव्यग्रतया बलने गमने प्रयोग इत्याहुः ॥ २३०, २३१ ॥

इत्याविद्धवक्त्रौ (७)

(क०) सूच्यास्ययोर्लक्षणे—चतुरश्रप्रदेशगाविति । अत्र चतुरश्रयोः प्रदेशो वक्षसोऽष्टाङ्गुलान्तरो वक्षःपुरोदेशः । तत्र गताविति तथोक्तौ । सर्पशीर्षौ क्रमात्स्वयं तिर्यक्प्रसरन्तौ बहिःप्रसारितां प्रदेशिनीं यदा धत्तस्तदा सूचीमुखावित्यन्वयः ॥ २३२—२३४ - ॥

इति सूच्यास्यौ (८)

(सु०) सूच्यास्ययोर्लक्षणमाह—मध्यमेति । मध्यमया संगतौ संलग्नौ, अङ्गुष्ठौ ययोः, तथाविधौ चतुरश्रप्रदेशगौ सर्पशीर्षौ, क्रमात् तिर्यक् प्रसरन्तौ बहिःप्रसारितां प्रदेशिनीं यदा धत्तः, तदा सूच्यास्यौ भवतः । मतान्तरेण

प्रसारितोत्तानतलाबुच्येते रेचितौ करौ ॥ २३५ ॥

अथवा रेचितौ प्रोक्तौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।

यद्वा रेचितयोर्लक्ष्म लक्षणे मिलिते इमे ॥ २३६ ॥

प्रयोज्यौ तौ नृसिंहस्य दैत्यवक्षोविदारणे ।

इति रेचितौ (९)

एकेन चतुरश्रेण तौ स्यातामर्धरेचितौ ॥ २३७ ॥

इत्यर्धरेचितौ (१०)

विशेषमाह—पताकाविति । प्रथमं पताकौ हस्तकौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ विधाय, ततः भ्रान्त्वा प्रसारणं चात्र केचित् विशेषमाहुः । मतान्तरेण अन्यथा लक्षयति—मध्येति । मध्ये प्रसारिते अङ्ग्रे ययोस्तथाविधौ सर्पशीर्षौ हस्तौ रेचितस्वस्तिकौ चेत्तदा सूच्यास्योर्लक्षणं केचित्कथयन्ति ॥ २३२-२३४-॥

इति सूच्यास्थौ (८)

(क०) रेचितयोर्लक्षणे—यद्वा रेचितयोर्लक्ष्म लक्षणे मिलिते इमे इति । इमे पूर्वोक्ते द्वे लक्षणे मिलिते सती रेचितयोर्लक्ष्मेति तृतीयं लक्षणम् । तौ तृतीयलक्षणलक्षितौ रेचितौ । नृसिंहस्य दैत्यवक्षोविदारणे प्रयोज्याविति तयोरेव विनियोगः ॥ -२३५, २३६- ॥

इति रेचितौ (९)

(सु०) रेचितयोर्लक्षणमाह—प्रसारितेति । प्रसारितमुत्तानतलं ययोस्तथाविधौ करौ रेचिताविच्युते । अथवा द्रुतभ्रामितौ ; शीघ्रं भ्रामितौ हंसपक्षौ रेचिताविति । यद्वा मिलिते इमे लक्षणे रेचितयोर्लक्षणे ज्ञातव्ये । तौ नृसिंहस्य दैत्यवक्षोविदारणे प्रयोज्यौ ॥ -२३५, २३६- ॥

इति रेचितौ (९)

(सु०) अर्धरेचितयोर्लक्षणमाह—एकेनेति । पूर्वोक्तेरेचितहस्तकयोर्मध्ये एककरः चतुरश्रेत्, तदा अर्धरेचितौ ॥ -२३७ ॥

इत्यर्धरेचितौ (१०)

उत्तानाधोमुखत्वाभ्यां क्रमेण स्कन्धदेशतः ।

पताकौ यदि निष्क्रम्य नितम्बक्षेत्रवर्तिनौ ॥ २३८ ॥

रेचकं कुरुतो हस्तौ नितम्बावुदितौ तदा ।

इति नितम्बौ (११)

बाहू व्यावर्तितेनोर्ध्वं प्रसार्य परिवर्तितः ॥ २३९ ॥

स्वस्तिकाकृतितां नीतौ पताकौ पल्लवौ मतौ ।

शिथिलौ त्रिपताकौ तु केचिदत्र प्रचक्षते ॥ २४० ॥

(क०) नितम्बयोर्लक्षणे—उत्तानाधोमुखत्वाभ्यां क्रमेणेति ।

उत्तानाधोमुखत्वे क्रमेण भवतः । नैककालमेवेति मन्तव्यम् । अन्यथा द्वयोरुत्तानत्वं द्वयोरप्यधोमुखत्वं ताभ्यामित्युक्तं क्रमेणेति पदमनर्थकं स्यात् । हस्तयोस्तथाभावस्य विना क्रमेण संभवात् । एवं हि सार्थकत्वं भवति । पूर्वं यस्योत्तानत्वं भवति तस्याधोमुखत्वं, यस्याधोमुखत्वं तस्योत्तानत्वमिति ज्ञायमान उत्तानाधोमुखत्वे क्रमेण संभवतः । न हस्तयोर्यौगपद्येनोत्तानत्वमधोमुखत्वं चेति व्यवच्छेदस्य संभवात् । किंच क्रियावैचित्र्याच्छोभातिशयलाभोऽपि भवति ॥ २३८, २३८- ॥

इति नितम्बौ (११)

(सु०) नितम्बयोर्लक्षणमाह—उत्तानेति । पताकहस्तौ क्रमेण उत्तानोऽधोमुखौ स्कन्धप्रदेशात् निःसृत्य, यदि नितम्बक्षेत्रे विद्यमानौ यदा वक्ष्यमाणरेचकं कुरुतः, तदा नितम्बाख्यौ हस्तकौ भवतः ॥ २३८, २३८- ॥

इति नितम्बौ (११)

(सु०) पल्लवयोर्लक्षणमाह—बाहू इति । व्यावर्तितेनोपलक्षितौ पताकाख्यौ बाहू ऊर्ध्वं प्रसार्य, परिवर्तितेन स्वस्तिकाकृतितां नीतौ प्रापितौ पताकौ

नतोन्नतौ पद्मकोशौ शिथिलौ मणिबन्धयोः ।

स्वपार्श्वयोः पुरस्ताद्वा पल्लवाववदन्परे ॥ २४१ ॥

पद्मकोशकरस्थाने पताकावपरे जगुः ।

इति पल्लवौ (१२)

पार्श्वदेशोत्थितौ पार्श्वमस्पृशन्तौ गतौ शिरः ॥ २४२ ॥

नितम्बवत्केशदेशान्निष्क्रम्य च पुनः पुनः ।

पृथग्गतागतौ यौ तौ केशबन्धौ करौ मतौ ॥ २४३ ॥

इति केशबन्धौ (१३)

पल्लवावित्युच्यते । मतान्तरमाह—शिथिलाविति । अत्र पताकस्थाने शिथिलौ त्रिपताकाविति केचिदाहुः । अन्ये तु पद्मकोशाख्यौ हस्तौ मणिबन्धयोः श्लथत्वेन नतोन्नतौ स्वपार्श्वयोः पुरस्ताद्गतागतौ पल्लवावित्याहुः । पद्मकोशस्थाने पताकाविति केचित् ॥ -२३९-२४१- ॥

इति पल्लवौ (१२)

(क०) केशबन्धयोर्लक्षणे—नितम्बवदित्यतिदेशेनात्रापि क्रमेणोत्तानाधोमुखत्वाभ्यामित्येतदनुसंधेयम् । एवं पार्श्वदेशाच्छिरःपर्यन्तं गतौ तथा । केशदेशान्निष्क्रम्य च पुनः पुनः पृथग्गतागताविति । यदैकः केशदेशान्निर्गच्छति, तदा अन्यः केशदेशं प्रत्यागच्छति । एवं पौनःपुन्येन पृथग्गतागतौ यौ हस्तौ तौ केशबन्धाविति संमतौ ॥ -२४२, २४३ ॥

इति केशबन्धौ (१३)

(सु०) केशबन्धयोर्लक्षणमाह—पार्श्वदेशेति । यत्र करौ पार्श्वदेशादुत्थाय पार्श्वमस्पृशन्तौ शिरःप्रदेशं गतौ प्राप्ता, पूर्वोक्तनितम्बहस्तकवत् केशप्रदेशात् निःसृत्य मुहुर्मुहुः प्रत्येकं गतागतौ यौ हस्तौ तौ केशबन्धाविति ॥-२४२, २४३ ॥

इति केशबन्धौ (१३)

कपोलांसललाटानां क्षेत्रे त्वन्यतमे स्थितौ ।
 त्रिपताकौ करौ किञ्चित्तिर्यञ्चौ संमुखौ मिथः ॥ २४४ ॥
 अंसकूर्परयोः किञ्चिच्चलतोरुर्ध्वतस्तलौ ।
 क्षणं भूत्वा प्रचलितौ ज्ञेयावुत्तानवञ्चितौ ॥ २४५ ॥
 अंसकूर्परयोः किञ्चित्पतनं मन्वते परे ।

इत्युत्तानवञ्चितौ (१४)

पताकौ डोलितौ तिर्यक्प्रसृतौ तौ लताकरौ ॥ २४६ ॥
 अनयोः करयोः केशबन्धयोश्च नितम्बयोः ।
 त्रिपताकाकृतिं केचिदाचार्याः प्रतिजानते ॥ २४७ ॥

इति लताकरौ (१५)

(क०) उत्तानवञ्चितयोर्लक्षणे—ऊर्ध्वतस्तलावित्यत्रोत्तानत्वं, प्रचलि-
 तावित्यत्र वञ्जितत्वं च द्रष्टव्यम् ॥ २४४, २४५- ॥

इत्युत्तानवञ्चितौ (१४)

(सु०) उत्तानवञ्चितयोर्लक्षणमाह—कपोलेति । कपोलादीनामन्यतमे क्षेत्रे
 स्थितौ त्रिपताकौ हस्तौ, तिर्यक् गत्वा परस्परसंमुखौ अंसकूर्परयोः किञ्चित्
 चलतोः ऊर्ध्वतस्तलौ प्रचलितौ सन्तावुत्तानवञ्चिताख्यौ भवतः । केचित् अंस-
 कूर्परयोः किञ्चिन्नमनं मन्यन्ते ॥ २४४, २४५- ॥

इत्युत्तानवञ्चितौ (१४)

(सु०) लताकरयोर्लक्षणमाह—पताकाविति । यत्र पताकाख्यौ हस्तौ,
 डोलितौ तिर्यक् प्रसृतौ भवतः, तदा लताकरौ स्तः । अनयोः करयोः केशबन्धयोः
 नितम्बयोश्च त्रिपताकाकृतिं केचिदाचार्या प्रतिजानते ॥ -२४६, २४७ ॥

इति लताकरौ (१५)

स्पृशत्करिकराकारः पार्श्वयोश्चेल्लताकरः ।

उन्नतो दोलितोऽन्यस्तु कर्णस्थः खटकामुखः ॥ २४८ ॥

त्रिपताकोऽथवा यत्र करिहस्तममुं विदुः ।

नन्वन्यहस्तवत्कस्मान्नात्र द्विवचनं कृतम् ॥ २४९ ॥

ब्रूमो यत्रैकशब्देन सजातीयानुभौ करौ ।

उक्तौ तत्र द्विवचनं घटवच्चतुरस्रवत् ॥ २५० ॥

भिन्नशब्दौ विजातीयौ यौ वा द्विवचनं तयोः ।

यथा घटपटौ स्यातामरालखटकामुखौ ॥ २५१ ॥

(क०) करिहस्तस्य लक्षणे—स्पृशत्करिकराकार इति । करिणः करः करिकरः । स्पृशंश्चासौ करिकरश्च, तस्याकार इवाकारो यस्येति बहुव्रीहिः । यथा करी स्वकरेण पार्श्वस्थितद्रुमादि स्पृशति, तदा पार्श्वप्रसारितस्य तत्करस्य य आकारस्तमनुकुर्वाण इत्यर्थः । अत्र चतुराश्रादयो नृत्तहस्ताश्चतुराश्रावित्येवं द्विवचनेनैवोद्दिष्टा । तथैव लक्ष्यन्ते लक्षयिष्यन्ते च नृत्तहस्तत्वाविशेषेऽप्ययं करिहस्ताविति नोद्दिष्टः । किंतु करिहस्तश्चेत्येकवचनेनोद्दिष्टः । तथैव ‘करिहस्तममुं विदुः’ इति लक्ष्यते च । तत्कथमुपपद्यते ? इत्यभिप्रायेण पृच्छति—नन्वन्यहस्तवदिति ।

अत्र द्विवचनाश्रयणे सजातीयार्थवाचकयोरेकरूपयोः शब्दयोरेकशेषश्चतुराश्रावित्यादिषु निमित्तत्वेन स्वीकृतः । तथा विजातीयार्थवाचकयोर्भिन्नरूपयोः शब्दयोस्तु द्वन्द्वः, ‘अरालखटकामुखौ’ इत्यत्र निमित्तत्वेन स्वीकृतः । करिहस्त इत्यत्र तु द्वन्द्वैकशेषयोरेकतरासंभवाद्विवचनानुपपत्तौ सत्यामेकवचनमेव सम्यगाश्रितमिति प्रतिपादयिष्यन् परिहरति—ब्रूमो यत्रेत्यादिना । सजातीयौ चरश्चत्वाद्याकारेण समानजातीयानुभौ करावेकशब्देन चतुराश्रादिकशब्देन यत्रोक्तौ तत्र घटवत्, घटश्च घटश्च घटाविति । यथा चतुरश्रवत्,

करिहस्ताकृतिस्त्वेको दृश्यतेऽत्र लताकरः ।

इतिकर्तव्यता त्वन्या स्यादेकवचनं ततः ॥ २५२ ॥

न चात्र करिहस्तत्वमेकैकत्र घटत्ववत् ।

न चात्रैकः करीहस्तशब्दवाच्योऽपरः करः ॥ २५३ ॥

नैकशेषो न च द्वन्द्वो यतो द्विवचनं भवेत् ।

आश्रितं चैकवचनं मुनिना सर्वदर्शिना ॥ २५४ ॥

इति करिहस्तः (१६)

चतुरश्रश्च चतुरश्राविति यथा तथोद्धृतादिषु द्विवचनमेकशेषेण कृतमित्यर्थः । यौ वा करौ विजातीयौ विविधजातीयौ भिन्नशब्दवाच्यावित्यर्थः । तयोः करयोर्घटपटौ यथा स्यातां तथा अरालखटकामुखाविति द्विवचनं द्वन्द्वेन भवेदिति भावः ।

प्रकृते द्वन्द्वैकशेषयोरभावं दर्शयितुमाह—करिहस्ताकृतिस्त्वेक इति । द्वितीयस्य करस्य क उपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह—इतिकर्तव्यता त्वन्येति । अन्येति क्रियापरत्वेन स्त्रीलिङ्गत्वम् । अन्या द्वितीया करक्रिया । इतिकर्तव्यताङ्गमित्यर्थः । एकस्मिन्करे करिहस्ताकृतौ कृते सति ततो द्वितीयस्य खटकामुखस्य त्रिपताकस्य वा कर्णाभ्यर्णस्थितिः करिकर्णानुकरणेन करिहस्तस्यैवोपकारिकेति तदङ्गत्वम् । ततः कारणादेकवचनमेव स्यादिति निगमनम् । एवमनभ्युपगच्छन्तं प्रत्याह—न चात्रेति । प्रतिपादितेऽर्थे संमतिं दर्शयन्नाह—आश्रितमिति । यथाह मुनिः—

“समुन्नतो लताहस्तः पश्चात्पार्श्वविलोलितः ।

त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥”

इति ॥ २४८—२५४ ॥

इति करिहस्तः (१६)

त्रिपताकौ कटीशीर्षे न्यस्ताग्रौ पक्षवञ्चितौ ।

इति पक्षवञ्चितौ (१७)

तौ पार्श्वाभिमुखाग्रौ तु पक्षप्रद्योतकौ मतौ ॥ २५५ ॥

उत्तानौ केचिदन्ये तूर्वाङ्गुली च पराङ्मुखौ ।

(सु०) करिहस्तस्य लक्षणमाह—स्पृशन्निति । करिकराकारः ; करि-
हस्तवत् पार्श्वद्वयं स्पृशन् लताकरः, उन्नत्य डोलितः सन्, अन्यस्तु कर्णे
वर्तमानः खटकामुखः, अथवा त्रिपताको यत्र विद्यते तदा अमुं करिहस्तमाहुः ।
आक्षिपति—नन्विति । यथा अन्येषु केशबन्धादिषु हस्तेषु यथा द्विवचनद्योतकं
कृतं तथात्र करिहस्ते कस्मान्न कृतम् ? उत्तरमाह—ब्रूम इति । यत्र एकशब्देन
समानजातीयौ डोलाकरावित्युच्येते, तत्र द्विवचनम् । यथा घटवत्, चतुरश्रवत् ।
भिन्नशब्दाविति । यौ वा विजातीयौ करौ भिन्नशब्दौ भिन्नशब्दप्रतिपादकौ
तयोः घटपटावितिवत्स्यात् । यथा—अरालकटमुखौ । अत्र तु करिहस्तके
एक एव लताकरः, करिहस्ताकृतिः दृश्यते । तस्य इतिकर्तव्यता तु अन्या
स्यात् । तस्मादेकवचनं भवेदिति । द्विवचनप्रदेशवैलक्षण्यमाह—न चात्रेति ।
यथा एकैकत्र घटत्वं तथा करिहस्तत्वमेकैकत्रेति समायातम् । द्विवचनस्येति ।
इतिकर्तव्यतासहितस्य अन्यस्य करिहस्तत्वात् । न चैकस्य करिहस्तशब्दवा-
च्यत्वम्, अपरस्य करस्य नैकशेषद्वन्द्वादि विद्यते । येन द्विवचनं स्यात् ।
भरतेन च एकवचनेनैव निर्देशः कृतः । तस्मादेकवचनमेव न्याप्य-
मिति ॥ २४८-२५४ ॥

इति करिहस्तः (१६)

(सु०) पक्षवञ्चितयोर्लक्षणमाह—त्रिपताकाविति । एकः करः कटिन्य-
स्ताग्रः, अन्यः पार्श्वे न्यस्ताग्रः, तथाविधौ द्वौ त्रिपताकौ हस्तौ पक्षवञ्चितौ
भवतः ॥ २५४- ॥

इति पक्षवञ्चितौ (१७)

(क०) पक्षप्रद्योतकयोर्लक्षणे—शोभेते चैतौ प्राग्भ्यामनन्तरमिति ।

हस्तौ भणन्ति शोभेते चैतौ प्राग्भ्यामनन्तरम् ॥ २५६ ॥

इति पक्षप्रद्योतकौ (१८)

उपवक्षस्थलं हंसपक्षे गच्छति पार्श्वतः ।

सविलासोऽपरस्तिर्यक्प्रसृतश्चेल्लताकरः ॥ २५७ ॥

क्रमादङ्गान्तरेणैवं दण्डपक्षौ तदा करौ ।

हस्तप्रसारणं त्वत्र युगपन्मेनिरेऽपरे ॥ २५८ ॥

इति दण्डपक्षौ (१९)

एतावित्यूर्ध्वाङ्गुली च पराङ्मुखाविति तृतीयपक्षोक्तौ । प्राग्भ्यामित्युत्तानौ केचिदिति द्वितीयपक्षोक्ताभ्याम् । अत्र चकारः प्राग्भ्यामित्यनेन प्रथम-पक्षोक्तयोः समुच्चयार्थं योजनीयः प्राग्भ्यां चेति । तेनायमर्थः । कटी-शीर्षन्यस्ताग्रौ त्रिपताकौ प्रथमं पार्श्वाभिमुखाग्रौ कृत्वा तदनन्तरमुत्तानौ कृत्वा ततः परमूर्ध्वाङ्गुली पराङ्मुखौ च कृतौ चेच्छोभातिशयो भवतीति ॥ -२५५-२५६ ॥

इति पक्षप्रद्योतकौ (१८)

(सु०) पक्षप्रद्योतयोर्लक्षणमाह—ताविति । तावेव पक्षवञ्चितौ पार्श्वाभि-मुखाग्रं ययोः, तथाविधौ पक्षप्रद्योतकावित्युच्यते । मतान्तरमाह—उत्तानाविति । केचित्तु उत्तानौ पक्षवञ्चितौ पक्षप्रद्योतकावित्याहुः । केचित् उर्ध्वाङ्गुली पराङ्मुखौ च हस्तौ पक्षप्रद्योतकाविति भणन्ति । अन्ये च पक्षप्रद्योतकौ प्रकृताभ्यां वञ्चितकाभ्यामनन्तरं शोभां प्राप्नुत इति ॥ -२५५-२५६ ॥

इति पक्षप्रद्योतकौ (१८)

(सु०) दण्डपक्षयोर्लक्षणमाह—उपवक्षःस्थलमिति । हंसपक्षे हस्ते पार्श्वप्रदेशात् वक्षःस्थलसमीपं याति, अपरो हस्तो लताकरतामेत्य, सविलासः सन् तिर्यक् प्रसृतश्चेत्, यदा क्रमेण अङ्गान्तरेणाप्येवं भवति, तदा दण्डपक्षकौ

अधोमुखौ कटिक्षेत्रे स्थित्वा न्यश्चितकूर्परौ ।
पताकौ तिर्यगूर्ध्वं द्रागगतौ गरुडपक्षकौ ॥ २५९ ॥
त्रिपताकाविमौ कैश्चिदुक्तौ न तु मुनेर्मतौ ।

इति गरुडपक्षकौ (२०)

भालस्थलमुरोदेशात्प्राप्य तत्पार्श्वमागतौ ॥ २६० ॥
मण्डलभ्रान्तिविततावूर्ध्वमण्डलिनौ करौ ।
ललाटप्राप्तिपर्यन्तमन्ये लक्ष्मानयोर्जगुः ॥ २६१ ॥
चक्रवर्तनिकेत्येतौ प्रसिद्धौ नृत्तवेदिनाम् ।

इत्यूर्ध्वमण्डलिनौ (२१)

हस्तौ भवतः । मतान्तरमाह—हस्तेति । केचित् अत्र समकालमेव हस्त-
प्रसारणमाहुः ॥ २५७-२५८ ॥

इति दण्डपक्षौ (१९)

(सु०) गरुडपक्षकयोर्लक्षणमाह—अधोमुखाविति । पताकौ हस्तौ
अधोमुखौ कटिभागे स्थित्वा, नतकूर्परौ विशतौ तिर्यगूर्ध्वं च यदि शीघ्रं भवतः
तौ गरुडपक्षकौ । मतान्तरमाह—त्रिपताकाविति । कैश्चिदाचार्यैः त्रिपताकाभ्यां
गरुडपक्षौ कार्यावित्युक्तौ, तौ मुनिना नाभ्युपगताविति ॥ २५९, २५९- ॥

इति गरुडपक्षकौ (२०)

(क०) ऊर्ध्वमण्डलिनोर्लक्षणे—उरोदेशात्पार्श्वं प्राप्य भालस्थलमाग-
तावित्यन्वयः । अत्र वक्षोदेशाद्वावर्तितकरणपूर्वकं स्वं स्वं पार्श्वं प्राप्य ललाट-
प्रदेशमागतौ । ततो मण्डलवद्भ्रान्त्या प्रसारितावूर्ध्वमण्डलिनाविति केषांचि-
न्मतम् । अन्ये तु, अनयोः; ऊर्ध्वमण्डलिनोः । ललाटप्राप्तिपर्यन्तं लक्ष्म जगु-
रिति; तावतैवोर्ध्वमण्डलित्वस्य च निष्पन्नत्वादिति तेषामभिप्रायः । मण्डल-

तौ पताकाकृती पार्श्वन्यस्तावन्योन्यसंमुखौ ॥ २६२ ॥

पार्श्वमण्डलिनावुक्तावन्ये त्वाहुः स्वपार्श्वयोः ।

आविद्धभ्रामितभुजौ पार्श्वमण्डलिनाविति ॥ २६३ ॥

कक्षवर्तनिकेत्येतौ मन्वते नृत्तवेदिनः ।

इति पार्श्वमण्डलिनौ (२२)

भ्रान्तिविततत्वमूर्ध्वमण्डलिनोः स्वरूपमिति च तेषां मतम् । यत ऊर्ध्वमण्ड-
लिनावेव चक्रवर्तनिकेति नृत्तवेदिनां प्रसिद्धौ भवतः ॥ -२६०, २६१- ॥

इत्यूर्ध्वमण्डलिनौ (२१)

(सु०) ऊर्ध्वमण्डलिनोर्लक्षणमाह—भालस्थलमिति । तावुभौ करौ
उरःप्रदेशात् भालस्थलमागत्य भालस्थलपार्श्वतां गतौ, मण्डलाकारेण स्थितौ
विस्तृतौ च ऊर्ध्वमण्डलिनौ करौ भवतः । मतान्तरमाह—ललाटेति ।
अन्ये तु ललाटावधिपर्यन्तमनयोर्लक्षणमाहुः । एतौ चक्रवर्तनिकेति नृत्तवेदिनां
प्रसिद्धौ भवतः ॥ -२६०, २६१- ॥

इत्यूर्ध्वमण्डलिनौ (२१)

(क०) पार्श्वमण्डलिनोर्द्वितीयलक्षणे—आविद्धभ्रामितभुजाविति ।
अत्राविद्धशब्देनावेष्टितकरणपूर्विका वर्तना गम्यते । तयोः स्वस्वपार्श्वयो-
र्भ्रामितभुजावित्यनेन पार्श्वमण्डलिनोर्न्वर्थता दर्शिता भवति ॥ -२६२, २६३- ॥

इति पार्श्वमण्डलिनौ (२२)

(सु०) पार्श्वमण्डलिनोर्लक्षणमाह—ताविति । यत्र तावेव पताकाकृती
पार्श्वन्यस्तौ अन्योन्यसंमुखौ पार्श्वमण्डलिनौ भवतः । मतान्तरमाह—अन्ये
त्विति । अन्ये तु ; आचार्याः, स्वस्वपार्श्वयोः पूर्वोक्तविधिलक्षणवन्तौ आविद्ध-
भ्रामितौ भुजौ ययोः, तथाविधौ पार्श्वमण्डलिनावित्याहुः । एतौ नृत्तवेदिनः
कक्षवर्तनिकेति मन्वते ॥ -२६२, २६३- ॥

इति पार्श्वमण्डलिनौ (२२)

युगपत्करणे कृत्वोद्वेष्टितं चापवेष्टितम् ॥ २६४ ॥
 यातौ स्वपार्श्वे वक्षस्तो भ्रान्त्या मण्डलवत्क्रमात् ।
 वक्षोऽभिव्युत्क्रमात्प्राप्तावुरोमण्डलिनौ करौ ॥ २६५ ॥
 अनयोर्भ्रमणं प्राहुरन्ये वक्षस्थलस्थयोः ।
 उरोवर्तनिकात्वेन प्रसिद्धौ तद्विदामिमौ ॥ २६६ ॥
 हंसपक्षौ परे प्राहुरूर्ध्वमण्डलिषु त्रिषु ।

इत्युरोमण्डलिनौ (२३)

(क०) उरोमण्डलिनोर्लक्षणे—उद्वेष्टितमपवेष्टितं च करणे युग-
 पत्कृत्वेति । एकेन हस्तेनोद्वेष्टितमन्येनापवेष्टितं च कृतं चेत्करणद्वयस्य
 यौगपद्यं संभवति । तथा चैकस्यागमनेऽन्यस्य गमनं कर्तव्यमिति भिन्न-
 रूपाभ्यां वर्तनाभ्यां वक्षस्तो वक्षःप्रदेशास्वपार्श्वयोः पार्श्वदेशात्प्रति मण्डल-
 वद्भ्रान्त्या मण्डलाकारभ्रमणेन यातौ गतौ, ततो वक्षो वक्षःस्थलमाभिमुख्येन
 व्युत्क्रमादुपक्रान्तं क्रममुल्लङ्घ्य प्राप्तौ । अयमर्थः—उद्वेष्टितोपक्रमेण स्वपार्श्वगतो
 हस्त आवेष्टितेन वक्षः प्राप्नोति । तथावेष्टितोपक्रमेण स्वपार्श्वगतश्चोद्वेष्टि-
 तेन वक्षः प्राप्नोतीति । हंसपक्षौ परे प्राहुरित्यनेन प्रथमं पताकाविति
 मन्तव्यम् ॥ -२६४-२६६- ॥

इत्युरोमण्डलिनौ (२३)

(सु०) उरोमण्डलिनोर्लक्षणमाह—युगपदिति । यत्र समकालमेवोद्वेष्टित-
 मपवेष्टितं च करणं यातौ गच्छतौ स्वपाद्वस्थौ मण्डलभ्रमणं कृत्वा, पुनः पुनः
 वक्षः प्राप्तौ उरोमण्डलिनौ भवतः । मतान्तरमाह—अन्ये इति । अन्ये ;
 आचार्याः, अनयोः वक्षस्थलस्थयोः भ्रमणं प्राहुः । इमौ नृत्तविदाम्, उरोवर्त-
 निकात्वेन प्रसिद्धौ । मतान्तरमाह—पर इति । परे ; आचार्याः, ऊर्ध्वमण्ड-
 लिनमारभ्य त्रिषु हस्तकेषु हंसपक्षावित्याहुः ॥ -२६४-२६६- ॥

इत्युरोमण्डलिनौ (२३)

एकत्रोरःस्थितोत्तानेऽन्यस्मिन्पार्श्वप्रसारिते ॥ २६७ ॥

व्यावर्तितेनालपद्मीकृत्वोरस्थो यदा करः ।

स्वपार्श्वं नीयतेऽन्यस्तूद्वेष्टितक्रियया करः ॥ २६८ ॥

तदैवारालतां प्राप्य यात्युरो मण्डलाकृतिः ।

अन्योऽप्येवं कराभ्यासादुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ २६९ ॥

इत्युरःपार्श्वार्धमण्डलौ (२४)

एकं वर्तनयारालं तथान्यमलपल्लवम् ।

हस्तं मुहुः क्रमात्कृत्वा क्रियते स्वस्तिकाकृती ॥ २७० ॥

(क०) उरःपार्श्वार्धमण्डलयोर्लक्षणे—एकत्र ; एकस्मिन् हस्त उरः-स्थितोत्ताने सति, उरःस्थितश्चासावुत्तानश्चेति समासः । अन्यस्मिन् हस्ते प्रसारिते सति । अत्रानुक्तमप्युत्तान इत्यूहनीयम् । अन्यथा अन्यस्थावेष्टितक्रियया कर इति वक्ष्यमाणावेष्टितक्रियोचितसंनिवेशाभावेनाशोभावहत्वं स्यात् । एवमन्यः करस्तदैवारालतां प्राप्य मण्डलाकृतिः सन् उरो यातीति संबन्धः । तदैवेति । यदोरस्थः करः स्वपार्श्वं नीयते पार्श्वप्रसारितोऽपि करस्तत्समसय एवोरो यातीत्यर्थः ॥ -२६७-२६९ ॥

इत्युरःपार्श्वार्धमण्डलौ (२४)

(सु०) उरःपार्श्वार्धमण्डलयोर्लक्षणमाह—एकत्रेति । एकस्मिन् हस्ते उत्तानाग्रे उरःस्थिते सति, अन्यस्मिन् पार्श्वे प्रसारिते सति, यदैकः करो व्यावर्तितेन अलपद्मं कृत्वा स्वपार्श्वं प्राप्यते, अपर उद्वेष्टनेन तस्मिन्नेव समये अरालो भूत्वा मण्डलाकृतिर्भवति । अन्योऽप्येवमेव ; एवं रूपकराभ्यासात् उरःपार्श्वार्धमण्डलाख्यौ करौ भवतः ॥ -२६७-२६९ ॥

इत्युरःपार्श्वार्धमण्डलौ (२४)

(क०) मुष्टिकस्वस्तिकयोर्लक्षणे—एकं वर्तनयारालमिति । वर्तनया

खटकामुखहस्तौ चेन्मुष्टिकस्वस्तिकौ तदा ।

कपित्थौ शिखरौ मुष्टी चाथ वा स्वस्तिकाकृती ॥ २७१ ॥

इति मुष्टिकस्वस्तिकौ (२५)

अश्लिष्टस्वस्तिकौ सन्तौ व्यावृत्तक्रियया करौ ।

मिथः पराङ्मुखौ कृत्वा यौ कृतौ पद्मकोशकौ ॥ २७२ ॥

नलिनीपद्मकोशौ तावपरे त्वन्यथा जगुः ।

अन्योन्यसंमुखौ सन्तौ संश्लिष्टमणिवन्धकौ ॥ २७३ ॥

पद्मकोशौ पृथक्प्राप्तौ व्यावृत्तिपरिवर्तने ।

नलिनीपद्मकोशौ स्तः केऽप्याहुः पद्मकोशयोः ॥ २७४ ॥

व्यावृत्त्या परिवृत्त्या च जान्वन्तिकगताविमौ ।

स्कन्धयोः स्तनयोर्यद्वा जानुनोर्निकटं गतौ ॥ १७५ ॥

मणिबन्धाकुञ्चनप्रभवया आवेष्टितवर्तनयेत्यर्थः । अरालकरणे तस्याः संगतत्वात्
तथान्यमलपल्लवमिति । तथेति, तदुचितवर्तनयेत्यर्थः । अत्रालपल्लवकरणे
संगतया मणिबन्धाकुञ्चनप्रभवयोद्वेष्टितवर्तनयेति द्रष्टव्यम् । अत्र खटका-
मुखादीनां पारंपर्येण मुष्टिप्रभवत्वात्तेष्वन्यतमप्रयोगेऽपि मुष्टिकस्वस्तिकव्यपदेश
उपपन्न इति तद्विदां मतम् ॥ २७०, २७१ ॥

इति मुष्टिकस्वस्तिकौ (२५)

(सु०) मुष्टिकस्वस्तिकयोर्लक्षणमाह—एकमिति । एकं हस्तं वर्तनया सह
अरालं कृत्वा, तथा अन्यम् अलपल्लवं मुहुः क्रमात् विधाय, खटकामुखाकृती द्वौ
हस्तौ स्वस्तिकाकृती क्रियेते चेत्तदा मुष्टिकस्वस्तिकौ भवतः ॥ २७०, २७१ ॥

इति मुष्टिकस्वस्तिकौ (२५)

(क०) नलिनीपद्मकोशयोर्द्वितीयलक्षणे — व्यावृत्तिपरिवर्तने पृथ-

विवर्तितौ पद्मकोशौ तल्लक्ष्मेत्यवदन् परे ।

इति नलिनीपद्मकोशौ (२६)

उद्वेष्टितक्रियौ वक्षःक्षेत्रस्थावलपल्लवौ ॥ २७६ ॥

स्कन्धान्तिकमथोपेत्य प्रसृतावलपद्मकौ ।

इत्यलपल्लवौ (२७)

वप्राप्ताविति । अन्योन्यसंमुखयोः संश्लिष्टमणिबन्धयोः पद्मकोशयोरेको व्यावृत्तिमन्यः परिवर्तनं च युगपदेव पृथक्कुरुत इत्यर्थः ॥ २७२—२७५- ॥

इति नलिनीपद्मकोशौ (२६)

(सु०) नलिनीपद्मकोशयोर्लक्षणमाह—अश्लिष्टेति । अश्लिष्टस्वस्तिकौ ; असंयुक्तस्वस्तिकौ सन्तौ करौ व्यावृत्तक्रियया मिथः परस्परं पराङ्मुखौ कृत्वा, यावलपल्लवौ क्रियेते, तौ नलिनीपद्मकोशौ भवेताम् । मतान्तरमाह—अपरे त्विति । अपरे ; आचार्यास्तु अन्योन्यसंमुखौ सन्तौ व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां पृथक् गतौ पद्मकोशावेव नलिनीपद्मकोशौ स्त इत्याहुः । अन्यन्मतमाह—केऽपीति । केऽपि ; आचार्याः, व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जानुसमीपगमनात् नलिनीपद्मकोशावित्यूचिरे । मतान्तरमाह—पर इति । परे ; स्कन्धयोः, यद्वा जानुनोश्च निकटं गतौ प्राप्तौ विवर्तितौ पद्मकोशौ नलिनीपद्मकोशयोर्लक्षणं प्राहुः ॥ २७२—२७५- ॥

इति नलिनीपद्मकोशौ (२६)

(सु०) अलपल्लवयोर्लक्षणमाह—उद्वेष्टितेति । उद्वेष्टनं व्यावर्तनं सद्यो भ्रमणमिति यावत् । तेन उपलक्षितौ वक्षःक्षेत्रस्थौ अलपल्लवौ करौ यस्यास्ताम् । ततः स्कन्धसमीपमागत्य यदा प्रसरणं प्राप्तं, तदा अलपल्लवौ भवेताम् ॥ -२७६, २७६- ॥

इत्यलपल्लवौ (२७)

प्रसार्य स्कन्धयोः स्कन्धाभिमुखप्रचलाङ्गुली ॥ २७७ ॥
वर्तितावलपन्नौ चेदुल्बणौ भणितौ तदा ।

इत्युल्बणौ (२८)

पल्लवौ शीर्षदेशस्थौ ललितौ कलितौ बुधैः ॥ २७८ ॥
चतुरश्रीमभञ्जन्तौ शिरस्थावचलौ करौ ।
ललितावपरे प्राहुरन्ये तु खटकामुखौ ॥ २७९ ॥
शनैः प्राप्य शिरोऽन्योन्यलग्नाग्रौ ललितौ विदुः ।

इति ललितौ (२९)

कूर्परस्वस्तिकयुतौ लताख्यौ वलितौ मतौ ॥ २८० ॥

(सु०) उल्बणयोर्लक्षणमाह—प्रसार्येति । स्कन्धाभिमुखे प्रचलाः चञ्चलाः
अङ्गुलयो ययोः, तथाविधौ करौ स्कन्धयोः प्रसार्य वर्तनायुक्तौ अलपल्लवौ
क्रियते चेत्; तदा उल्बणौ भणितौ उक्तौ ॥ -२७७, २७७- ॥

इत्युल्बणौ (२८)

(सु०) ललितयोर्लक्षणमाह—पल्लवाविति । शीर्षदेशस्थौ; शीर्षप्रदेश-
वर्तमानौ बुधैः ललिताविति कलितौ ज्ञातौ । मतान्तरमाह—चतुरश्रीमिति ।
चतुरश्रत्वमभञ्जन्तौ अनाश्रयन्तौ शिरस्थानस्थितौ अचलौ करौ ललिता-
विति । मतान्तरमाह—अन्ये त्विति । अन्ये तु; आचार्याः खटकामुखौ
शनैः मन्दं, शिरः प्राप्य, अन्योन्यलग्नाग्रौ; परस्परमिलिताग्रौ ललिता-
वित्याहुः ॥ -२७८, २७९- ॥

इति ललितौ (२९)

(सु०) वलितयोर्लक्षणमाह—कूर्परेति । लताख्यौ करौ कूर्परस्वस्ति-
कयुक्तौ वलितावित्युच्येते । मतान्तरमाह—पर इति । परे; आचार्याः, मूर्ध्नि

मुष्टिकस्वस्तिकौ मूर्ध्नि विवृतौ तौ परे विदुः ।

अन्ये त्वाचक्षतेऽन्योन्यलग्नाग्रौ खट्कामुखौ ॥ २८१ ॥

ऊर्ध्वगौ पृष्ठतो नम्रकूर्परौ वलितौ मतौ ।

नृत्तहस्तौ क्रमेणापि प्रयोज्यौ सूरयो विदुः ॥ २८२ ॥

इति वलितौ (३०)

इति त्रिशन्नृत्तहस्ताः ।

पताको मध्यमामूललग्नाङ्गुष्ठौ निकुञ्चकः ।

स स्वल्पाभिनये वेदाध्ययने च प्रयुज्यते ॥ २८३ ॥

इति निकुञ्चकः (असंयुतहस्तः) (१)

शिखरद्वन्द्वसंयोगात्करो द्विशिखरो मतः ।

ऊर्ध्वप्रदेशे विवृतौ मुष्टिकस्वस्तिकौ वलितावित्याहुः । अन्यन्मतमाह—
अन्ये त्विति । अन्ये ; आचार्यास्तु एवमाचक्षते—अन्योन्यसंलग्नाग्रौ खट्का-
मुखौ ऊर्ध्वगौ ऊर्ध्वप्रदेशकृतौ पृष्ठतः नम्रकूर्परौ वलितौ भवेतामिति । एतौ
नृत्तहस्तौ क्रमशः प्रयोजनायाविति सूरय आहुः ॥ -२८०-२८२ ॥

इति वलितौ (३०)

इति त्रिशन्नृत्तहस्ताः ।

(सु०) मतान्तरोक्तानां निकुञ्चकादीनां लक्षणमाह—पताकेति । मध्य-
मामूललग्नाङ्गुष्ठः ; मध्यमाया अङ्गुलेः मूले लग्न अङ्गुष्ठो यस्य, तथाविधः
पताको निकुञ्चकः । अस्य विनियोगस्तु—सः ; निकुञ्चः, स्वल्पाभिनये
वेदाध्ययने च कार्यः ॥ २८३ ॥

इति निकुञ्चकः (असंयुतहस्तः) (१)

(सु०) द्विशिखरं लक्षयति—शिखरेति । पूर्वोक्तशिखरद्वन्द्वसंयोगात्

शयनार्थेऽङ्गुलिस्फोटे स्त्रीणामनुनये तथा ॥ २८४ ॥

नास्तीत्यर्थेऽपि संयुज्य वियुक्तं शिखरद्वयम् ।

इति द्विशिखरः (संयुतहस्तः) (२)

पृथग्दक्षिणवामौ चेद्वरदाभयदौ करौ ॥ २८५ ॥

अरालौ कटिपार्श्वस्थौ तदोक्तौ वरदाभयौ ।

इति वरदाभयौ (वृत्तहस्तौ) (३)

इति मतान्तरोक्तास्त्रयो हस्ताः ।

प्रदर्शनार्थमुक्तेयं हस्तानां सप्ततिर्मया ॥ २८६ ॥

आनन्त्यादभिनेयानां सन्त्यनन्ताः परे कराः ।

द्विशिखरः करो भवति । अस्य विनियोगस्तु—स्वापनार्थे, अङ्गुलिस्फोटे, तथा स्त्रीणामनुनये, नास्तीत्यर्थे च कार्यः ॥ २८४- ॥

इति द्विशिखरः (संयुतहस्तः) (२)

(क०) मतान्तरोक्तानां निकुञ्जकादीनां त्रयाणां करणां लक्षणानि सविनियोगमाह—पताको मध्यमामूल इत्यादिना ॥ -२८३-२८५- ॥

इति वरदाभयौ (वृत्तहस्तौ) (३)

इति मतान्तरोक्तास्त्रयो हस्ताः ।

(सु०) वरदाभययोर्लक्षणमाह—पृथगिति । संयुज्य वियुक्तं शिखरद्वयं पृथक् दक्षिणे वामे च स्थितं चेत्, तदा वरदाभयौ भवतः । कटीशीर्षस्थौ अरालावपि वरदाभयाविति ॥ २८५ ॥

इति वरदाभयौ (वृत्तहस्तौ) (३)

इति मतान्तरोक्तास्त्रयो हस्ताः ।

(क०) निगमयति—प्रदर्शनार्थमिति । अभिनयदिवप्रदर्शनार्थमियं हस्तानां सप्ततिरुक्तेत्युक्ते सति न साकल्येनोक्ता हस्ता इति प्रतीयते । असाकल्येनोक्तौ सत्यां कति हस्ता इत्याकाङ्क्षायामाह—सन्त्यनन्ताः परे

करा इति । साकल्येनाकथन आनन्त्यमेव हेतुर्द्रष्टव्यः । आनन्त्यमेव कुत इत्याकाङ्क्षायामाह—आनन्त्यादभिनेयानामिति । अभिनेयानाम् ; जातिक्रियागुणद्रव्यरूपाणां पदार्थानाम् । तेषामानन्त्यमेव हस्तानन्त्ये हेतुरुक्तः । एतेन प्रत्यर्थं हस्तोऽपि भिन्न इत्यभिप्रायः सूचितो भवति । नन्वेवं तर्हि भूयसामप्यर्थानामेकैकेन सूचीमुखादिना भरतादिभिः कृतमभिनयप्रदर्शनं कथमिति चेदुच्यते । न हि तेषामप्येक एव सूचीमुखादिर्बहुर्थप्रदर्शकोऽभिमतः । किंतु करणकर्मस्थानप्रचारक्रियादिभेदात्प्रत्यर्थं भिन्न एवेत्यभिमतः । एकत्वव्यवहारस्तु संक्षेपार्थं वृक्षादिशब्दवत्प्रकृतिसारूप्याद्द्रष्टव्यः । यथा वृक्षशब्दे विभक्त्यादिभेदात्प्रत्यर्थं भिन्नेऽपि लौकिकानामेकोऽयमिति व्यवहारः, तथा पताकादावपि प्रकृतिसारूप्यादेकत्वव्यवहारोऽवगन्तव्यः । कचिदनेकेष्वप्यर्थेष्वेकरूपकरणस्थानादियुक्तस्य हस्तस्य प्रयोगदर्शनं त्वनेकार्थानामक्षादिशब्दानां प्रयोगवदवगन्तव्यम् । एवं सति हस्तसप्ततिवचनं संक्षेपाभिप्रायं मन्तव्यम् । अयमेवार्थोऽभिनवगुप्तपादैर्भारतीयविवृतौ प्रपञ्चितः ; विवृतश्च संयुतहस्तनिगमनावसरे । यथा—“असंयुतास्तावदेते भवन्ति । न ह्येतेऽसंयुता एव । नाप्येत एव कोहलादिभिरन्येषां दर्शनात्” इत्युपक्रम्य, “तथाहि ; कूर्पराधी^१ तत्रिपताकेन पार्श्वे खटकामुखेन च स्त्रीणामभिनय इति, खटकेन कर्णान्तमागच्छता वामेन च कपित्थमुष्ट्यान्यतरेण बाणमोक्षः” इति च । अत्र स्त्रीदर्शने नैकस्त्रिपताको नैकः खटकामुखो वा । किं तूभयसंनिवेशवानेको हस्तः । तथा बाणमोक्षाभिनये नैकः खटको नापि मुष्टिकपित्थयोरन्यतरः । अपि तु तत्संनिवेशविशेषवानन्यो हस्तः । तथा मुनिनापि —

“अङ्गाद्यभिनयस्येह यो विशेषः कचित् कचित् ।

अनुक्त उच्यते यस्मात्स चित्रोऽभिनयः स्मृतः” ॥

इति प्रपञ्चितः ॥ २८६- ॥

^१ कूर्पराधिक० इत्यपि पाठो दृश्यते.

लोकवृत्तानुसारात्तेऽप्युह्यन्तामनया दिशा ॥ २८७ ॥

नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैरुपाङ्गैरुपबृंहिताः ।

प्रत्यङ्गैश्च कराः कार्या रसभावप्रदर्शकाः ॥ २८८ ॥

(क०) एवं हस्तानामानन्त्ये सिद्धे तत्राप्रसिद्धहस्तपरिज्ञाने लोकं प्रमाणयन्नाह—लोकवृत्तानुसारात्तेऽप्युह्यन्तामनया दिशेति । तथा चाह मुनिः—

“नोक्ता ये च मया ह्यत्र लोकाद्ग्राह्यास्तु ते बुधैः ।

लोको वेदास्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।

तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।”

इति । अत्रेदमुपहृत्—अभिनयानन्त्याद्वस्तानन्त्येऽपि स्वबुद्ध्या लोकतो वानुक्तहस्तकल्पनायां करणप्रचारादिभिः संयुतत्वेनासंयुतत्वेन वा संनिवेश-विशेष एव कल्पनीयः, न तूक्तपताकादिव्यतिरिक्तो हस्तः । उक्तरीत्या कल्पितस्य तावत्स्येव हस्तान्तरसिद्धेः कंचिदप्यर्थं यथा तथा वा धर्मिद्वया-श्रयणेन यथाशोभमभिनीय पताकादिष्वन्यतमे पर्यवस्येदिति । ननु कचिदे-कस्याप्यर्थस्य बहवो हस्ताः संभवन्ति, तत्र केनाभिनयः कर्तव्य इति चेदुच्यते । प्रयोगे पूर्वापरसंगतत्वेन यः शोभाकारी करस्तेनाभिनयः कर्तव्य इति मन्तव्यम् । यथाह भरतः—

“अर्थस्यैकस्य भूयांसः संभवन्ति यदा कराः ।

शोभाकारी तदा तत्र करः कार्यः प्रयोक्तृभिः” ॥

इति ॥ -२८७ ॥

(क०) अभिनये त्वङ्गान्तरापेक्षया हस्तानामेव प्राधान्यं दर्शयितु-माह—नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैरिति । अत्राद्यशब्देन तारापुटादीन्युपाङ्गान्त-

उत्तमेष्वभिनेयेषु ललाटक्षेत्रचारिणः ।

वक्षःस्था मध्यमेषु स्युरधमेषु त्वधो मताः ॥ २८९ ॥

अन्यैरुक्ता व्यवस्थेयमुत्तमाद्यभिनेतृषु ।

उत्तमे संनिकृष्टाः स्युर्मध्यमे मध्यसंस्थिताः ॥ २९० ॥

अधमे त्वभिनेये स्युर्विप्रकृष्टचराः कराः ।

राणि गृह्यन्ते । मुखे रागस्यानुपाङ्गत्वेऽपि नेत्राद्युपाङ्गसाहचर्यादुपाङ्गत्वमुप-
चर्यते । प्रत्यङ्गैश्चेत्यत्र चकारेणाङ्गान्यपि समुच्चीयन्ते । तेन शिरश्चरणा-
दीन्यप्यङ्गान्यभिनेये हस्तानामुपबृंहकत्वादुपसर्जनानि भवन्तीत्यर्थः । हस्ता-
नामप्युपाङ्गाद्युपबृंहितानामेव रसभावप्रदर्शकत्वं भवति, न तु केवलाना-
मिति भावः । कार्या इति प्रयोक्तृविषयो नियमविधिः ॥ २८८ ॥

(क०) अथाभिनयहस्तानामभिनेयार्थाधीनं स्थाननियममाह—उत्त-
मेष्वित्यादि । उत्तमेषु सुवर्णादिष्वर्थेषु, अभिनेयेषु, अभिनेतव्येषु करा ललाट-
क्षेत्रचारिणः स्युरिति । तथा कर्तव्या इत्यर्थः । मध्यमेषु पुष्पफलाद्यर्थे-
ष्वभिनेतव्येषु वक्षःस्थाः स्युः । अधमेषु पिण्याकादिष्वर्थेषु त्वभिनेतव्येष्वधो-
गताः स्युः ॥ २८९ ॥

(क०) इयमर्थकृता व्यवस्थाभिनेतृविषयत्वेनान्यैरुक्तेत्याह—अन्यै-
रिति । उत्तमाद्यभिनेतृषु ; उत्तमा अभिनेतारो राजदेवीप्रभृतयः ;
आदिशब्देन, मध्यमा अभिनेतारः सेनापतिपुरोहितप्रभृतयः ; अधमा दौवा-
रिकपरिचारकादयश्च गृह्यन्ते । एतेष्वभिनेतृषु, इयं व्यवस्थोक्तेति ।
राजादिष्वभिनेतृषु ललाटदेशचारिणः, पुरोहितादिष्वभिनेतृषु वक्षःस्थाः,
दौवारिकादिष्वभिनेतृष्वधोगताश्च कर्तव्या इति व्यवस्था । उत्तमाद्यर्थविषयं
व्यवस्थान्तरं दर्शयति—उत्तमे संनिकृष्टाः स्युरित्यादि ॥ २८९, २९०-॥

अल्पो हस्तप्रचारः स्यात्प्रत्यक्षे भूरिसात्त्विके ॥ २९१ ॥

परोक्षे प्रचुरः स स्यान्मध्यमे मध्यमो मतः ।

कार्याः सुव्यक्तलक्ष्माणः पात्रैरुत्तममध्यमैः ॥ २९२ ॥

ससौष्ठवाश्च नीचैस्तु पाणयस्तद्विलक्षणाः ।

विषण्णे व्याकुले भीते मूर्छिते तन्द्रयान्विते ॥ २९३ ॥

(क०) अथ हस्तप्रचारस्याल्पप्रचुरमध्यमत्वव्यवस्थां विषयमेवेन दर्शयति—अल्पो हस्तप्रचारः स्यादित्यादि । प्रत्यक्षे ; साक्षादनुभूयमानेऽर्थे, भूरिसात्त्विके प्रभूतसात्त्विके भावे वा अभिनेतव्ये हस्तप्रचारोऽल्पः कर्तव्यः स्यात् । परोक्षे ; अप्रत्यक्षेऽर्थेऽभिनेतव्ये, सः ; हस्तप्रचारः प्रचुरः कर्तव्यः स्यात् । मध्यमे ; किञ्चित्प्रत्यक्षत्वेन किञ्चिदप्रत्यक्षत्वेन च स्थितेऽर्थेऽभिनेतव्ये मध्यमो नात्यल्पो नातिप्रचुरः प्रचारः कर्तव्योऽभिमतः । भूरिसात्त्विक इत्यनेनैवाल्लक्षणसात्त्विकेऽप्रचुरः । मध्यमसात्त्विके मध्यमः प्रचार इत्यवगन्तव्यम् ॥ २९०, २९१- ॥

(क०) अभिनेतृविषयामन्यां व्यवस्थां दर्शयति—कार्याः सुव्यक्तलक्ष्माण इति । उत्तममध्यमैः पात्रै राजपुरोहिताद्यनुकारकैः पात्रैः । सुव्यक्तलक्ष्माणः ; शाल्मे यस्य हस्तस्य यल्लक्षणमुक्तं तत्सम्यक्कृतं चेत्सुव्यक्तं भवति । सुव्यक्तं लक्ष्म येषां ते तथोक्ताः । ससौष्ठवाश्चेति ;

‘कटी जानुसमा यत्र कूर्परांसशिरःसमम् ।

उरः समुन्नतं सन्नं गात्रं तत्सौष्ठवं भवेत्’ ॥

इति वक्ष्यमाणलक्षणेन सौष्ठवेन सहिताः ससौष्ठवाः । नीचैस्त्विति । दौवारिकादिभिर्नीचपात्रैस्तु, तद्विलक्षणा इति । अव्यक्तलक्षणा असौष्ठवाश्चेत्यर्थः । उत्तमादितारतम्येन पात्राणि योजयेदित्यभिप्रायः । केषुचिद-

जुगुप्साशोकसंतप्ते सुप्ते ग्लाने जरार्दिते ।
 रोगशीतार्तनिश्चेष्टसंचितेष्वपि तापसे ॥ २९४ ॥
 मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न हस्ताभिनयो भवेत् ।
 सूचयन्त्यान्तरं भावं ये कराः कर्कटादयः ॥ २९५ ॥
 विषण्णादिष्वपि प्रायः प्रयोज्यास्ते सतां मताः ।

इति हस्तप्रकरणम् ।

भिनेयविशेषेषु हस्ताभिनयं निषेधति—विषण्ण इति । किं सर्वत्र
 एवात्र न हस्ताभिनय इत्याशङ्क्य प्रतिप्रसवार्थमाह—सूचयन्तीति ॥
 ॥ -२९२-२९५- ॥

इति हस्तप्रकरणम् ।

(सु०) हस्तलक्षणमुपसंहरति—प्रदर्शनार्थमुक्तमिति । अभिनेयार्थानामा-
 नन्त्यात् इयन्तो हस्ता इति वक्तुं ब्रह्मादयोऽपि नेशते । अत एते हस्ताः
 दिक्प्रदर्शनार्थं मया हस्तसप्ततिरुक्ताः । लोकरीत्या अन्येऽप्यनया दिशा
 ऊहनीयाः । हस्तानां प्राधान्यमाह—नेत्रेति । वक्ष्यमाणनेत्राद्युपाङ्गयुक्ताश्चैते
 रसभावव्यञ्जकाः कर्तव्याः । अभिनयविशेषे तेषां स्थानविशेषमाह—
 उत्तमेष्विति । उत्तमाभिनये ललाटक्षेत्रे हस्तानां प्रचारः ; मध्यमाभिनये वक्षसि
 प्रचारः । अधमाभिनये अधोगतः प्रचार इति । अन्यैरियं ललाटादिव्यवस्था
 उत्तममध्यमाधमस्थाननियमा अभिनेतृविशेषणत्वेनोक्ताः ।

अभिनेयविशेषेणैतेषां संनिकर्षविशेषमाह—उत्तम इति । विशेषेण
 हस्तप्रचाराणामल्पत्वबाहुल्ये कथयति—अल्प इति । भूरिसात्त्विके प्रत्यक्षे
 हस्तप्रचारोऽल्पः । परोक्षे प्रचुरः । मध्यमे मध्यमः । अभिनेतृविषयामन्यां
 व्यवस्थामाह—कार्या इति । उत्तमपात्रैः ; मध्यमपात्रैश्च, सुव्यक्तलक्षमाणः,
 सुव्यक्तं लक्ष्मा येषां ते तथोक्ताः ; ससौष्टवाः ; वक्ष्यमाणसौष्टवलक्षणेन सहि-
 ताश्च कार्याः । नीचैस्त्विति । नीचपात्रैस्तु, तद्विलक्षणाः, उत्तमादिविलक्षणाः

अथ वक्षोभेदाः—

स्याद्वक्षः सममाभुग्रं निर्भुग्रं च प्रकम्पितम् ॥ २९६ ॥

उद्वाहितं पञ्चवेति तेषां लक्ष्माभिदध्महे ।

सौष्ठवाधिष्ठितं वक्षश्चतुरश्राङ्गसंश्रयम् ॥ २९७ ॥

प्रकृतिस्थं समं प्राहुः स्वभावाभिनये च तत् ।

इति समम् (१)

असौष्ठवा इत्यर्थः । अत्र उत्तमादितारतम्येन पात्राणि योजयेदिति । हस्ताभिनयस्य केषुचित् स्थानविशेषनिषेधमाह—विषण्णे इति । विषण्णे, व्याकुले, भीते, मूर्छिते, तन्द्रालौ, जुगुप्सायान्, शोकसंतप्ते, ग्लाने, जरापीडिते, रोगार्ते, शीतार्ते, निश्चष्टे, तापसे, मत्ते, उन्मत्ते, प्रमत्ते च हस्ताभिनयो न कार्यः । उत्सर्गे-
णोक्तस्याभिनयनिषेधस्य क्वचिदपवादमाह—सूचयन्तीति ॥ -२८६-२९५- ॥

इति हस्तप्रकरणम् ।

(क०) अथ वक्षःप्रभेदानुद्दिश्य लक्षयति—स्याद्वक्ष इत्यादि । तत्र समस्य वक्षसो लक्षणे—सौष्ठवाधिष्ठितमिति । सौष्ठवेन कटीजान्वित्यादिनोक्तलक्षणेनाधिष्ठितम् । चतुरश्राङ्गसंश्रयमिति । चतुरश्रं च तदङ्गं च चतुरश्राङ्गम् । चतुरश्राङ्गं संश्रयो यस्येति तथोक्तम् ।

‘वैष्णवं स्थानकं यत्र कटीनाभिचरौ करौ ।

पृथक्समुन्नतं वक्षश्चतुरश्रं तदुच्यते’ इति ॥

चतुरश्राङ्गलक्षणं वक्ष्यते । शिष्टं स्पष्टम् ॥ -२९६-३०२- ॥

इति पञ्चविधं वक्षः ।

(सु०) वक्षोभेदान् विभजते—स्यादिति । समादिभेदेन वक्षसः पञ्च भेदाः । समम्, आभुग्रम्, निर्भुग्रम्, प्रकम्पितम्, उद्वाहितमिति । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—सौष्ठवेति । सौष्ठवाधिष्ठितम्; सौष्ठवमवष्टम्भः तेन अधिष्ठितं संयुक्तम्, चतुरश्राङ्गसंश्रयम्, चतुरश्रमायतोन्नतमङ्गं च

निम्नं शिथिलमाभुग्नं वक्षः स्यादूर्ध्वलज्जयोः ॥ २९८ ॥

शीतहृच्छलयोः शोके मूर्च्छाभीसंभ्रमेषु च ।

कार्यं व्याधौ विषादे च ब्रूते शंकरकिंकरः ॥ २९९ ॥

इत्याभुग्नम् (२)

निर्भुग्नं निम्नपृष्ठत्वादुन्नतं स्तब्धमप्युरः ।

माने च सत्यवचने स्तम्भे विस्मयवीक्षिते ॥ ३०० ॥

^१ प्रकृष्टभाषणे गर्वोत्सेके चेदं प्रयुज्यते ।

इति निर्भुग्नम् (३)

प्रकम्पितं कम्पितं स्यादूर्ध्वक्षेपैर्निरन्तरैः ॥ ३०१ ॥

स्याद्भीहासश्रमश्वासकासहिकासु रोदने ।

इति प्रकम्पितम् (४)

चतुरश्राङ्गं संश्रय अङ्गविन्यासो यस्य तथाविधं वक्षः प्रकृतिस्थम्,
स्वाभाविकं सममित्युच्यते ॥ -२९६, २९७- ॥

इति समम् (१)

(सु०) आभुग्नं लक्षयति—निम्नमिति । निम्नमुन्नतम्, शिथिलं वक्षः
अभुग्नम् । तच्च गर्वे, लज्जायाम्, शीते, हृच्छल्ये, शोके, मूर्च्छाभीतिसंभ्रमादिषु,
व्याधौ, विषादे च प्रयुज्यते ॥ -२९८, २९९ ॥

इत्याभुग्नम् (२)

(सु०) निर्भुग्नं लक्षयति—निर्भुग्नमिति । निम्नपृष्ठत्वात् उन्नतमुरो
निर्भुग्नम् । तच्च माने, सत्यवचने, स्तम्भे, विस्मयवीक्षिते, प्रकृष्टभाषणे,
गर्वाधिक्ये च प्रयुज्यते ॥ ३००, ३००- ॥

इति निर्भुग्नम् (३)

(सु०) प्रकम्पितं लक्षयति—प्रकम्पितमिति । निरन्तरैः ऊर्ध्वप्रक्षेपैः

^१ प्रहर्षभाषणे इति पाठः ।

अकम्पं सरलोत्क्षिप्तमुद्वाहितमुदीरितम् ॥ ३०२ ॥
दीर्घोच्छ्वासे च जृम्भायामुत्तुङ्गालोकने च तत् ।

इत्युद्वाहितम् (५)

इति पञ्चविधं वक्षः ।

अथ पार्श्वभेदाः—

विवर्तितं चापसृतं प्रसारितमथो नतम् ॥ ३०३ ॥
उन्नतं चेति संचल्युः पार्श्वं पञ्चविधं बुधाः ।
विवर्तनात् त्रिकस्य स्यात्परावृत्तौ विवर्तितम् ॥ ३०४ ॥

इति विवर्तितम् (१)

तन्निवृत्त्या त्वपसृतं भवेत्पार्श्वविवर्तने ।

इत्यपसृतम् (२)

अवलम्बितैः कम्पितं वक्षः प्रकम्पितमित्युच्यते । तच्च भये, हासे, श्रमे, श्वासे,
कासे, हिक्कायाम्, रोदने च प्रयुज्यते ॥ -३०१, ३०१- ॥

इति प्रकम्पितम् (४)

(सु०) उद्वाहितं लक्षयति—अकम्पमिति । सरलोत्क्षिप्तम्, उच्चीकृतम्,
अकम्पम्; कम्पहीनं वक्ष उद्वाहितम् । तच्च दीर्घोच्छ्वासे, जृम्भायाम्,
उत्तुङ्गालोकने च प्रयुज्यते ॥ -३०२, ३०२- ॥

इत्युद्वाहितम् (५)

इति पञ्चविधं वक्षः ।

(क०) पार्श्वभेदानुद्दिश्य लक्षयति — विवर्तितमित्यादि
॥ -३०३-३०६ ॥

इति पञ्चविधं पार्श्वम् ।

(सु०) पार्श्वभेदानाह—विवर्तितमिति । विवर्तितम्, अपसृतम्,
प्रसारितम्, नतम्, उन्नतमिति बुधाः नृत्तज्ञाः पार्श्वं पञ्चधा संचक्ष्युः । अत्र

प्रसारितं तूभयतो विस्तारात्स्यान्मुदादिषु ॥ ३०५ ॥

इति प्रसारितम् (३)

न्यश्चितांसं नितम्बं तु नतं स्यादपसर्पणे ।

इति नतम् (४)

पार्श्वं तद्विपरीतं तून्नतं स्यादुपसर्पणे ॥ ३०६ ॥

इत्युन्नतम् (५)

इति पञ्चविधं पार्श्वम् ।

अथ कटीभेदाः—

कम्पितोद्वाहिता छिन्ना विवृता रेचिता तथा ।

कटी पञ्चविधेत्युक्ता तल्लक्ष्म व्याहरेऽधुना ॥ ३०७ ॥

द्रुतं गतागते पार्श्वं दधती कम्पिता मता ।

गणशः पञ्चसंख्याङ्कमाहुरित्यर्थः । एतेषां भेदानां क्रमेण लक्षणमाह—विवर्त-
नादित्यादिना । त्रिकस्य विवर्तनात् परावृत्तौ वक्षो विवर्तितम् । इति विवर्तितम्
(१) अपसृतं लक्षयति—तदिति । तस्य विवर्तनस्य निवृत्त्या अपसृतम् । तत्पा-
र्श्वविवर्तने प्रयोज्यम् । इत्यपसृतम् (२) प्रसारितं लक्षयति—प्रसारितमिति ।
उभयतो विस्तृतत्वे प्रसारितम् । तन्मुदादिषु प्रयोज्यम् । इति प्रसारितम्
(३) नतं लक्षयति—न्यश्चितेति । न्यश्चित अंसो नितम्बो यस्मिन्, तथाविधं
पार्श्वं नतम् । तदपसर्पणे प्रयोज्यम् (४) उन्नतं लक्षयति—तदिति । तद्विपरीतं
पार्श्वमुन्नतम् । तदुपसर्पणे प्रयोज्यम् । इत्युन्नतम् (५) ॥ -३०३-३०६ ॥

इति पञ्चविधं पार्श्वम्

(क०) कटी विभज्य लक्षयति—कम्पितोद्वाहितेत्यादि ॥

॥ ३०७-३११ ॥

इति पञ्चविधा कटी ।

तां कुब्जवामनादीनां गमने च प्रयोजयेत् ॥ ३०८ ॥

इति कम्पिता (१)

शनैरुच्चलिता पार्श्वद्वयेनोद्धाहिता कटी ।

स्त्रीणां लीलागतेष्वेषा पीनाङ्गानां गतावपि ॥ ३०९ ॥

इत्युद्धाहिता (२)

छिन्ना तिर्यङ्मुखे पार्श्वे मध्यस्य वलनात्कटी ।

व्यायामे संभ्रमे चैषा व्यावृत्तप्रेक्षणादिषु ॥ ३१० ॥

इति छिन्ना (३)

पराङ्मुखेन पार्श्वेणाभिमुखं या विवर्तिता ।

विवृत्ता सा कटी प्रोक्ता विनियोज्या विवर्तने ॥ ३११ ॥

इति विवृत्ता (४)

सर्वतो भ्रमणादुक्ता रेचिता भ्रमणे भवेत् ।

इति रेचिता (५)

इति पञ्चविधा कटी ।

(सु०) कटीभेदानाह—कम्पितेति । कम्पिता, उद्धाहिता, छिन्ना, विवृत्ता, रेचिता इति पञ्चविधोक्ता । तासां क्रमेण लक्षणमाह—द्रुतमिति । द्रुतं शीघ्रं पार्श्वे गतागते दधती कटी कम्पिता । तां कुब्जवामनादीनां गमने च प्रयोजयेत् । इति कम्पिता (१) उद्धाहितां लक्षयति—शनैरिति । पार्श्वद्वयेन शनैः उच्चलिता कटी उद्धाहिता । एषा स्त्रीणां लीलागमने, पीनाङ्गानां गमनेऽपि विनियुज्यते । इत्युद्धाहिता (२) छिन्नां लक्षयति—छिन्ना इति । तिर्यङ्मुखे पार्श्वे मध्यस्य वलनात् छिन्नाकटी भवति । एषा व्यायामे, संभ्रमे, व्यावृत्त-

अथ चरणभेदाः—

समोऽञ्चितः कुञ्चितश्च सूच्यग्रतलसंचरः ॥ ३१२ ॥
 उद्घट्टितश्चेति मुनेः षड्विधश्चरणो मतः ।
 ताडितो घटितोत्सेधो घट्टितो मर्दितस्तथा ॥ ३१३ ॥
 अग्रगः पार्ष्णिगः पादः पार्श्वगश्चापरः परैः ।
 इति सप्तापरे प्रोक्ताः पादास्तल्लक्षणं ब्रूवे ॥ ३१४ ॥
 स्वभावेन स्थितो भूमौ समः पादोऽभिधीयते ।
 स्वभावाभिनये कार्यः स्थिरोऽसौ रेचके चलः ॥ ३१५ ॥

इति समः (१)

भूस्थपार्ष्णिगः समुत्क्षिप्ताग्रतलः प्रसृताङ्गुलिः ।
 अञ्चितः स भवेत्पादो हस्तभ्रमरकादिषु ॥ ३१६ ॥

इत्यञ्चितः (२)

प्रेक्षणादिषु च कार्या । इति च्छिन्ना (३) विवृत्तां लक्षयति—पराङ्मुखेनेति ।
 पराङ्मुखेन पाश्वर्णे अभिमुखं विवर्तिता कटी विवृत्ता । सा विवर्तने कार्या ।
 इति विवृत्ता (४) रेचितां लक्षयति—सर्वत इति । सर्वतो भ्रमणात् रेचिता ।
 सा भ्रमणे कार्या । इति रेचिता (५) ३०७-३११- ॥

इति पञ्चविधा कटी ।

(क०) पादभेदानुद्दिश्य लक्षयति—समोऽञ्चित इत्यादि । सवि-
 नियोगानि तेषां लक्षणानि स्फुटार्थानि ॥ -३१२-३२५ ॥

इति त्रयोदश चरणभेदाः ।

(सु०) चरणभेदानाह—सम इति । समः, अञ्चितः, कुञ्चितः, सूची, अग्र-
 तलसंचरः, उद्घट्टित इति भरतमतेन चरणः षड्विधः । मतान्तरमाह—ताडित

कुञ्चिताङ्गुलिखत्क्षिप्तपार्ष्णिर्मध्ये च कुञ्चितः ।

कुञ्चितः ^१स्यादतिश्रान्तगतौ तुङ्गस्य च ग्रहे ॥ ११७ ॥

इति कुञ्चितः (३)

वामः स्वाभाविकोऽन्यस्तु भुव्यङ्गुष्ठाग्रसंस्थितः ।

उत्क्षिप्तेतरभागोऽसौ सूची नूपुरबन्धने ॥ ३१८ ॥

इति सूची (४)

यस्योत्क्षिप्ता भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठः प्रसृतस्तथा ।

अङ्गुल्यो न्यञ्चिताः स स्यात्पादोऽग्रतलसंचरः ॥ ३१९ ॥

प्रेरणे कुट्टने स्थाने पीडने भूमिताडने ।

भूस्थापसारणे स स्याद्रेचके भ्रमणे मदे ॥ ३२० ॥

इत्यग्रतलसंचरः (५)

इति । ताडितः, घटितोत्सेधः, घट्टितः, मर्दितः, अग्रगः, पार्ष्णिगः, पाश्वर्ग
इति सप्त पादभेदा भवन्ति । एवं त्रयोदश भेदाः । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—
स्वभावेनेति । स्वभावेन प्रकृत्या स्थितः समपाद इत्युच्यते । स च स्वभावामि-
नये कार्यः । इति समः (१) अञ्चितं लक्षयति—भूस्थपार्ष्णिरिति ।
भूस्थितपार्ष्णिः ; भूमौ स्थितः पार्ष्णिर्यस्य सः ; समुत्क्षिप्ताग्रतलः ; सम्यक्
उत्क्षिप्तमुच्चिकृतं तलाग्रं यस्य तथाविधः ; प्रसृताङ्गुलिः ; प्रसृता
अङ्गुल्यो यस्य, तथाविध अञ्चितो भवति । स च हस्तभ्रमरकादिषु विनि-
योगः । भ्रमरकं कारणविशेषः । इत्यञ्चितः (२) कुञ्चितं लक्षयति—कुञ्चितेति ।
कुञ्चिता अङ्गुल्यो यस्य तथाविधः ; उत्क्षिप्तपार्ष्णिमध्ये तु, उत्क्षिप्तः उच्चः
पार्ष्णिः यस्य, तस्य मध्ये तु संकुचितः, कुञ्चिताख्यश्चरणः । स च अतिश्रान्त-
गतौ ; अतिश्रान्तस्य बहुमार्गगमनश्रान्तस्य गतौ, तुङ्गस्य ग्रहे च, अत्युच्चपदार्थ-

^१ स्यादतिक्रान्तगतौ इत्यपि पाठः .

यदि पादतलाग्रेण स्थित्वा भूमौ निपात्यते ।
असकृद्वा सकृत्पार्ष्णिर्भवेदुद्धृतस्तदा ॥ ३२१ ॥

इत्युद्धृतः (६)

पाण्यर्था धरामवष्टभ्य तामग्रेण निहन्ति यः ।
ताडितश्चरणः स स्यात्प्रयोज्यः क्रोधगर्वयोः ॥ ३२२ ॥

इति ताडितः (७)

घ्नन्मुहुर्घटितोत्सेधोऽग्रपार्ष्णिभ्यां भुवं क्रमात् ।

इति घटितोत्सेधः (८)

घटितः क्षितिघाती स्यात्पार्ष्ण्यङ्घ्रिः प्रेरणेन सः ॥ ३२३ ॥

इति घटितः (९)

यस्तिरश्चा तलेनोर्वीं प्रमुद्राति स मर्दितः ।

इति मर्दितः (१०)

ग्रहणे च विनियुज्यते । इति कुञ्चितः (३) सूचीं लक्षयति—वाम इति । वामः पादः स्वाभाविकः, अन्यस्तु भूमौ अङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः, उत्क्षिप्तेतरभागो वा भवति, सा सूची । असौ नूपुरबन्धने कार्या । इति सूची (४) अग्रतलसंचरं लक्षयति—यत्रेति । यत्र पार्ष्णिः उत्क्षिप्तः, अङ्गुष्ठः प्रसृतः, तथा अङ्गुल्यो न्यञ्चिताः, सोऽग्रतलसंचरः । स च प्रेरणे, कुट्टने, स्थाने, पीडने, भूमिताडने, भूस्थितापसरणे, रेचके, भ्रमणे, मदे च कार्यः । इत्यग्रतलसंचरः (५) उद्धृतं लक्षयति—यदीति । यत्र भूमौ पादतलाग्रेण स्थित्वा पार्ष्णिः असकृद्वा सकृद्वा निपात्यते, स उद्धृतः । इत्युद्धृतः (६) ताडितं लक्षयति—पाण्यर्था इति । यत्र पाण्यर्था भूमिमवष्टभ्य अग्रेण भूमिस्ताड्यते स ताडितः । स च क्रोधगर्वयोः प्रयोज्यः । इति ताडितः (७) घटितोत्सेधं लक्षयति—

अग्रगोऽग्रे द्रुतं सर्पन् प्रयोज्यः पङ्क्तिः ॥ ३२४ ॥

इत्यग्रगः (११)

पृष्ठतोऽपसरन्पाष्ण्यां पार्ष्णिगः पाद उच्यते ।

इति पार्ष्णिगः (१२)

स्थितः पार्श्वेऽथवा पार्श्वं व्रजन्पार्श्वग इष्यते ॥ ३२५ ॥

इति पार्श्वगः (१३)

इति त्रयोदश चरणभेदाः ।

अथ स्कन्धभेदाः—

एकोच्चौ कर्णलग्नौ चोच्छ्रितौ स्रस्तौ च लोलितौ ।

इत्युक्तौ पञ्चधा स्कन्धौ नाम्नाभिव्यक्तलक्षणौ ॥ ३२६ ॥

एकोच्चौ कथितौ स्कन्धौ मुष्टिकुन्तप्रहारयोः ।

आश्लेषे शिशिरे चांसौ कर्णलग्नौ मतौ सताम् ॥ ३२७ ॥

उच्छ्रितौ हर्षगर्वादौ स्रस्तौ दुःखे श्रमे मदे ।

(क०) स्कन्धभेदानां विनियोगं दर्शयति—एकोच्चावित्यादि ॥

॥ ३२६—३२८- ॥

इति पञ्चधा स्कन्धौ ।

इति सप्ताङ्गानि ।

घट्टितमुदुरिति । यत्र अग्रपार्ष्णिभ्यां भूमिः क्रमात् हन्यते, स घटितोत्सेधः । इति घटितोत्सेधः (८) घट्टितं लक्षयति—घट्टित इति । पाष्ण्यङ्घ्रेः प्रेरणेन क्षितिं घातयन् घट्टितः । इति घट्टितः (९) मर्दितं लक्षयति—य इति । यः पादः तिर्यक् तलेन उर्वी प्रमुद्नाति, स मर्दितः । इति मर्दितः (१०) अग्रगं लक्षयति—अग्रग इति । अग्रे द्रुतं शीघ्रं सर्पन् गच्छन् अग्रगः । स च पङ्क्ति-

मूर्च्छायां चाथ कर्तव्यौ लोलितौ विटनर्तने ॥ ३२८ ॥

वृत्तत्रैर्गदितौ हास्ये हुडुक्कावाद्यवादने ।

इति पञ्चधा स्कन्धौ ।

इति सप्ताङ्गानि ।

अथ ग्रीवाभेदाः—

समा निवृत्ता वलिता रेचिता कुञ्चिताञ्चिता ॥ ३२९ ॥

त्र्यश्वा नतौन्नता चेति ग्रीवा नवविधा भवेत् ।

समा स्वाभाविकी ध्याने जपे कार्ये स्वभावजे ॥ ३३० ॥

इति समा (१)

लक्षितौ प्रयोज्यः । इत्यग्रगः (११) पार्श्विर्गं लक्षयति—पृष्ठत इति । पाष्ण्यां पृष्ठतोऽपसरन् पादः पार्श्विर्गः । इति पार्श्विर्गः (१२) पार्श्वं लक्षयति—स्थित इति । पार्श्वोपरि स्थितः, पार्श्वगामी वा पार्श्वगः । इति पार्श्वगः (१३) ॥ -३१२-३२९ ॥

इति त्रयोदश चरणभेदाः ।

(क०) अथ प्रथमोद्दिष्टाया ग्रीवायाः प्रभेदानुद्दिशति—समा निवृत्तेत्यादि ॥ -३२९-३३४- ॥

(सु०) स्कन्धभेदानाह—एकोच्चाविति । एकोच्चौ, कर्णलग्नौ, उच्छिन्नौ, स्रस्तौ, लोलिताविति पञ्चविधौ स्कन्धौ । तेषां लक्षणानि नामैव प्रकटीकृतानि । प्रथमो मुष्टिकुन्तप्रहारयोः ; द्वितीय अश्लेषे, शिशिरे च ; तृतीयो हर्षगर्वादौ ; चतुर्थो दुःखे, मदे, मूर्च्छायां च ; पञ्चमो विटनर्तने, हास्ये, हुडुक्कावादने च प्रयोज्यः ॥ ३२६-३२८- ॥

इति पञ्चधा स्कन्धौ ।

इति सप्ताङ्गानि ।

ग्रीवा त्वभिमुखीभूय निवर्तेत यदा तदा ।

निवृत्तेत्युच्यते सा स्यात्स्वस्थानाभिमुखादिषु ॥ ३३१ ॥

इति निवृत्ता (२)

पार्श्वोन्मुखी तु वलिता ग्रीवा भङ्गे तथेक्षणे ।

इति वलिता (३)

रेचिता विधुतभ्रान्ता वर्तुले मथने तथा ॥ ३३२ ॥

इति रेचिता (४)

(सु०) एवं सप्ताङ्गानि निरूप्य प्रत्यङ्गानि निरूपयिषुः प्रथमनिर्दिष्टग्रीवा-
भेदानाह—समेति । समा, निवृत्ता, वलिता, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, त्र्यश्रा,
नता, उन्नता इति नवविधा ग्रीवा । क्रमेण लक्षणमाह—समेति । स्वाभाविकी ग्रीवा
समा । सा च ध्याने, जपे, स्वाभाविके कार्ये च प्रयोज्या ॥ -३२९, ३३० ॥

इति समा (१)

(सु०) निवृत्तां लक्षयति—ग्रीवा इति । यदा ग्रीवा अभिमुखीभूय
निवर्तेत, तदा निवृत्ता भवति । सा स्वस्थानाभिमुखादौ प्रयोज्या ॥ ३३१ ॥

इति निवृत्ता (२)

(सु०) वलितां लक्षयति—पार्श्वोन्मुखीति । पार्श्वोन्मुखी ग्रीवा
वलिता । सा च भङ्गे, कौटिल्ये, अथवा पलायने, ईक्षणे, पार्श्वपादावलोकने च
प्रयोज्या ॥ ३३१- ॥

इति वलिता (३)

(सु०) रेचितां लक्षयति—रेचिता इधि । विधुता भ्रामिता ग्रीवा
रेचिता । सा च वर्तुले, मथने च प्रयोज्या ॥ -३३२ ॥

इति रेचिता (४)

आकुञ्चिता कुञ्चिता स्यान्मूर्धभारे स्वगोपने ।

इति कुञ्चिता (५)

अञ्चिता प्रसृता लोला केशाकर्षेऽर्धवीक्षणे ॥ ३३३ ॥

इत्यञ्चिता (६)

त्र्यश्रा पार्श्वगता खेदे पार्श्वेक्षास्कन्धभारयोः ।

इति त्र्यश्रा (७)

नतावनम्रालंकारबन्धे कण्ठावलम्बने ॥ ३३४ ॥

इति नता (८)

(सु०) कुञ्चितां लक्षयति—आकुञ्चितेति । आकुञ्चिता ग्रीवा कुञ्चिता । सा च मूर्धभारे, स्वगोपने च प्रयोज्या ॥ ३३२- ॥

इति कुञ्चिता (५)

(सु०) अञ्चितां लक्षयति—अञ्चितेति । लोला चञ्चलाभूत्वा प्रसृता विस्तृता ग्रीवा अञ्चिता । सा च केशाकर्षणे, अर्धवीक्षणे च प्रयोज्या ॥-३३३॥

इत्यञ्चिता (६)

(सु०) त्र्यश्रां लक्षयति—त्र्यश्रेति । पार्श्वगा ग्रीवा त्र्यश्रा । सा च खेदे; पार्श्वेक्षणे; स्कन्धभारे च प्रयोज्या ॥ ३३३- ॥

इति त्र्यश्रा (७)

(सु०) नतां लक्षयति—नतेति । अवनम्रा ग्रीवा नता । सा च अलंकार-बन्धे, कण्ठावलम्बने च प्रयोज्या ॥ -३३४ ॥

इति नता (८)

उन्नतोर्ध्वानता ग्रीवालंकारोर्ध्वप्रदर्शने ।

इत्युन्नता (९)

अथ बाहुभेदाः—

ऊर्ध्वस्थोऽधोमुखस्तिर्यगपविद्धः प्रसारितः ॥ ३३५ ॥

अश्रितो मण्डलगतिः स्वस्तिकोद्वेष्टितावपि ।

पृष्ठानुसारीत्युदितो बाहुर्दशविधो बुधैः ॥ ३३६ ॥

आविद्धः कुञ्चितो नम्रः सरलान्दोलितावपि ।

उत्सारित इति प्राहुर्बाहुषट्परान्तरे ॥ ३३७ ॥

शीर्षादूर्ध्वं व्रजन्बाहुरूर्ध्वस्थस्तुङ्गदर्शने ।

इत्यूर्ध्वस्थः (१)

(सु०) उन्नतां लक्षयति—उन्नतेति । उर्ध्वानता ग्रीवा उन्नता । सा च अलंकारेण ऊर्ध्वप्रदर्शने प्रयुज्यते ॥ ३३४- ॥

इत्युन्नता (९)

इति नवविधा ग्रीवा ।

इति ग्रीवाप्रकरणम्

(क०) अथ बाहुभेदानुद्दिशति—ऊर्ध्वस्थोऽधोमुख इत्यादि ॥ -३३५-३३८- ॥

(सु०) बाहुभेदानाह—ऊर्ध्वस्थ इति । ऊर्ध्वस्थः, अधोमुखः, तिर्यग-पविद्धः, प्रसारितः, अश्रितः, मण्डलगतिः, स्वस्तिकः, उद्वेष्टितः, पृष्ठानुसारीति दशाविधो बाहुः । मतान्तरमाह—आविद्ध इति । आविद्धः, कुञ्चितः, नम्रः, सरलः, आन्दोलितः, उत्सारित इत्यन्यदपि बाहुषट्कं परे प्रोचुः । क्रमेण लक्षणमाह—शीर्षादिति । शीर्षात् ऊर्ध्वं गतो बाहुः ऊर्ध्वस्थः । स च तुङ्गदर्शने प्रयोज्यः ॥ -३३५-३३७- ॥

इत्यूर्ध्वस्थः (१)

अधोमुखो महीश्लेषी

इत्यधोमुखः (२)

तिर्यक्पार्श्वगतो भवेत् ॥ ३३८ ॥

इति तिर्यग्गतः (३)

बाहुर्मण्डलवद्गत्या वक्षःक्षेत्राद्विनिर्गतः ।

अपविद्धः

इत्यपविद्धः (४)

(सु०) अधोमुखं लक्षयति—अधोमुख इति । महीश्लेषी ; महीं पृथ्वीं श्लिष्यति तथा सह संयोगं प्राप्नोति ; स अधोमुख इत्युज्यते ॥ -३३८ ॥

इत्यधोमुखः (२)

(सु०) तिर्यग्गतं लक्षयति—तिर्यगिति । पार्श्वगतः, पार्श्वं प्राप्तः तिर्यगित्युज्यते ॥ -३३८ ॥

इति तिर्यग्गतः (३)

(क०) अत्रापविद्धबाहुलक्षणे—मण्डलवद्गत्या वक्षःक्षेत्राद्विनिर्गत इत्यादि । मण्डलमस्या अस्तीति मण्डलवती । सा चासौ गतिश्चेति कर्मधारयः । “पुवंकर्मधारयजातीयदेशीयेषु (अष्टा० ६-३-४२) इत्यादिना पुंवद्भावे सति मण्डलवद्गतिरिति रूपम् । तच्च मण्डलमत्र बाहोरपविद्ध-संज्ञानुसारेण बहिर्मुखमेव मन्तव्यम् । अन्यथा ‘वक्षःक्षेत्राद्विनिर्गतः’ इत्येतल्लक्षणं नोपपद्यते ॥ ३३८, ३३९- ॥

इत्यपविद्धः (४)

(सु०) अपविद्धं लक्षयति—बाहुरिति । यत्र बाहुः मण्डलवद्गत्या ; मण्डलाकारया गत्या वक्षःक्षेत्रात् विनिर्गतः ; सोऽपविद्धः ॥ ३३८-, ३३९- ॥

इत्यपविद्धः (४)

अथाग्रदेशमनुधावन्प्रसारितः ॥ ३३९ ॥

इति प्रसारितः (५)

वक्षःक्षेत्राद्विनिर्गत्य वक्षःप्रत्यागतोऽश्वितः ।

इत्यश्वितः (६)

उच्यते मण्डलगतिः सर्वतो भ्रमणाद्भुजः ॥ ३४० ॥

खड्गादिभ्रामणे चास्य विनियोगं प्रचक्षते ।

इति मण्डलगतिः (७)

स्वस्तिको लग्नयोर्बाह्वोः पार्श्वव्यत्यासतः स्थितौ ॥ ३४१ ॥

स स्याद्भानोरूपस्थाने परिरम्भेऽभिवादाने ।

इति स्वस्तिकः (८)

(सु०) अपसारितं लक्षयति—अथेति । ऊर्ध्वदेशमनुधावन् प्रसारितो भवति ॥ -३३९ ॥

इति प्रसारितः (५)

(सु०) अश्वितं लक्षयति—वक्षःक्षेत्रादिति । यत्र बाहुः वक्षःक्षेत्रात् विनिर्गत्य, वक्षःप्रत्यागतश्चेत्, अश्वितः ॥ -३४० ॥

इत्यश्वितः (६)

(सु०) मण्डलगतिं लक्षयति—उच्यते इति । सर्वतो भ्रान्तो भुजः मण्डलगतिः । अस्य च खड्गादिभ्रामणे विनियोगं प्रचक्षते ॥ -३४०, ३४०- ॥

इति मण्डलगतिः (७)

(क०) स्वस्तिकबाहुविनियोगे—स स्याद्भानोरूपस्थाने परिरम्भेऽभिवादाने इत्यत्र हस्तप्रचारविशेषानभिधानेऽपि लोकप्रसिद्धभानूपस्थानादिविनियोगवशात्तदुचितः प्रचारो द्रष्टव्यः । तथाहि भानूपस्थाने

निष्क्रामन्मणिवन्धस्थवर्तनामाश्रितो भुजः ॥ ३४२ ॥

उद्वेष्टितो भवेत्

इत्युद्वेष्टितः (९)

पृष्ठानुसारी पृष्ठतो गतः ।

भवेत्तूणशराकर्षे वीटिकाग्रहणे च सः ॥ ३४३ ॥

इति पृष्ठानुसारी (१०)

मस्तकोपरि स्वस्तिकाकारविन्यस्तावुत्तानितहस्ततलौ बाहू लोकप्रसिद्धौ ।
 परिरम्भे स्वसंमुखहस्ततलौ स्वस्वपार्श्वार्थात्पार्श्वान्तरगतौ बाहू प्रसिद्धौ ।
 अभिवादने तु तादृशावधोमुखहस्ततलौ बाहू प्रसिद्धौ । एवं हस्ताद्य-
 भिनयेष्वपि प्रचारविशेषानभिधानेऽपि विनियोगवशाद्विशेषो द्रष्टव्यः ॥
 ॥ -३४१, ३४१- ॥

इति स्वस्तिकः (८)

(सु०) स्वस्तिकं लक्षयति—स्वस्तिक इति । लग्नयोः सङ्गतयोः बाह्वोः
 पार्श्वव्यत्यासतः स्थितौ सत्यां स्वस्तिको भवति । स च भानोरुपस्थाने ;
 परिरम्भे ; अभिवादने च प्रयोज्यः ॥ -३४१, ३४१- ॥

इति स्वस्तिकः (८)

(सु०) उद्वेष्टितं लक्षयति—निष्क्राममिति । मणिवन्धस्थां पूर्वोक्त-
 वर्तनामाश्रित्य निष्क्रामन् भुज उद्वेष्टितः ॥ -३४२, ३४२ ॥

इत्युद्वेष्टितः (९)

(सु०) पृष्ठानुसारिणं लक्षयति—पृष्ठानुसारीति । पृष्ठतो गतः पृष्ठानु-
 सारी । स च तूणात् शराकर्षे, वीटिकाग्रहणे च प्रयोज्यः ॥ -३४२, ३४३ ॥

इति पृष्ठानुसारी (१०)

आविद्धोऽभ्यन्तराक्षिप्तः

इत्याविद्धः (११)

कुञ्चितस्तु स उच्यते ।

यस्तीक्ष्णकूर्परं वक्रीकृतः खड्गादिधारणे ॥ ३४४ ॥

प्रहारे भोजने पाने प्रोक्तो निःशङ्कसूरिणा ।

इति कुञ्चितः (१२)

ईषद्वक्रस्तु नम्रोऽसौ स्तुतौ माल्यस्य धारणे ॥ ३४५ ॥

इति नम्रः (१३)

सरलः पार्श्वयोरूर्ध्वमधस्ताच्च प्रसारितः ।

(क०) आविद्धलक्षणे—अभ्यन्तराक्षिप्त इति । उद्वेष्टितोपक्रान्तया अन्तिर्मुखवर्तनयेत्यर्थः ॥ ३४३- ॥

इत्याविद्धः (११)

(सु०) आविद्धं लक्षयति—अभ्यन्तराक्षिप्त आविद्धः ॥ ३४३- ॥

इत्याविद्धः (११)

(सु०) कुञ्चितं लक्षयति—कुञ्चितस्त्विति । यः तीक्ष्णकूर्परं यथा भवति तथा वक्रीकृतः संकुचीकृतः कुञ्चितो भवति । स च खड्गादिधारणे, प्रहारे, भोजने, पाने च विनियुज्यते ॥ -३४४, ३४४- ॥

इति कुञ्चितः (१२)

(सु०) नम्रं लक्षयति—ईषदिति । ईषद्वक्रीकृतो नम्र इत्युच्यते । असौ स्तुतौ, माल्यस्य धारणे च प्रयुज्यते ॥ -३४५ ॥

इति नम्रः (१३)

(क०) सरलबाहुलक्षणे—सरलः पार्श्वयोरूर्ध्वमधस्ताच्च प्रसारित

‘स्यात्पक्षानुकृतौ माने भूस्थनिर्देशने क्रमात् ॥ ३४६ ॥

इति सरलः (१४)

गतावान्दोलितोऽन्वर्थः

इत्यान्दोलितः (१५)

बाहुरुत्सारितः पुनः ।

स्वपार्श्वमन्यतो गच्छञ्जनतोत्सारणे भवेत् ॥ ३४७ ॥

इत्युत्सारितः (१६)

इति षोडशविधो बाहुः ।

इति । अत्र त्रीणि लक्षणानि द्रष्टव्यानि ; यथा पार्श्वयोः प्रसारितः सरलः ; ऊर्ध्वं प्रसारितः सरलः ; अधस्तात्प्रसारितश्च सरल इति । एकलक्षणत्वे हि ; ‘स्यात्पक्षानुकृतौ माने भूस्थनिर्देशने क्रमात्’ इति क्रमाद्विनियोगभेदं न ब्रूयात् ॥ ३४६ ॥

इति सरलः (१४)

(सु०) सरलं लक्षयति—सरल इति । पार्श्वयोरुर्ध्वमधस्ताच्च प्रसारितो बाहुः सरलः । स च प्रज्ञाकृते, माने, भूस्थनिर्देशे च प्रयोज्यः ॥ ३४६ ॥

इति सरलः (१४)

(सु०) आन्दोलितं लक्षयति—गताविति । गतौ आन्दोलितो-
ऽन्वर्थः ॥ -३४६ ॥

इत्यान्दोलितः (१५)

(सु०) उत्सारितं लक्षयति—बाहुरिति । स्वपार्श्वमन्यतो गच्छन् उत्सारितः । स च जनताया उत्सारणे प्रयोज्यः ॥ ३४६-; ३४७ ॥

इत्युत्सारितः (१६)

इति षोडशविधो बाहुः ।

^१ स स्यात्प्रज्ञाकृते माने इति सुधाकरः .

अथ वर्तनाः—

बाहूनां करणेनाथ समस्तव्यस्तयोजनात् ।

क्रमाद्द्रुतादिवैचित्र्याज्जायन्तेऽत्र सहस्रशः ॥ ३४८ ॥

वर्तनाश्चतुरैरूह्यास्ताः शोभाभरसंभृता ।

(क०) बाहूनामित्यादि । बाहूनामुक्तानां षोडशविधानां करणे-
नावेष्टितादिपूर्वकव्यापारेण । समस्तव्यस्तयोजनादिति । द्वित्रिप्रभृती-
नामेकैकरूपाणां समस्तानां व्यस्तानां वा योजनात् मिश्रणात् । क्रमाद्द्रुतादि-
वैचित्र्यादिति । आदिशब्देन मध्यविलम्बितौ गृह्येते^१ । द्रुतादीनां लयानां
वैचित्र्यं नाम यतिविशेषरूपेणावस्थानम् । तस्मात्सहस्रशो वर्तना जायन्ते ।
वर्तनाः शोभाभरसंभृताः सत्यश्चतुरैरूह्या भवन्ति । अत्रास्माभिर्न प्रपञ्च्यत
इत्यर्थः । ग्रन्थकारेणानुक्तानामपि तासां स्वरूपपरिज्ञानार्थं कोऽहलोक्ताः
काश्चन वर्तनाः कथ्यन्ते ।

यथा—अथ वर्तनाः—

पताकारालयोः पूर्व शुक्तुण्डालपङ्क्तयोः ।

वर्तना खटकस्यापि पश्चान्मकरवर्तना ॥

ऊर्ध्ववर्तनिकाविद्धवर्तना रेचिताह्वया ।

नितम्बकेशबन्धारुये फालवर्तनिका ततः ॥

कक्षवर्तनिकोरःस्थवर्तना खड्गवर्तना ।

पद्मवर्तनिका दण्डवर्तना पल्लवाभिधा ॥

अर्धमण्डलिका घातवर्तना ललिताभिधा ।

वलिता गात्रपूर्वा च वर्तना प्रतिवर्तना ॥

चतुर्विंशतिरित्युक्ता वर्तना भट्टतण्डुना ।

^१ गम्येते.

अथ क्रमालक्षणमुच्चते—

सव्यापसव्यव्यत्यासा आन्तिरा मणिबन्धतः ॥
क्रियते चेत्पताकस्य सा पताकाख्यवर्तना ।

इति पताकवर्तना (१)

तर्जन्याद्यङ्गुलीनां यदन्तरावेष्टनं क्रमात् ॥
आवेष्टितक्रियापूर्वं सा प्रोक्तारालवर्तना ।

इत्यरालवर्तना (२)

अबहिस्थः करो वक्षस्याविद्धाधोमुखः कृतः ॥
ऊरुपृष्ठे वर्तितश्चेच्छुक्रतुण्डाख्यवर्तना ।

इति शुक्रतुण्डवर्तना (३)

अभ्यन्तरे कनिष्ठाया वर्तन्तेऽङ्गुलयः क्रमात् ॥
व्यावर्तितक्रिया यत्र सालपद्मस्य वर्तना ।

इत्यलपद्मवर्तना (४)

खटकामुखयोर्नाभिक्षेत्रे सव्यापसव्यतः ॥
मणिबन्धावधिआन्तिः खटकामुखवर्तना ।

इति खटकामुखवर्तना (५)

यदा तु मकरो हस्तः पुरस्तात्पार्श्वयोरपि ॥
व्यावर्त्यते बहिश्चान्तस्तदा मकरवर्तना ।

इति मकरवर्तना (६)

यदोद्धृतौ नृत्तहस्तावूर्ध्वदेशेन वर्तितौ ॥
तदोर्ध्ववर्तना नाम वर्तनाविद्धिरीरिता ।

इत्यूर्ध्ववर्तना (७)

आविद्धवक्रयोः पाण्योर्वर्तेते चेद्भुजौ क्रमात् ॥
आविद्धावन्तराक्षितौ सा स्यादाविद्धवर्तना ।

इत्याविद्धवर्तना (८)

स्वस्तिकाद्विच्युतौ हस्तौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ॥
रेच्येते चेद्वर्तनाभ्यां तदा रेचितवर्तना ।

इति रेचितवर्तना (९)

मणिवन्धावधिभ्रान्तौ विश्लिष्टाङ्गुलिपल्लवा ॥
नितम्बोक्तप्रकारेण वर्तितौ स्कन्धदेशयोः ।
पुनर्नितम्बदेशे तु पताकौ वर्तितौ क्रमात् ॥
नितम्बवर्तना नाम

इति नितम्बवर्तना (१०)

केशबन्धोक्तरीतितः ।

विचित्रवर्तनायोगात्केशदेशाद्विनिर्गतौ ॥
पुनश्च केशदेशे च पर्यायेण विवर्जितौ ।
पताकावेव चेत्प्राहुः केशबन्धाख्यवर्तनाम् ॥

इति केशबन्धवर्तना (११)

व्यावृत्त्य वक्षसः फालं प्राप्य तत्पार्श्वमागतौ ।
ततो मण्डलवद्भ्रान्त्या प्रचालितभुजौ करौ ॥
पताकौ चेच्छनैरूर्ध्वमण्डलावेव कोविदैः ।
चक्रवर्तनिकेत्युक्ता फालवर्तनिकापि च ॥

इति फालवर्तनिका^१ (१२)

^१ चक्रवर्तनिका इत्यपि व्यवहारः ।

पार्श्वमण्डलिनोः पाण्योर्भ्रमणं स्वस्वपार्श्वयोः ।
क्रमादेकैकपार्श्वे वा कक्षवर्तनिकां जगुः ॥

इति कक्षवर्तनिका (१३)

उरोवर्तनिकां विद्यादुरोमण्डलिनोः क्रियाम् ।

इत्युरोवर्तनिका (१४)

एकस्याकुञ्चितो मुष्टिः खटकास्योऽञ्चितः परः ॥
इति कीर्तिधरस्त्वाह मुष्टिकस्वस्तिकौ करौ ।
खड्गवर्तनिकेत्येतन्नामधेयं त्वकल्पयत् ॥

इति खड्गवर्तनिका (१५)

पद्मकोशाभिधौ हस्तौ व्यावृत्तादिक्रियान्वितौ ।
आश्लिष्टौ स्वस्तिकौ क्षेत्रे व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥
मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ नलिनीपद्मकोशकौ ।
एतौ कीर्तिधराचार्याः पद्मवर्तनिकां जगुः ॥

यद्वा—

स्वस्तिकाकुञ्चितौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ सैषा कमलवर्तना ॥

इति पद्मवर्तना (१६)

वक्षःक्षेत्रं श्रयत्येको येन कालेन पार्श्वतः ।
व्यावृत्त्या हंसपक्षाख्यस्तेनैव परिवर्तितः ॥
प्रसारितभुजोऽन्यस्तु तिर्यक्कार्या पराः पुनः ।
एवमङ्गान्तरेणापि क्रिया स्यादण्डपक्षयोः ॥
दण्डवर्तनिकामेनां भट्टतण्डुरभाषत ।

इति दण्डवर्तना (१७)

पताकौ मणिवन्धस्थौ शिथिलौ स्वस्तिकौ पुनः ॥
कथितौ पल्लवौ तौ हि ख्याता पल्लववर्तना ।

इति पल्लववर्तना (१८)

व्यावर्तितेन हस्तश्चेदलपल्लवशंसिता ॥
स्वपार्श्ववक्षसः प्राप्य प्रसारितभुजो भ्रमन् ।
अरालं दधदावेष्टकरणेन श्रयन्नरः ॥
तदानीमेव पार्श्वं स्वमन्यो गच्छति पूर्ववत् ।
मण्डलेन ततोऽप्येवमुरःपार्श्वेऽर्धमण्डलौ ॥
तयोर्ध्वौ क्रिया सा स्यादर्धमण्डलवर्तना ।

इत्यर्धमण्डलवर्तना (१९)

उद्वेष्टितेन निष्पन्नौ स्यातां चेदलपल्लवौ ॥
वक्षसः स्कन्धयोरुर्ध्वप्रसारितयुतावुभौ ।
स्कन्धाभिमुखमाविद्धौ बलितौ चाङ्गुलीदले ॥
अलपल्लवितौ प्राहुर्घातवर्तनिकां परे^१ ।

इति घातवर्तनिका (२०)

एतावेव चलौ मूर्धक्षेत्रगौ ललिता मता ॥
खटकाग्रौ शिरोदेशे लग्नाग्रौ तां परे जगुः ।

इति ललितवर्तनिका (२१)

कूर्परस्वस्तिकाकारवर्तनाद्वलिता मता ॥
अन्ये त्वाचक्षतेऽन्योन्यलग्नाग्रौ खटकामुखौ ।
ऊर्ध्वगौ पृष्ठतो नम्रकूर्परौ बलितेति च ॥

इति वलितवर्तना (२२)

^१ परे आचार्या अलपल्लववर्तनां प्राहुः ।

ते रेखामनतिक्रम्य भूरिभङ्गिभृतो भुजाः ॥ ३४९ ॥
रेच्यन्ते यदि लक्ष्यज्ञैश्चालकाः कीर्तितास्तदा ।

व्यावर्तितोऽन्तर्गात्रं चेदलपल्लवहस्तकः ।
पराङ्मुखोऽपविद्धः स्यात्कथिता गात्रवर्तना ॥
इति गात्रवर्तना (२३)

गात्रस्य प्रातिलोभ्येन पाणिराक्षिप्य वर्तते ।
अलपल्लवसंज्ञश्रेत्प्रतिवर्तनिका तदा ॥
इति प्रतिवर्तनिका (२४)

अन्याश्च कथिताः सप्त वर्तना नृत्तवेदिभिः ।
वर्तना या शिरस्थाद्या द्वितीया तिलकस्य च ॥
वर्तना नागबन्धारुया स्यात्सिंहमुखवर्तना ।
वैष्णव्येका तलमुखी सप्तमी कलशामिधा ॥
नाममात्रप्रसिद्धास्तास्तैरेव स्फुटलक्षणाः ।
इति वर्तनाः ।

प्रकृतमनुसरामः ॥ ३४८, ३४८- ॥

(सु०) प्रकरणमुपसंहरति—बाहूनामिति । बाहुभेदानां च समस्त-
व्यस्त्योजनात् क्रमात् शीघ्रमध्यविलम्बितादिवैचित्र्यभेदेन बहवो भेदा
भवन्ति । तस्मात् बहवो वर्तनाः शोभाभरसंभृताः सत्यश्चतुरैरूह्याः । रेखा-
मिति । रेखामनतिक्रम्य अन्येन भूरिभङ्गिभृतः बहुचातुरीभूता एते भुजाः,
यदि रेच्यन्ते वक्ष्यमाणरेचकयुक्ता भवन्ति, तदा लक्ष्यज्ञैः चालका इत्युच्यन्ते ।
॥ ३४८, ३४९- ॥

(क०) ते रेखामित्यादि । ते षोडश भुजा रेखां शोभामनतिक्रम्या-
परित्यज्य यदि भूरिभङ्गिभृतः सन्तो रेच्यन्ते चेत्, बहुविधैः प्रकारैश्च-

लनात्मकैरित्यर्थः । पृथग्भूताः क्रियन्ते चेत्तदा लक्ष्यज्ञैश्चालका इति कीर्तिताः । तेषां चालनाश्रयत्वाच्चालकसंज्ञा वेदितव्या । तेषां लक्ष्य-
प्रसिद्धत्वाच्चे तत एवावगन्तव्या इत्यत्र ग्रन्थकारेण नोक्ताः । तेषां केषांचित्स्व-
रूपपरिज्ञानाय कोहलोक्तानि लक्षणानि लिख्यन्ते । यथा शार्दूलमुनिना
पृष्टः कोहल उवाच—

“ चालकानां स्वरूपं वै समाहितमनाः शृणु ।
तत्र क्रिया मनोहारी वाद्ये चालनमुच्यते ॥
अनेन रहितं नृत्तं निष्प्राणतनुवद्भुवम् ।
विस्लिष्टवर्तितं पूर्वं वेपथुव्यञ्जकं तथा ॥
अपविद्धं ततः पश्चालहरीचक्रसुन्दरम् ।
वर्तनास्वस्तिकं चैव संमुखीनरथाङ्गजम् ॥
पुरोदण्डभ्रमाख्यं च त्रिभङ्गीवर्णसारकम् ।
डोलं नीराजनं चैव स्वस्तिकाश्लेषचालनम् ॥
मीथः सवीक्ष्यबाह्यं च वामदक्षविलासितम् ।
मौलिरेचितकं चैव वर्तनाभरणं ततः ॥
आदिकूर्मावताराख्यमंसवर्तनकं तथा ।
मणिवन्धासिकर्षाख्यं कलविङ्कविनोदितम् ॥
चतुष्पत्राब्जसंज्ञं च मण्डलाग्राभिधं तथा ।
वालव्यजनचालाख्यं तथा वीरुधवन्धनम् ॥
विशृङ्गाटकबन्धाख्यं पश्चात्कुण्डलिचारकम् ।
मुरुजाडम्बरं पश्चाद्धारदामविलासकम् ॥
धनुराकर्षणं चैव साधारणमतः परम् ।
समप्रकोष्ठवलनं तथा देवोपहारकम् ॥

तिर्यगतस्वस्तिकाग्रं मणिवन्धगतागतम् ।
 अलातचक्रकाख्यं च व्यस्तोत्प्लुतनिवर्तकम् ॥
 तथोरभ्रकसंबाधं तिर्यक्ताण्डवचालनम् ।
 धनुर्वल्लीविनामाख्यं ताक्ष्यपक्षविलासितम् ॥
 कररेचकरत्नाख्यं शरसंधाननामकम् ।
 मण्डलाभरणं चैवमंसपर्यायनिर्गतम् ॥
 अष्टबन्धविहारं च कर्णयुग्मप्रकीर्णकम् ।
 पर्यायगजदन्ताख्यं रथनेमिसमाह्वयम् ॥
 स्यात्स्वस्तिकत्रिकोणं च लतावेष्टितकं तथा ।
 नवरत्नमुखं चेति पञ्चाशद्वै चालकाः ॥
 एतेषामेव मुख्यत्वं मुनेर्नृत्तकलासु वै ।
 किं त्वमी केचनान्वर्था नामगभ्यास्तु केचन ॥
 केचित्प्रायोगिकास्तद्वदपरे सांप्रदायिकाः ।
 अन्येऽपि बहवः पूर्वं प्रयुक्ता भट्टतण्डुना ॥
 अन्योन्यव्यतिहारेण तिलतण्डुलवर्तना ।
 नृत्तमङ्गलशास्त्रे तु शतं सन्त्येव चालकाः ॥
 नारदेनापि मुनिना तथा सप्तशतं मुने ।
 देशीनृत्तसमुद्राख्ये कीर्तिताश्चालकाश्च वै ॥
 सहस्रं चालकास्स्वन्ये ताण्डवे शंभुनोदिताः ।
 अतोऽनन्तत्वमेतेषां तत्तच्छास्त्रविकल्पनात् ॥
 किं तु लोके प्रयोक्तृणां कालतोऽल्पधियामिह ।
 तेषु तेषु विशेषेण कररेचकराशिषु ॥
 सारसारतरास्वेते वेधसा भव्यचेतसा ।
 दध्ना घृतमिवोदीर्णाः सुबोधाय च चालकाः ॥

प्राप्तयोः स्वस्तिकत्वं प्राक्तिर्यगेको विलोलितः ।
पार्श्वयोर्मौलिपर्यन्तमूर्ध्वं चाधश्च चालनम् ॥
अन्यस्तु भजते यत्र तत्तु विश्लिष्टवर्तितम् ।

इति विश्लिष्टवर्तितम् (१)

नाभिक्षेत्रसमीपस्थे तिर्यग्लुठति चैकके ॥
स्वस्यापरागवलनं रसवृत्तिसमुज्ज्वलम् ।
करयोर्यत्तु तत्प्रोक्तं वेपथुव्यञ्जकं पुनः ॥

इति वेपथुव्यञ्जकम् (२)

वामदक्षिणभागेन नाभिकण्ठप्रदेशयोः ।
लुठने मण्डलेनैव त्वपविद्धमिति स्मृतम् ॥

इत्यपविद्धम् (३)

नाभिक्षेत्रसमीपस्थे तिर्यग्लुठति चैकके ।
अपरं तु पराचीनमान्दोलितकर्मणा ॥
नीत्वा वामांसपर्यन्तं बहिरेव प्रसार्य च ।
अमुमन्तः समाक्षिप्य मूर्ध्नि सव्यापसव्ययोः ॥
विलोड्य पार्श्वयोर्मन्दं विलासेन तु यद्भवेत् ।
प्रकीर्तितं तु तद्धरीरैर्लहरीचक्रसुन्दरम् ॥

इति लहरीचक्रसुन्दरम् (४)

एकस्य पार्श्वचलने विद्युद्दामविडम्बिनः ।
आनुगुण्येन हस्तेन योगो विच्युतिपूर्वकः ॥
पौनः पुन्येन यस्मात्तु वर्तनास्वस्तिकं मतम् ।
अथवा तुम्बिखण्डाब्जवर्तनाभिस्तु तद्भवेत् ॥

इति वर्तनास्वस्तिकम् (५)

अन्योन्याभिमुखे स्यातां व्यश्रं चलितरेचितौ ।
 पार्श्वगावान्तरावृत्त्या द्विगुणौ तीक्ष्णकूर्परम् ॥
 पूर्ववद्वलितौ यत्र करौ सौन्दर्यशालिनौ ।
 संमुखीनरथाङ्गं तन्निर्दिष्टं तपतां वर ॥

इति संमुखीनरथाङ्गम् (६)

कृत्वैकं मुष्टिरूपेण तिर्यङ्मुखतयापि च ।
 तस्यैव बहिरन्तश्च लुठितोऽन्यस्य लीलया ॥
 पुरो निःसारणं पाण्योः पर्यायेण च यत्र तु ।
 पुरोदण्डभ्रमं तत्तु निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः ॥

इति पुरोदण्डभ्रमम् (७)

पूर्वपार्श्वेण विदिशि तिर्यक्चेन्मण्डलात्मना ।
 या क्रिया जायते पाण्योः पर्यायाद्युगपच्च वा ॥
 त्रिभङ्गीवर्णसरकं चालनं चेति सा स्मृता ।

इति त्रिभङ्गीवर्णसरकम् (८)

ऊर्ध्वाधोवदनं व्यश्रं लुठतो यत्र लीलया ॥
 पर्यायेण करौ सौम्यं डोलं तत्परिकीर्तितम् ।

इति डोलम् (९)

प्राप्तौ स्वस्तिकतामेव बहिरेव च निःसृतौ ॥
 अन्तस्तिर्यक्चक्रभावाच्छीर्षे सव्यापसव्ययोः ।
 लुठतो यत्र युगपत्करौ नीराजितं तु तत् ॥

इति नीराजितम् (१०)

करयोः स्वस्तिकाश्लेषसारिणोरसंदेशतः ।

वलनं यत्र निर्दिष्टं स्वस्तिकाश्लेषचालनम् ॥

इति स्वस्तिकाश्लेषचालनम् (११)

एको हस्तः परस्यांसपर्यन्तं सरलोन्नतः ।

निवृत्तश्चेत्स्वपार्श्वे स्यात्पर्यायादत्तमण्डलम् ॥

मिथःसमीक्ष्य बाह्यं तद्गदितं नामतो बुधैः ।

इति मिथःसमीक्ष्यबाह्यम् (१२)

सव्यापसव्ययोस्तिर्यग्लुठनं स्वस्तिकात्मना ॥

करयोर्यत्र विधेत निर्दिष्टं तच्च तण्डुना ।

वामदक्षतिरश्चीनं तच्चाप्यन्वर्थसंज्ञि तत् ॥

इति वामदक्षविलासितम् (१३)

कटीक्षेत्रगतश्चैकः स्याच्चेदन्यः पुरोगतः ।

अथ तौ केशपर्यन्तं लुठतो यत्र लीलया ॥

मौलिरेचितकं प्रोक्तं तज्ज्ञैर्नयनसुन्दरम् ।

इति मौलिरेचितकम् (१४)

कर्णभागगतश्चैकः परश्चेद्वर्तितो भवेत् ॥

उत्सारितोद्वेष्टितकैर्वर्तनाभरणं तु तत् ।

इति वर्तनाभरणम् (१५)

वामदक्षिणकावर्तौ मूर्ध्नौ वा युगपत्कमात् ॥

ऊर्ध्वाघोमण्डलाकारभ्रान्तौ स्वस्तिकगौ पुनः ।

वर्तनास्वस्तिकौ पार्श्वद्वये मण्डलघूर्णितौ ॥

अभिमण्डलसंपूर्णौ यदा तु लुठतः करौ ।

आदिकूर्मावतारं तद्वेचकज्ञाः प्रचक्षते ॥

इत्यादिकूर्मावतारम् (१६)

मणिबन्धप्रकोष्ठांसवर्तनावलितोद्धृतैः ।
 सा च किञ्चिन्नतशिरःक्षेत्रोपरिविलोडनैः ॥
 परागधोमुखत्वेन लुठितैर्वा पुरो भुवि ।
 वलितैरार्जवादन्धैः पाण्योः सव्यापसव्ययोः ॥
 पार्श्वयोर्यौगपद्येन नम्रभावात्क्रमेण वा ।
 भूयते यत्र लुठितमंसवर्तनकं विदुः ॥
 इत्थंसवर्तनकम् (१७)

द्विगुणोदञ्चनेनैव क्रमादंसात्तु लोडितौ ।
 पर्यायेण च कृत्वाथ कूर्परस्वस्तिकात्मना ॥
 विलोड्य तत्रैव बहिः करं मुष्टिस्वरूपतः ।
 अन्तर्निवेश्य त्वरया लुठनात् व्यश्रभावतः ॥
 बलमाने तदन्यस्मिन् क्रमशः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
 तस्यैव च समुत्क्षेपः क्रियते यत्र लीलया ॥
 मणिबन्धासिकर्षाख्यं तद्विदुः प्रतिजानते ।
 इति मणिबन्धासिकर्षम् (१८)

शिरःक्षेत्रोपरिष्ठात्तु मध्यादाकाशकस्य वा ॥
 विलोड्य मण्डलभ्रान्त्या पर्यायेण च पार्श्वयोः ।
 करयोः कल्पते यत्र पतनोत्पतनात्मिका ॥
 क्रियासमभिहारेण क्रिया च द्रुतमानतः ।
 कलविङ्कविनोदाख्यं चालनं तत्प्रचक्षते ॥
 इति कलविङ्कविनोदम् (१९)

पूर्वमूर्ध्वं प्रलुठितस्ततो मण्डलवर्तितः ।
 तत्पश्चाच्चतुराशासु करो यत्र विलासतः ॥

लुठमाने तदन्यस्मिन्नाभिक्षेत्रसमीपगे ।
पर्यायाद्वर्तते रम्यं चतुष्पत्राब्जमीरितम् ॥
इति चतुष्पत्राब्जम् (२०)

मुष्टिरूपस्तु लुठितस्तदूर्ध्वं चार्जवात्पुनः ।
गतागतः पार्श्वयोश्च तत्पश्चादग्रतो गतः ॥
चलमाने तदेतस्मिन् पूर्वोक्तस्थानगामिनि ।
पर्यायेण करो यत्र मण्डलाग्राभिधं तु तत् ॥
इति मण्डलाग्रम् (२१)

उत्प्रकोष्ठं च पर्यायादंसपर्यन्तकान्तरे ।
लुठितौ च तथाधस्ताद्गामिनौ च प्रभावतः ॥
भवतो यत्र तु करौ वालव्यजनचालनम् ।
इति वालव्यजनचालनम् (२२)

यत्र त्रिकोणमर्यादामनुसृत्य प्रलोड्यते ॥
पुरस्तात्पार्श्वयोश्चैव करो मण्डलचारतः ।
तद्वीरुधबन्धारूपमुद्दिष्टं भट्टतण्डुना ॥
इति वीरुधबन्धनम् (२३)

प्रतिलोमानुलोमाभ्यामस्यैव खलु या क्रिया ।
विशृङ्गाटकबन्धारूपं मतङ्गस्तदुवाच ह ॥
इति विशृङ्गाटकबन्धनम् (२४)

वामदक्षिणयोर्यत्र करस्थस्य विलोडनम् ।
कुर्वन् गतागतं दिक्षु त्र्यश्रं वा वर्तते पुनः ॥
तद्वै कुण्डलिचाराख्यं प्रणीतं प्राच्यसूरिभिः ।
इति कुण्डलिचारकम् (२५)

आपादिकगतश्चाथ तत्रैवाबद्धमण्डलः ॥
 सव्यापसव्ययोश्चैव पार्श्वयोर्वर्तनक्रिया ।
 दक्षिणो यत्र हस्तस्तु ततो वामांसमुद्यतः ॥
 वेगाद्विदिशि गत्वात्र लुठितः सव्यपार्श्वगः ।
 तदन्यस्मिन् विलुठितो यत्र नाभिसमीपगः ॥
 मुरुजाडम्बरं नाम निर्णीतं यमिनां वर ।

इति मुरुजाडम्बरम् (२६)

अंसान्तरक्षेत्रगतौ बाहू चेत्पार्श्वयोर्द्वयोः ॥
 पतेतां युगपद्यत्र द्वारदामविलासकम् ।

इति द्वारदामविलासकम् (२७)

बद्धस्वस्तिकयोः पार्श्वे तिर्यग्वेगात्प्रसर्पतोः ॥
 एको निवृत्य सहसा यदि कर्णावतंसकः ।
 धनुराकर्षणाख्यं तन्निर्णीतं भट्टतण्डुना ॥

इति धनुराकर्षणम् (२८)

कटीक्षेत्रगतौ चाथ तिर्यग्द्विगुणचालितौ ।
 अन्तरामण्डलभ्रान्तिकारिणौ बहिरेव वा ॥
 युगपच्च करौ यत्र तच्च साधारणं स्मृतम् ।

इति साधारणम् (२९)

समप्रकोष्ठवलनमन्वर्थमिह कीर्तितम् ॥
 अथवाविद्धकेन स्यादपविद्धेन वा च तत् ।

इति समप्रकोष्ठवलनम् (३०)

अरालकपरावृत्त्या पार्श्वयोरपि च द्वयोः ॥

लुठितः प्रसृतस्याग्रे सदलत्वममुञ्चतः ।
 कूर्परक्षेत्रमासाद्य लुठत्यन्योऽपि यत्र तु ॥
 देवोपहारकं नाम तत्त्वविद्विर्निरूपितम् ।

इति देवोपहारकम् (३१)

प्रथमं पार्श्वयोरेव प्रसृतौ द्विगुणौ ततः ॥
 अन्योन्याभिमुखौ चैव पश्चात्स्वस्तिकबन्धनौ ।
 प्रधावतः पुरोदेशं यत्र हस्तौ विलासतः ॥
 तिर्यग्गतस्वस्तिकाग्रं तदुद्दिष्टं सुपन्तुना ।

इति तिर्यग्गतस्वस्तिकाग्रम् (३२)

कस्यचिन्मणिवन्धे तु लुठितोऽन्यस्ततः करः ॥
 बहिर्मण्डलगः स्थित्वा तथान्तर्मण्डलैरपि ।
 यत्र प्रवर्तते तत्तु मणिवन्धगतागतम् ॥

इति मणिवन्धगतागतम् (३३)

अन्तर्बहिश्चक्रचरः कश्चिद्वस्तः पराङ्मुखः ।
 अपरोऽलातचक्रस्य कुरुते च विडम्बनम् ॥
 अलातचक्रकारुण्यं तत्तद्विदः परिचक्षते ।

इत्यलातचक्रकम् (३४)

पूर्वं पार्श्वमुखावेव निर्गतौ तत्र वेगतः ॥
 तीक्ष्णकूर्परकावेव द्विगुणत्वावलम्बिनौ ।
 संश्लिष्टावूर्ध्ववदनौ भूतलाभिमुखौ ततः ॥
 यत्र स्यातां करौ तत्तु व्यस्तोत्प्लुतनिवर्तकम् ।

इति व्यस्तोत्प्लुतनिवर्तकम् (३५)

प्रथमं स्वस्तिकं भूयो बहिरेव विनिर्गतौ ॥
 वेगान्निवृत्तावन्योन्यं सांमुख्यं भजतः करौ ।
 यत्रोरभ्रकसंबाधं तदुक्तं तपतां वर ॥

इत्युरभ्रसंबाधम् (३६)

तिर्यगूर्ध्वं प्रथमतः कृत्वैकं नाभिदेशगम् ।
 तिर्यक्पार्श्वान्तरायातं करमन्यं प्रकल्प्य च ॥
 या क्रिया जायते सा तु तिर्यक्ताण्डवचालनम् ।

इति तिर्यक्ताण्डवचालनम् (३७)

ऊर्ध्वाधोवदनौ कृत्वा पर्यायेण विलासतः ॥
 तत्रैव मण्डलाकारभ्रान्तौ कृत्वा तु पूर्ववत् ।
 शिरःक्षेत्रे च कट्यां च पार्श्वयोर्गतिपूर्वकम् ॥
 यत्र स्यातां करौ तत्तु धनुर्वल्लीविनामकम् ॥

इति धनुर्वल्लीविनामकम् (३८)

वर्तनास्वस्तिकं कृत्वा युगपत्पार्श्वयोर्द्वयोः ॥
 यदि स्यातां करौ प्राहुस्ताक्ष्यपक्षविलासकम् ।

इति ताक्ष्यपक्षविलासकम् (३९)

प्रथमं पार्श्वयोर्गत्वा प्रसार्य च विदिश्यनु ॥
 निबद्धस्वस्तिकौ तत्र कटीमौलिगतौ मिथः ।
 बालव्यजनचालारूपक्रियां पूर्ववदाश्रितौ ॥
 वर्तनास्वस्तिकं बद्ध्वा भूतलाभिमुखौ ततः ।
 समुत्थितौ मण्डलतः स्वस्तिकौ पतितावधः ॥
 कृत्वैकं आमृतं चांसे तदन्यं रथचक्रवत् ।

भ्रामयित्वा विलासेन तदान्दोलितकर्मणा ॥
 सरलात्सारितोद्वेष्टात्पसारितकनम्रकैः ।
 एकैकलुठितौ स्वैरमंसान्ते मण्डलोर्ध्वगौ ॥
 विश्रमाभिमुखौ चैव पर्यायेण तु यत्र वै ।
 पतितोत्पतितौ बाहुर्मूर्ध्नः कञ्चवसानकम् ॥
 ततः स्वस्तिकबन्धेन कमनीयेषु केषुचित् ।
 अरं तत्र प्रदेशेषु वामदक्षिणघूर्णितौ ॥
 अन्तर्बहिश्चक्रभावं सविलासमथाश्रितौ ।
 कूर्परस्वस्तिकेनैव पराचीनप्रलोलितौ ॥
 अथवा सरलत्वेन केवलं द्रुतमानतः ।
 वामदक्षिणयोः पश्चात् त्रिकपर्यन्तलोलितौ ॥
 एकैकं स्वस्तिकं चाथ नयनानन्ददायकौ ।
 ऊर्ध्वाधोवदनौ व्यश्रकरौ यत्र गतौ मुने ॥
 कररेचकरत्नाख्यं लक्षितं तत्पुरारिणा ।
 इदं तु कमनीयं वै यत्र यत्र प्रयुज्यते ॥
 यक्षा विद्याधाधराः सिद्धाः पद्मभूश्च महर्षयः ।
 तत्र तत्र प्रदेशेषु प्रीतास्तिष्ठन्त्यपेक्षिताः ॥
 इन्द्रादिदेवाः प्रीताः स्युः प्रीणाति परमेश्वरः ।
 ग्रन्थविस्तरमीतेन कथ्यते नास्य विस्तरः ॥

इति कररेचकरत्नम् (४०)

एकस्मिंस्तु पराचीने लुठमाने विलासतः ।
 अन्यो हस्तः शिरःक्षेत्रपर्यन्तं चेद्गतागतः ॥
 पुनस्तन्मुख एव स्याच्छरसंधाननामकम् ।

इति शरसंधानम् (४१)

अभ्यन्तरापवेधेन चक्रकभ्रान्तिपूर्वकम् ॥
 अनुप्रलोक्य डोलावद्या क्रिया पार्श्वयोर्द्वयोः ।
 प्रातिलोभ्येन वा स्यात्तु मण्डलाभरणं तु तत् ॥

इति मण्डलाभरणम् (४२)

आदौ तु स्वस्तिकं बद्ध्वा कलासावपरेऽपि च ।
 निष्क्रान्तावंसदेशात्तु पर्यायेण कटीं प्रति ॥
 स्यातां चेद्यत्र हस्तौ तदंसपर्यायनिर्गतम् ।

इत्यंसपर्यायनिर्गतम् (४३)

वामदक्षिणपाश्चात्यपुरोभागेषु सर्वतः ॥
 स्वस्तिकान्मण्डलाग्राह्याद्युगपत्क्रमशोऽथवा ।
 अष्टासु दिक्षु स्यातां चेत्करौ विलुठितौ ततः ॥
 अष्टबन्धविहारारूपं निरणायि मनीषिभिः ।

इत्यष्टबन्धविहारम् (४४)

पर्यायतुष्टौ लुठितौ तिर्यकर्णसमीपतः ॥
 पार्श्वे स्वस्मिन्नुरःक्षेत्रपर्यन्तं हि यदा करौ ।
 सुमन्तुना तदुद्दिष्टं कर्णयुग्मप्रकीर्णकम् ॥

इति कर्णयुग्मप्रकीर्णकम् (४५)

तिर्यग्लुठति चैकस्मिन्नपरश्चेत्प्रसारितः ।
 क्रमेण यत्र तत्प्रोक्तं पर्यायगजदन्तकम् ॥

इति पर्यायगजदन्तकम् (४६)

आदौ मध्येऽवसाने च स्वस्तिकाकारधारिणौ ।
 रथचक्राकृती तिर्यग्युगपत्क्रमशोऽथवा ॥

लुठितौ चेत्करौ तत्तु रथनेमिसमाह्वयम् ।

इतिरथनेमि (४७)

प्रथमं स्वस्तिकी भूत्वा कुञ्चितावूर्ध्वगौ पुनः ॥

तथा वामांसपर्यन्तं पर्यायाच्चेद्वृतौ करौ ।

तत्स्वस्तिकत्रिकोणारूपं क्षेमराजेन लक्षितम् ॥

इति स्वस्तिकत्रिकोणम् (४८)

अन्तर्बहिश्चेद्वलितावूर्ध्वप्रोद्वेष्टितौ करौ ।

पर्यायात्पार्श्वयोस्तिर्यगेकस्मिन् लुठितोऽपरः ॥

स्याच्चेत्करस्तदुद्दिष्टं लतावेष्टितकामिधम् ।

इति लतावेष्टितकम् (४९)

विशिष्टवर्तिताद्यैश्च नवभिर्दशभिश्च वा ॥

उक्तैः संकरसंस्पष्टिरूपेण परिकल्पितैः ।

आघम्भिलसमुत्क्षिप्तैस्ततः स्वस्तिकबन्धनैः ॥

अपराङ्गपरावृत्तौ भूतलामिमुखौ ततः ।

मण्डलौ च तिरश्चीनौ साविद्धावपविद्धकौ ॥

युगपत्क्रमशो बाध तत्कालार्हक्रियोचितौ ।

आन्दोलितक्रियायुक्तौ भवेतां यत्र वै करौ ॥

नवरत्नमुखं तत्र प्राह लौहित्यभट्टकः ।

इति नवरत्नमुखम् (५०)

इतीदं तपतांश्रेष्ठ यदादिष्टं स्वयंभुवा ॥

लक्षणं चालकानां वै प्रत्यपादि मयाधुना ।

एते सौभाग्यविजयप्रस्तारामरभूरुहः ॥

देवानां भूसुराणां च पार्थिवानां प्रियंकराः ।

ओतावत्सरिगोणीनां पदस्य मलपस्य च ॥ ३५० ॥
 गजरोपशमस्यान्ते खण्डेऽप्येलादिगामिनि ।
 सालगस्थध्रुवाद्यन्ते यच्च प्रहरणं भवेत् ॥ ३५१ ॥

अनन्तमङ्गलग्राह्यलीलाविभ्रममण्डनाः ॥
 नृत्तलक्ष्यविशेषेण प्राणसर्वस्वमेव च ।
 यथार्हं ते प्रयुक्ताः स्युः कीर्तिमङ्गलदायकाः ॥
 बहूनात्र किमुक्तेन संध्याकालेषु सर्वदा ।
 नानानृत्तकलोल्लासशालिनोऽपि महेशितुः ॥
 अलपद्मकसंज्ञास्ते संकीर्णा नेह लक्षिताः ।
 अत्यन्तवल्लभाश्चैव सिद्धानां नाकिनामपि ॥
 अतो वियुक्ता युक्ताश्च हस्ता नृत्ताश्रयाः परे ।
 प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन कोहलेन मयादिशत् ॥
 यथालक्षणमाख्याता मुनिशार्दूल तत्त्वतः ।

इति कोहलशार्दूलसंवादे संगीतमेरौ युक्तायुक्तनृत्तहस्ताश्रयचालक-
 भेदप्रभेदलक्षणं नाम द्वितीयमाहिकं समाप्तम् ॥ -३४९-३४९- ॥

(क०) अथैषां चालकानां प्रयोगस्य विषयं दर्शयति—ओतेत्यादि ।
 ओतादयो वाद्यप्रबन्धाः पूर्वमुक्ताः । गजरप्रबन्धाङ्गत्वेन चोपशम उक्तः ।
 एतेषामन्ते खण्डे प्रयोज्या इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । एलादिगामिन्यपीति ।
 एलादीन् शुद्धान् गीतप्रबन्धान् गच्छतीत्येलादिगामी तस्मिन् । आत्रदिशब्दे-
 नान्त्यखण्डः समुच्चीयते । तथा सालगस्थध्रुवादीनामन्ते खण्ड इत्यनुषङ्गः ।
 यच्च प्रहरणं वाद्यप्रबन्धविशेषः तदन्तखण्डे प्रयोज्याः । मतान्तरमाश्रित्याह

तदन्तखण्डेऽन्यत्रापि प्रोद्धते तुण्डकैशिके ।

कवितेऽपि प्रयोज्यास्ते नान्यत्रेत्यूचिरे परे ॥ ३५२ ॥

—अन्यत्रापीति । पर आचार्याः । अन्यत्रेति । ध्रुवादीनामन्तिम-
खण्डव्यतिरिक्त इत्यर्थः । तुण्डकैशिके प्रोद्धत इति खण्ड इति विशेषपदं
प्रकरणादनुषजनीयम् । तुण्डकैशिक इति । तुण्डं मुखं प्रारम्भ इत्यर्थः ।
तत्र कैशिकं सुकुमारम् । अयमर्थः—यद्गीतखण्डं मुखे प्रारम्भे सुकुमारं
भवति, पश्चाद्भागे प्रोद्धतं भवति । यद्वा मुखे प्रथमावृत्तौ सुकुमारं भवति,
क्रमात् चरमावृत्तौ प्रोद्धतं भवति, तद्गीतखण्डं तुण्डकैशिकं प्रोद्धतमित्यु-
च्यते । तत्रोद्धतांशे चालकाः प्रयोज्या इत्यर्थः । कवितेऽपीति । कवितं
नाम वाद्यप्रबन्धविशेषः । तत्रापि बाहुल्यादीप्तं नृत्तमित्युक्तम् । तस्मिन्नांशे
प्रयोज्या इत्यनेन, यस्तु दीप्तनर्तनस्य विषयः, तत्रैव प्रयोज्य इति मन्तव्यम् ।
नान्यत्रेति ; अन्यत्र सुकुमारप्रयोगविषये न प्रयोज्या इत्युचिरे इत्यर्थः ।
कवितेऽपीत्यनेनोचिर इत्यस्य संबन्धः ॥ -३५०-३५२ ॥

इति बाहुप्रकरणम् ।

इति षोडशविधो बाहुः ।

(सु०) संप्रति चालकानां प्रयोगमाह—ओतेति । वाद्याध्यायोक्तानां
ओतावत्सरिगोणीनाम्, एलादिगामिनि; तथा सालगस्थध्रुवाद्यन्ते प्रयोज्याः ।
प्रहरणं वाद्यप्रबन्धविशेषः, तदन्तखण्डे प्रयोज्या इत्यर्थः । अन्यत्रेति ।
अन्यत्र ध्रुवादीनामन्तिमखण्डव्यतिरिक्त इत्यर्थः । तथा तुण्डकैशिके प्रोद्धते,
कवितेऽपि ते प्रयोज्याः । परे आचार्याः नान्यत्रेति ऊचिरे ॥ -३५०-३५२ ॥

इति बाहुप्रकरणम् ।

इति षोडशविधो बाहुः ।

पृष्ठं तु जठरोक्ताभिर्वर्तनाभिर्विवर्तते ।

अतो न तत्पृथग्वाच्यं जठरं तूच्यतेऽधुना ॥ ३५३ ॥

क्षामं खल्लं तथा पूर्णं त्रेधा जठरमिष्यते ।

क्षामं स्यान्नमनाज्जृम्भाहास्यनिश्वासरोदने ॥ ३५४ ॥

इति क्षामम् (१)

निम्नं खल्लं क्षुधार्ते स्यादातुरे श्रमकशिते ।

वेतालभृङ्गिरिष्यादिजठराकारधारि तत् ॥ ३५५ ॥

इति खल्लम् (२)

पूर्णं स्थूलं व्याधिते स्यात्तुन्दिलेऽत्यशिते तथा ।

इति पूर्णम् (३)

अन्येऽन्वर्थं रिक्तपूर्णं श्वासरोगेऽपरं जगुः ॥ ३५६ ॥

इति रिक्तपूर्णम् (४)

इति चतुर्थोदरम् ।

(क०) अथ पृष्ठोदरयोः प्रभेदान् लक्षयितुमाह—पृष्ठं त्वित्यादि । जठरोक्ताभिर्वर्तनाभिर्विवर्तते इति । जठरं क्षामं चेत्पृष्ठमक्षामं भवति । जठरं खल्लं चेत्पृष्ठं पूर्णं भवति । जठरं पूर्णं चेत् पृष्ठं खल्लं भवति । जठरस्य रिक्तपूर्णत्वे पृष्ठस्य पूर्णरिक्तत्वमित्यर्थः ॥ ३५३—३५६ ॥

इति रिक्तपूर्णम् (४)

इति चतुर्थोदरम् ।

(सु०) पृष्ठोदरयोर्लक्षणमाह—पृष्ठं त्विति । जठरोक्तव्यापारैरेव पृष्ठं विवर्तते, व्यापारवद्भवति । अतः तत् पृथङ्नोच्यते । अधुना जठरं निरूप्यते । जठरं त्रिविधम्; क्षामम्, खल्लम्, पूर्णमिति । तेषां लक्षणमाह—क्षामं

कम्पितो वलितः स्तब्धोद्धर्तितौ च निवर्तितः ।

इत्यूरुः पञ्चधा तत्र मुहुः पार्श्वे नतोन्नते ॥ ३५७ ॥

यस्यासौ कम्पितो ज्ञेयोऽधमानां गमने च सः ।

इति कम्पितः (१)

वलितोऽन्तर्गते जानुन्यूरुः स्वैरगतौ स्त्रियाः ॥ ३५८ ॥

इति वलितः (२)

स्यादिति । नमनात् क्षमं भवति । तच्च जृम्भाहास्यनिश्वासरोदने प्रयोज्यम् ।
इति क्षामम् (१) निम्नं नीचं खलुं भवति । तच्च वेतालादि जठरवत्स्यात् ।
अस्य क्षुधातै, आतुरे, श्रमकार्शिते च प्रयोज्यम् । इति खलुम् (२) स्थूलं
जठरं पूर्णमुज्यते । तुन्दिले, अत्यशिते च प्रयोज्यम् । इति पूर्णम् (३)
अन्वर्थनामकं रिक्तपूर्णं केचिदाचार्या जगुः । तत् श्वासरोगे प्रयोज्यम् ।
इति रिक्तपूर्णम् (४) ॥ ३५१-३५६- ॥

इति चतुर्थोदरम् ।

(क०) अथोरुजङ्घामणिबन्धजानुभूषणभेदानां लक्षणानि ग्रन्थत एव
सुबोधानि ॥ ३५७-३७६- ॥

इति कम्पितः (१)

(सु०) ऊरुभेदानाह—कम्पित इति । कम्पितः, वलितः, स्तब्धः
उद्धर्तितः, निवर्तित इति पञ्चधा ऊरुः । तेषां लक्षणमाह—मुहुर्गति । यस्य
पार्श्वद्वयं पुनः पुनः नतोन्नतं च भवति स कम्पितः स्यात् । स च अधमगमने
विनियोगः ॥ ३५७, ३५७- ॥

इति कम्पिता (१)

(सु०) वलितं लक्षयति—वलित इति । जानुनि अन्तर्गते वलितः ।
सः स्त्रिया स्वैरगतौ विनियोगः ॥ -३५८ ॥

इति वलितः (२)

स्तब्धस्तु निष्क्रियः स स्याद्विषादे साध्वसे तथा ।

इति स्तब्धः (३)

पाष्णेरन्तर्बहिःक्षेपात्क्षेपादग्रतलस्य च ३५९ ॥

मुहुरुद्धर्तितः स स्याद्व्यायामे ताण्डवे तथा ।

इत्युद्धर्तितः (४)

निवर्तितोऽन्तर्गतया पाष्ण्या स्यात्संभ्रमे श्रमे ॥ ३६० ॥

इति निवर्तितः (५)

इति पञ्चधोरुः ।

आवर्तिता नताक्षिप्तोद्वाहिता परिवर्तिता ।

इति पञ्चविधा जङ्घा शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता ॥ ३६१ ॥

(सु०) स्तब्धं लक्षयति—स्तब्धस्त्विति । निष्क्रियः क्रियाहीनः
स्तब्धः । सः विषादे तथा साध्वसे च विनियोगः ॥ ३५८- ॥

इति स्तब्धः (३)

(सु०) उद्धर्तितं लक्षयति—पाष्णेरिति । पाष्णेः अग्रतलस्य, पादाग्रतलस्य
च क्षेपात् मुहुरुद्धरन्तर्बहिःक्षेपात् उद्धर्तितः । स च व्यायामे, ताण्डवे
कार्यः ॥ -३५९, ३५९- ॥

इत्युद्धर्तितः (४)

(सु०) निवर्तितं लक्षयति—निवर्तित इति । पाष्णिद्वये अन्तर्गते
सति निवर्तितः । स च संभ्रमे, श्रमे च कार्यः ॥ -३६० ॥

इति निवर्तितः (५)

इति पञ्चधा ऊरुः ।

इत्यूरूप्रकरणम् ।

(सु०) अथ जङ्घाभेदानाह—आवर्तितेति । आवर्तिता, नता, क्षिप्ता,

निःसृता च परावृत्ता तिरश्चीना बहिर्गता ।

कम्पितेत्यपराः पञ्च जङ्घाः संचक्षते परे ॥ ३६२ ॥

वामे दक्षिणतः पादे दक्षिणे वामतः कृते ।

मुहुरावर्तिता प्रोक्ता विदूषकपरिक्रमे ॥ ३६३ ॥

इत्यावर्तिता (१)

नमज्जानुर्नता जङ्घा स्थानासनगतादिषु ।

इति नता (२)

बहिर्विक्षेपतः क्षिप्ता व्यायामे ताण्डवे च सा ॥ ३६४ ॥

इति क्षिप्ता (३)

ऊर्ध्वं नीतोद्वाहिता स्यादाविष्टगमनादिषु ।

इत्युद्वाहिता (४)

उद्वाहिता, परिवर्तितेति शार्ङ्गदेवमतेन जङ्घा पञ्चधा । निःसृता, परावृत्ता, तिरश्चीना, बहिर्गता, कम्पितेति परे आचार्याः पञ्चधा आहुः । एवं जङ्घाभेदा दशधा । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—वाम इति । मुहुर्मुहुः वामे दक्षिणपादे, दक्षिणे वामपादे च कृते सति आवर्तिताख्या जङ्घा । सा विदूषक-परिक्रमे प्रयोज्या ॥ ३६१-३६३- ॥

इत्यावर्तिता (१)

(सु०) नतां लक्षयति—नमदिति । नमज्जानुर्जङ्घा नता । सा च स्थानासनगतादिषु प्रयोज्या ॥ ३६३- ॥

इति नता (२)

(सु०) क्षिप्तां लक्षयति—बहिरिति । बहिः जङ्घाया विक्षेपात् क्षिप्ता । सा च व्यायामे, ताण्डवे च प्रयोज्या ॥ -३६४ ॥

इति क्षिप्ता (३)

(सु०) उद्वाहितां लक्षयति—ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वं नीता जङ्घा उद्वाहिता । सा च कुपितगमनादिषु प्रयोज्या ॥ ३६४- ॥

इत्युद्वाहिता (४)

प्रतीपं गच्छतो जङ्घा ताण्डवे परिवर्तिता ॥ ३६५ ॥

इति परिवर्तिता (५)

पुरःप्रसारिता जङ्घा निःसृता परिकीर्तिता ।

इति निःसृता (६)

पश्चाद्गता परावृत्ता भूमिलग्नेन जानुना ॥ ३६६ ॥

वामेन पितृकार्ये स्यादन्येन सुरकर्मणि ।

इति परावृत्ता (७)

भूमिलग्रबहिःपार्श्वा तिरश्चीनासने मता ॥ ३६७ ॥

इति तिरश्चीना (८)

(सु०) परिवर्तितां लक्षयति—प्रतीपमिति । प्रतीपं विपरीतं गच्छतः पुरुषस्य जङ्घा परिवर्तिता । सा च ताण्डवे प्रयोज्या ॥ -३६५ ॥

इति परिवर्तिता (५)

(सु०) निःसृतां लक्षयति—पुर इति । पुरःप्रसारिता जङ्घा निःसृता ॥ ३६५- ॥

इति निःसृता (६)

(सु०) परावृत्तां लक्षयति—पश्चादिति । भूमिलग्नेन जानुना उपलक्षिता पश्चाद्गता जङ्घा परावृत्ता । सा च वामजानुना चेत्, पितृकार्ये; दक्षिणजानुना चेत्, सुरकर्मणि देवकार्ये च प्रयोज्या इति ॥ -३६६, ३६६- ॥

इति परावृत्ता (७)

(सु०) तिरश्चीनां लक्षयति—भूमिलग्नेनेति । भूमौ लग्नं बहिःपार्श्वं यस्याः, सा तिरश्चीना । सा च आसने विनियोज्या ॥ -३६७ ॥

इति तिरश्चीना (८)

बहिर्गता मता जङ्घा नृत्ते पार्श्वप्रसारिता ।

इति बहिर्गता (९)

कम्पनात्कम्पिता भीतौ कार्या घर्घरिकाध्वनौ ॥ ३६८ ॥

इति कम्पिता (१०)

इति दशधा जङ्घा ।

पञ्चधा मणिबन्धः स्यान्निकुञ्चाकुञ्चितौ चलः ।

भ्रामितः सम इत्यत्र निकुञ्चस्तु स उच्यते ॥ ३६९ ॥

यो बहिर्निम्नतां नीतः स दानाभयदानयोः ।

इति निकुञ्चः (१)

(सु०) बहिर्गतां लक्षयति—बहिर्गतेति । पार्श्वप्रसारिता जङ्घा बहिर्गता ।
सा च नृत्ते प्रयोज्या ॥ ३६७ ॥

इति बहिर्गता (९)

(सु०) कम्पितां लक्षयति—कम्पनादिति । जङ्घायाः कम्पनात्
कम्पिता । सा च भीतौ, घर्घरिकाध्वनौ च प्रयोज्या ॥ -३६८ ॥

इति कम्पिता (१०)

इति दशधा जङ्घा ।

इति जङ्घाप्रकरणम् ।

(सु०) मणिबन्धभेदानाह—पञ्चधेति । निकुञ्चः, आकुञ्चितः, चलः,
भ्रामितः, सम इति मणिबन्धस्य पञ्च भेदाः । तेषां लक्षणमाह—निकुञ्च
इति । यः मणिबन्धः बहिःप्रदेशे निम्नो भवति, स निकुञ्चः । स च दाने,
अभयदाने च प्रयोज्यः ॥ ३६९, ३६९- ॥

इति निकुञ्चः (१)

आकुञ्चितोऽन्तर्निम्नोऽसौ कार्योऽपसरणे बुधैः ॥ ३७० ॥

इत्याकुञ्चितः (२)

निकुञ्चाकुञ्चिताभ्यासाच्चलमावाहने विदुः ।

इति चलः (३)

भ्रामितो भ्रमणात्खड्गच्छुरिकाभ्रामणादिषु ॥ ३७१ ॥

इति भ्रामितः (४)

ऋजुः समः पुस्तकस्य धारणे च प्रतिग्रहे ।

इति समः (५)

इति पञ्चधा मणिबन्धः ।

(सु०) आकुञ्चितं लक्षयति—आकुञ्चित इति । अन्तर्निम्न आकुञ्चितः । असौ अपसरणे कार्यः ॥ -३७० ॥

इत्याकुञ्चितः (२)

(सु०) चलं लक्षयति—निकुञ्चेति । निकुञ्चाकुञ्चिताभ्यां संयोगात् चलो भवति । स च आवाहने प्रयोज्यः ॥ ३७०- ॥

इति चलः (३)

(सु०) भ्रामितं लक्षयति—भ्रामित इति । भ्रमणात् भ्रामितः । स च खड्गच्छुरिकादिभ्रामणादौ प्रयोज्यः ॥ -३७१ ॥

इति भ्रामितः (४)

(सु०) समं लक्षयति—ऋजुरिति । ऋजुः समः । स च पुस्तकस्य धारणे, प्रतिग्रहे च प्रयोज्यः ॥ ३७१- ॥

इति समः (५)

इति पञ्चधा मणिबन्धः ।

इति मणिबन्धप्रकरणम् ।

संहतं कुञ्चितं चार्धकुञ्चितं नतमुन्नतम् ॥ ३७२ ॥

विवृतं सममित्यूचे जानु सप्तविधं बुधैः ।

श्लिष्टान्यज्जानु जानूक्तं ह्रीरोषेर्ष्यासु संहतम् ॥ ३७३ ॥

इति संहतम् (१)

जानु लग्नोरुजङ्घं तु भवेत्कुञ्चितमासने ।

इति कुञ्चितम् (२)

नितम्बनमनाज्जानु त्वर्धकुञ्चितमुच्यते ॥ ३७४ ॥

इत्यर्धकुञ्चितम् (३)

महीगतं नतं जानु मतं पाते नमस्कृतौ ।

इति नतम् (४)

(सु०) अथ जानुभेदानाह—संहतमिति । संहतम्, कुञ्चितम्, अर्ध-
कुञ्चितम्, नतम्, उन्नतम्, विवृतम्, सममिति सप्तविधं जानु । तेषां सप्तानां
भेदानां क्रमाल्लक्षणमाह—श्लिष्टेति । श्लिष्टं सङ्गतम्, अन्यज्जानु येन, तथाविधं
जानु संहतमित्युच्यते । तच्च ह्रीरोषेर्ष्यासु प्रयोज्यम् ॥ -३७२, ३७३ ॥

इति संहतम् (१)

(सु०) कुञ्चितं लक्षयति—जान्विति । लग्ने सङ्गते ऊरुजङ्घे यस्मिन्,
तथाविधं जानु कुञ्चितमित्युच्यते । तच्च आसने प्रयोज्यम् ॥ ३७३- ॥

इति कुञ्चितम् (२)

(सु०) अर्धकुञ्चितं लक्षयति—नितम्बेति । नितम्बे नमनात् जानु
अर्धकुञ्चितमित्युच्यते ॥ -३७४ ॥

इत्यर्धकुञ्चितम् (३)

(सु०) नतं लक्षयति—महीगतमिति । महीगतं जानु नतमित्युच्यते ।
तच्च पाते, नमस्कृतौ च प्रयोज्यम् ॥ ३७४- ॥

इति नतम् (४)

स्तनक्षेत्रगतं जानून्नतं शैलाधिरोहणे ॥ ३७५ ॥

इत्युन्नतम् (५)

गजारोहे तु विवृतं जानुद्वन्द्वं बहिर्गतम् ।

इति विवृतम् (६)

समं स्वाभाविकं जानु स्वभावावस्थितौ भवेत् ॥ ३७६ ॥

इति समम् (७)

तत्तद्वेशजुषो भूषा भूषणानीति मन्वते ।

इति सप्तविधं जानु ।

इति जानुप्रकरणम् ।

इति नव प्रत्यङ्गानि ।

(सु०) उन्नतं लक्षयति—स्तनक्षेत्रेति । स्तनक्षेत्रप्राप्तं जानु उन्नतम् ।
तच्च शैलाधिरोहणे प्रयोज्यम् ॥ -३७५ ॥

इत्युन्नतम् (५)

(सु०) विवृतं लक्षयति—गजेति । बहिर्गतं जानुद्वन्द्वं विवृतम् । तच्च
गजारोहे प्रयोज्यम् ॥ ३७५- ॥

इति विवृतम् (६)

(सु०) समं लक्षयति—सममिति । स्वाभाविकं जानु समं भवति ।
तच्च स्वभावाभिनये कार्यम् ॥ -३७६ ॥

इति समम् (७)

(सु०) तत्तद्वेशजुषः सर्वे तथाविधा भूषा भूषणानि भवन्तीत्याहुः ॥ ३७६-॥

इति सप्तविधं जानु ।

इति जानुप्रकरणम् ।

इति नव प्रत्यङ्गानि ।

कान्ता हास्या च करुणा रौद्री वीरा भयानका ॥ ३७७ ॥

बीभत्सा चाद्भुतेत्यष्टौ द्रष्टव्या रसदृष्टयः ।

स्निग्धा हृष्टा तथा दीना क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता ॥ ३७८ ॥

जुगुप्सिता विस्मितेति दशोऽष्टौ स्थायिभावजाः ।

स्थायिष्वव्यभिचारित्वं प्राप्तेषु स्थायिदृष्टयः ॥ ३७९ ॥

शून्या च मलिना श्रान्ता लज्जिता शङ्किता तथा ।

मुकुला चार्धमुकुला ग्लाना जिह्वा च कुञ्चिता ॥ ३८० ॥

(क०) अथोपाङ्गेषु प्रथमोद्दिष्टाया दृष्टेर्भेदानुद्दिशति—कान्ता हास्येस्येत्यादि । स्थायिष्वव्यभिचारित्वं प्राप्तेषु स्थायिदृष्टय इति । स्थायिषु रत्यादिस्थायिभावेषु अव्यभिचारित्वं प्राप्तेष्विति व्यभिचारित्वमप्राप्तेष्वित्यर्थः । रत्यादीनां व्यभिचारित्वप्राप्तिरपि शृङ्गारादिरसपर्यन्ततां विहाय विरुद्धभावान्तरबाध्यत्वेन यदैवंभूता रत्यादयो भवन्ति, तदा स्निग्धादयः स्थायिदृष्टयः । अन्यथा व्यभिचारित्वं प्राप्तेष्विति व्यभिचारित्वदृष्टय एवेत्यर्थः । कान्तादीनां षट्त्रिंशद्दृष्टीनां लक्षणानि स्पष्टार्थानि ॥ -३७७-४३१- ॥

(सु०) अथोपाङ्गेषु दृष्टिं निरूपयति—कान्तेति । कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री, वीरा, भयानका, बीभत्सा, अद्भुतेत्यष्टौ रसदृष्टयः । स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, विस्मितेत्यष्टौ स्थायिदृष्टयः । ननु स्थायिभावानामेव रसत्वं तत्कथं रसदृष्टिभ्यः स्थायिदृष्टीनां भेदः ? अत्राह—स्थायिष्विति । स्थायिनो यदा सरसतया विपाका भवन्ति, व्यभिचारित्वं प्राप्नुवन्ति; तदा रसदृष्टिभ्यो भिन्ना स्थायिदृष्टयो जायन्ते ॥ -३७७-३७९ ॥

(सु०) व्यभिचारिदृष्टीनां भेदानाह—शून्येति । शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शङ्किता, मुकुला, अर्धमुकुला; ग्लाना, जिह्वा, कुञ्चिता,

वितर्किताभितप्ता च विषण्णा ललिताभिधा ।
 आकेकरा विकोशा च विभ्रान्ता विप्लुता परा ॥ ३८१ ॥
 त्रस्ता च मदिरेत्येता व्यभिचारिषु विंशतिः ।
 सर्वास्ता मिलिताः सत्यः षट्त्रिंशद्दृष्टयो मताः ॥ ३८२ ॥
 आपिबन्तीव दृश्यं या सविकासातिनिर्मला ।
 सभ्रूक्षेपकटाक्षा सा कान्ता मन्मथवार्धिनी ॥ ३८३ ॥
 यद्गतागतविभ्रान्तिवैचित्र्येण विवर्तनम् ।
 तारकायाः कलाभिज्ञास्तं कटाक्षं प्रचक्षते ॥ ३८४ ॥

इति कान्ता (१) .

किंचिदन्तःसमाविष्टविचित्रभ्रान्ततारका ।
 आकुञ्चितपुटा मन्दमध्यतीव्रतया क्रमात् ॥ ३८५ ॥
 विस्मापनेऽभिनेतव्ये हास्या दृष्टिः प्रशस्यते ।

इति हास्या (२)

वितर्किता, अभितप्ता, वितप्ता, ललिता, आकेकरा, विशोका, विभ्रान्ता, विप्लुता, त्रस्ता, मदिरेत्येता व्यभिचारिदृष्टयो विंशतिर्भवन्ति । ताः सर्वा मिलिताः षट्त्रिंशत् ॥ ३८०-३८२ ॥

(सु०) एतासां लक्षणमाह—आपिबन्तीवेति । आसमन्तात् सादरं विलोकनमेव पानम् तच्च दृश्यम्, पिबन्तीति च, सविकासा अतिनिर्मला, या दृष्टिः भ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च युक्ता जायते, मन्मथवार्धिनी च भवति, सा कान्ता । कटाक्षलक्षणमाह—यदिति । यः गतागस्य विभ्रान्तिः स्थिरत्वम्, तत्र यद्वैचित्र्यं सौन्दर्यं, तेन सह तारकयोः विवर्तनं चलनं भवति, तं कलाभिज्ञाः कटाक्षं प्रचक्षत इत्यन्वयः ॥ ३८३, ३८४ ॥

इति कान्ता (१)

(सु०) हास्यां लक्षयति—किंचिदिति । किंचित् अल्पमेव, अन्तः-

पतितोर्ध्वपुटा सास्त्रा शोकमन्थरतारका ॥ ३८६ ॥

नासाग्रमेवानुगता करुणा दृष्टिरुच्यते ।

इति करुणा (३)

चकितद्विपुटा स्तब्धतारकात्यन्तलोहिता ॥ ३८७ ॥

रूक्षा भ्रुकुटिभीमोग्रा रौद्री दृष्टिरुदाहृता ।

इति रौद्री (४)

अचञ्चला विकसिता गम्भीरा समतारका ॥ ३८८ ॥

दीप्ता संकुचितापाङ्गा वीरा धीरैरुदाहृता ।

समाविष्टा प्रविष्टा, विचित्राभ्यां भ्रान्ति प्राप्ता कनीनिका यस्याः; मन्दमध्यती-
व्रतया, मन्दत्वेन, मध्यत्वेन, तीव्रत्वेन वा आकुञ्चितौ पुटौ यस्याः, तथाविधा
दृष्टिः हास्या । सा च विस्मापने अभिनेया ॥ ३८९, ३८९- ॥

इति हास्या (२)

(सु०) करुणां लक्षयति—पतितेति । पतितं नम्रम् ऊर्ध्वं पुटं यस्याः;
अस्तुणा सहिता सास्त्रा; शोकमन्थरतारका, शोकेन मन्थरा स्थिरतारका
कनीनिका यस्याः; नासाग्रमेव अनुगता दृष्टिः करुणा ॥ -३८६, ३८६- ॥

इति करुणा (३)

(सु०) रौद्रीं लक्षयति—चकितेति । चकितद्विपुटा; चकिते भीते द्वे पुटे
यस्याः; स्तब्धतारका; स्तब्धा निश्चला कनीनिका यस्यामिति । अत्यन्त-
लोहिता; अत्यन्तमरुणा; रूक्षा; निःस्नेहा; भ्रुकुटिभीमा; भ्रुकुट्या वक्ष्य-
माणलक्षणया, भीमा भयावहा; उग्रा; क्रूरा दृष्टिः रौद्री ॥ -३८७, ३८७- ॥

इति रौद्री (४)

(सु०) वीरां लक्षयति—अचञ्चलेति । अचञ्चला; चञ्चलरहिता; विक-
सिता; विकासं प्राप्ता; गम्भीरा; प्रसन्ना; समतारका; समे तारके यस्याम् ।

औदार्यधैर्यगाम्भीर्यमाधुर्यललितान्यपि ॥ ३८९ ॥

तेजःशोभाविलासाख्यानष्टौ भेदान् विवृण्वती ।

इति वीरा (५)

^१ततोद्बृत्तपुटात्यन्तचञ्चलोद्बृत्ततारका ॥ ३९० ॥

दृश्यात्पलायमाने च भीत्या दृष्टिर्भयानका ।

इति भयानका (६)

दीप्ता ; उज्ज्वला, संकुचितापाङ्गा ; संकोचं प्राप्तौ अपाङ्गौ यस्याम्, सा दृष्टिः
वीरेति धीरैरुदाहृता । सा च औदार्यधैर्यगाम्भीर्यमाधुर्यललितादिभिर्लक्षितान्,
तेजःशोभाविलासादिभिर्लक्षितांश्चाष्टौ भेदान् विवृणोति^१ ॥ -३८८, ३८९- ॥

इति वीरा (५)

(सु०) भयानकां लक्षयति—ततेति । ततोद्बृत्तपुटा, तत् विस्तृतम्,
उद्बृत्तं परिवृत्तं पुटं यस्याम् । चञ्चलोर्ध्वगतारका ; चञ्चला कम्पिता, ऊर्ध्वगता
तारका यस्याम् । दृश्यात्पलायमाने च ; दर्शनीयादपसरन्त्यौ च, भीत्या,
भयान्विता दृष्टिः भयानका ॥ -३९०, ३९०- ॥

इति भयानका (६)

^१ स्तब्धः .

^२ औदार्यादीनां लक्षणमुक्तं भावप्रकाशने यथा—

प्रियालापस्मितोदारं दानमौदार्यमुच्यते ।

शुभेऽशुभेऽर्थे तद्वैर्यं व्यवसायादचालनम् ।

अविज्ञातेङ्गिताकारो भावो गाम्भीर्यमुच्यते ।

माधुर्यं चेष्टितालापस्पर्शानां स्पृहणीयता ।

चेष्टितं यस्य शृङ्गारमयं तल्ललितं भवेत् ।

अवमानासहत्वं यत्तत्तेजः समुदाहृतम् ।

स्पर्धाधिक्रियते यत्र सा शोभेति प्रकीर्तिता ।

वृषयानं * स्मितालापो विलास इति कथ्यते ।

* सगर्वमन्दगमनम् ।

बीभत्सा स्यान्मिललोलपक्ष्मा तरलतारका ॥ ३९१ ॥

दृश्योद्वेगादपाङ्गौ च निकुञ्चितपुटौ श्रिता ।

इति बीभत्सा (७)

प्रसन्ना स्निग्धशुक्लांशान्तर्बहिर्गामितारका ॥ ३९२ ॥

ईषत्कुञ्चितपक्ष्माग्राद्भुतापाङ्गविकासिनी ।

रसेष्वष्टसु शृङ्गारप्रमुखेषु क्रमादिमाः ॥ ३९३ ॥

इत्यद्भुता (८)

इत्यष्टौ रसदृष्टयः ।

रसदृष्टिर्भवेद्भावदृष्टिर्भावैरनुल्वणैः ।

विकासिस्निग्धा मधुरा चतुरे बिभ्रती भ्रुवौ ॥ ३९४ ॥

(सु०) बीभत्सां लक्षयति—बीभत्सेति । मिललोलपक्ष्मा ; मिलती लोले चञ्चले पक्ष्मणी यस्याम् । तरलतारका ; तरले विस्तृते तारके यस्याम् । दृश्योद्वेगात् ; दृश्योद्विग्नात्, निकुञ्चितपुटौ ; निकुञ्चितौ पुटौ यस्याम् । ते अपाङ्गे श्रिता दधती दृष्टिः बीभत्सा ॥ -३९१, ३९१- ॥

इति बीभत्सा (७)

(सु०) अद्भुतां लक्षयति—प्रसन्नेति । प्रसन्ना ; गम्भीरा ; स्निग्धः, मसृणः, शुक्लः, शुभ्रः ; अंश अपाङ्गो यस्याः ; अन्तर्बहिर्गामितारका ; अन्तर्बहिश्च, निर्याता तारका यस्याः ; ईषत्कुञ्चितपक्ष्माग्रा ; ईषत् किञ्चित् कुञ्चितं नमनं प्रापितं पक्ष्मणोरग्रं यस्याः ; अपाङ्गविकासिनी ; कटाक्षे विकासं प्रापितः यस्याः, तथाविधा दृष्टिः अद्भुता । इमा दृष्टयः क्रमात् शृङ्गारप्रमुखेषु अष्टसु रसेषु प्रयोक्तव्या इति ॥ -३९२, ३९३ ॥

इत्यद्भुता (८)

इत्यष्टौ रसदृष्टयः ।

(सु०) अथ स्थायिदृष्टीनां लक्षणमाह—रसदृष्टिरिति । पूर्वोक्तरसदृष्टिरेव

कटाक्षिणी साभिलाषा दृष्टिः स्निग्धाभिधीयते ।

अत्रैकभ्रूसमुत्क्षेपमाहुः कीर्तिधरादयः ॥ ३९५ ॥

इति स्निग्धा (१)

फुल्लगल्ला विशत्तारा किञ्चिदाकुञ्चिता चला ।

निमेषिणी स्मिताकारा हृष्टा दृष्टिरुदाहृता ॥ ३९६ ॥

इति हृष्टा (२)

या त्वर्धपतितोर्ध्वस्थपुटेषद्रुद्धतारका ।

सबाष्पा मन्दसंचारा दीना दृष्टिरसौ मता ॥ ३९७ ॥

इति दीना (३)

स्थिरोद्वृत्तपुटां रूक्षां किञ्चित्तरलतारकाम् ।

अनुलब्धैः व्यक्तैः भावैः भावदृष्टिर्भवेत् । विकासीति । विकासिनी चासौ स्निग्धा चेति विकासिस्निग्धा ; मधुरा ; चतुरे ; भ्रुवौ ; बिभ्रती बिभ्राणा, साभिलाषा ; कटाक्षिणी दृष्टिः स्निग्धा । अत्र एकभ्रूसमुत्क्षेपमपि कीर्तिधरादय आचार्या मन्यन्ते ॥ ३९४, ३९५ ॥

इति स्निग्धा (१)

(सु०) दृष्टां लक्षयति—फुल्लगलेति । फुल्लगल्ला ; फुल्लौ विकसितौ गल्लौ कपोलौ यस्याः ; विशत्तारा ; विशन्ती अन्तःप्रविष्टा तारा यस्याम् । किञ्चिदाकुञ्चिता ; ईषन्नमिता ; चला ; चञ्चला च ; निमेषिणी, स्मिताकारा च दृष्टिः हृष्टा ॥ ३९६ ॥

इति हृष्टा (२)

(सु०) दीनां लक्षयति—या त्विति । अर्धपतिता ऊर्ध्वस्थपुटिता ईषत् रुद्धतारका, सबाष्पा ; बाष्पसहिता, मन्दसंचारा च दृष्टिः दीना ॥ ३९७ ॥

इति दीना (३)

(सु०) रुद्धां लक्षयति—स्थिरेति । स्थिरोद्वृत्तपुटाम् ; स्थिरौ उद्-

भ्रुकुटीकुटिलां दृष्टिं क्रुद्धां ब्रूते हरप्रियः ॥ ३९८ ॥

इति क्रुद्धा (४)

सत्त्वमुद्गिरती दृष्टिर्दृष्टा विकसिता स्थिरा ।

इति दृष्टा (५)

मध्यनिर्गमनोद्युक्तौ भावविस्फारितौ पुटौ ॥ ३९९ ॥

तारके कम्पिते यस्याः सा स्याद्दृष्टिर्भयान्विता ।

इति भयान्विता (६)

अस्पष्टालोकिनी मीलत्तारका संकुचत्पुटा ॥ ४०० ॥

दृश्यं दृष्ट्वा समुद्विग्ना दृष्टिरुक्ता जुगुप्सिता ।

इति जुगुप्सिता (७)

वृत्तौ पुटौ यस्याम् । रूक्षाम् ; निःस्नेहाम् ; किञ्चित्तरलतारकाम् ; ईषत् तरले लोलिते तारके यस्याम् । भ्रुकुटीकुटिलाम् ; भ्रुकुट्या वक्रीकृतां दृष्टिं क्रुद्धामिति हरप्रियः शार्ङ्गदेवो ब्रूते ॥ ३९८ ॥

इति क्रुद्धा (४)

(सु०) दृष्टां लक्षयति—सत्त्वमिति । संपद्विपदोः चेतसो विकारत्वं सत्त्वम् ; तत् उद्गिरन्ती दृष्टिः दृष्टा ॥ ३९८- ॥

इति दृष्टा (५)

(सु०) भयान्वितां लक्षयति—मध्येति । मध्यनिर्गमनोद्युक्ता ; यस्या मध्यं निर्गमनाय उत्सुकमिव प्रतिभाति । यस्याः पुटौ ; पक्ष्माणौ, भावविस्फारितौ ; भावानां विशेषेण प्रकाशं प्राप्तौ । यस्याः तारके कम्पिते ; सा दृष्टिः भयान्विता ॥ -३९९, ३९९- ॥

इति भयान्विता (६)

(सु०) जुगुप्सितां लक्षयति—अस्पष्टेति । अस्पष्टालोकिनी ; अप्रकट-

भरविस्फारिताकारपुटद्वन्द्वविकासिनी ॥ ४०१ ॥

निश्चला दृष्टिरुद्धत्तारका विस्मिता स्मृता ।

दृष्टयोऽष्टासु रत्यादिस्थायिभावेष्विमाः क्रमात् ॥ ४०२ ॥

इति विस्मिता (८)

इत्यष्टौ स्थायिभावदृष्टयः ।

समतारापुटा दृश्यदृष्टिशून्या विलोकिनी ।

निष्कम्पा धूसरा शून्या चिन्तायां दृष्टिरिष्यते ॥ ४०३ ॥

इति शून्या (९)

मालोचमाना; मीलत्तारका; निमीलिततारका; संकुचत्पुटा; संकुचितपक्ष्मा;
दृश्यं वस्तु दृष्ट्वा समुद्रिमा उद्वेगं प्राप्ता दृष्टिः जुगुप्सिता ॥ -४००, ४००- ॥

इति जुगुप्सिता (७)

(सु०) विस्मितां लक्षयति—भरमिति । भरविस्फारिताकारपुटद्वन्द्ववि-
कासिनी; भरं अतिशयं यथातथा, विस्फारितं विस्तृताकारं पुटद्वयं यस्याः,
तथाविधा विकासिनी; निश्चला; अचञ्चला; उद्धत्तारका; उद्धृते तारके
यस्याः; तथाविधा दृष्टिः विस्मिता । इमा दृष्टयः अष्टसु रत्यादिस्थायिभावेषु
क्रमेण प्रयोक्तव्या इति ॥ -४०१, ४०२ ॥

इति विस्मिता (८)

इत्यष्टौ स्थायिभावदृष्टयः ।

(सु०) अथ विंशतिं व्यभिचारदृष्टिं लक्षयति—समेति । समतारापुटा;
समे तारके कनीनिके पुटे च यस्याः; दृश्यदृष्टिशून्या; दृश्यस्य पदार्थस्य
दर्शनशून्यविलोकनं यस्याः; तथाविधा निष्कम्पा; कम्पशून्या, धूसराकारा
दृष्टिः शून्या । सा च चिन्तायां प्रयुज्यते ॥ ४०३ ॥

इति शून्या (९)

दृश्यादपसृते तारे किञ्चिन्मुकुलितौ पुटौ ।
 दधत्यपाङ्गौ विच्छायौ पक्ष्माग्रस्पन्दने तथा ॥ ४०४ ॥
 दृष्टिः स्यान्मलिना स्त्रीणां विहृते सा प्रयुज्यते ।
 प्राप्ते कालेऽप्यसंलापः प्रियेण विहृतं मतम् ॥ ४०५ ॥

इति मलिना (२)

अदूरालोकिनी म्लानपुटप्यलसचारिणी ।
 चलत्तारा मनाक् कुञ्चत्प्रान्ता श्रान्ता श्रमे मता ॥ ४०६ ॥
 इति श्रान्ता (३)

मिथोऽभिगामिपक्ष्माग्राप्यधस्ताद्रततारका ।
 पतितोर्ध्वपुटा दृष्टिर्लज्जायां लज्जिता मता ॥ ४०७ ॥
 इति लज्जिता (४)

(सु०) मलिनां लक्षयति—दृश्यादिति । तारकाद्वयं दृश्यादपसृतम्; पुटद्वयं किञ्चिन्मुकुलितम्; अपाङ्गद्वयं विच्छायं प्राप्तम्; तथा पक्ष्मणोरग्रद्वयं स्पन्दितं च यस्यां भवति सा दृष्टिर्मलिना । सा च स्त्रीणां विहृते प्रयोज्या । विहृतस्य लक्षणमाह—प्राप्तेति । संलापोचिते काले प्राप्ते सत्यपि प्रियेण साकमसंलापो विहृतमित्युच्यते ॥ ४०४, ४०५ ॥

इति मलिना (२)

(सु०) श्रान्तां लक्षयति—अदूरेति । अदूरालोकिनी; दूरालोके असमर्था । म्लानपुटा; म्लानपक्ष्मा । अलसचारिणी; अलससंचारा । चलत्तारा; चञ्चलतारका । मनाक् कुञ्चत्प्रान्ता; ईषत् कुञ्चितौ अवनतौ प्रान्तौ यस्याः; तथाविधा दृष्टिः श्रान्ता । सा च श्रमे प्रयोज्या ॥ ४०६ ॥

इति श्रान्ता (३)

(सु०) लज्जितां लक्षयति—मिथ इति । मिथः परस्परम्, अभिगामि-पक्ष्माग्रा, अभिमुखगामिनी पक्ष्माग्रे यस्याः, अधस्ताद्रततारका; अधोगत-

मुहुश्चलस्थिरा पार्श्वालोकिनी बहिरुन्मुखी ।
गूढावलोकिनी शीघ्रं विनिवृत्ता विलोकनात् ॥ ४०८ ॥
शङ्कायां शङ्किता दृष्टिस्ता निःशङ्कसूरिणा ।

इति शङ्किता (५)

स्फुरत्संश्लिष्टपक्ष्माग्रा सुखविश्रान्ततारका ॥ ४०९ ॥
मुकुला दृष्टिरानन्दे हृद्ययोः स्पर्शगन्धयोः ।

इति मुकुला (६)

अर्धव्याकोशिते किञ्चिद् भ्रमन्त्यौ तारके पुटौ ॥ ४१० ॥
यत्रार्धमीलितौ सार्धमुकुलार्थे सुखप्रदे ।

इत्यर्धमुकुला (७)

तारका, पतितोर्ध्वपुटा; पतिता चासौ ऊर्ध्वपुटा च तथाविधा दृष्टिः लज्जिता ।
सा च लज्जायां प्रयोज्या ॥ ४०७ ॥

इति लज्जिता (४)

(सु०) शङ्कितां लक्षयति—मुहुरिति । मुहुः चलस्थिरा; क्षणं चञ्चला,
क्षणं स्थिरा, पार्श्वालोकिनी; पार्श्वप्रदेशदर्शनीया, बहिरुन्मुखी; बाह्योन्मुखी,
गूढावलोकिनी; गूढभावेनावलोकयन्ती, विलोकनात् शीघ्रं शटिति विनिवृत्ता
दृष्टिः शङ्किता । सा च शङ्कायां प्रयोज्या ॥ ४०८, ४०८- ॥

इति शङ्किता (५)

(सु०) मुकुलां लक्षयति—स्फुरदिति । स्फुरत्संश्लिष्टपक्ष्माग्रा; स्फुरन्ती
संलग्ने पक्ष्माग्रे यस्याः; सुखविश्रान्ततारका; सुखेन विश्रान्ता तारका कनी-
निका यस्याम्; तथाविधा दृष्टिः मुकुला । सा च आनन्दे; हृद्यस्पर्शगन्धयोश्च
प्रयोज्या ॥ -४०९, ४०९- ॥

इति मुकुला (६)

(सु०) अर्धमुकुलां लक्षयति—अर्धेति । अर्धव्याकोशिते; ईषद्विकासं
प्रापिते, किञ्चिद् भ्रमन्त्यौ; अल्पं भ्रमन्त्यौ, तारके कनीनिके पुटौ च; यत्र

मज्जत्तारा मन्दचारा शिथिला विकलैरिव ॥ ४११ ॥

पक्ष्माग्रभ्रूपुटैर्युक्ता ग्लाना ग्लानौ विधीयते ।

इति ग्लाना (८)

किञ्चित्कुञ्चित्पुटा गूढपतचारा विलोकने ॥ ४१२ ॥

शनैस्तिर्यङ्निगूढा या सा जिह्वा विनियुज्यते ।

असूयायां निगूढार्थे जडतालस्ययोरपि ॥ ४१३ ॥

इति जिह्वा (९)

किञ्चिच्चेत्कुञ्चितानि स्युः पक्ष्माग्राणि पुटावपि ।

सम्यक्च कुञ्चिता तारा तदा दृक्कुञ्चितोच्यते ॥ ४१४ ॥

अर्धमीलितौ; किञ्चित्संकुचितौ यस्याम्, तथाविधा दृष्टिः अर्धमुकुला । सा च सुखप्रदेशे प्रयोज्या ॥ -४१०, ४१०- ॥

इत्यर्धमुकुला (७)

(सु०) ग्लानां लक्षयति—मज्जदिति । मज्जत्तारा; मग्ना तारा कनीनिका यस्याः; मन्दचारा; मन्दसंचारा; शिथिला विकलैरिव स्थितैः; पक्ष्माग्रभ्रूपुटैः; पुटाग्रभ्रूपुटैः सहिता दृष्टिः ग्लाना । सा च ग्लानौ प्रयोज्या ॥ -४११, ४११- ॥

इति ग्लाना (८)

(सु०) जिह्वां लक्षयति—किञ्चिदिति । किञ्चित् कुञ्चित्पुटा; ईषन्नमितपक्ष्मा, विलोकने; वीक्षणो, गूढपतचारा, शनैः तिर्यङ्निगूढा दृष्टिः जिह्वा । सा च असूयायाम्, निगूढार्थे, जाडये, आलस्ये च प्रयोज्या ॥ -४१२, ४१३ ॥

इति जिह्वा (९)

(सु०) कुञ्चितां लक्षयति—किञ्चिदिति । यत्र पक्ष्माग्रपुटाः किञ्चित्

अनिष्टेऽसूयिते तेजो दुष्प्रेक्ष्येऽक्षिव्यथासु सा ।

इति कुञ्चिता (१०)

उद्भ्रामितपुटोत्फुल्लताराधःसंचरन्त्यपि ॥ ४१५ ॥

वितर्कितोदिता दृष्टिर्वितर्के साभिधीयते ।

इति वितर्किता (११)

विलोकनालसे तारे व्यथाप्रचलितौ पुटौ ॥ ४१६ ॥

यस्याः संभ्रान्तवद्भ्रान्ति साभितप्ताभिधीयते ।

निर्वेदे धेदितव्या साप्यभिघातोपतापयोः ॥ ४१७ ॥

इत्यभितप्ता (१२)

कुञ्चितानि; तारा च; कनीनिका च सम्यक् कुञ्चिता सा दृष्टिः कुञ्चिता । सा च अनिष्टे, अनभिप्रेते, असूयायाम्, तेजसा दुष्प्रेक्ष्ये सूर्यादौ; अक्षिव्यथासु; नेत्रव्यथासु च प्रयोज्या ॥ ४१४, ४१४- ॥

इति कुञ्चिता (१०)

(सु०) वितर्कितां लक्षयति—उद्भ्रामितेति । उद्भ्रामितपुटा; उद्भ्रामितौ पुटौ यस्याः; उत्फुल्लतारा; उत्फुल्ले तारके यस्याः; अधःसंचारिण्यपि विकासितकनीनिका दृष्टिः वितर्किता । सा च वितर्के प्रयोज्या ॥ -४१५, ४१५- ॥

इति वितर्किता (११)

(सु०) अभितप्तां लक्षयति—विलोकनेति । विलोकनविषये अलसं कनीनिकाद्वयं यत्र, व्यथया अत्यन्तचञ्चलौ, पुटौ यस्याः संभ्रान्तवत् भ्रान्ति भासमाना सा दृष्टिः अभितप्ता । सा च निर्वेदे, अभिघाते, उपतापे च प्रयोज्या ॥ -४१६, ४१७ ॥

इत्यभितप्ता (१२)

या दृष्टिः पतितापाङ्गा विस्तारितपुटद्वया ।
निमेषिणी स्तब्धतारा विषण्णा सा विषादिनी ॥ ४१८ ॥

इति विषण्णा (१३)

मधुरा कुञ्चितापाङ्गा सभ्रूक्षेपा स्मितान्विता ।
मन्मथोन्मथिता दृष्टिर्ललिता ललिते मता ॥ ४१९ ॥

इति ललिता (१४)

किञ्चित्कुञ्चत्पुटापाङ्गा दृष्टिर्धनिमेषिणी ।
पृथक्पथे चान्यनेत्रान्मुहुस्ताराविवर्तिनी ॥ ४२० ॥
आकेकरा दुरालोके स्याद्विच्छिन्ने च वस्तुनि ।

इत्याकेकरा (१५)

(सु०) विषण्णां लक्षयति—या दृष्टिरिति । या दृष्टिः, पतितापङ्गा ; पतितौ अपाङ्गौ यस्याः, विस्तारितपुटद्वया ; निमेषिणी ; निमेषवती, स्तब्ध-तारा ; निश्चलतारा च सा विषण्णा । सा च विषादे प्रयोज्या ॥ ४१८ ॥

इति विषण्णा (१३)

(सु०) ललितां लक्षयति—मधुरेति । माधुर्यवती, कुञ्चितापाङ्गा, भ्रूक्षेपस्मितयुक्ता, मन्मथोन्मथिता ; मदनोन्मादिनी दृष्टिः ललिता । सा च ललिते प्रयोज्या ॥ ४१९ ॥

इति ललिता (१४)

(सु०) आकेकरां लक्षयति—किञ्चिदिति । किञ्चित्कुञ्चत्पुटापाङ्गा ; अल्पसंकुचितौ पुटौ अपाङ्गौ यस्याः ; अर्धनिमेषवती, अन्यनेत्रापेक्षया पृथक्पथे मार्गे यस्या मुहुः प्रतिक्षणं तारां विवर्तयन्ती दृष्टिः, सा आकेकरा । सा च दुरालोके, विच्छिन्ने वस्तुनि च प्रयोज्या ॥ ४२०, ४२०- ॥

इत्याकेकरा (१५)

विकासितपुटद्वन्द्वा विकासिन्यनिमेषिणी ॥ ४२१ ॥

अनवस्थिततारा च विकोशा कीर्तिता बुधैः ।

ज्ञानविज्ञानगर्वे सा स्यादमर्षे विमर्शने ॥ ४२२ ॥

इति विकोशा (१६)

या तु कचिदविश्रान्तमविस्रब्धं विलोकने ।

विस्तीर्णा चञ्चलोत्फुल्लतारा सा दृष्टिरुच्यते ॥ ४२३ ॥

विभ्रान्ता विभ्रमे वेगे संभ्रमे च भवेदसौ ।

इति विभ्रान्ता (१७)

पुटौ विस्फुरितौ स्तब्धौ यस्याः स्तः पतितौ क्रमात् ॥ ४२४ ॥

सा विप्लुतार्तिदुःखादावुन्मादे चापले तथा ।

इति विप्लुता (१८)

(मु०) विकोशां लक्षयति—विकासितेति । विकासितपुटद्वया, विकासवती अनिमेषा, अनवस्थिततारा च दृष्टिः विकोशा । सा च ज्ञानविज्ञान-गर्वेषु, अमर्षे, विमर्शे च प्रयोज्या ॥ -४२१, ४२२ ॥

इति विकोशा (१६)

(सु०) विभ्रान्तां लक्षयति—या त्विति । या तु दृष्टिः ; अविश्रान्तम् ; अविस्रब्धम्, विलोकने ; विस्तीर्णा ; विस्तारवती, चञ्चलोत्फुल्लतारा ; चञ्चलेन विकसितकनीनिका, तथाविधा दृष्टिः विभ्रान्ता । सा च विभ्रमे, वेगे, संभ्रमे च प्रयुज्यते ॥ ४२३, ४२३- ॥

इति विभ्रान्ता (१७)

(सु०) विप्लुतां लक्षयति—पुटाविति । यत्र क्रमेण पक्ष्माणौ विस्फुरितौ स्तब्धौ पतितौ च भवतः, सा विप्लुता । सा च आर्तिदुःखादौ, उन्मादे, चापले च प्रयोज्या ॥ -४२४-४२४- ॥

इति विप्लुता (१८)

उत्कम्पोत्फुल्लतारा स्यात् त्रासे त्रस्तोद्भ्रमत्पुटा ॥ ४२५ ॥

इति त्रस्ता (१९)

मदिरा त्रिविधा प्रोक्ता तरुणे मध्यमेऽधमे ।

मदे प्रयोगमर्हन्ती तत्तल्लक्ष्मसमन्विता ॥ ४२६ ॥

तीव्रो मदोऽधमोऽत्र स्यादधमे पुरुषे स्थितः ।

दृष्टिर्विकसितापाङ्गा क्षामीभूतविलोचना ॥ ४२७ ॥

आघूर्णमानतारा स्यान्मदिरा तरुणे मदे ।

किञ्चित्कुञ्चत्पुटा किञ्चिदनवस्थितचारिणी ॥ ४२८ ॥

दृष्टिः किञ्चिद्भ्रमत्तारा मदिरा मध्यमे मदे ।

अधोभागचरी किञ्चिद्दृष्टतारा निमेषिणी ॥ ४२९ ॥

यत्नेऽप्यसिद्धचतुर्मेघा मदिरा स्यान्मदेऽधमे ।

इति त्रिविधा मदिरा (२०)

इति विंशतिन्यभिचारिदृष्टयः ।

(सु०) त्रस्तां लक्षयति—उत्कम्पेति । उत्कम्पितविकसिततारका दृष्टिः त्रस्ता । सा च त्रासे प्रयोज्या ॥ -४२५ ॥

इति त्रस्ता (१९)

(सु०) मदिरां लक्षयति—मदिरेति । मदिरादृष्टिः त्रिविधा । सा च उत्तममध्यमाधममेदात् । वक्ष्यमाणतत्तल्लक्ष्मभिः सहिता तेभ्येव मदेषु विनियोगमर्हन्ती । अत्र तीव्रो मदोऽधमः; स च अधमे पुरुषे स्थितो भवति । दृष्टिरिति । विकसितापाङ्गा; विकसितौ अपाङ्गौ यस्याः; क्षामीभूतविलोचना; क्षामीभूते विलोचने यस्याः; आघूर्णमानतारा; आसमन्तात् घूर्णमाने भ्रामिते तारे यस्याम्; तथाविधा मदिरादृष्टिः तरुणे मदे प्रयोज्या; किञ्चिन्नमितपुटा; ईषन्नमितौ पुटौ यस्याः; ईषदनवस्थितसंचारा; किञ्चिद्भ्रमत्तारा; ईषद्भ्रमणं प्रापिते तारे

प्रदर्शनार्थमित्युक्ताः षट्त्रिंशद्दृष्टयो मया ॥ ४३० ॥

अनन्ताः सन्ति संदर्भाः भूतारापुटकर्मणाम् ।

दृष्टयस्ता विरिञ्चोऽपि प्रत्येकं वक्तुमक्षमः ॥ ४३१ ॥

लाघवात्तत्प्रबोधार्थं ब्रूमो भूप्रभृतीन्यतः ।

इति दृष्टिप्रकरणम् ।

सहजा पतितोत्क्षिप्ता रेचिता कुञ्चिता तथा ॥ ४३२ ॥

भ्रुकुटी चतुरा चेति प्रोक्ता भूः सप्तधा बुधैः ।

स्वाभाविकी स्यात्सहजा भावेष्वकुटिलेष्वसौ ॥ ४३३ ॥

इति सहजा (१)

यस्याः ; तथाविधा मदिरादृष्टिः मध्यमे मदे प्रयोज्या ; अधोभागचारिणी ; किञ्चिदवलोकिततारका, निमेषवती, यत्ने कृतेऽपि असिद्धोन्मेषा ; तथाविधा मदिरादृष्टिः अधमे मदे प्रयोज्येति ॥ ४२६-४२९ ॥

इति त्रिविधा मदिरा (२०)

इति विंशतिव्यभिचारिदृष्टयः ।

(सु०) दृष्टिप्रकरणमुपसंहरति—प्रदर्शनार्थमिति । मुग्धपरिज्ञानाय मया षट्त्रिंशद्दृष्टय उक्ताः । यद्यपि भूतारापुटकर्मणां संदर्भा अनन्ता दृष्टयः सन्ति ; ता विरिञ्चोऽपि प्रत्येकं वक्तुं नेष्टे । तथापि लोकवृत्त्यनुसारेण लाघवात् तत्परिज्ञानार्थम्, अतः परं भूतारादिकर्माणि कथयाम इति ॥-४३०, ४३१-॥

इति दृष्टिप्रकरणम् ।

(क०) अथ भ्रूमेदान् लक्षयितुमाह—सहजा पतितेत्यादि ॥ -४३२-४३४- ॥

इति सहजा (१)

(सु०) अथ भ्रूमेदानाह—सहजेति । सहजा, पतिता, उत्क्षिप्ता,

पतिता स्यादधो याता सद्वितीयाथवा क्रमात् ।
उत्क्षेपे विस्मये हर्षे रोषेऽसूयाजुगुप्सयोः ॥ ४३४ ॥
हासे घ्राणे च पतिते विधीयेतामुभे भ्रुवौ ।

इति पतिता (२)

उत्क्षिप्ता संमतान्वर्था क्रमेण सह चान्यथा ॥ ४३५ ॥
स्त्रीणां कोपे वितर्के च दर्शने श्रवणे निजे ।
भूर्लीलाहेलयोश्चैषा कार्योत्क्षिप्ता विचक्षणैः ॥ ४३६ ॥

इत्युत्क्षिप्ता (३)

एकैव ललितोत्क्षिप्ता रेचिता नृत्तगोचरा ।

इति रेचिता (४)

रेचिता, कुञ्चिता, भ्रुकुटी, चतुरेति सप्तप्रकारा भ्रूः । क्रमेण लक्षणमाह—
स्वाभाविकीति । स्वाभाविकी भ्रूः सहजा । असौ अकुटिलेषु ऋजुषु भावेषु
प्रयोज्या ॥ -४३२, ४३३ ॥

इति सहजा (१)

(सु०) पतितां लक्षयति—पतितेति । अधो याता भ्रूः पतिता । सा च
उत्क्षेपे, विस्मये, हर्षे, रोषे, असूयायाम्, जुगुप्सायां च प्रयोज्या । उभे
अपि भ्रुवौ हासघ्राणयोर्विधीयेते ॥ ४३४, ४३४- ॥

इति पतिता (२)

(क०) एकोत्क्षिप्ताभ्रुविनियोगे—लीलाहेलयोरिति । तत्र लीला
नाम योषितां पुंसां शारीरो भावविशेषः । यथाह तल्लक्षणं भावप्रकाशकारः—

“ मनो मधुरवागङ्गचेष्टितैः प्रीतियोजितैः ।

प्रियानुकरणं लीला सा स्यात्स्त्रीपुंसयोरपि ” इति ॥ (पृ० ९)

केवला सद्वितीया वा मृदुभङ्गा निकुञ्चिता ॥ ४३७ ॥

मोहायिते कुट्टमिते विलासे किलकिञ्चिते ।

इति निकुञ्चिता (५)

आमूलात्सद्वितीया भ्रूरुत्क्षिप्ता भ्रुकुटी कृधि ॥ ४३८ ॥

इति भ्रुकुटी (६)

तथा हेला नाम सात्त्विको भावविशेषः । यथा तेनैवोक्तं लक्षणम्—

“ स एव हावो हेला स्याल्ललिताभिनयात्मिका ।

नानाप्रकाराभिव्यक्तशृङ्गाराकारसूचिका ” इति (पृ० ८)

॥ -४३५-४३९ ॥

इति सप्तधा भ्रूः ।

इति भ्रूप्रकरणम् ।

(सु०) उत्क्षिप्तां लक्षयति—उत्क्षिप्तेति । ऊर्ध्वं नीता उत्क्षिप्ता
अन्वर्था । उत्क्षिप्ता च एकस्य वा द्वयोर्वा भवतु । सा च स्त्रीणां कोपे,
वितर्के, दर्शने, श्रवणे, लीला, हेलयोश्च प्रयोज्या ॥ -४३५, ४३६ ॥

इत्युत्क्षिप्ता (३)

(सु०) रेचितां लक्षयति—एकैवेति । एकैव ललितोत्क्षिप्ता भ्रू रेचिता ।
सा च नृत्तमात्रगोचरा ॥ ४३६- ॥

इति रेचिता (४)

(सु०) निकुञ्चितां लक्षयति—केवलेति । केवला वा द्वितीयसहिता वा,
मृदुभङ्गा; मृदुर्भङ्गो यस्याः, सौकुमार्येण युक्ता भ्रूः निकुञ्चिता । सा च
मोहायिते, विलासे, किलकिञ्चिते च प्रयोज्या ॥ -४३७, ४३७- ॥

इति निकुञ्चिता (५)

(सु०) भ्रुकुटीं लक्षयति—आ मूलादिति । आ मूलात् सद्वितीयं यथा-
तथा उत्क्षिप्ता भ्रूः भ्रुकुटी । सा च कोपे कार्या ॥ -४३८ ॥

इति भ्रुकुटी (६)

सद्वितीयाल्पकस्पन्दादायता मन्थरा भवेत् ।

चतुरा रुचिरे स्पर्शे शृङ्गारे ललिते च सा ॥ ४३९ ॥

इति चतुरा (७)

इति सप्तधा भूः ।

प्रसृतौ कुञ्चितौ स्यातामुन्मेषितनिमेषितौ ।

विवर्तितौ च स्फुरितौ पिहितौ च विताडितौ ॥ ४४० ॥

समौ च नवधेत्युक्तौ पुटौ सोढलसूनुना ।

आयतौ प्रसृतौ स्यातां वीरे हर्षे च विस्मये ॥ ४४१ ॥

इति प्रसृतौ (१)

आकुञ्चितौ कुञ्चितौ स्तो रूपादौ च मनोहरे ।

इति कुञ्चितौ (२)

(सु०) चतुरां लक्षयति—सद्वितीयेति । सद्वितीयं यथा तथा अल्प-
स्पन्दा दीर्घमन्थरा भूश्च चतुरा । सा च रुचिरे, स्पर्शे, शृङ्गारे, ललिते च
प्रयोज्या ॥ ४३९ ॥

इति चतुरा (७)

इति सप्तधा भूः ।

इति भूप्रकरणम् ।

(क०) अथ पुटयोर्भेदान् लक्षयति—प्रसृतावित्यादि ॥ ४४०—४४५—॥

(सु०) पुटयोर्भेदानाह—प्रसृताविति । प्रसृतौ, कुञ्चितौ, उन्मेषितौ,
निमेषितौ, विवर्तितौ, स्फुरितौ, पिहितौ, विचलितौ, समाविति नवविधौ पुटौ ।
क्रमेण लक्षणमाह—आयताविति । आयतौ प्रसृतौ वीरे हर्षे विस्मये च

उन्मेषितौ तु विश्लेषात्संश्लेषात्तु निमेषितौ ॥ ४४२ ॥

विवर्तितौ समुद्रवृत्तौ त्रयोऽमी क्रोधगोचराः ।

इत्युन्मेषितनिमेषितविवर्तिताः (३-५)

स्फुरितौ स्पन्दितौ स्यातां तावीर्ष्याविषयौ मतौ ॥ ४४३ ॥

इति स्फुरितौ (६)

अतीव कुञ्चितौ लग्नौ पिहितौ तौ दृशो रुजि ।

सुप्तिमूर्च्छातिवर्षोष्णधूमवाताञ्जनार्तिषु ॥ ४४४ ॥

इति पिहितौ (७)

उत्तरेणाधराघातादभिघाते विचालितौ ।

आहुरन्ये त्वदृश्यौ ताविति विस्फारणात्पुटौ ॥ ४४५ ॥

इति विचालितौ (८)

समौ स्वाभाविकावेतौ स्वभावाभिनये मतौ ।

इति समौ (९)

इति नवधा पुटौ ।

प्रयोज्यौ । आकुञ्चितौ कुञ्चितौ ; तौ रूपादौ, मनोहरे च प्रयोज्यौ । विश्लेषे उन्मेषितौ ; संश्लेषे निमेषितौ ; समुद्रवृत्तौ विवर्तितौ । उन्मेषितनिमेषितविवर्तिता अमी त्रयोऽपि क्रोधे प्रयोज्याः । स्पन्दितौ स्फुरितौ, तावीर्ष्यायां प्रयोज्यौ । अतीव परस्परसंलग्नौ पुटौ पिहितौ ; तौ रुजि प्रयोज्यौ, तथा सुप्तिमूर्च्छातिवर्षोष्णधूमवाताञ्जनार्तिषु च प्रयोज्याविति । उत्तरेण पुटेन, अधरस्य अधःस्थस्य पुटस्य घातात् विताडितौ । तौ च अभिघाते कार्यौ । अतिविस्फारणात् अनवलोकनीयौ पुटौ विताडिताविति केचिदाहुः । स्वाभाविकौ समौ ; एतौ स्वभावाभिनये प्रयोज्यौ ॥ ४४०-४४५- ॥

इति नवधापुटौ ।

इति पुटप्रकरणम् ।

कर्मभिस्तारकाभेदा यैः स्युस्तान्यधुना ब्रुवे ॥ ४४६ ॥

तानि द्वेधा स्वनिष्ठानि विषयाभिमुखानि च ।

भ्रमणं वलनं पातश्चलनं च प्रवेशनम् ॥ ४४७ ॥

विवर्तनं समुद्धृतं निष्क्रामः प्राकृतं तथा ।

स्वनिष्ठानि नवेत्याहुस्ताराकर्माणि सूरयः ॥ ४४८ ॥

तारयोर्मण्डलभ्रान्तिः पुटान्तर्भ्रमणं मतम् ।

वलनं त्र्यश्रगमनं पातस्तु स्यादधोगतिः ॥ ४४९ ॥

(क०) अथ तारकाभेदान् लक्षयितुं तद्भेदकानि कर्माणि वर्णयितु-
माह—कर्मभिस्तारकाभेदा इत्यादि । यैः कर्मभिः तारकाभेदा
स्युः ; तानि कर्माणि अधुना ब्रूम इति । अयमभिप्रायः—नयनगोलकमा-
श्रितायास्तारकाया हस्तादिवत्स्वरूपगतभेदासंभवाद्भ्रमणादिकर्मभेदादेव तारा-
भेदोऽवगन्तव्य इति । तानि कर्माणि स्वनिष्ठत्वेन विषयाभिमुखत्वेन च
द्वेधा भवन्तीत्याह—तानि द्वेधेति ॥ -४४६, ४४६- ॥

(क०) तत्र स्वनिष्ठान्युद्दिश्य लक्षयति—भ्रमणमित्यादि
॥ -४४७—४५३- ॥

इति नव स्वनिष्ठानि ताराकर्माणि ।

(सु०) तारकाभेदान् वक्तुं प्रथमं तत्कर्मणो भेदानाह—कर्मभिरिति ।
कर्मविशेषैः यैः तारकाभेदा भवन्ति, तान् अधुना कथयामि । तानि कर्माणि
द्विप्रकाराणि ; स्वनिष्ठानि ; स्वविषयाभिमुखानि ; विषयनिष्ठानि ; विषयाभि-
मुखानीति च । तत्र स्वनिष्ठानि ताराकर्माणि भ्रमणादिभेदेन नवविधानि । तानि
यथा—भ्रमणम् ; वलनम्, पातः, चलनम्, प्रवेशनम्, विवर्तनम्, समुद्ध-
ृतम्, निष्क्रामः, प्राकृतमिति । क्रमेण लक्षणमाह—तारयोरिति । पुटान्त-
स्तारयोः मण्डलभ्रान्तिर्भ्रमणम् (१) ; त्र्यश्रगमनं वलनम् (२) ; अधोगमनं

चलनं कम्पनं प्रोक्तमथ ज्ञेयं प्रवेशनम् ।
 प्रवेशः पुटयोरन्तःकटाक्षस्तु विवर्तनम् ॥ ४५० ॥
 उद्गतिस्तु समुद्रवृत्तमन्तरा निर्गमस्तु यः ।
 स निष्क्रामः प्राकृतं तु स्वभावस्थितिरुच्यते ॥ ४५१ ॥
 समुद्रवृत्तं च बलनं भ्रमणं वीररौद्रयोः ।
 पातस्तु करुणे कार्यश्चलनं तु भयानके ॥ ४५२ ॥
 प्रवेशनं तु बीभत्से हास्ये तु स्याद्विवर्तनम् ।
 शृङ्गारे स्यात्तु निष्क्रामो वीरे रौद्रे भयानके ॥ ४५३ ॥
 अद्भुते च प्राकृतं तु भावेनावेशभागिनि ।

इति नव स्वनिष्ठानि ताराकर्माणि ।

विषयाभिमुखान्यष्टौ ताराकर्माण्यथ ब्रुवे ॥ ४५४ ॥
 समं साच्यनुवृत्तावलोकितानि विलोकितम् ।
 उल्लोकितालोकिते च प्रविलोकितमित्यपि ॥ ४५५ ॥

पातः (३); कम्पनं चलनम् (४); पुटान्तः प्रवेशः प्रवेशनम् (५); कौटिल्यं तु विवर्तनम् (६); उद्गतिः समुद्रवृत्तम् (७); अन्तरानिर्गमः निष्क्रामः (८); स्वभावस्थितिः प्राकृतम् (९); समुद्रवृत्तमण्डलभ्रमणानि वीररौद्रयोः प्रयोज्यानि । पातः करुणे कार्यः । बलनं भयानके कार्यम् । प्रवेशनं बीभत्सहास्ययोः कार्यम् । विवर्तनं शृङ्गारे कार्यम् । निष्क्रामो वीररौद्रभयानकेषु कार्यः । अद्भुते च प्राकृतं कार्यम् ॥ -४४७-४५३- ॥

इति नव स्वनिष्ठानि ताराकर्माणि ।

(क०) विषयाभिमुखान्युद्दिश्य लक्षयति--समं साचीत्यादि
 ॥ -४५४-४६०- ॥

एतानि दर्शनान्याहुर्लक्ष्यलक्ष्मविचक्षणाः ।

सौम्यं मध्यस्थतारं च दर्शनं सममुच्यते ॥ ४५६ ॥

इति समम् (१)

साच्युच्यते तिरश्चीनपक्षमान्तर्गततारकम् ।

इति साचि (२)

रूपनिर्वर्णनायुक्तमनुवृत्तं मतं मुनेः ॥ ४५७ ॥

निर्वर्णना क्रियाकात्स्न्यदिदक्षातश्चिरस्थिरा ।

इत्यनुवृत्तम् (३)

अधस्थदर्शनं यत्तदवलोकितमुच्यते ॥ ४५८ ॥

इत्यवलोकितम् (४)

(सु०) विषयाभिमुखान्यष्टविधानि । तानि यथा—समम्, साचि, अनुवृत्तम्, अवलोकितम्, उल्लोकितम्, आलोकितम्, प्रविलोकितम्, विलोकितमित्येतान्यष्टौ दर्शनानीत्युच्यन्ते । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—सौम्यमिति । सौम्यम्; अक्रूरम्, मध्यस्थतारदर्शनं सममित्युच्यते ॥ -४५४, ४५५ ॥

इति समम् (१)

(सु०) साचि लक्षयति—साचीति । तिरश्चीनं पक्षमान्तर्गततारकं कनीनिकं साचीत्युच्यते ॥ ४५६- ॥

इति साचि (२)

(सु०) अनुवृत्तं लक्षयति—रूपमिति । रूपनिर्वर्णनायुक्तम्; रूपस्य निर्वर्णनया युक्तमवलोकनम् अनुवृत्तम् । केयं निर्वर्णनेत्यपेक्षायामाह—निर्वर्णनेति । कात्स्न्यदिदक्षया; कात्स्न्येन साकल्येन दिदक्षाहेतोः चिरकालं, स्थिरा क्रिया निर्वर्णनेत्युच्यते ॥ -४५७, ४५७- ॥

इत्यनुवृत्तम् (३)

(सु०) अवलोकितं लक्षयति—अधःस्थेति । अधःस्थस्य दर्शनमवलोकितम् ॥ -४५८ ॥

इत्यवलोकितम् (४)

पृष्ठतो दर्शनं यत्तद्विलोकितमुदाहृतम् ।

इति विलोकितम् (५)

उल्लोकितं तदूर्ध्वस्थवस्तुनो यदवेक्षणम् ॥ ४५९ ॥

इत्युल्लोकितम् (६)

सहसा दर्शनं यत्तदालोकितमुदीरितम् ।

इत्यालोकितम् (७)

पार्श्वस्थदर्शनं प्रोक्तं कृतिभिः प्रविलोकितम् ॥ ४६० ॥

इति प्रविलोकितम् (८)

साधारणान्यमून्याहू रसभावेषु तद्विदः ।

इत्यष्टौ दर्शनानि ।

इत्यष्टौ विषयनिष्ठानि ताराकर्माणि

(सु०) विलोकितं लक्षयति—पृष्ठत इति । पृष्ठतो दर्शनं विलोकित-
मित्युच्यते ॥ ४५८- ॥

इति विलोकितम् (५)

(सु०) उल्लोकितं लक्षयति—उल्लोकितमिति । ऊर्ध्वस्थवस्तुनो यद-
वलोकनं तद् उल्लोकितं भवति ॥ -४५९ ॥

इत्युल्लोकितम् (६)

(सु०) आलोकितं लक्षयति—सहसेति । यत् सहसादर्शनम् तद्
आलोकितं भवति ॥ ४५९- ॥

इत्यालोकितम् (७)

(सु०) प्रविलोकितं लक्षयति—पार्श्वस्थेति । पार्श्वस्थदर्शनं प्रवि-
लोकितमिति कृतिभिः प्रोक्तम् । एतानि दर्शनानि रसभावेषु साधारणानी
त्याहुः ॥ -४६०, ४६०- ॥

इति प्रविलोकितम् (८)

इत्यष्टौ दर्शनानि ।

इत्यष्टौ विषयनिष्ठानि ताराकर्माणि ।

इति ताराकाप्रकरणम् ।

कुञ्चितौ कम्पितौ पूर्णौ क्षामौ फुल्लौ समौ तथा ॥ ४६१ ॥

कपोलौ षड्विधावुक्तौ तल्लक्षणमथोच्यते ।

संकोचात्कुञ्चितौ रोमाञ्चितौ शीतज्वरे भये ॥ ४६२ ॥

इति कुञ्चितौ (१)

स्फुरितौ कम्पितौ कारयौ रोमहर्षेषु सूरिभिः ।

इति कम्पितौ (२)

कपोलावुन्नतौ पूर्णौ तौ गर्वोत्साहगोचरे ॥ ४६३ ॥

इति पूर्णौ (३)

क्षामौ त्वन्नतौ ज्ञेयौ दुःखे कार्याविमौ नटैः ।

इति क्षामौ (४)

गण्डौ विकसितौ फुल्लौ ग्रहर्षे परिकीर्तितौ ॥ ४६४ ॥

इति फुल्लौ (५)

समौ स्वाभाविकौ भावेष्वनावेशेषु तौ मतौ ।

इति समौ (६)

इति षोढा कपोललक्षणम् ।

(क०) अथ कपोलयोर्भेदान् लक्षयितुमाह—कुञ्चितौ कम्पितौ पूर्णावित्यादि ॥ ४६१—४६४- ॥

(सु०) अथ कपोलयोर्भेदानाह—कुञ्चिताविति । कुञ्चितौ, कम्पितौ, पूर्णौ, क्षामौ, फुल्लौ, समाविति षड्विधौ कपोलौ । क्रमेण लक्षणमाह—संकोचेति । संकोचात् कुञ्चितौ । तौ रोमाञ्चितौ शीते, ज्वरे भये च कारयौ । इति कुञ्चितौ (१) स्फुरणात् कम्पितौ । तौ रोमहर्षेषु कारयौ । इति कम्पितौ (२) उन्नतौ पूर्णौ । तौ गर्वोत्साहयोः कारयौ । इति पूर्णौ (३) अवनतौ क्षामौ ।

स्वाभाविकी नता मन्दा विकृष्टा च विकृणिता ॥ ४६५ ॥
 सोच्छ्वासेत्युदिता नासा षड्विधा सूरिशार्ङ्गिणा ।
 स्वाभाविकी स्यादन्वर्था भावेष्वावेगवर्जिता ॥ ४६६ ॥

इति स्वाभाविकी (१)

मुहुः संश्लिष्टविश्लिष्टपुटा नासा नता मता ।
 सोच्छ्वासाभिनये मन्दविच्छिन्नरुचिगोचरे ॥ ४६७ ॥

इति नता (२)

तौ नटैः दुःखे कार्यौ । इति क्षामौ (४) विकासं प्राप्तौ फुल्लौ । तौ प्रहर्षे
 कार्यौ । (५) स्वाभाविकौ समौ । तौ अनावेशेषु भावेषु कार्यौ । इति
 समौ (६) ॥ -४६१-४६४- ॥

इति षोढा कपोललक्षणम् ।

इति कपोलप्रकरणम् ।

(क०) अथ नासाभेदान् लक्षयितुमाह—स्वाभाविकी नतेत्यादि
 ॥ -४६५-४७०- ॥

(सु०) अथ नासाभेदानाह—स्वाभाविकेति । स्वाभाविकी, नता,
 मन्दा, विकृष्टा, विकृणिता, सोच्छ्वासेति षड्भेदाः । तासां क्रमेण लक्षणमाह—
 स्वाभाविकीति । अन्वर्था स्वभावावस्थिता स्वाभाविकी । सा आवेगवर्जिते
 भावे कार्या ॥ -४६५, ४६६ ॥

इति स्वाभाविकी (१)

(सु०) नतां लक्षयति—मुहुरिति । मुहुः प्रतिक्षणं संश्लिष्टौ पुटौ यस्याः,
 सा नता । सा च सोच्छ्वासाभिनये, मन्दविच्छिन्नरुचिरे च कार्या ॥ ४६७ ॥

इति नता (२)

मन्दा तु मन्दनिःश्वासोच्छ्वासा नासाभिधीयते ।

सा चिन्तौत्सुक्ययोः शोके निर्वेदे च विधीयते ॥ ४६८ ॥

इति मन्दा (३)

विकृष्टात्यन्तमुत्फुल्लपुटा रोषार्तिभीतिषु ।

ऊर्ध्वश्वासे च कर्तव्या घ्रातव्ये भूरिसौरभे ॥ ४६९ ॥

इति विकृष्टा (४)

विकूणिता संकुचिता हास्येऽसूयाजुगुप्सयोः ।

इति विकूणिता (५)

आकृष्टश्वसना नासा सोच्छ्वासा सौरभे भवेत् ॥ ४७० ॥

निर्वेदादिषु भावेषु दीर्घोच्छ्वासकरेषु च ।

इति सोच्छ्वासा (६)

इति षोढा नासिका ।

इति नासाप्रकरणम् ।

(सु०) मन्दां लक्षयति—मन्दा त्विति । मन्दनिःश्वासोच्छ्वासा ; अल्पनिःश्वासेन उच्छ्वासा नासा मन्दा । सा च चिन्तायाम्, औत्सुक्ये, शोके, निर्वेदे च प्रयोज्या ॥ ४६८ ॥

इति मन्दा (३)

(सु०) विकृष्टां लक्षयति—विकृष्टेति । अत्यन्तमुत्फुल्लपुटा ; अति-शयेन उत्फुल्लौ पुटौ यस्याः, तथाविधा नासा विकृष्टा । सा च रोषे, आर्तौ, भीते, ऊर्ध्वश्वासे, भूरिसौरभे ; बहुपरिमले द्रव्ये घ्रातव्ये च प्रयोज्या ॥ ४६९ ॥

इति विकृष्टा (४)

(सु०) विकूणितां लक्षयति—विकूणितेति । संकुचिता विकूणिता । सा च हास्ये, असूयायाम्, जुगुप्सायां च प्रयोज्या ॥ ४६९- ॥

इति विकूणिता (५)

(सु०) सोच्छ्वासां लक्षयति—आकृष्टेति । आकृष्टश्वसना नासा

स्वस्थौ चलौ प्रवृद्धश्च निरस्तोऽल्लासितावपि ॥ ४७१ ॥
 विमुक्तो विस्मितः श्वासः स्वलितः प्रसृतस्तथा ।
 एवमुच्छ्वासनिःश्वासौ नवधा कोहलोदितौ ॥ ४७२ ॥
 समो भ्रान्तो विलीनश्चान्दोलितः कम्पितोऽपरः ।
 स्तम्भितोच्छ्वासनिःश्वाससूत्कृतानि च सीत्कृतम् ॥ ४७३ ॥
 एवं दशविधः प्रोक्तो लक्ष्यज्ञैर्मास्तोऽपरैः ।
 स्वस्थावुच्छ्वासनिःश्वाससंज्ञौ वायू स्वभावजौ ॥ ४७४ ॥
 स्वस्थक्रियासु कर्तव्यावुक्तौ निःशङ्कसूरिणा ।

इति स्वस्थौ (१)

सोच्छ्वासा । सा च सौरभे, निर्वेदादिषु भावेषु दीर्घोच्छ्वासकरेषु च प्रयोज्या ॥ -४७०, ४७०- ॥

इति सोच्छ्वासा (६)

इति षोढा नासिका ।

इति नासाप्रकरणम् ।

(क०) अथ नासास्यभवाननिलभेदान् लक्षयितुमाह—स्वस्थौ चलावित्यादि ॥ -४७१-४८२ ॥

(सु०) अथ सोच्छ्वासनिश्वासयोर्भेदानाह—स्वस्थाविति । उच्छ्वासादिभेदेन नवविधो नासास्यभवोऽननिलः । तानाह—स्वस्थौ, चलौ, प्रवृद्धः, निरस्तः, उल्लासितः, विमुक्तः, विस्मितः, स्वलित इति । कोहलमतेन दशविधः । तानाह—समः, भ्रान्तः, विलीनः, आन्दोलितः, कम्पितः, स्तम्भितः उच्छ्वासः, निःश्वासः, सूत्कृतम्, सीत्कृतमिति । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—स्वस्थाविति । उच्छ्वासनिः श्वाससंज्ञौ वायू स्वभावजौ स्वस्थावित्युच्युते । तौ स्वस्थक्रियायां प्रयोज्यौ ॥ -४७१-४७४- ॥

इति स्वस्थौ (१)

उष्णौ दीर्घौ सशब्दौ च तौ मुखेन कृतौ चलौ ॥ ४७५ ॥

कार्यावौत्सुक्यनिर्वेदशोकचिन्तास्विमौ मतौ ।

इति चलौ (२)

प्रवृद्धः सन्सशब्देन वदनेन विनिर्गतः ॥ ४७६ ॥

निःश्वासः स्यात्प्रवृद्धाख्यः क्षयव्याध्यादिगोचरः ।

इति प्रवृद्धः (३)

सशब्दः सन्सकृत्क्षिप्तो निरस्तः कथ्यते मरुत् ॥ ४७७ ॥

दुःखान्विते सरोगे च श्रान्ते चैष विधीयते ।

इति निरस्तः (४)

(सु०) चलौ लक्षयति—उष्णाविति । उष्णौ सशब्दौ शब्दसहितौ, दीर्घौ च मुखेन कृतौ वातौ चलौ । तौ औत्सुक्यनिर्वेदशोकचिन्तासु प्रयोज्यौ ॥ -४७५, ४७६- ॥

इति चलौ (२)

(सु०) प्रवृद्धं लक्षयति—प्रवृद्ध इति । सशब्देन वदनेन प्रवृद्धः सन् विनिर्गतो निश्वासः प्रवृद्धः स्यात् । अयं पूर्वयोर्द्वयोरपि भिन्नः । तत्र मिलितयोः उच्छ्वासनिःश्वासयोस्तथाविधसंज्ञित्वात् द्विवचनमुक्तम् । अत्र तु एकैकस्यापि संज्ञासंभवात् द्विवचनानादरः । तस्य विनियोगस्तु—क्षयव्याध्यादौ कार्यः ॥ -४७६, ४७६- ॥

इति प्रवृद्धः (३)

(सु०) निरस्तं लक्षयति—सशब्द इति । सशब्दः सन् शब्दसहितः सन्, सकृत् एकवारं क्षिप्ते मरुत् वातो निरस्त इति कथ्यते । स च दुःखान्विते, सरोगे, श्रान्ते च प्रयोज्यः ॥ -४७७, ४७७- ॥

इति निरस्तः (४)

चिरान्मन्दं निपीतस्तु घ्राणेनोल्लासितो मरुत् ॥ ४७८ ॥
हृद्ये गन्धे विधातव्यः संदिग्धे च विचक्षणैः ।

इत्युल्लासितः (५)

संयम्य सुचिरं मुक्तो विमुक्तः कथ्यतेऽनिलः ॥ ४७९ ॥
योगे ध्याने च स प्रोक्तः प्राणायामे च सूरिभिः ।

इति विमुक्तः (६)

चित्तस्यान्यपरत्वेन यः प्रयत्नेन वर्तते ॥ ४८० ॥
स विस्मितो विस्मये स्यादद्भुते चार्थचिन्तने ।

इति विस्मितः (७)

महत्त्वाद्दुःखनिष्क्रान्तः कथितः स्वलितोऽनिलः ॥ ४८१ ॥
स्यादश्म्यां दशायां स व्याधौ प्रस्वलितेषु च ।

इति स्वलितः (८)

(सु०) उल्लासितं लक्षयति—चिरादिति । चिरात् चिरकालं मन्दं
शनैः शनैः घ्राणेन निपीतो मरुत् वात उल्लासितो भवति । स च हृद्ये गन्धे ;
संदिग्धे च कार्यः ॥ -४७८, ४७८- ॥

इत्युल्लासितः (५)

(सु०) विमुक्तं लक्षयति—संयम्येति । सुचिरम् चिरकालम्, संयम्य
मुक्तो वातो विमुक्तः । स च योगे, ध्याने, प्राणायामे च कार्यः ॥ ४७९, ४७९ ॥

इति विमुक्तः (६)

(सु०) विस्मितं लक्षयति—चित्तस्येति । चित्तस्य अन्यपरत्वेन
अन्यासक्तेन यो वायुः प्रयत्नेन वर्तते स विस्मितः । स च विस्मये, अद्भुते,
मर्थचिन्तने च कार्यः ॥ -४८०, ४८०- ॥

इति विस्मितः (७)

(सु०) स्वलितं लक्षयति—महत्त्वादिति । महत्त्वात् दुःखेन निःसृतः

प्रसुप्ते प्रसृतो दीर्घः सशब्दो निर्गतो मुखात् ॥ ४८२ ॥

इति प्रसृतः (९)

इति नवविधोऽनिलः ।

समोऽत्र स्वस्थपर्यायो भ्रान्तोऽन्तर्भ्रमणान्मरुत् ।

अन्ये त्वन्वर्थनामानस्तत्र सूत्कृतसीत्कृते ॥ ४८३ ॥

शब्दानुकरणे वक्त्रत्याज्यग्राह्येऽनिले क्रमात् ।

समः स्वाभाविको भ्रान्तः प्रथमे प्रियसङ्गमे ॥ ४८४ ॥

विलीनो मूर्छिते शैलारोहे त्वान्दोलितो मतः ।

कम्पितः सुरते शस्त्रमोक्षदौ स्तम्भितो भवेत् ॥ ४८५ ॥

उच्छ्वासः कुसुमाग्राणे निःश्वासोऽनुशयादिषु ।

पवनः स्खलितः । सः ; स्खलितः, दशाम्यां दशायाम्, व्याधौ, प्रस्खलितेषु च प्रयोज्यः ॥ -४८१, ४८१- ॥

इति स्खलितः (८)

(सु०) प्रसृतं लक्षयति—प्रसुप्त इति । सशब्दं यथा तथा मुखात् विनिर्गतः दीर्घो वातः प्रसृतः । स च निद्राणे प्रयोज्यः ॥ -४८२ ॥

इति प्रसृतः (९)

इति नवविधोऽनिलः ।

(सु०) मतान्तरेण दशविधं पवनं लक्षयति—सम इति । स्वस्थपर्यायः, अविकृतो मरुत् समः (१) अन्तर्भ्रमितो मरुत् भ्रान्तः (२) अन्ये तु अन्वर्थनामानः; नास्त्रैवोक्तलक्षणा इत्यर्थः । तेषां विनियोगमाह—तत्रेति । सूत्कृत-सीत्कृते शब्दानुकरणे बोध्यम् । क्रमात् मुखात्त्याज्ये वातः सूत्कृतम्, मुखे ग्राह्यो वातः सीत्कृतमिति । समः स्वाभाविके प्रयोज्यः । भ्रान्तः प्रथमे प्रिय-सङ्गमे कार्यः । विलीनो मूर्च्छायाम् । आन्दोलितः शैलारोहे । कम्पितः

सूक्तं वेदनादौ स्याच्छीते क्लेशे तु सीत्कृतम् ॥ ४८६ ॥

नखक्षते मृगाक्षीणां निर्दयाधरचर्वणे ।

विनियोगान्तराण्यत्र बुध्यतां लोकतो बुधाः ॥ ४९७ ॥

इति मतान्तरेण दशधा श्रसनः ।

इत्यानिलप्रकरणम् ।

विवर्तितः कम्पितश्च विसृष्टो विनिगूहितः ।

संदष्टकः समुद्रश्चेत्यधरः षड्विधो मतः ॥ ४८८ ॥

अन्येऽन्यानूचुरुद्वृत्तविकास्यायतरेचितान् ।

ओष्ठयोः संपुटस्तिर्यक्संकोचेन विवर्तितः ॥ ४८९ ॥

अवज्ञावेदनासूयाहास्यादिषु विधीयते ।

इति विवर्तितः (१)

सुरते । स्तम्भितः शास्त्रमोक्षादौ । उच्छ्वासः कुसुमाग्राणे । निःश्वास
अनुशयादौ । सूक्तं वेदनादौ । सीत्कृतं शीते, क्लेशे च प्रगोज्यम् ।
मृगाक्षीणां सुभ्रुवां निर्दयाधरचर्वणे च विनियोगान्तराण्यपि बुधाः लोकतोऽव-
गन्तव्याः ॥ ४८३-४८७ ॥

इति मतान्तरेण दशधा श्रसनः ।

इत्यानिलप्रकरणम् ।

(क०) अथाधरभेदान् लक्षयितुमाह—विवर्तितः कम्पितश्चेत्यादि
॥ ४८८-४९५-॥

(सु०) अधरभेदानाह—विवर्तित इति । विवर्तितः, कम्पितः, विसृष्टः,
विनिगूहितः, संदष्टकः, समुद्र इत्यधरः षड्विधः । मतान्तरेण चतुर्विधमधरं
लक्षयति—अन्य इति । अन्ये, आचार्याः, उद्वृत्तादिभेदेन अधरस्य चतुरो
भेदानाहुः । उद्वृत्तः, विकासी, आयतः, रेचित इति । आहत्याधरस्य

व्यथायां कम्पितोऽन्वर्थो भीतौ शीते जपे रुजि ॥ ४९० ॥

इति कम्पितः (२)

विसृष्टः स्याद्विनिष्क्रान्तो रज्जनेऽलक्तकादिना ।

स्त्रीणां विलासे विब्वोके शार्ङ्गदेवेन कीर्तितः ॥ ४९१ ॥

इति विसृष्टः (३)

मुखान्तर्निहितः प्राणसाध्येऽर्थे विनिगूहितः ।

रोषेर्ष्ययोश्च नारीणां बलाच्चुम्बति वल्लभे ॥ ४९२ ॥

इति विनिगूहितः (४)

भेदा दश । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—ओष्ठयोरिति । संकोचेनोपलक्षितः संपुटः, तिर्यक्कृत ओष्ठौ विवर्तितः । तस्य अवज्ञायाम्, वेदनायाम् असूयायाम्, हास्ये च विनियोगः ॥ ४८८-४८९- ॥

इति विवर्तितः (१)

(सु०) कम्पितं लक्षयति—व्यथायामिति । अन्वर्थनामा कम्पितः । स तु भीतौ, शीते, जपे च प्रयोज्यः ॥ -४९० ॥

इति कम्पितः (२)

(सु०) विसृष्टं लक्षयति—विसृष्ट इति । बहिर्निष्क्रान्तो वातो विसृष्टः । स तु अलक्तकादिना रज्जने, स्त्रीणां विलासे, विब्वोके च प्रयोज्यः ॥ ४९१ ॥

इति विसृष्टः (३)

(सु०) विनिगूहितं लक्षयति—मुखान्तरिति । मुखान्तर्निहितः ; मुख-मध्ये क्षिप्तो वातो विनिगूहितः । स च प्राणसाध्येऽर्थे ; कोपे, ईर्ष्यायाम्, नायकस्य बलात्कारचुम्बने च प्रयोज्यः ॥ ४९२ ॥

इति विनिगूहितः (४)

संदष्टकोऽधरो दन्तैर्दष्टः क्रोधे विधीयते ।

इति संदष्टकः (५)

समुद्रस्तु भवेदोष्ठसंपुटो दधदुन्नतिम् ॥ ४९३ ॥

स्यात्फूत्कारेऽनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ।

इति समुद्रः (६)

आस्योत्क्षिप्ततयोद्धृतः सोऽवज्ञापरिहासयोः ॥ ४९४ ॥

इत्युद्धृतः (७)

ईषद्दृश्योर्ध्वदशनो विकासी स स्मिते स्मृतः ।

इति विकासी (८)

(सु०) संदष्टकं लक्षयति—संदष्टक इति । दन्तैर्दष्टोऽधरः संदष्टकः । स च क्रोधे कार्यः ॥ ४९२- ॥

इति संदकः (५)

(सु०) समुद्रं लक्षयति—समुद्रस्त्विति । ओष्ठसंपुट उन्नतिं दधत् समुद्रो भवति । स च फूत्कारे, अनुकम्पायाम्, चुम्बने, अभिनन्दने च प्रयोज्यः ॥ -४९३, ४९३- ॥

इति समुद्रः (६)

(सु०) उद्धृतं लक्षयति—आस्येति । आस्येन उत्क्षिप्त उच्चाकृत उद्धृतो भवति । स च अवज्ञापरिहासयोः प्रयोज्यः ॥ -४९४ ॥

इत्युद्धृतः (७)

(सु०) विकासिनं लक्षयति—ईषदिति । ईषद् दृश्यः ; किञ्चिद्वि-
लोकनीयः, ऊर्ध्वदशनो यस्मिन् स विकासी । स च स्मिते कार्यः ॥ ४९४- ॥

इति विकासी (८)

स सार्धमुत्तरोष्ठेन ततः स्यादायतः स्मिते ॥ ४९५ ॥

इत्यायतः (९)

पर्यन्तवलनादुक्तो विलासे रेचितोऽधरः ।

इति रेचितः (१०)

इति दशविधोऽधरः ।

इत्यधरप्रकरणम् ।

दन्तकर्माणि वक्ष्यामो दन्तलक्षणसिद्धये ॥ ४९६ ॥

कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चुक्तितं ग्रहणं समम् ।

दष्टं निष्कर्षणं चेति दन्तकर्माष्टकं जगुः ॥ ४९७ ॥

संघर्षणं कुट्टनं स्याच्छीतरुभीजरासु तत् ।

इति कुट्टनम् (१)

(सु०) आयतं लक्षयति—स इति । उत्तरोष्ठेन साकं तत आयतः ।
स च विस्मये कार्यः ॥ -४९५ ॥

इत्यायतः (९)

(सु०) रेचितं लक्षयति—पर्यन्तेति । पर्यन्तवलितोऽधरो रेचितः । स
च विलासे कार्यः ॥ ४९५- ॥

इति रेचितः (१०)

इति दशविधोऽधरः ।

इत्यधरप्रकरणम् ।

(क०) दन्तकर्माणि लक्षयितुमाह—दन्तकर्माणि वक्ष्याम
इत्यादि ॥ -४९६-५०२ ॥

(सु०) प्रतिज्ञाप्रयोजनपूर्वकं दन्तकर्माणि कथयति—दन्तकर्माणीति ।
कुट्टनम्, खण्डनम्, छिन्नम्, चुक्तितम्, ग्रहणम्, समम्, दष्टम्, निष्कर्षण-

खण्डनं तु मुहुर्दन्तश्लेषविश्लेषणं मतम् ॥ ४९८ ॥

जपाध्ययनसंलापभक्षणेषु भवेदिदम् ।

इति खण्डनम् (२)

छिन्नं स्याद्गाढसंश्लेषो रोदने भीतिशीतयोः ॥ ४९९ ॥

व्याधौ च वीटिकाच्छेदव्यायामादिषु कीर्तितम् ।

इति छिन्नम् (३)

दन्तपङ्क्त्योः स्थितिदूरे चुकितं जृम्भणादिषु ॥ ५०० ॥

इति चुकितम् (४)

मित्यष्टौ दन्तकर्माणि । तेषां लक्षणागाह—संघर्षणमिति । सम्यक् घर्षणं कुट्टनं भवति । तत् शीते, रुजि, भीते, जरासु च योज्यम् ॥ -४९६, ४९७- ॥

इति कुट्टनम् (१)

(सु०) खण्डनं लक्षयति—खण्डनं त्विति । मुहुः दन्तश्लेषविश्लेषणं खण्डनम् । तच्च जपे, अध्ययने, संलापे, भक्षणे च प्रयोज्यम् ॥ -४९८, ४९८-॥

इति खण्डनम् (२)

(सु०) छिन्नं लक्षयति—छिन्नमिति । दन्तानां गाढसंश्लेषः छिन्नम् । तच्च रोदने, भीतौ, शीते, व्याधौ, वीटिकाच्छेदने, व्यायामे च कार्यम् ॥ -४९९, ४९९- ॥

इति छिन्नम् (३)

(सु०) चुकितं लक्षयति—दन्तेति । दूरे दन्तपङ्क्तयोः स्थितिः चुकितम् । तच्च जृम्भणादिषु कार्यम् ॥ -५०० ॥

इति चुकितम् (४)

तृणस्य चाङ्गुलैर्दन्तधारणं ग्रहणं भये ।

इति ग्रहणम् (५)

किञ्चिच्छ्लेषः समं तच्च स्वभावाभिनये मतम् ॥ ५०१ ॥

इति समम् (६)

अधरे दंशनं दन्तैर्दष्टं क्रोधेऽभिधीयते ।

इति दष्टम् (७)

निष्कर्षणं तु निष्कासः कार्यं मर्कटरोदने ॥ ५०२ ॥

इति निष्कर्षणम् (८)

इत्यष्टौ दन्तकर्माणि ।

इति दन्तकर्मप्रकरणम् ।

(सु०) ग्रहणं लक्षयति—तृणस्येति । तृणस्य अङ्गुलैर्वा दन्तधारणं ग्रहणं भवति । तच्च भये प्रयोज्यम् ॥ ५००- ॥

इति ग्रहणम् (५)

(सु०) समं लक्षयति—किञ्चिदिति । किञ्चिदेव दन्तपङ्क्त्योः संश्लेषः समम् । तच्च स्वभावाभिनये प्रयोज्यम् ॥ -५०१ ॥

इति समम् (६)

(सु०) दष्टं लक्षयति—अधर इति । दन्तैः अधरे दंशनं दष्टम् । तच्च क्रोधे कार्यम् ॥ ५०१- ॥

इति दष्टम् (७)

(सु०) निष्कर्षणं लक्षयति—निष्कर्षणमिति । निष्कासो निष्कर्षणं भवति । तच्च मर्कटरोदने प्रयोज्यम् ॥ -५०२ ॥

इति निष्कर्षणम् (८)

इत्यष्टौ दन्तकर्माणि ।

इति दन्तकर्मप्रकरणम् ।

ऋज्वी सृक्कानुगा वक्रोन्नता लोलावलेहिनी ।

जिह्वेति षड्विधा तत्र प्रसृतास्ये प्रसारिता ॥ ५०३ ॥

ऋज्वी श्रमे पिपासायां श्वापदानां प्रयुज्यते ।

इति ऋज्वी (१)

सृक्कानुगा लीढसृक्का प्रकोपस्वादुभक्षयोः ॥ ५०४ ॥

इति सृक्कानुगा (२)

व्यात्तास्यस्थोन्नताग्रा च वक्रा नृहरिरूपणे ।

इति वक्रा (३)

(क०) अथ जिह्वाभेदान् लक्षयितुमाह—ऋज्वी सृक्कानुगेत्यादि ॥
॥ ५०३—५०६ ॥

(सु०) जिह्वाभेदानाह—ऋज्वीति । ऋज्वी, सृक्कानुगा, वक्रा, उन्नता, लोला, लेहिनीति षड्विधा जिह्वा । क्रमेण लक्षणमाह—तत्रेति । प्रसृतास्ये; प्रसृते मुखे, प्रसारिता जिह्वा ऋज्वी । सा च श्रमे, श्वापदानां पिपासायां च प्रयोज्या ॥ ५०३, ५०३- ॥

इति ऋज्वी (१)

(सु०) सृक्कानुगां लक्षयति—सृक्कानुगेति । लीढसृक्त्वं सृक्कानुगा । सा च प्रकोपे, स्वादुभक्षणे च कार्या ॥ -५०४ ॥

इति सृक्कानुगा (२)

(सु०) वक्रां लक्षयति—व्यात्तास्येति । व्यावृत्ते मुखे विद्यमाना उन्नताग्रा च वक्रा । सा च नृहरिरूपणे कार्या ॥ ५०४- ॥

इति वक्रा (३)

व्यात्तास्यस्थोन्नतान्वर्था जृम्भास्यान्तस्थवीक्षयोः ॥ ५०५ ॥

इत्युन्नता (४)

व्यात्ते वक्त्रे चला लोला वेतालाभिनये भवेत् ।

इति लोला (५)

दन्तोष्ठं लिहती जिह्वा लेहिनी संमता मुनेः ॥ ५०६ ॥

इति लेहिनी (६)

इति षोढा जिह्वा ।

इति जिह्वाप्रकरणम् ।

जिह्वोष्ठदन्तक्रियया चिबुकं लक्ष्यते ततः ।

उक्तप्रायं सुखार्थं तु वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः ॥ ५०७ ॥

(सु०) उन्नतां लक्षयति—व्यात्तास्यस्थेति । उन्नता अन्वर्था । सा च जृम्भायाम्, आस्यान्तस्थवीक्षणे च कार्या ॥ -५०५ ॥

इत्युन्नता (४)

(सु०) लोलां लक्षयति—व्यात्त इति । व्यात्ते वक्त्रे चञ्चला लोला । सा च वेतालाभिनये प्रयोज्या ॥ ५०५- ॥

इति लोला (५)

(सु०) लेहिनीं लक्षयति—दन्तोष्ठमिति । दन्तोष्ठं लिहन्ती जिह्वा लेहिनी ॥ -५०६ ॥

इति लेहिनी (६)

इति षोढा जिह्वा ।

इति जिह्वाप्रकरणम् ।

(क०) अथ चिबुकमेदान् लक्षयितुमाह—जिह्वोष्ठदन्तक्रिययेति ॥

॥ ५०७-५१२ ॥

व्यादीर्णं श्वसितं वक्रं संहतं चलसंहतम् ।

स्फुरितं वलितं लोलमेवं चिबुकमष्टया ॥ ५०८ ॥

व्यादीर्णं दूरनिष्क्रान्तं जृम्भालस्यादिषु स्मृतम् ।

इति व्यादीर्णम् (१)

एकाङ्गुलमधःस्रस्तं श्वसितं वीक्षणेऽद्भुते ॥ ५०९ ॥

इति श्वसितम् (२)

वक्रं तिर्यङ्नतं तत्तु ग्रहावेशे विधीयते ।

इति वक्रम् (३)

निश्चलं मीलितमुखं मौने संहतमिष्यते ॥ ५१० ॥

इति संहतम् (४)

(सु०) अथ चिबुकभेदानाह—जिह्वेति । यद्यपि चिबुकं जिह्वोष्ठदन्त-क्रियया लक्षितत्वादुक्तप्रायमेव । तथापि सुखार्थं निरूप्यते । चिबुकमष्टविधम् । यथा—व्यादीर्णम्, श्वसितम्, वक्रम्, संहतम्, चलसंहतम्, स्फुरितम्, चलितम्, लोलमिति । क्रमेण तेषां लक्षणमाह—व्यादीर्णमिति । दूरतो निर्गतं व्यादीर्णम् । तच्च जृम्भालस्यादिषु कार्यम् ॥ ५०७, ५०८ ॥

इति व्यादीर्णम् (१)

(सु०) श्वसितं लक्षयति—एकेति । अङ्गुलपरिमितमधःस्रस्तं श्वसितम् । तच्च अद्भुते वीक्षणे कार्यम् ॥ -५०९ ॥

इति श्वसितम् (२)

(सु०) वक्रं लक्षयति—वक्रमिति । तिर्यङ्नतं वक्रम् । तच्च ग्रहावेशे कार्यम् ॥ ५०९- ॥

इति वक्रम् (३)

(सु०) संहतं लक्षयति—निश्चलमिति । मीलितं मुखं यस्मिन्; तथा-विधं निश्चलं चञ्चलरहितं संहतम् । तच्च मौने प्रयोज्यम् ॥ -५१० ॥

इति संहतम् (४)

संलग्नोष्ठं चलं नारीवल्गने चलसंहतम् ।

इति चलसंहतम् (५)

कम्पितं स्फुरितं प्राहुर्भीते शीतज्वरे तथा ॥ ५११ ॥

इति स्फुरितम् (६)

चलितं श्लिष्टविश्लिष्टं वाक्स्तम्भे क्षोभकोपयोः ।

इति चलितम् (७)

रोमन्थे केवलावर्ते लोलं तिर्यग्गतागतम् ॥ ५१२ ॥

इति लोलम् (८)

इत्यष्टविधं चिबुकम् ।

इति चिबुकप्रकरणम् ।

(सु०) चलसंहतं लक्षयति—संलग्नेति । संलग्न ओष्ठो यस्मिन्; तथा विधं चञ्चलं चलसंहतम् । तच्च नारीचुम्बने कार्यम् ॥ ५१०- ॥

इति चलसंहतम् (५)

(सु०) स्फुरितं लक्षयति—कम्पितमिति । स्फुरितं कम्पितम् । तच्च भीते, शीतज्वरे च कार्यम् ॥ -५११ ॥

इति स्फुरितम् (६)

(सु०) चलितं लक्षयति—चलितमिति । श्लिष्टविश्लिष्टं चलितम् । तच्च वाक्स्तम्भे, क्षोभे कोपे च कार्यम् ॥ ५११- ॥

इति चलितम् (७)

(सु०) लोलं लक्षयति—रोमन्थ इति । तिर्यग्गतागतं लोलम् । तच्च रोमन्थे, केवलावर्ते च कार्यम् ॥ -५१२ ॥

इति लोलम् (८)

इत्यष्टविधं चिबुकम् ।

इति चिबुकप्रकरणम् ।

व्याभुग्रं भुग्रमुद्वाहि विधुतं विवृतं तथा ।

विनिवृत्तमिति प्राज्ञाः षड्विधं वदनं जगुः ॥ ५१३ ॥

किञ्चिदायामिवक्त्रं च व्याभुग्रं मुखमुच्यते ।

निर्वेदौत्सुक्यचिन्तादौ तदुक्तं पूर्वसूरिभिः ॥ ५१४ ॥

इति व्याभुग्रम् (१)

अधोमुखं तु भुग्रं तल्लज्जायां प्रकृतौ यतेः ।

इति भुग्रम् (२)

लीलासूत्क्षिप्तमुद्वाहि गर्वानादरतो गतौ ॥ ५१५ ॥

इत्युद्वाहि (३)

(क०) अथ वदनभेदान् लक्षयितुमाह—व्याभुग्रमित्यादि ॥

॥ ५१३-५१६- ॥

(सु०) अथ वदनभेदानाह—व्याभुग्रमिति । व्याभुग्रादीनि वदनस्य षड्भेदानि । तानि यथा—व्याभुग्रम्, भुग्रम्, उद्वाहि, विधुतम्, विवृतम्, विनिवृत्तमिति । क्रमेण तेषां लक्षणमाह—किञ्चिदिति । किञ्चित् ईषत् आयामि विस्तृतं वक्त्रं यस्मिन्; तथाविधं मुखं व्याभुग्रम् । तच्च निर्वेदे, औत्सुक्ये, चिन्तायां च कार्यमिति पूर्वसूरिभिरुक्तम् ॥ ५१३, ५१४ ॥

इति व्याभुग्रम् (१)

(सु०) भुग्रं लक्षयति—अधोमुखमिति । अधोमुखं भुग्रम् । तच्च लज्जायाम्, प्रकृतौ च कार्यम् ॥ ५१४- ॥

इति भुग्रम् (२)

(सु०) उद्वाहि लक्षयति—लीलेति । उत्क्षिप्तमुद्वाहि । तच्च लीलायाम्, गर्वे, अनादरे गतौ च कार्यम् ॥ -५१५ ॥

इत्युद्वाहि (३)

वारणे नैवमित्युक्तौ विधुतं तिर्यगायतम् ।

इति विधुतम् (४)

विश्लिष्टौष्ठं तु विवृतं हास्यशोकभयादिषु ॥ ५१६ ॥

इति विवृतम् (५)

विनिवृत्तं परावृत्तं रोषेर्ष्यासूयितेषु तत् ।

इति विनिवृत्तम् (६)

इति षोढा वदनम् ।

इति वदनप्रकरणम् ।

इति द्वादश शिरोगतान्युपाङ्गानि ।

(सु०) विधुतं लक्षयति—वारण इति । तिर्यगायतं विधुतम् । तच्च वारणे; 'विमतं च तत् एतेन कर्तव्यम्' इति वारणार्थं प्रयोज्यम् ॥ ५१५- ॥

इति विधुतम् (४)

(सु०) विवृतं लक्षयति—विश्लिष्टेति । विश्लिष्टौ ओष्ठौ यस्मिस्तत्, विवृतम् । तच्च हास्ये, शोके, भये च कार्यम् ॥ -५१६- ॥

इति विवृतम् (५)

(सु०) विनिवृत्तं लक्षयति—विनिवृत्तमिति । परावृत्तं, पराङ्मुखं विनिवृत्तम् । तच्च रोषे, ईर्ष्यायाम्, असूयायां च कार्यम् ॥ ५१६- ॥

इति विनिवृत्तम् (६)

इति षोढा वदनम् ।

इति वदनप्रकरणम् ।

इति द्वादश शिरोगतान्युपाङ्गानि ।

उत्क्षिप्ता पतितोत्क्षिप्तपतितान्तर्गता तथा ॥ ५१७ ॥
 बहिर्गता मिथोयुक्ता वियुक्ताङ्गुलिसङ्गता ।
 पार्ष्णिरित्यष्टधा पादचारीस्थानेषु दृश्यते ॥ ५१८ ॥
 गुल्फावङ्गुष्ठसंश्लिष्टावन्तर्यातौ बहिर्मुखौ ।
 मिथोयुक्तौ वियुक्तौ च पञ्चधा स्थानकादिषु ॥ ५१९ ॥
 संयुता वियुता वक्रा वलिताः पतितास्तथा ।
 कुञ्चन्मूलाः करेऽङ्गुल्यः प्रसृताश्चेति सप्तधा ॥ ५२० ॥
 एते पाष्ण्यादिभेदाः स्युः संज्ञाविज्ञातलक्षणाः ।

इति पार्ष्णिगुल्फकराङ्गुलिभेदाः ।

(क०) अथ पार्ष्णिभेदानाह—उत्क्षिप्तेत्यादि ॥ ५१७, ५१८ ॥

(सु०) अथ पार्ष्णिभेदानाह—उत्क्षिप्तेत्यादि । उत्क्षिप्तादय अष्टौ पार्ष्णिभेदाः । उत्क्षिप्ता, पतिता, उत्क्षिप्तपतिता, अन्तर्गता, बहिर्गता, मिथोयुक्ता, वियुक्ता, अङ्गुलिसङ्गतेति । तासां भेदानां नास्मैव लक्षणं स्पष्टम् ॥ ५१७, ५१८ ॥

(क०) अथ गुल्फभेदानाह—गुल्फावित्यदि ॥ ५१९ ॥

(सु०) अथ गुल्फभेदानाह—गुल्फाविति । स्थानकादिषु गुल्फौ पञ्च-प्रकारौ । अङ्गुष्ठसंश्लिष्टौ, अन्तर्यातौ, बहिर्गतौ, मिथोयुक्तौ, वियुक्ता-विति ॥ ५१९ ॥

(क०) कराङ्गुलिभेदानाह—संयुता वियुतेत्यादि ॥ ५२०, ५२०- ॥

(सु०) कराङ्गुलिभेदानाह—संयुता इति । कराङ्गुल्यः संयुतादि-भेदेन सप्तविधाः । संयुताः, वियुताः, वक्राः, वलिताः, पतिताः, कुञ्चन्मूलाः, प्रसृता इति । तासां लक्षणानि स्पष्टार्थानि ॥ ५२०, ५२०- ॥

इति पार्ष्णिगुल्फकराङ्गुलिभेदाः ।

अधःक्षिप्तास्तथोत्क्षिप्ताः कुञ्चिताश्च प्रसारिताः ॥ ५२१ ॥

संलग्नाश्चेति चरणाङ्गुलयः पञ्चधा मताः ।

मुहुः पातादधःक्षिप्ता बिम्बोके किलकिञ्चिते ॥ ५२२ ॥

उत्क्षिप्ता मुहुरुत्क्षेपान्नवोढायास्त्रपाभरे ।

संकोचात्कुञ्चिताः शीतमूर्च्छात्रासग्रहार्दिते ॥ ५२३ ॥

प्रसारिता ऋजुस्तब्धा स्तम्भे स्वापेऽङ्गमोटने ।

अङ्गुष्ठस्याप्यमी भेदा ज्ञातव्या नृत्तकोविदैः ॥ ५२४ ॥

स्वाङ्गुष्ठासु मिथोलग्नाः संलग्ना घर्षणे मताः ।

इति चरणाङ्गुलिभेदाः ।

(क०) चरणाङ्गुलिभेदानाह — अधःक्षिप्ता इत्यादि ॥

॥ -५२१-५२४- ॥

इति चरणाङ्गुलिभेदाः ।

(सु०) चरणाङ्गुलिभेदानाह—अधःक्षिप्ता इति । अधःक्षिप्ताः, उत्क्षिप्ताः, कुञ्चिताः, प्रसारिताः, संलग्ना इति पञ्चभेदाः । तासां लक्षणमाह— अधःक्षिप्तेति । मुहुः पातात् अधस्तात् क्षिप्ता अधःक्षिप्ताः, ताश्च बिम्बोके, किलकिञ्चिते च प्रयोज्याः । इत्यधःक्षिप्ताः (१); मुहुः वारं वारम्, उत्क्षेपात् उत्क्षिप्ताः । ताश्च नवोढाया लज्जातिशये कार्याः । इत्युत्क्षिप्ताः (२); संकोचात् कुञ्चिताः । ताश्च शीतमूर्च्छात्रासग्रहार्दिते कार्याः । इति कुञ्चिताः (३); ऋजुस्तब्धाः प्रसारिताः । ताश्च स्तम्भे, स्वापे, अङ्गमोटने च कार्याः । अमी चत्वारो भेदाः अङ्गुष्ठस्यापि भवन्ति । इति प्रसारिताः (४); स्वाङ्गुष्ठासु मिथोलग्नाः, परस्परसङ्गताः संलग्नाः । ता घर्षणे कार्याः । इति संलग्नाः (५)

॥ -५२१-५२४- ॥

इति चरणाङ्गुलिभेदाः ।

पतिताग्रं चोद्धृताग्रं भूमिलग्रमथोद्धृतम् ॥ ५२५ ॥

कुञ्चन्मध्यं तिरश्चीनमिति षोढा तलं विदुः ।

इति करणगतानि पञ्चाङ्गानि ।

इति पार्ष्णिगुल्फाङ्गुलितलानि करचरणोपाङ्गानि ।

विवृणोति मनोवृत्तिं मुखरागो रसात्मिकाम् ॥ ५२६ ॥

अतो रसोपयोगित्वान्मुखरागोऽभिधीयते ।

(क०) चरणतलभेदानाह—पतिताग्रं चेत्यादि ॥ -५२५, ५२५- ॥

इति करणगतानि पञ्चाङ्गानि ।

इति पार्ष्णिगुल्फाङ्गुलितलानि करचरणोपाङ्गानि ।

(सु०) चरणतलं लक्षयति—पतिताग्रमिति । पतिताग्रम्, उद्धृताग्रम्, भूमिलग्रम्, उद्धृतम्, कुञ्चन्मध्यम्, तिरश्चीनमिति चरणतलं षड्विधमाहुः ॥ -५२५, ५२५- ॥

इति करणगतानि पञ्चाङ्गानि ।

इति पार्ष्णिगुल्फाङ्गुलितलानि करचरणोपाङ्गानि ।

(क०) अथोद्देशक्रमेण मुखरागं लक्षयितुमाह—विवृणोतीति । मुखरागस्य नाट्योपयोगद्वारा नृत्तेऽप्युपयोगं दर्शयति—रसात्मिकां मनोवृत्तिं विवृणोतीति । रसात्मिकां शृङ्गारादिरूपाम् ; अनेन मनोवृत्तिरित्यादि स्थायिस्वरूपत्वं, निर्वेदादिसंचारिभावरूपत्वं चावगन्तव्यम् । तेषामपि रसेष्वन्तर्भावात् । अत एवास्य मुखरागस्य नृत्तेऽप्युपयोगो द्रष्टव्यः । नृत्स्याभिनयोपेतत्वाभावेऽपि कचिन्नाट्याङ्गतया रसव्यञ्जकत्वाङ्गीकारात्, कचिरस्वान्त्येण गीतादिषु प्रयोगेऽपि गीते वाक्यार्थभूतरसव्यञ्जकत्वाच्च नृत्तेऽपि मुखरागस्योपयोगो द्रष्टव्यः । अतोऽत्र नृत्तप्रकरणे मुखरागस्य संगत्यभावो न शङ्कनीयः ॥ -५२६, ५२६- ॥

स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तश्यामोऽपरस्तथा ॥ ५२७ ॥

चतुर्धा मुखरागोऽत्रान्वर्थः स्वाभाविको मतः ।

अनाविष्टेषु भावेषु सुधीभिः स विधीयते ॥ ५२८ ॥

इति स्वाभाविकः (१)

प्रसन्नो निर्मलो हास्ये शृङ्गारे चाद्भुते भवेत् ।

इति प्रसन्नः (२)

रक्तोऽरुणः स्यात्करुणे रौद्रे वीरेऽद्भुते तथा ॥ ५२९ ॥

इति रक्तः (३)

अन्वर्थो भवति श्यामः स बीभत्से भयानके ।

इति श्यामः (४)

शशिनेव दिशोऽङ्गानि शोभन्ते मुखरागतः ॥ ५३० ॥

रसभावान्तरे नेत्रमन्यदन्यत्क्षणे भवेत् ।

यथातथोचितः कार्यो मुखरागो रसे रसे ॥ ५३१ ॥

इति चतुर्धा मुखरागः ।

इति मुखरागप्रकरणम् ।

(क०) तद्वेदानुद्दिशति—स्वाभाविक इत्यादि ॥ -५२७-५२९- ॥

(क०) मुखरागस्याङ्गशोभाकारित्वं सदृष्टान्तपाह—शशिनेवेति ।

अयं मुखरागो रसे रसे यथोतिस्तथा कार्यं इति दृष्टिदृष्टान्तेनाह—

रसभावान्तर इति ॥ -५३०, ५३१ ॥

इति चतुर्धा मुखरागः ।

इति मुखरागप्रकरणम् ।

उत्तानोऽधोमुखः पार्श्वगतः पाणिरिति त्रिधा ।
 प्रचारं भरतो मेने पञ्चधा त्वपरे जगुः ॥ ५३२ ॥
 अग्रगोऽधस्तलश्चेति द्वौ त्रयश्च पुरोदिताः ।
 तत्र त्वग्रग उत्तानोऽधोमुखोऽधस्तलः करः ॥ ५३३ ॥
 अन्तर्भूतं वदन्भट्टस्त्रित्वमेव समादधे ।
 उत्तानोऽधस्तलः पार्श्वगतो हस्तोऽग्रतस्तलः ॥ ५३४ ॥
 स्वसंमुखतलश्चोर्ध्वमुखोऽधोवदनस्तथा ।
 पराङ्मुखः संमुखश्च हस्तोऽग्रतः पार्श्वतोमुखः ॥ ५३५ ॥

(सु०) मुखरागं कथयितुं प्रतिजानीते—विवृणोतीति । रसात्मिकां
 मनोवृत्तिं चित्तवृत्तिव्यञ्जको मुखरागः । अतः रसोपयोगित्वात् मुखरागोऽभि-
 धीयते । तस्य स्वाभाविकादयश्चत्वारो भेदाः । ते यथा—स्वाभाविकः, प्रसन्नः,
 रक्तः, श्याम इति । तेषां लक्षणमाह—अन्वर्थ इति । अन्वर्थो नाम स्वा-
 भाविकः । स च अनाविष्टेषु भावेषु कार्यः । इति स्वाभाविकः (१); निर्मलः
 प्रसन्नः । स च हास्ये, शृङ्गारे, अद्भुते च कार्यः । इति प्रसन्नः (२); अरुणो
 रक्तः । स च करुणे, रौद्रे, वीरे, तथा अद्भुते च कार्यः । इति रक्तः (३);
 अन्वर्थः श्यामः । स च बीभत्से, भयानके च कार्यः । शशिनेति । यथा
 चन्द्रेण दिशो भान्ति, तथा मुखरागेण सर्वाण्यङ्गानि भासन्ते । रसभावान्तरे
 नयनं यथा प्रतिक्षणमन्यदन्यद्वेत्, तथा मुखरागोऽपि रसे रसे यथोचितः
 कार्यः ॥ -५२६-५३१ ॥

इति चतुर्धा मुखरागः ।

इति मुखरागप्रकरणम् ।

(क०) अथ भरतादिमतभेदेन करप्रचारान् दर्शयति—उत्तानोऽधो-
 मुख इत्यादिना । तेषामप्यर्था द्रष्टव्याः ॥ ५३२-५३६- ॥

इति पञ्चदश हस्तप्रचाराः ।

ऊर्ध्वगोऽधोगतः पार्श्वगतो हस्तोऽग्रगोऽपरः ।

संमुखागत इत्येतान् प्रचारान् दश पञ्च च ॥ ५३६ ॥

लक्ष्यलक्षणतत्त्वज्ञः शार्ङ्गदेवोऽभ्यभाषत ।

इति पञ्चदश हस्तप्रचाराः ।

निष्पत्तौ निरपेक्षायां करस्याभिनयाय यः ॥ ५३७ ॥

क्रियाविशेषः क्रियते तद्धस्तकरणं मतम् ।

आवेष्टितोद्वेष्टिते च व्यावर्तितमतः परम् ॥ ५३८ ॥

परिवर्तितमित्येतच्चतुर्धा सूरिसंमतम् ।

(सु०) अथ पञ्चदश हस्तप्रचारानाह—उत्तान इति । उत्तानः, अधोमुखः, पार्श्वगतः पाणिरिति भरतमतेन करप्रचारस्त्रिविधः । अपरे आचार्याः, अग्रगः, अधस्तलश्चेति द्वावधिकं जगुः । मिलित्वा करप्रचाराः पञ्च भवन्ति । तत्र अग्रग उत्तानेऽन्तर्भूतः, अधस्तलश्च अधोमुख इति वदन् भट्टनायको भारतीयटीकाकार एवमेवोचितमित्युक्तवान् । शार्ङ्गदेवस्तु ; उत्तानः, अधस्तलः, पार्श्वगतः, अग्रतस्तलः, स्वसंमुखतलः, ऊर्ध्वमुखः, अधोमुखः, पराङ्मुखः, संमुखः, पार्श्वतोमुखः, ऊर्ध्वगः, अधोगतः, पार्श्वगतः, अग्रगतः, संमुखगत इति पञ्चदश प्रकारान् अभ्यभाषत ॥ ५३२-५३६- ॥

इति पञ्चदश हस्तप्रचाराः ।

(क०) अथ करणानि लक्षयिष्यन् तेषां सामान्यलक्षणं तावदाह—निष्पत्तावित्यादिना । करस्य पताकादेर्हस्तस्य निष्पत्तौ ‘तर्जनी मूलसंलग्ना’ इत्यादिपूर्वोक्तलक्षणवशेन तत्तत्स्वरूपसिद्धौ निरपेक्षायामावेष्टितादीनि करणान्यनपेक्ष्यैव जातायां सत्यामित्यर्थः । एवंस्थितेऽभिनयाय ‘वस्तुस्पर्शे चपेटे च’ इत्यादिविनियोगवचनवशाद्वा, युक्तितो वा, संप्रदायाद्वा, लोकतो वा हस्तेनार्थप्रदर्शनाय । अर्थप्रदर्शनं च कचिद्धस्तस्योत्तानत्वेन

तर्जन्याद्यङ्गुलीनां यद्भवेदावेष्टनं क्रमात् ॥ ५३९ ॥

तलसंमुखमावक्षः करोऽप्यायाति पार्श्वतः ।

तदावेष्टितमाख्यातं करस्य करणं बुधैः ॥ ५४० ॥

भवति, कचिदधस्तलत्वेन, कचित्पार्श्वतलत्वेनेत्येवमादिप्रचारयोगेणोचितपदार्थ-
प्रदर्शनायेत्यर्थः । यः क्रियाविशेषः क्रियत इति । पूर्वमुत्तानहस्ताधस्तलत्वे
तथाधस्तलस्योत्तानत्वे, तथोत्तानस्य पार्श्वतलत्वे, तथा पार्श्वतलस्याग्रत-
स्तलत्वे, तथाग्रतस्तलस्य संमुखतलत्वे वा, एवमूर्ध्वमुखत्वादिष्वपि हस्तान्त-
रकरणे मध्ये मध्ये छिद्राच्छादको यो वर्तनारूपः क्रियाविशेषः क्रियते,
तद्वस्तकरणमिति सामान्यलक्षणम् । तस्य करणस्य विशेषान् दर्शयति—
आवेष्टितेत्यादि ॥ -५३७, ५३८- ॥

(सु०) हस्तकरणं लक्षयति—निष्पत्ताविति । निष्पत्तौ; निष्पत्ति-
विषये, निरपेक्षायां; अन्यानपेक्षायां सत्यां, यः क्रियाविशेषः कराभिनयार्थं
क्रियते, तदेव हस्तकरणम् । तस्य आवेष्टितः, उद्वेष्टितः, व्यावर्तितः, परिव-
र्तित इति चत्वारो भेदाः ॥ -५३७, ५३८- ॥

(क०) तत्रावेष्टितं लक्षयति—तर्जन्याद्यङ्गुलीनामिति ।
अत्रादिशब्देन मध्यमानामिकाकनीयस्योऽङ्गुल्यो गृह्यन्ते । यत्क्रमादा-
वेष्टनं भवेदिति । ऋजुत्वेन स्थितानां तर्जन्यादीनां मङ्गुलीनां मध्ये प्रथमं
तर्जन्या आवेष्टनं वक्रीकरणम् । तदनु मध्यमायाः, तदन्वनामिकायाः, तदनु
कनीयस्या इति क्रमः । अङ्गुलीनां क्रमेण वेष्टनकाल एव करोऽपि
तदङ्गुल्याश्रयः पार्श्वतः स्वकीयात्पार्श्वतलसंमुखं हस्ततलमभिनेत्रभिमुखं
यथा भवति तथा आवक्षः; वक्षःपर्यन्तमायाति सविलासः सन्नागच्छति
चेत्तत्करस्य करणमावेष्टितमिति बुधैराख्यातम् ॥ -५३९, ५४० ॥

यत्तु क्रमेण निर्याणमङ्गुलीनां तलाद्बहिः ।
 वक्षःस्थलात्करस्यापि तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥ ५४१ ॥
 आवेष्टितप्रक्रियया कार्यं व्यावर्तितं करे ।
 उद्वेष्टितेन व्याख्यातं करणं परिवर्तितम् ॥ ५४२ ॥
 किंत्वेतत्करणद्वन्द्वं कनिष्ठाद्यङ्गुलीकृतम् ।
 इति चत्वारि करकरणानि ।

(क०) उद्वेष्टितं लक्षयति—यच्चित्यादि । तलद्बहिः ; हस्ततलाद्बहिः,
 पराचीनत्वेन तर्जन्यादीनां क्रमेण पूर्वोक्तेन यन्निर्याणं प्रादुर्भावः ;
 वक्रत्वेन स्थितानामङ्गुलीनां तर्जन्यादिक्रमेण ऋजुकरणमिति यावत् ।
 तस्मिन्नेवाङ्गुलीनिर्गमनकाले । करस्यापीति । तदङ्गुल्याश्रयभूतस्य हस्तस्य ।
 अपिशब्देनानुषङ्गान्निर्याणं समुच्चीयते । वक्षःस्थलात्करस्यापि यन्निर्याण-
 मिति । तदुद्वेष्टितमुच्यत इति संबन्धः ॥ ५४१ ॥

(क०) व्यावर्तितं लक्षयति—आवेष्टितप्रक्रिययेति । प्रकृष्टा
 क्रिया प्रक्रिया । आवेष्टिता आवृत्तिरूपेत्यर्थः । तथा करे व्यावर्तितं कार्यम् ।
 परिवर्तितं लक्षयति—उद्वेष्टितेनेति । व्याख्यातमिति । उद्वेष्टितेन, उद्धत-
 प्रक्रिययेत्यर्थः ॥ ५४२ ॥

(क०) व्यावर्तितपरितर्तितयोः क्रमादावेष्टितोद्वेष्टिताभ्यां स्वरूप-
 भेदं दर्शयति—किंत्विति । एतत्करणद्वन्द्वम् ; व्यावर्तितं परिवर्तितं च ।
 कनिष्ठाद्यङ्गुलीकृतमिति । तर्जन्याद्यङ्गुलीकृतादावेष्टितात्कनिष्ठाद्यङ्गुली-
 कृतस्य व्यावर्तितस्य स्वरूपभेदः, तथा तर्जन्याद्यङ्गुलीकृतादुद्वेष्टितात्क-
 निष्ठाद्यङ्गुलीकृतस्य परिवर्तितस्य च स्वरूपभेदो द्रष्टव्य इत्यर्थः । एतेषा-
 मुद्वेष्टितादीनां चतुर्णां करणानामभिनययोगदर्शनार्थैकं नाटकवाक्यमभिनीय
 दर्शयामः । यथा—

“वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिर्भर्म्यते

स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ ”

इति विक्रमोर्वशीये नान्दीश्लोकः । अस्याभिनयप्रकारस्तु—प्रथमं तालधरेण सकृत्तालाघातं ‘तत्ताधी’ इति शब्दे दीयमाने नटी वा, नटो वा सूत्रधारत्वेन प्रविष्टं पात्रं तच्छब्दसमकालमेव मण्डलस्थानकेन सह चतुरश्रौ करौ कृत्वा, गायनीभिः वेदान्तेषु इत्यादिषु पदेषु गीयमानेषु तत्स्वर-प्रमाणेन प्रथमं तावद्वेदपदस्यार्थं निकुञ्चितकरेणोत्तानेन पराङ्मुखेनाधोगते-नोद्वेष्टितकरणपूर्वकं सविलासमभिनयेत् । अभिनये सर्वत्र दृष्टि हस्तानुगतां कुर्यात् । ततोऽन्तेष्विति पदस्यार्थं सूचीमुखेनाग्रतस्तलेन पार्श्वमुखेनोर्ध्वगते-नाभिनयेत् । तदा निकुञ्चकसूचीमुखयोर्मध्यमावर्तितं करणं भवति । ततो यमिति पदस्यार्थं व्यावर्तितकरणपूर्वकं वामेन सूचीमुखेनाग्रतस्तलेनोर्ध्वमुखेन पार्श्वगतेनाभिनयेत् । तदानीं दक्षिणहस्तोऽपि कट्यां वा नाभिदेशे वा स्थितः कर्तव्यो भवति । अनन्तरमाहुरिति पदस्यार्थमुद्वेष्टितकरणपूर्वकं दक्षिणेन हंसास्येनास्यदेशे किञ्चित्प्रसारितेनोर्ध्वमुखेनोत्तानेनाभिनयेत् । तदानीमेव वामहस्तोऽपि कटीनाभिचरः कर्तव्यो भवति । एवं सर्वत्रासंयुतेन हस्तेनाभिनयेत्, तदन्यः कटीनाभिचरः कर्तव्य इति वेदितव्यम् । तत एकेति पदस्यार्थमावेष्टितपूर्वकेण दक्षिणेन सूचीमुखेनोर्ध्वमुखेनाग्रतस्तलेना-ग्रगतेनाभिनयेत् । ततः पुरुषमिति पदस्यार्थमुद्वेष्टितकरणपूर्वकं वामेन चतुरेण स्वसंमुखतलेन पार्श्वमुखेन ऊर्ध्वमेवाभिनयेत् । ततो व्याप्येति पदस्योर्ध्व-मुद्वेष्टितपूर्वकं दक्षिणेन पताकेनोत्तानेन पराङ्मुखेन पार्श्वगतेन स्वयमेकां भ्रमरिकां कृत्वाभिनयेत् । ततः स्थितमिति पदस्यार्थं व्यावर्तितकरणपूर्वकं

वामेन शिखरेण स्वसंमुखतलेन पार्श्वमुखेन किञ्चिदधोगतेनाभिनयेत् । ततो रोदसीति पदस्यार्थमुद्वेष्टितपूर्वकं दक्षिणेन पताकेनोत्तानेनोर्ध्वमुखेनोर्ध्वगतेन दिवं दर्शयित्वा पश्चात्तेनैव चाधोमुखेनाधोगतेन भूमिं दर्शयित्वाभिनयेत् ।

ततो यस्मिन्निति पदस्यार्थं वामेन पूर्वोक्तयमिति पदार्थवदभिनयेत् । तत ईश्वर इति पदस्यार्थमुद्वेष्टितकरणपूर्वकं दक्षिणेन चतुरेणोत्तानेनोर्ध्वमुखेनास्यदेशात्कचित्पार्श्वगतेनाभिनयेत् । तत इतिपदस्यार्थमावेष्टितकरणपूर्वकं दक्षिणेन मृगशार्पेणाधस्तलेन पार्श्वमुखेन संमुखागतेनाभिनयेत् । ततोऽनन्यविषय इति पदार्थे नजोऽर्थमुद्वेष्टितपूर्वकं वामेन खटकामुखेन मुक्तकटकेनाभिनयेत् । तेनैव सूचीमुखरूपेण पुनरुद्वेष्टितपूर्वकमुत्तानेन पार्श्वगतेनान्यपदस्यार्थमभिनयेत् । ततो विषयपदस्यार्थमुद्वेष्टितपूर्वकं दक्षिणेन चरणेनोत्तानेन पराङ्मुखेन किञ्चित्पार्श्वगतेनाभिनयेत् । ततः शब्दपदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकं वामेन सूचीमुखेनाग्रतस्तलेन कर्णरन्ध्राभिमुखेनाभिनयेत् । ततो यथार्थपदस्यार्थमुद्वेष्टितपूर्वकं दक्षिणेन संदंशेनोत्तानितेन किञ्चिदूर्ध्व गत्वाधोगतेनाभिनयेत् । ततोऽक्षरपदस्यार्थमावेष्टितपूर्वकं दक्षिणेन संदंशेनाग्रतस्तलेनोर्ध्वमुखेन क्रियया पार्श्वगतेनाभिनयेत् ।

ततोऽन्तःपदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकं दक्षिणेन संदंशेन संमुखेन हृदयनिहितेनाभिनयेत् । ततो य इति पदस्यार्थं पूर्ववदभिनीय, चेतिपदस्यार्थं तेनैव किञ्चित्पार्श्वप्रसारितेनाभिनयेत् । ततो मूर्च्छुभिरिति पदस्यार्थं संमुखागतेन व्यावर्तितपूर्वकं संदंशद्वयेनोत्तानितेन नाभहृदेशयोरुपयुपरिदिन्यस्तेनाभिनयेत् । ततो नियमितपदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकं वामेन शिखरेण संमुखागतेन हृदयदेशे निहितेनाभिनयेत् । ततः प्राणादिभिरिति पदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकेण दक्षिणेन संदंशेन स्वसंमुखतलेन पार्श्वमुखेन संमुखागतेन

नासादेशे द्विस्त्रिर्वा पतितोत्पत्तिरेनाभिनयेत् । ततो मृगपत इति पदस्यार्थं तेनैवोद्वेष्टितपूर्वकेण कर्तरीमुखेन पार्श्वतलेन पराङ्मुखेन हृदयदेशे शनैर्भ्रामितेनाभिनयेत् ।

ततः स इति पदार्थं वामेन यच्छब्दार्थवदभिनयेत् । ततः स्थाणु-पदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकेण पताकद्वयेन शिरोदेशेऽञ्जलिं बद्ध्वाभिनयेत् । ततः स्थिरपदस्यार्थं परिवर्तितपूर्वकेण संदंशद्वयेनोत्तानितेन पराङ्मुखेनो-रोदेशे निहितेनाभिनयेत् । ततो भक्तिपदस्यार्थं परिवर्तितपूर्वकेण पताक-द्वयेन हृदयेऽञ्जलिं बद्ध्वाभिनयेत् । ततो योगपदस्यार्थं परिवर्तितपूर्वकेण संदंशद्वयेनोत्तानितेन मुमुक्षुवदभिनयेत् । किंतु वामहस्तं नाभौ पताक-मुत्तानितं कुर्यात् । ततः सुलभपदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकेण दक्षिणेन चतुरेणोत्तानेन पार्श्वमुखेन हृदयं प्रति संमुखागतेनाभिनयेत् । ततो निःश्रेय-सायेति पदस्यार्थं व्यावर्तितपूर्वकेणारालद्वयेनोत्तानितेन पुरोमुखेन संवलनमूर्ध्व-गतेनाभिनयेत् । ततोऽस्त्विति पदस्यार्थं दक्षिणेन परिवर्तितपूर्वकेण पताके-नोत्तानितपार्श्वमुखेन पार्श्वान्तरगतेनाभिनयेत् । ततो व इतिपदार्थं परिवर्तित-पूर्वकेण पताकद्वयेनोत्तानितेन पुरोमुखेनाग्रगेणाभिनयेत् ।

एवं सर्वत्र हस्तान्तरालपरिपूरकत्वेन करणप्रयोगो द्रष्टव्यः । अत्र पदार्थानां हस्तैरभिनये विभक्त्यर्थानामपि पृथगभिनयं केचिल्लक्षयन्ति । तेषां वाचिकेनैवावगम्यमानत्वेन पृथङ्मुनिनानभिधानादस्माभिर्न प्रपञ्चयन्ते । एवं सर्वत्राङ्गिके प्रकृत्यर्थभिनयनैव प्रत्ययार्थोऽप्यभिनीतप्राय एव द्रष्टव्यः । विधौ हि प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्प्रकृत्यर्थानन्तरं सोऽप्यभिनेयः । निषे-धेऽपि नञर्थस्य प्राधान्यादभिनेयता । अन्यत्र सिद्धरूपेऽर्थे प्रकृत्यर्थस्यैव प्राधान्यात्स एवाभिनेयो न प्रत्ययार्थः । अयमत्र विशेषः—यत्र प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यं, तत्र पूर्वं प्रकृत्यर्थोऽभिनीयते पश्चात्प्रत्ययार्थः । यत्र प्रकृत्यर्थस्य

धूननं श्लेषविश्लेषौ क्षेपो रक्षणमोक्षणे ॥ ५४३ ॥

परिग्रहो निग्रहश्चोत्कृष्टाकृष्टिविकृष्टयः ।

ताडनं तोलनं छेदभेदौ स्फोटनमोटने ॥ ५४४ ॥

स्याद्विसर्जनमाह्वानं तर्जनं चेति विंशतिः ।

करकर्माणि नृत्तज्ञैरन्वर्थानि बभाषिरे ॥ ५४५ ॥

इति विंशतिः करकर्माणि ।

प्राधान्यं तत्र प्रकृत्यर्थ एवाभिनीयते न प्रत्ययार्थ इति । एवं विधिनिषेधा-
नुभवरूपेण हस्ताभिनयक्रिया त्रिविधेति मुनिनोक्तमवगन्तव्यम् ।

एवं कराणां करणयोगादभिनयस्थितिम् ।

असंदिग्धं मुग्धबुद्धयै कल्लिनाथोऽभ्यभाषत ॥ ५४२- ॥

इति चत्वारि करकरणकानि ।

(सु०) तेषां लक्षणमाह—तर्जन्यादीति । यत्र तर्जन्यादीनामङ्गुलीनां
क्रमात् यदावेष्टनं भवति ; करोऽपि तलाभिमुखः सन्, आवक्षः ; वक्षः
पर्यन्तं च पार्श्वप्रदेशादागच्छति, तद् आवेष्टिताख्यं करणं भवति । उद्वेष्टितं
लक्षयति—दत्तिवति । अङ्गुलीनां तलतः बाह्यप्रदेशे क्रमेण निर्गमनं, करस्यापि
वक्षःस्थलात् बहिर्निर्गमनं तद् उद्वेष्टिताख्यं करणं भवति । व्यावर्तितं लक्षयति—
आवेष्टितेति । आवेष्टितप्रक्रियया ; आवृत्तिरूपप्रक्रियया, करे व्यावर्तितं
कार्यम् । परिवर्तितं लक्षयति—उद्वेष्टितेनेति । उद्वेष्टितेन ; उद्धतप्रक्रियया
परिवर्तिताख्यं करणं बोध्यम् । किंत्वत्र कनिष्ठादिभिः अङ्गुलीभिः रेचकं
करणद्वयं कर्तव्यमिति । इति व्यावर्तितपरिवर्तिते ॥ -५३९-५४२- ॥

इति चत्वारि करकरणकानि ।

(क०) अथ करकर्माण्याह—धूननमिति ॥ -५४३-५४५ ॥

इति विंशतिः करकर्माणि ।

पार्श्वद्वयं पुरस्ताच्च पश्चादूर्ध्वमधः शिरः ।

ललाटकर्णस्कन्धोरोनाभयः कटिशीर्षके ॥ ५४६ ॥

ऊरुद्वयं च हस्तानां क्षेत्राणीति चतुर्दश ।

इति चतुर्दश हस्तक्षेत्राणि ।

करणैः करणातीतोऽनङ्गहारोऽङ्गहारकैः ॥ ५४७ ॥

यः स्थाणू रोदसीरङ्गे नृत्यतीशं नमामि तम् ।

(सु०) करकर्माण्याह—धूननमिति । धूननम्, श्लेषः, विश्लेषः, कम्पः, रक्षणम्, मोक्षणम्, परिग्रहः, निग्रहः, उत्कर्षः, आकृष्टिः, विकृष्टिः, ताडनम्, लोलनम्, छेदः, भेदः, स्फोटनम्, मोटनम्, विसर्जनम्, आह्वानम्, तर्जन-मिति विंशतिरित्यन्वर्थानि करकर्माणि नृत्तज्ञैः परिभाषितानि ॥-५४३-५४९॥

इति विंशतिः करकर्माणि ।

(क०) अथ करक्षेत्राण्याह—पार्श्वद्वयमित्यादि ॥ ५४६, ५४६-॥

इति चतुर्दश हस्तक्षेत्राणि ।

(सु०) हस्तक्षेत्राण्याह—पार्श्वद्वयमिति । पुरःपार्श्वम्, पश्चात्पार्श्वम्, ऊर्ध्वमधः शिरः, ललाटम्, कर्णौ, स्कन्धौ, उरः, नाभिः, कटीशीर्षम्, ऊरुद्वयमिति चतुर्दश हस्तक्षेत्राणि, हस्तस्थानानीत्यर्थः ॥ ५४६, ५४६-॥

इति चतुर्दश हस्तक्षेत्राणि ।

(क०) अथ नृत्तकरणानि लक्षयिष्यंस्ताण्डवनृत्तप्रवर्तकमीशं प्रण-मति—करणैरित्यादि । करणातीतः करणानि चक्षुरादीनि तान्यतीत्य वर्तत इति स तथोक्तः । इन्द्रियाणामविषयभूत इत्यर्थः । अनङ्गहारः ; अनङ्गं कामं हरतीत्यत्रार्थे उद्यमनविवक्षायां “कर्मण्यण्” (अष्टाध्यायी ३-२-१) इति सामान्येनानि कृतेऽनङ्गहार इति भवति तारहार इति यथा । स्थाणुः स्थिरो

स्यात्क्रिया करपादादेर्विलासेनात्रुट्टसा ॥ ५४८ ॥

करणं नृत्तकरणं भीमवद्भीमसेनवत् ।

प्रभेदान्करणस्यास्य ब्रूमहे भरतोदितान् ॥ ५४९ ॥

यो रोदसीरङ्गे रोदम्यावेव रङ्गः, तस्मिन् करणैर्वक्ष्यमाणैस्तलपुष्पपुटादिभिः, अङ्गहारकैः स्थिरहस्तादिभिः नृत्यति, तमीशं नमामीति संबन्धः । अत्र करणातीतः करणैरिति, अनङ्गहारोऽङ्गहारैरिति स्थाणुर्नृत्यतीति विरोधालंकारो ध्वन्यते ॥ -५४७, ५४७- ॥

(सु०) एवं नृत्ताभिनयसाधरणीमङ्गमातृकामभिधाय साक्षात् नृत्तोपयोगीनीमङ्गसमुदायरूपाणि लिलक्ष्यिषुर्मङ्गलमाचरति—करणैरिति । तं परमेश्वरं नमामि । यः करणातीतः ; करणैः इन्द्रियैः अतीतः, अतीन्द्रिय इत्यर्थः । इन्द्रियागोचरो वा, अथवा क्रियाक्रिय इत्यर्थः । एवंविधोपकरणैः तलपुष्पपुटादिभिः नृत्यकरणैः ; नृत्यकरणातीतोऽपि करणैः नृत्यतीति विरोधाभासः । अनङ्गहारः ; अनङ्गं कन्दर्पं हरति नाशयतीत्यनङ्गहारः । एवंविधोऽप्यङ्गहारैः वक्ष्यमाणैः करणसमुदायरूपैः नृत्यति । यस्तु अनङ्गहारः अङ्गहारशून्य स अङ्गहारैः नृत्यतीति विरोधः । रोदसीरङ्गे ; रोदसी बावापृथिव्यौ, ते एव रङ्गो मण्डपः, तत्र स्थाणुः ; स्थिरो नियः, स्थाणुरचेतनोऽपि नृत्यतीति विरोधः । ननु कथमेतद्विरुद्धं संभवति ? तत्राह—ईशमिति । कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सन्तः, किं वा न करोतीत्यर्थः ॥ -५४७, ५४७- ॥

(क०) करणानां सामान्यलक्षणमाह—स्यात्क्रियेत्यादि । करपादादेरिति । आदिशब्देन शिरोवक्षःपार्श्वकटीनां बाहुजङ्घादीनां च ग्रहणम् । किंविधा क्रिया ? विज्ञासेन ; अङ्गशोभया, अत्रुट्टसा ; अत्रुट्टनच्छिद्यमानो रसः प्रेक्षकप्रीतिर्यस्यां सा तथोक्ता । एवं विशिष्टा करपादादेः क्रिया करणम् । तदेव नृत्तकरणं स्यात् । व्यपदेशद्वयमद्भावे दृष्टान्तमाह—भीमवद्भीमसेनवदिति । संज्ञैकदेशेनापि प्रसिद्ध्या व्यपदेशो भवतीत्यर्थः ॥ -५४८, ५४९ ॥

तलपुष्पपुटं लीनं वर्तितं बलितोरु च ।
 मण्डलस्वस्तिकं वक्षःस्वस्तिकाक्षिप्तरेचिते ॥ ५५० ॥
 स्वस्तिकान्यर्धदिकपृष्ठाद्यानि स्वस्तिकमञ्चितम् ।
 अपविद्धं समनखोन्मत्ते स्वस्तिकरेचितम् ॥ ५५१ ॥
 निकुटार्धनिकुटे च कटीछिन्नं कटीसमम् ।
 भुजङ्गत्रासितालातविक्षिप्ताक्षिप्तकानि च ॥ ५५२ ॥
 निकुञ्चितं घूर्णितं स्यादूर्ध्वजान्वर्धरेचितम् ।
 मत्तलि चार्धमत्तलि स्याद्रेचकनिकुट्टकम् ॥ ५५३ ॥
 ललितं बलितं दण्डपक्षं पादापविद्धकम् ।
 नूपुरं भ्रमरं छिन्नं भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥ ५५४ ॥
 भुजङ्गाञ्चितकं दण्डरेचितं चतुरं ततः ।
 कटिभ्रान्तं व्यंसितं च क्रान्तं वैशाखरेचितम् ॥ ५५५ ॥
 वृश्चिकं वृश्चिकाद्ये च स्यातां कुट्टितरेचिते ।
 लतावृश्चिकमाक्षिप्तार्गले तलविलासितम् ॥ ५५६ ॥
 ललाटतिलकं पार्श्वनिकुट्टं चक्रमण्डलम् ।
 उरोमण्डलमावर्तं कुञ्चितं डोलपादकम् ॥ ५५७ ॥
 विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम् ।
 विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं विक्षिप्तं च विवर्तितम् ॥ ५५८ ॥

(क०) तद्धेदानुदिशति—तलपुष्पपुटमित्यादि । वक्षःस्वस्तिकाक्षिप्तरेचिने इति । वक्षःस्वस्तिकं चाक्षिप्तरेचितं चेति द्वन्द्वः । स्वस्तिकान्यर्धदिकपृष्ठाद्यानीति । अर्धस्वस्तिकं, दिक्स्वस्तिकं, पृष्ठस्वस्तिकमिति त्रीणि करणानि । वृश्चिकाद्ये कुट्टितरेचिते स्यातामिति । वृश्चिककुट्टितं

गजविक्रीडितं गण्डसूची स्याद्रूढप्लुतम् ।
 तलसंस्फोटितं पार्श्वजानु गृध्रावलीनकम् ॥ ५५९ ॥
 सूच्यर्थसूचिनी सूचीविद्धं च हरिणप्लुतम् ।
 परिवृत्तं दण्डपादं मयूरललितं ततः ॥ ५६० ॥
 प्रेङ्खोलितं संनतं च सर्पितं करिहस्तकम् ।
 प्रसर्पितमपक्रान्तं नितम्बस्वलिते तथा ॥ ५६१ ॥
 सिंहविक्रीडितं सिंहाकर्षितं चावहित्यकम् ।
 निवेशमेडकाक्रीडजनितोपसृतानि च ॥ ५६२ ॥
 तलसंघटितोद्वृत्तविष्णुक्रान्तानि लोलितम् ।
 मदस्वलितसंभ्रान्तविष्कम्भोदघटितानि च ॥ ५६३ ॥
 शकटास्योरूद्वृत्ताख्ये वृषभक्रीडितं ततः ।
 नागापसर्पितमथो गङ्गावतरणं तथा ॥ ५६४ ॥
 इत्यष्टोत्तरमुद्दिष्टं करणानां शतं मया ।
 गतिस्थितिप्रयोगाणामानन्त्यात्करणान्यपि ॥ ५६५ ॥
 अनन्तान्यङ्गहारेषु^१ त्वियत्तां चोपयोगिता ।

इति करणानामुद्देशः ।

वृश्चिकरेचितमित्यर्थः । इति करणानामष्टोत्तरशतमुद्दिष्टमित्युक्त्या कथमिय-
 न्तीति परिच्छेद इत्याशङ्कां परिहरति—गतिस्थितीत्यादि । गति-
 स्थितिप्रयोगाणामिति । गतयश्चार्थः ; स्थितयः स्थानकानि, तासां प्रयोगाः
 पौर्वापर्यविपर्ययाभ्यामनन्ता भवन्ति । तेषामानन्त्याद्यद्यपि करणान्यप्यनन्तानि
 भवन्ति, तथाप्यङ्गहारेषु वक्ष्यमाणेषु स्थिरहस्तादिष्वियतामष्टोत्तरशतकरणा-

^१ क्रियन्तामुपयोगिता ।

नामेवोपयोगिता । उपयोगो येषामस्तीत्युपयोगीनि । उपयोगिनां भाव
उपयोगिता । अङ्गहोषूपयोगवशादष्टोत्तरशतं करणान्युद्दिष्टानीत्यर्थः ॥
॥ ५५०—५६५- ॥

इति करणानामुद्देशः ।

(सु०) कारणैः नृत्यतीत्युक्तम् । तत्र किमिदं कारणमित्यपेक्षायामाह—
स्यादिति । करपादादेः अवयवसमूहस्य, विलासेन; शोभया, अत्रुट्ठसा;
अच्छिद्यमानो रसो यस्यां सा, तथाविधा क्रिया कारणमित्युच्यते । तदेव कारणं
नृत्यकरणशब्देनाप्यभिधीयते । अत्र दृष्टान्तमाह—भीमवदिति । यथा एक
एव युधिष्ठिरानुजो यदाविक्रयेनैव भीमशब्देन भीमसेनशब्देन चोच्यते; तद्वदि-
त्यर्थः । अस्य कारणस्य प्रमेदान्, भरतोदितान् भर्तेनोक्तान् वदामः । तल-
पुष्पपुटमिति । तलपुष्पपुटम्, लीनम्, वर्तितम्, वलितोरु, मण्डलस्वस्तिकम्,
वक्षःस्वस्तिकम्, आक्षितरेचितम्, अर्धस्वस्तिकम्, दिक्स्वस्तिकम्, पृष्ठस्व-
स्तिकम्, स्वस्तिकम्, अञ्चितम्, अपविद्धम्, समनखम्, उन्मत्तम्,
स्वस्तिकरेचितम्, निकुङ्कम्, अर्धनिकुङ्कम्, कटीच्छिन्नम्, कटीसमम्,
भुजङ्गासितम्, अलातम्, त्रिक्षिताक्षितकम्, निकुञ्चितम्, घूर्णितम्,
ऊर्ध्वजानु, अर्धरेचितम्, मत्तल्लि, अर्धमत्तल्लि, रेचकनिकुङ्कम्, ललितम्,
वलितम्, दण्डपक्षम्, पादापविद्धकम्, नूपुरम्, भ्रमरम्, छिन्नम्,
भुजङ्गस्तरैचितम्, भुजङ्गाञ्चितम्, दण्डरेचितम्, चतुरम्, कटिभ्रान्तम्,
व्यंसितम्, क्रान्तम्, वैशाखरेचितम्, वृश्चिकम्, वृश्चिकनिकुङ्कम्, वृश्चि-
कोरेचितम्, लतावृश्चिकम्, आक्षिप्तम्, अर्गलम्, तलविलासितम्, ललाट-
तिलकम्, पार्श्वनिकुङ्कम्, चक्रमण्डलम्, उरोमण्डलम्, आदत्तम्, कुञ्चितम्,
डोलापादम्, विवृत्तम्, विनिवृत्तम्, पार्श्वक्रान्तम्, निशुम्भितम्, विशु-
भ्रान्तम्, अतिक्रान्तम्, विक्षिप्तम्, विवर्तितम्, गजविक्रीडितम्, गण्डसूचि,
गरुडप्लुतम् तलसंस्फोटम्, पार्श्वजानु, गृध्रावलीनकम्, सूचि, अर्धसूचि,
सूचीविद्धम्, हरिणप्लुतम्, परिवृत्तम्, दण्डपादम्, मयूरललितम्, प्रेङ्खोलि-
तम्, संनतम्, सर्पितम्, करिहस्तम्, प्रसर्पितम्, अपक्रान्तम्, नितम्बम्,

अथ लक्षणमेतेषां वक्ष्ये लक्ष्यविदां मतम् ॥ ५६६ ॥

प्रायशो नर्तनारम्भे समपादौ लताकरौ ।

चतुरश्रं भवेदङ्गं विशेषस्त्वयमुच्यते ॥ ५६७ ॥

चार्याध्यधिक्या पादे विनिष्क्रामति दक्षिणे ।

स्वलितम्, सिंहविक्रीडितम्, सिंहाकर्षितम्, अवहित्यकम्, निवेशकम्, एडकाक्रीडितम्, जनितम्, उपसृतम्, तलसंवद्धितम्, उद्दृष्टम्, त्रिणु-
क्रान्तम्, लोलितम्, मदस्वलितम्, संभ्रान्तम्, विष्कम्भम्, उद्धृष्टम्,
शकटास्यम्, ऊरुद्वृत्तम्, वृषभक्रीडितम्, नागापसर्पितम्, गङ्गावतरण-
मित्यष्टोत्तरशतं करणानि भवन्ति ॥ -५४८-५६९- ॥

इति करणानामुद्देशः ।

(क०) अथोद्देशक्रमेण करणानि लक्षयितुमाह—अथ लक्षण-
मिति ॥ -५६६ ॥

(क०) नर्तनादौ सकलकरणसाधारणमङ्गसंनिवेशं तावदाह—
प्रायश इति । विशेषस्त्वयमुच्यते इति । अयमिति वक्ष्यमाणतलपुष्पपुट-
करणस्य संनिवेशः ॥ ५६७ ॥

(सु०) करणानामियत्तापरिच्छेदव्यवस्थामाह—गतीति । गतिः गम-
नम्, स्थितिः स्वस्थानं च प्रयोगाणामानन्त्यात् करणान्यप्यपरिमितानि ।
किन्तु अङ्गहारेषु इयतामेवोपयोगः । तेषां लक्षणं प्रतिज्ञाय कथयति—अथेति ।
प्रायशः ; बाहुल्येन, नर्तनारम्भे ; नर्तनारम्भकाले, समपादौ ; समौ पादद्वयौ,
लताकरौ चतुरश्रम् अङ्गं भवेत् । इदं तु सर्वसाधारणम् । अयम् ; अधुना
वक्ष्यमाणतलपुष्पपुटकरणानां संनिवेशविशेषस्तु अभिधीयत इत्यर्थः ॥
॥ -५६६-५६७ ॥

(क०) तमेव विशेषमाह—चार्येत्यादि । अत्र करणाङ्गत्वेनोच्य-

व्यावर्तनात्करयुगे दक्षिणं पार्श्वमागते ॥ ५६८ ॥
 परिवर्तनतो वामपार्श्वं संनतमाश्रिते ।
 तत्कुचक्षेत्रसंविष्टो यस्य पुष्पपुटः करः ॥ ५६९ ॥
 तलपुष्पपुटं तत्स्यात्पादेऽग्रतलसंचरे ।
 यद्यनन्तरमेतत्स्यात्करणं करणान्तरात् ॥ ५७० ॥
 तदा करक्रिया तत्तत्त्याज्यग्राह्यकरानुगा ।
 एतत्पुष्पाञ्जलिक्षेपे लज्जायां च नियुज्यते ॥ ५७१ ॥

इति तलपुष्पपुटम् (१)

मानानां चारीणां स्थानानां च स्वरूपं वक्ष्यमाणतत्तलक्षणवशाद्विवक्षया अत्र
 करणेषु योजनीयम् । यद्यनन्तरमिति । एतत्करणं तलपुष्पपुटाख्यं प्रथमम-
 प्रयुज्यमानं सद्यदि करणान्तरादनन्तरं स्यात्तदास्य करक्रिया करयोः
 क्रिया—तत्तत्त्याज्यग्राह्यकरानुगेति । तस्मिन्स्तस्मिन्करणे लक्षणवशात्त्या-
 ज्ययोर्ग्राह्ययोर्वा करयोरनुगा अनुसारिणी कर्तव्येत्यर्थः । अयमभिप्रायः—
 इदमेव तलपुष्पपुटं प्रथमं प्रयुज्यते चेदुक्तलक्षणयुक्तमेव प्रयोक्तव्यम् ।
 करणान्तरानन्तरं प्रयुज्यते चेत्तदा तदनुसारेणेति । अयं न्यायः करणान्त-
 रेष्वप्युन्नेयः । करणानां लक्षणाणि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ ५६८—६४७ ॥

इति तलपुष्पपुटम् (१)

(सु०) तलपुष्पपुटाख्यं करणं लक्षयति—चार्या इति । अध्यर्धिकसं-
 ज्ञया वक्ष्यमाणया चार्या, दक्षिणे पादे विनिष्क्रामति सति, करयुगे व्यावर्त्य,
 दक्षिणं पार्श्वमागत्य, परिवर्तनक्रियया संनतं वामपार्श्वमाश्रिते सति, तस्य
 वामकुचस्य क्षेत्रे स्थितः पुष्पपुटाख्यः करो यत्र भवति । तत् तलपुष्पपुटाख्यं
 करणम् । यदीति । एतत् करणं यदि करणान्तरान् अनन्तरं स्यात्, तदा अस्य
 हस्तक्रिया तस्य करणपूर्वस्योक्तस्यैव प्रयोक्तव्यः । त्याज्यग्राह्यकरानुगा ;

ऊर्ध्वमण्डलिनौ कृत्वा करौ वक्षःस्थितोऽञ्जलिः ।

निहञ्चितं चांसकूटं यत्र ग्रीवा नता कृता ॥ ५७२ ॥

लीनं तत्करणं योज्यं वल्लभाभ्यर्थने बुधैः ।

इति लीनम् (२)

आश्लिष्टौ मणिवन्धस्थस्वस्तिकाभिमुखौ करौ ॥ ५७३ ॥

कृत्वा वक्षस्येककालं व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।

उत्तानौ पातयेदूर्वोर्यत्र तद्वर्तितं मतम् ॥ ५७४ ॥

असूयायां प्रयोगः स्यात्पताकौ यदि पातयेत् ।

अधोमुखनिघृष्टौ तौ क्रोधं सूचयतः करौ ॥ ५७५ ॥

शुकतुण्डादयोऽप्यन्ये विनियोगवशादिह ।

इति वर्तितम् (३)

त्याज्ययोः करयोः अनुगा तदानुगुण्येन कर्तव्याः । एतत् तलपुष्पपुटाख्यं
करणम्, पुष्पाञ्जलिविक्षेपे लज्जायां च प्रयोज्यम् ॥ ५६८-५७१ ॥

इति तलपुष्पपुटम् (१)

(सु०) लीनं लक्षयति—ऊर्ध्वेति । ऊर्ध्वमण्डलिनौ करौ विधाय,
वक्षःस्थितोऽञ्जलिः कार्यः । अंसद्वयं निहञ्चितं कृत्वा, यत्र ग्रीवा नता कृता, तत्
लीनाख्यं करणम् । तत् वल्लभस्य नायकस्य अभ्यर्थने कार्यम् ॥ ५७२, ५७२-॥

इति लीनम् (२)

(सु०) वर्तितं लक्षयति—आश्लिष्टाविति । यत्र मणिवन्धौ स्वस्तिकसं-
मुखौ करौ कृत्वा, वक्षसि समकालमेव व्यावृत्तपरिवर्तितौ विधाय, ऊरुद्वये
उत्तानौ पातयेत्, तद् वर्तितारख्यं करणम् । तस्य असूयायां प्रयोगः । यदि
करौ पताकौ कृत्वा अधोमुखौ पातयेते, तदा क्रोधे विनियोगः । इह ; अस्मिन्
करणे विनियोगवशात् शुकतुण्डादयोऽप्यन्ये कराः संभवन्ति ॥ -५७३-५७५- ॥

इति वर्तितम् (३)

वक्षःक्षेत्रे समं हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ५७६ ॥
 विधायार्क्षिप्तया चार्या संहतौ परिवर्तनात् ।
 तत्रानीय निधीयेते शुक्रतुण्डावधोमुखौ ॥ ५७७ ॥
 बद्धया ते स्थितिर्यत्र बलितोरु तदुच्यते ।
 मुग्धस्त्रीव्रीडिते चास्य प्रयोगः शार्ङ्गिणोदितः ॥ ५७८ ॥

इति बलितोरु (४)

चतुरश्रौ करौ कृत्वा विदधद्विच्यवां ततः ।
 उद्वेष्टितक्रियापूर्वमूर्ध्वमण्डलिनौ करौ ॥ ५७९ ॥
 विधाय स्वस्तिकौ कुर्यादत्र स्थानं च मण्डलम् ।
 मण्डलस्वस्तिकं तत्स्यात्प्रसिद्धार्थावलोकने ॥ ५८० ॥

इति मण्डलस्वस्तिकम् (५)

(मु०) बलितोरु लक्षयति—वक्षःक्षेत्र इति । यत्र समकालमेव हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ विधाय, आक्षिप्तया चार्या परिवर्तनात् संहतौ कृत्वा, तत्र वक्षसि तावानीय, शुक्रतुण्डौ अधोमुखौ कृत्वा, बद्धया स्थितिश्च यत्र कल्प्यते, तद् बलितोरु भवति । अस्य मुग्धस्त्रीव्रीडिते प्रयोगः ॥ -५७६-५७८ ॥

इति बलितोरु (४)

(मु०) मण्डलस्वस्तिकं लक्षयति—चतुरश्राविति । यत्र पूर्वं चतुरश्रौ हस्तौ विधाय विच्यवाख्यां चारौ कुर्वन्, उद्वेष्टितक्रियापूर्वं करौ ऊर्ध्वमण्डलिनौ विधाय स्वस्तिकौ कुर्यात् । ततो मण्डलाख्ये वक्ष्यमाणे स्थानके यदि तिष्ठति, तदा मण्डलस्वस्तिकारूपं करणं भवति । तच्च प्रसिद्धार्थावलोकने कार्यम् ॥ ५७९, ५८० ॥

इति मण्डलस्वस्तिकम् (५)

चतुरश्रौ करौ वक्षःस्थितौ कृत्वाथ रेचितौ ।
व्यावर्तितेन चानीयाभुग्रे वक्षसि यत्र तौ ॥ ५८१ ॥
स्वस्तिकौ स्वस्तिकौ पादौ तद्वक्षःस्वस्तिकं मतम् ।
अनाभुग्रांसमेतच्च योज्यं लज्जानुतापयोः ॥ ५८२ ॥

इति वक्षःस्वस्तिकम् (६)

हस्तौ हृत्क्षेत्रगौ यत्र व्यावृत्योर्ध्वं च पार्श्वयोः ।
क्षित्तैकं हंसपक्षं च द्रुतभ्रममधोमुखम् ॥ ५८३ ॥
वक्षः प्राप्यापरं तादृभूतं निष्क्रामयेत्ततः ।
पादावञ्चितसूच्यौ च तत्स्यादाक्षिप्तरेचितम् ॥ ५८४ ॥
अनेनाभिनये त्यागपरिग्रहपरम्परा ।

इत्याक्षिप्तरेचितम् (७)

(सु०) वक्षःस्वस्तिकं लक्षयति—चतुरश्राविति । यत्र वक्षःस्थित-
चतुरश्रानन्तरं रेचितौ करौ, व्यावर्तितेन भुग्रे वक्षसि आनीय स्वस्तिकौ भवतः,
पादावपि स्वस्तिकौ क्रियेते, तत् वक्षःस्वस्तिकम् । एतदेव ईषद्भुग्रांसं सत्
लज्जानुतापयोः प्रयोज्यम् ॥ ५८१, ५८२ ॥

इति वक्षःस्वस्तिकम् (६)

(सु०) आक्षिप्तरेचितं लक्षयति—हस्ताविति । हृदयक्षेत्रे वर्तमानौ
हस्तौ यत्र ऊर्ध्वं व्यावृत्य वर्तनयुक्तौ विधाय, पार्श्वयोः निक्षिप्य, एकं हंसपक्षं
द्रुतभ्रमं भ्रामितम् अधोमुखं वक्षो नत्वा, द्वितीयं करं तादृभूतं हंसपक्षं
भ्रामितमधोमुखं निष्क्रामयेत् । ततः पादौ अञ्चितसूच्यौ च कुर्यात् । तद्
आक्षिप्तरेचितं भवति । तत् त्यागपरिग्रहपरंपरायां कार्यम् ॥ ५८३, ५८४- ॥

इत्याक्षिप्तरेचितम् (७)

दक्षिणः करिहस्तः स्याद्दामस्तु खटकामुखः ॥ ५८५ ॥

वक्षस्थः स्वस्तिकौ पादौ यत्रार्धस्वस्तिकं तु तत् ।

अन्ये करिकरस्थाने पक्षवञ्चितकं परम् ॥ ५८६ ॥

पक्षप्रद्योतकं चार्धचन्द्रं कटिगतं विदुः ।

इत्यर्धस्वस्तिकम् (८)

पार्श्वयोरग्रतः पृष्ठे स्वस्तिकोऽत्र दिशं गतः ॥ ५८७ ॥

कराङ्ग्री रेचितौ यत्र तद्विस्वस्तिकमुच्यते ।

तद्गीतपरिवर्तेषु विनियुक्तं पुरातनैः ॥ ५८८ ॥

स्वस्तिकप्रक्रियैषा स्यात्स्वस्तिकोक्त्यन्तरेष्वपि ।

इति दिक्स्वस्तिकम् (९)

उद्घोषितक्रियापूर्वं बाह्योर्विक्षिप्यमाणयोः ॥ ५८९ ॥

(सु०) अर्धस्वस्तिकं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणः करः करिहस्तः, वामः करः खटकामुखः, पादौ च वक्षस्थः स्वस्तिकौ भवतः; तद् अर्धस्वस्तिकं भवति । अन्ये आचार्याः; करिकरस्थाने पक्षवञ्चितकं, पक्ष-प्रद्योतकं चार्धचन्द्रं कटिगतमाहुः ॥ -५८५, ५८६- ॥

इत्यर्धस्वस्तिकम् (८)

(सु०) दिक्स्वस्तिकं लक्षयति—पार्श्वयोरिति । यत्र कराभ्या-मङ्घ्रिभ्यां च कृतः स्वस्तिकः, पार्श्वयोः अग्रतः पृष्ठेन यत्र भ्राम्यते, तत् दिक्स्वस्तिकम् । तच्च भ्रान्तपरिवर्तने प्रयोज्यम् । एषा स्वस्तिकप्रक्रिया स्वस्तिकान्तरेष्वपि स्यात् ॥ -५८७, ५८८- ॥

इति दिक्स्वस्तिकम् (९)

(सु०) पृष्ठस्वस्तिकं लक्षयति—उद्घोषितेति । बाह्योः; हस्तयोः उद्घोषित-

कृत्वा चारीमपक्रान्तां क्रियमाणेऽपवेष्टने ।
 रेचयित्वान्यचरणं सूचीस्वस्तिकमाचरेत् ॥ ५९० ॥
 यत्राङ्घ्रिभ्यां कराभ्यां च तत्पृष्ठस्वस्तिकं भवेत् ।
 एतन्निषेधराभस्यपरान्वेषणभाषणे ॥ ५९१ ॥
 प्रयुक्तं नाट्यतत्त्वज्ञैरन्यैर्युद्धपरिक्रमे ।

इति पृष्ठस्वस्तिकम् (१०)

उद्वेष्टितेन निष्कास्य पाण्योर्व्यावर्तमानयोः ॥ ५९२ ॥
 उत्सृत्य युगपद्यत्र कराङ्घ्रिः स्वस्तिकः कृतः ।
 तत्स्वस्तिकं प्रयोक्तव्यं बुधैः पूर्वोक्तवस्तुनि ॥ ५९३ ॥

इति स्वस्तिकम् (११)

व्यावर्तपरिवर्ताभ्यां नासादेशं गतो यदा ।

क्रियापूर्वं भवति । ततः विक्षिप्यमाणयोः बाह्योः अपक्रान्तां चारीं कृत्वा,
 अपवेष्टने क्रियमाणे सति, अन्यचरणं रेचयित्वा, पादाभ्यां कराभ्यां च
 सूचितस्वस्तिकं क्रियते, तत्र पृष्ठस्वस्तिकम् । एतच्च निषेधराभस्यपरान्वेषण-
 भाषणयुद्धपरिक्रमेषु प्रयोज्यम् ॥ -५८९-५९१- ॥

इति पृष्ठस्वस्तिकम् (१०)

(सु०) स्वस्तिकं लक्षयति—उद्वेष्टितेनेति । हस्तयोः उद्वेष्टितेन निष्का-
 न्तयोः पश्चाद्व्यावर्तमानयोः सतोः उत्पतनं कृत्वा, यत्र करयोः अङ्ग्योश्च
 स्वस्तिकः क्रियते । तत् स्वस्तिकाख्यं करणम् ॥ -५९२, ५९३ ॥

इति स्वस्तिकम् (११)

(सु०) अञ्चितं लक्षयति—व्यावर्तेति । व्यावर्तने परिवर्तने च
 नासिकाप्रदेशं प्राप्तः करिहस्तः, यदा अलपद्मत्वं धत्ते, तदा अञ्चिताख्यं

करिहस्तोऽलपद्मत्वं धत्ते स्यादश्रितं तदा ॥ ५९४ ॥
संमुखप्रेक्षणे तच्च योज्यं स्वस्यातिकौतुकात् ।

इत्यश्रितम् (१२)

चतुरश्रकरः स्थित्वा हस्तं व्यावर्त्य दक्षिणम् ॥ ५९५ ॥
निष्क्रामयन्भजेच्चारीमाक्षिप्तमथ दक्षिणम् ।
शुकतुण्डं करं तस्यैवोरौ तु परिपातयेत् ॥ ५९६ ॥
यत्रापविद्धं तद्वामे वक्षस्थे खटकामुखे ।
तत्कोपासूययोर्योज्यमुक्तं सोढलसूनुना ॥ ५९७ ॥

इत्यपविद्धम् (१३)

देहः स्वाभाविको यत्र पादौ समनखौ युतौ ।
लताहस्तौ समनखं स्यात्प्रवेशे तदादिमे ॥ ५९८ ॥
इति समनखम् (१४)

करणं भवति । तच्च स्वस्य अतिकौतुकात् संमुखप्रेक्षणे प्रयोज्यम् ॥
॥ ५९४, ५९४- ॥

इत्यश्रितम् (१२)

(सु०) अपविद्धं लक्षयति—चतुरश्रकर इति । दक्षिणं हस्तं चतुरश्रा-
नन्तरं व्यावर्तितं विधाय, तस्य निष्क्रमणसमये, आक्षिप्तां चारीं कुर्यात् । ततः
तमेव दक्षिणहस्तं शुकतुण्डं वामोरूपरि पातयेत् । वामहस्तं च वक्षःस्थितं
खटकामुखं च कुर्यात् । तदपविद्धारूपं करणं भवति । तच्च कोपासूययोर्योज्यम् ॥
॥ -५९५-५९७ ॥

इत्यपविद्धम् (१३)

(सु०) समनखं लक्षयति—देह इति । यत्र देहः स्वाभाविकोऽविकृतः,

चार्याविद्धाञ्चितपदे पर्यायाद्रेचितः करः ।

यत्रोन्मत्तं तु तद्वर्गे सौभाग्यादिसमुद्भवे ॥ ५९९ ॥

इत्युन्मत्तम् (१५)

चतुरश्रः स्थितः कृत्वा हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।

व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यामधश्चोर्ध्वं शिरःस्थलात् ॥ ६०० ॥

आनीयाविद्धवक्रौ चेद्वक्षसि स्वस्तिकौ कृतौ ।

विप्रकीर्णौ ततः कार्यौ पक्षवञ्चितकौ करौ ॥ ६०१ ॥

पक्षप्रच्योतकौ पश्चाच्चारी तद्वशगा भवेत् ।

अन्तेऽवहित्यकं स्थानं तदा स्वस्तिकरेचितम् ॥ ६०२ ॥

नृत्ताभिनयने तच्च प्रहर्षादौ नियुज्यते ।

इति स्वस्तिकरेचितम् (१६)

पादौ समनखाख्यौ, हस्तौ च लतारूपौ चेत्; तदा समनखं करणम् । तच्च
नृत्तस्य आदिमे प्रवेशे प्रयोज्यम् ॥ ५९८ ॥

इति समनखम् (१४)

सु०) उन्मत्तं लक्षयति—चार्येति । आविद्धाख्यां चारीं कृत्वा,
चरणश्च अञ्चितः, करस्तु क्रमेण रेचितो भवति ; तदुन्मत्तं करणम् । तच्च गर्वे,
सौभाग्यादिसमुद्भवे कार्यम् ॥ ५९९ ॥

इत्युन्मत्तम् (१५)

(सु०) स्वस्तिकरेचितं लक्षयति—चतुरश्राविति । चतुरश्रानन्तरं
हंसपक्षौ करौ व्यावृत्तिभ्यां शीघ्रम् अधश्चोर्ध्वं शिरश्च भ्रामयित्वा, पादतलात्
वक्षसि आनीय, आविद्धपक्षौ स्वस्तिकौ च कृत्वा, ततो विप्रकीर्णौ सन्तौ
पश्चात् कटिप्रदेशे पक्षवञ्चितकौ, पक्षप्रच्योतकौ च कुर्यात् । चारीं च तदनुगता

मण्डलस्थानके कृत्वा चतुरश्रतया स्थितः ॥ ६०३ ॥
 उद्वेष्ट्य दक्षिणं हस्तं नीत्वा स्कन्धशिरस्यमुम् ।
 पतनोत्पतनाविष्टकनिष्ठाद्यङ्गुलीद्वयम् ॥ ६०४ ॥
 अलासाकृतिं कृत्वोद्धृष्टेऽङ्घ्रौ च दक्षिणे ।
 आविद्धवक्रतां नीत्वा करेऽत्र चतुरश्रिते ॥ ६०५ ॥
 तथैव वामपाण्यङ्घ्रि यत्र स्यात्तनिकुट्टकम् ।
 आत्मसंभावनाख्यानपरे वाक्ये नियुज्यते ॥ ६०६ ॥

इति निकुट्टकम् (१७)

तदेवार्धनिकुट्टं स्यादेकेनाङ्गेन चेत्कृतम् ।
 अपरूढवचःप्रोक्ते तत्रैवार्थे नियुज्यते ॥ ६०७ ॥

इत्यर्धनिकुट्टकम् (१८)

मेव यां कांचिद्विधाय, अन्ते अवहित्यकं स्थानकं क्रियते चेत्; तदा स्वस्तिकं चितम् । तच्च प्रहर्षादौ प्रयोज्यम् ॥ ६००-६०२- ॥

इति स्वस्तिकरेचितम् (१६)

(मु०) निकुट्टकं लक्षयति—मण्डलस्थानक इति । यत्र मण्डलाख्य-
 स्थानके चतुरश्रायतया तिष्ठन् दक्षिणं हस्तमुद्वेष्ट्य, अमुं स्कन्धशिरःस्थलं नीत्वा,
 पतनोत्पतनवत् आविष्टकनिष्ठाद्यङ्गुलिद्वयमलपसाकृतिं कृत्वा, दक्षिणाङ्घ्रिश्च
 उद्वेष्टितो भवति । दक्षिणः करः आविद्धवक्रतां लब्ध्वा चतुरश्रितो भवति ।
 एवमेव वामो हस्तश्चरणश्च यत्र भवेताम्; तत् निकुट्टकं करणम् । तच्च आत्म-
 संभावनायां प्रयोज्यम् ॥ -६०३-६०६ ॥

इति निकुट्टकम् (१७)

(सु०) अर्धनिकुट्टकं लक्षयति—तदेवेति । तदेव ; निकटकमेव, एकेनाङ्गेन
 कृतं चेत्; अर्धनिकुट्टकं भवति । तच्च अपरूढवचसि प्रयोज्यम् ॥ ६०७ ॥

इत्यर्धनिकुट्टकम् (१८)

पार्श्वेन भ्रमरीं कृत्वा मण्डलस्थानके स्थितः ।
कृत्वा छिन्नां कटीमेकां बाहोः शिरसि पल्लवम् ॥ ६०८ ॥
करमङ्गान्तरेणैवं यत्र त्रिचतुराः कृताः ।
आवृत्तयः कटीच्छिन्नं तद्विस्मयनिरूपणे ॥ ६०९ ॥

इति कटीच्छिन्नम् (१९)

आक्षिप्तामप्यपक्रान्तां चारीं कृत्वा करद्वयम् ।
स्वस्तिकीकृत्य नाभिस्थो दक्षिणः खट्कामुखः ॥ ६१० ॥
कक्ष्यामन्योऽर्धचन्द्रश्च कृतः पार्श्वे च तन्नतम् ।
अन्यदुद्वाहितं यत्र वृत्तिरङ्गान्तरैस्तथा ॥ ६११ ॥
तत्कटीसममादिष्टं वैष्णवस्थानकान्वितम् ।
प्रयोज्यं सूत्रधारेण जर्जरस्याभिमन्त्रणे ॥ ६१२ ॥

इति कटीसमम् (२०)

(सु०) कटीच्छिन्नं लक्षयति—पार्श्वेनेति । यत्र पार्श्वभ्रमणानन्तरं मण्डलाख्ये स्थाने स्थितः सन्, एकां कटीं छिन्नां विधाय, बाहुशिरसि पल्लवं करं कुर्यात् । एवमन्यैरङ्गैः यत्र त्रिचतुर आवृत्तयः क्रियन्ते, तत् कटीच्छिन्नं कारणं भवति । तच्च विस्मयनिरूपणे प्रयोज्यम् ॥ ६०८, ६०९ ॥

इति कटीच्छिन्नम् (१९)

(सु०) कटीसमं लक्षयति—आक्षिप्तामिति । यत्र आक्षिप्ताम्, अपक्रान्तां च चारीं कृत्वा, करद्वयं स्वस्तिकं विधाय, दक्षिणहस्तं नाभौ खट्कामुखं क्रियते; वामश्च कटिप्रदेशे अर्धचन्द्रः, तद्वामपार्श्वे नतं भवति । अन्यद् दक्षिणपार्श्वमुद्वाहितं भवति । तत्र वैष्णवस्थानकयुतं कटीसमं कारणमुक्तं भवति । तच्च सूत्रधारेण जर्जरस्याभिमन्त्रणे प्रयोज्यं भवति ॥ ६१०-६१२ ॥

इति कटीसमम् (२०)

भुजङ्गत्रासितां चारीं कृत्वोत्क्षिप्य च कुञ्चितम् ।
 अङ्घ्रिमूर्कटीजानुऽयश्च यत्र विवर्तयेत् ॥ ६१३ ॥
 व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यामेको डोलाकरोऽपरः ।
 खटकाख्यस्तदन्वर्थं भुजङ्गत्रासितं मतम् ॥ ६१४ ॥

इति भुजङ्गत्रासितम् (२१)

चार्यलाता नितम्बश्च करोऽथ चतुरश्रकः ।
 एतदक्षिणतो वाम ऊर्ध्वजानुस्तथैव चेत् ॥ ६१५ ॥
 अङ्गान्तरं तदालातं नृत्ते सललिते मतम् ।

इत्यलातम् (२२)

हस्ते व्यावर्तमाने तु सोऽङ्घ्रिर्विक्षिप्यते बहिः ॥ ६१६ ॥
 चतुरश्रः करः पाणिः पूर्वोऽथ परिवर्तने ।

(सु०) भुजङ्गत्रासितं लक्षयति—भुजङ्गत्रासितामिति । यत्र भुजङ्गत्रासिताख्यां चारीं विधाय, कुञ्चितमङ्घ्रिमुत्क्षिप्य ऊरूः, कटी, जानु च त्र्यश्रतया विवर्तितो भवति । एकः व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां डोलाकरो भवति, अन्यः खटको भवति, तद् अन्वर्थं भुजङ्गत्रासिताख्यं करणं भवति ॥ ६१३, ६१४ ॥

इति भुजङ्गत्रासितम् (२१)

(सु०) अलातं लक्षयति—चार्येति । यत्र अलाताख्या चारी; नितम्बाख्यः करः दक्षिणहस्तः चतुरश्रो भवति । वामोऽपि ऊर्ध्वजानुः, अङ्गान्तरं च यदा भवति चेत्, तदा एतदलाताख्यं करणं भवति । तच्च सललिते नृत्ते प्रयोज्यम् ॥ ६१५, ६१६- ॥

इत्यलातम् (२२)

(सु०) विक्षिप्ताक्षितकं लक्षयति—हस्त इति । यत्र हस्ते व्यावर्तमाने

पाणिराक्षिप्यते चाङ्घ्रिर्यत्राङ्गं चान्यदीदृशम् ॥ ६१७ ॥
 विक्षिप्ताक्षिप्तं तत्स्याद्रतागतनिरूपणे ।
 इमं तु नाढ्यतत्त्वज्ञा विनियोगं न मन्वते ॥ ६१८ ॥
 वाक्यार्थाभिनयस्तत्र यत्राभिनयहस्तकाः ।
 प्राधान्येन विधीयन्ते नृत्तमात्रपरं त्विदम् ॥ ६१९ ॥
 अतोऽन्तरालसंधाने गतीनां च परिक्रमे ।
 तथा युद्धनियुद्धस्थचारीस्थानकसंक्रमे ॥ ६२० ॥
 कार्यं तालानुसंधाने योज्यं करणमीदृशम् ।

इति विक्षिप्ताकम् (२३)

वृश्चिकं करणं कृत्वा यत्रारालं शिरस्थले ॥ ६२१ ॥
 तद्विकं करमाधाय नासाक्षेत्रार्जवेन तु ।
 कृतो वक्षस्यरालोऽन्यस्तद्वदन्ति निकुञ्चितम् ॥ ६२२ ॥
 एतदुत्पतनौत्सुक्यवितर्कादौ प्रयुज्यते ।
 अन्ये पताकसूच्यास्यावस्मिन्नासाग्रौ विदुः ॥ ६२३ ॥

इति निकुञ्चितम् (२४)

सति, अङ्घ्रिः बहिर्विक्षिप्यते । अपरस्तु हस्तः चतुरश्र एव । पूर्वपाणिः परिवृत्त्या आक्षिप्यते, अन्यदप्यङ्गमीदृशं विक्षेपे विक्षिप्तम्, आक्षेपे चाक्षिप्तम् ; तदा विक्षिप्ताक्षिप्तं करणं भवति । तच्च गतागतनिरूपणे कार्यम् । नाढ्यतत्त्वज्ञाः इमं विनियोगं नानुमन्यन्ते । यत्र वाक्यार्थाभिनयः तत्र अभिनयहस्तकाः प्राधान्येन नृत्तमात्रत्वेन विधीयन्ते । अत ईदृशं करणम्, अन्तरालसंधाने ; अभिनयान्तरसंबन्धे गतीनां परिक्रमे, तथा युद्धादीनामवस्थितचारीस्थानकसंचारे, तालानुसंधाने च प्रयोज्यमिति ॥ -६१६-६२०- ॥

इति विक्षिप्ताक्षिप्तम् (२३)

(सु०) निकुञ्चितं लक्षयति— वृश्चिकमिति । यत्र वृश्चिकाख्यं करणं कृत्वा, शिरसि अरालं करं तद्देशे कृत्वा, नासाक्षेत्रार्जवेन वक्षसि अन्य अरालः

ऊर्ध्वं व्यावर्तनेनाधः परिवर्तनतः करे ।

पार्श्वक्षेत्राद्भ्राम्यमाणे जङ्घास्वस्तिकमाचरेत् ॥ ६२४ ॥

ततोऽपक्रान्तचारीकस्तद्विकशरणो यदा ।

वामो ढोलाकरः प्रोक्तं करणं घूर्णितं तदा ॥ ६२५ ॥

इति घूर्णितम् (२५)

कुञ्चिते चरणे चार्या मूर्ध्वजानौ यदा करः ।

तद्दिग्भवोऽलपद्मो वारालश्चोर्ध्वमुखो भवेत् ॥ ६२६ ॥

पक्षवञ्चितकौ चोर्ध्वं स्तनसाम्यस्थजानुनः ।

खटकास्योऽपरो वक्षस्पूध्वजानु तदोच्यते ॥ ६२७ ॥

इत्यूर्ध्वजानुः (३) (२६)

कृतश्चेत्, तदा निकुञ्चितारुख्यं करणं भवति । एतत् उत्पतनौत्सुक्यवितर्कादौ प्रयोज्यम् । अन्ये आचार्याः अस्मिन् नासाग्रगौ पताकसूच्यास्यौ जगुः ॥
॥ -६२१-६२३ ॥

इति निकुञ्चितम् (२४)

(सु०) घूर्णितं लक्षयति—ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वम् उपरि व्यावर्तनेन, अधः ; अधःप्रदेशे परिवर्तनेन च पार्श्वक्षेत्रात् हस्ते भ्राम्यमाणे सति जङ्घास्वस्तिकमाचरेत् । वामचरणश्च अपक्रान्ताख्यया चार्या युक्तः सन् तस्य दिगभिमुखो भवति । चरणश्च ढोलाख्यः ; तदा घूर्णितं करणं भवति ॥ ६२४, ६२५ ॥

इति घूर्णितम् (२५)

(सु०) ऊर्ध्वजानु लक्षयति—कुञ्चित इति । कुञ्चिते चरणे सति, ऊर्ध्वजानुसंज्ञायां चार्या सत्याम्, तद्दिग्भवः ; तस्यां दिशि जातः करः अलपद्मः, अथवा अरालश्च ऊर्ध्वमुखो भवेत् ; स्तनसाम्ये वर्तमानस्य जानुनः ऊर्ध्वप्रदेशे पक्षवञ्चितको भवेत् ; अपरस्तु वक्षसि खटकामुखः ; तत ऊर्ध्वजान्वाख्यं करणं भवति ॥ ६२६, ६२७ ॥

इत्यूर्ध्वजानु (२६)

मण्डले स्थानके स्थित्वा वक्षस्थः खटकामुखः ।
 सूचीमुखं चापसार्य यदा तस्यान्तिके कृतः ॥ ६२८ ॥
 अङ्घ्रिरुद्धद्वितः पार्श्वं संनतं चापसारणे ।
 तदर्धरेचितं योज्यमसमञ्जसचेष्टने ॥ ६२९ ॥
 इत्यर्धरेचितम् (२७)

गुल्फयोः स्वस्किं कृत्वा पादयोरपसर्पणे ।
 युगपत्करयोर्यत्रोद्वेष्टनं चापवेष्टनम् ॥ ६३० ॥
 कुर्यान्मुहुर्मुहुस्तत्तु मत्तल्लि मदवेदकम् ।
 इति मत्तल्लि (२८)

नितम्बकेशबन्धादिवर्तनो दक्षिणः करः ॥ ६३१ ॥
 उद्वेगापसृतौ पादौ वामश्चेद्रेचितः करः ।
 कठ्यामर्धस्तदा त्वर्धमत्तल्लि तरुणे मदे ॥ ६३२ ॥
 इत्यर्धमत्तल्लि (२९)

(सु०) अर्धरेचितं लक्षयति—मण्डलेति । मण्डलाख्ये स्थानके स्थित्वा, एको हस्तः वक्षस्थः खटकामुखो भवति । अन्यश्च तत्समीपे अपसार्य सूचीमुखो भवति । पादश्च उद्धृतः । पार्श्वं च संनतं भवति । तत्र अर्धरेचिनाख्यं करणं भवति । तच्च अपसारणे, असमञ्जसचेष्टिते च प्रयोज्यम् ॥ ६२८, ६२९ ॥

इत्यर्धरेचितम् (२७)

(सु०) मत्तल्लि लक्षयति—गुल्फयोरिति । यत्र गुल्फयोः स्वस्तिकानन्तरं पादापसरणं च, करयोः उद्वेष्टनावेष्टने युगपत् मुहुर्मुहुः क्रियते, तत्र मत्तल्ल्याख्यं करणं भवति । तच्च मदवेदने कार्यम् ॥ ६३०, ६३०- ॥

इति मत्तल्लि (२८)

(सु०) अर्धमत्तल्लि लक्षयति—नितम्बेति । यत्र दक्षिणः करः नितम्ब-

रेचितो दक्षिणो हस्तः सोऽङ्घ्रिरुद्धटितो भवेत् ।

यत्र ङोलाकरो वामस्तद्रेचकनिकुट्टकम् ॥ ६३३ ॥

इति रेचकनिकुट्टकम् (३०)

पूर्वोक्तः करिहस्तोऽन्यः पादश्चोद्धटितस्तथा ।

अङ्गान्तरं चेल्ललितं तदा नृत्ते विलासिनि ॥ ६३४ ॥

इति ललितम् (३१)

वक्षःक्षेत्रात्करे सूचीमुखसङ्गेष्वपसर्पति ।

सूचीपादोऽप्यपसृतश्चारी स्याद् भ्रमरी ततः ॥ ६३५ ॥

केशवन्धादिवर्तनः, पादौ उद्वेगापसृतौ, वामः करः कठ्यामर्धरेचितः, तत्रार्ध-
मत्तलि । तच्च; तरुणे मदे प्रयोज्यम् ॥ -६३१, ६३२ ॥

इत्यर्धमत्तलि (२९)

(सु०) रेचकनिकुट्टकं लक्षयति—रेचित इति । यत्र दक्षिणो हस्तो
रेचितः, अङ्घ्रिरुद्धटितो भवति । वामः ङोलाकरो भवति । तत्र रेचकनिकुट्टकं
करणं भवति ॥ ६३३ ॥

इति रेचकनिकुट्टकम् (३०)

(सु०) ललितं लक्षयति—पूर्वोक्त इति । पूर्वोक्तनितम्बकेशवन्धादि-
हस्तकन्यापारवान् दक्षिणः करो भवति । अन्यो वामः करः करिहस्तः,
पादश्च उद्वटितः, अङ्गान्तरमप्येवं चेत्, तदा ललिताख्यं करणं भवति । तच्च
विलासिनीनृत्ते प्रयोज्यम् ॥ ६३४ ॥

इति ललितम् (३१)

(सु०) वलितं लक्षयति—वक्षःक्षेत्रादिति । वक्षःक्षेत्रात् हस्तो सूची-

क्रमादङ्गद्वयेऽप्येवं ललिते वलितं भवेत् ।

इति वलितम् (३२)

यत्रोर्ध्वजानुश्रारी स्याल्लताहस्तौ करौ कृतौ ॥ ६३६ ॥

तयोरेकं ततो न्यस्येदुपर्यूर्ध्वस्थजानुनः ।

पुनरङ्गान्तरेणैव दण्डपक्षं तदुच्यते ॥ ६३७ ॥

इति तण्डपक्षम् (३३)

पराङ्मुखौ नाभितटे हस्तौ चेत्खट्वाकामुखौ ।

सूचीपादोऽङ्घ्रिगान्धेन युक्त्वापक्रान्तयान्वितः ॥ ६३८ ॥

अङ्घ्रिरन्यस्तथैव स्यात्तदा पादापविद्धकम् ।

इति पादापविद्धकम् (३४)

मुखतामेत्य अपसर्पति सति, सूचीपादोऽप्यपसृतो भवति । ततः भ्रमर्याख्या चारी च क्रियते । एवं क्रमात् अङ्गद्वयेऽप्येवं भवति चेत्, तदा वलिताख्यं करणं भवति । तच्च ललिते प्रयोज्यम् ॥ ६३६, ६३७- ॥

इति वलितम् (३२)

(सु०) दण्डपक्षं लक्षयति—यत्रेति । यत्र प्रथमम् ऊर्ध्वजान्वाख्या चारी, लतारूपौ करौ । तयोः करयोर्मध्ये एकं कामूर्ध्वरूपस्य जानुन उपरि स्थापयेत् । पुनः अङ्गान्तरेऽप्येवं क्रियते चेत्; तदा दण्डपक्षाख्यं करणं भवति ॥ -६३६, ६३७ ॥

इति दण्डपक्षम् (३३)

(सु०) पादापविद्धं लक्षयति—पराङ्मुखाविति । खट्वाकामुखौ करौ नाभितटप्रदेशे पराङ्मुखौ क्रियेते । सूचीसंज्ञश्च पादः अन्येन अङ्घ्रिणा संयोगं प्राप्य, अपक्रान्तया चार्या अन्वितो भवति । अयं अङ्घ्रिः, एवमेव कृतश्चेत्, तदा पादापविद्धाख्यं करणं भवति ॥ ६३८, ६३८- ॥

इति पादापविद्धकम् (३४)

विधाय भ्रमरीं चारीं ततो नूपुरपादिकाम् ॥ ६३९ ॥

पादेनैकेन तदिकं हस्तं रेचितमाचरेत् ।

द्वितीयं तु लताहस्तं यत्र तन्नूपुरं विदुः ॥ ६४० ॥

इति नूपुरम् (३५)

पादमाक्षिप्तचारीकं तदैवोद्वेष्टितं करम् ।

त्रिकं च वलितं कृत्वा पादस्वस्तिकमाचरेत् ॥ ६४१ ॥

ततस्तद्वद् द्वितीयाङ्गं युगपच्चोल्बणौ करौ ।

यत्र तद् भ्रमरं योज्यं तच्चोद्धतपरिक्रमे ॥ ६४२ ॥

इति भ्रमरम् (३६)

अलपद्मौ कटीपार्श्वक्षेत्रे यत्र क्रमात्करौ ।

कटीछिन्ना च वैशाखं स्थानं तच्छिन्नमुच्यते ॥ ६४३ ॥

(सु०) नूपुरं लक्षयति—विधायेति । भ्रमर्याख्यां चारीं कृत्वा, ततो नूपुरपादिकां चारीं कुर्यात् । एकेन पादेन तदिकम् ; तदिगवस्थितं कृत्वा, एकेन करेण रेचितं कुर्यात् । द्वितीयं हस्तं तु लतारूपं कुर्यात् । तदा नूपुराख्यं कारणं भवति ॥ -६३९, ६४० ॥

इति नूपुरम् (३५)

(सु०) भ्रमरं लक्षयति—पादमिति । आक्षिप्ताख्या चारी यस्मिन्, तथाविधं पादं कृत्वा, तस्मिन्नेव समये हस्तमुद्वेष्टितं त्रिकं च वलितं विधाय पादस्वस्तिकमाचरेत् । अनन्तरं तदेव द्वितीयमङ्गं विधाय, सप्तकालमेव उल्बणौ करौ यत्र क्रियेते, तत्र भ्रमराख्यं कारणं भवति । तच्च मदोद्धतपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ ६४१, ६४२ ॥

इति भ्रमरम् (३६)

(सु०) छिन्नं लक्षयति—अलपद्माविति । कटीपार्श्वप्रदेशे च उभौ

स्यात्तालभञ्जने तच्च तथाङ्गप्रतिसारणे ।

इति छिन्नम् (३७)

भुजङ्गत्रासिता चारी ततो यत्र च रेचितौ ॥ ६४४ ॥

हस्तौ स्तो वामपार्श्वं तद्भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।

इति भुजङ्गत्रस्तरेचितम् (३८)

चारी चेदक्षिणाङ्घ्रेः स्यात्पूर्वोक्ता दक्षिणः करः ॥ ६४५ ॥

रेचितोऽन्यो लताहस्तो भुजङ्गाश्रितकं तदा ।

इति भुजङ्गाश्रितम् (३९)

चारी चेदण्डपादा स्यादण्डपक्षौ च हस्तकौ ॥ ६४६ ॥

करौ क्रमादलपक्षौ विधाय, कटीं छिन्नां कृत्वा, वैशाखं स्थानं च करोति ; तच्छिन्नाख्यं करणं भवति । तच्च तालभञ्जने, तथाङ्गप्रतिसारणे च प्रयोज्यम् ॥ ६४३, ६४३- ॥

इति छिन्नम् (३७)

(सु०) भुजङ्गत्रस्तरेचितं लक्षयति—भुजङ्गेति । यत्र भुजङ्गत्रासिताख्यां चारीं विधाय रेचितौ भवतः ; हस्तौ च वामपार्श्वं क्रियेते चेत्, तदा भुजङ्गत्रस्तरेचिताख्यं करणं भवति ॥ -६४४, ६४४- ॥

इति भुजङ्गत्रस्तरेचितम् (३८)

(सु०) भुजङ्गाश्रितं लक्षयति—चारीति । यत्र दक्षिणाङ्घ्रौ पूर्वोक्ता भुजङ्गत्रासिता चारी । दक्षिणहस्तो रेचितः । अन्यो वामः करः लतारूपः क्रियते चेत् ; तदा भुजङ्गाश्रितं करणम् ॥ -६४५, ६४५- ॥

इति भुजङ्गाश्रितम् (३९)

(सु०) दण्डरेचितं लक्षयति—चारी चेति । यत्र प्रथमं दण्डपादाख्या

प्रमोदनृत्तविषयं तदा स्यादण्डरेचितम् ।

प्रयोगमपरे प्राहुरस्योद्धतपरिक्रमे ॥ ६४७ ॥

इति दण्डरेचितम् (४०)

वक्षःक्षेत्रस्थयोः पाण्योर्वामश्चेदलपल्लवः ।

दक्षिणश्चतुरोऽङ्घ्रिस्तूद्धट्टिनश्चतुरं तदा ॥ ६४८ ॥

एतद्विस्मयसूयायां वैदूषिक्यां नियुज्यते ।

इति चतुरम् (४१)

द्रुतापसारितं वामं सूचीपादं विधाय चेत् ॥ ६४९ ॥

तत्पार्श्वं दक्षिणं न्यस्येत्तत्कालं रेचयेत्कटिम् ।

कुर्वन्वा भ्रमरीं हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ ६५० ॥

कृत्वान्ते चतुरश्रः स्यात्कटिभ्रान्तं तदा भवेत् ।

अस्य तालान्तरालेषु यतीनां परिपूरणे ॥ ६५१ ॥

प्रयोगमाह निःशङ्कस्तथा गतिपरिक्रमे ।

इति कटिभ्रान्तम् (४२)

चारी, हस्तौ च दण्डपक्षौ भवतः । तत्र दण्डरेचितं करणम् । तच्च प्रमोद-
नृत्तयोः प्रयोज्यम् । अन्ये उद्धतपरिक्रमे प्रयोज्यमिति प्राहुः ॥ -६४६, ६४७ ॥

इति दण्डरेचितम् (४०)

(सु०) चतुरं लक्षयति—वक्ष क्षेत्रेति । यत्र हस्तयोः वक्षःक्षेत्रस्थयोः
सतोः वामः अलपल्लवताम्, दक्षिणः चतुरतां च धत्ते । एकोऽङ्घ्रिः उद्धट्टितः,
तत्र चतुर्गाल्यं कारणं भवति । तच्च विस्मये, असूयायां, वैदूषिक्यां च
प्रयोज्यम् ॥ ६४८, ६४९- ॥

इति चतुरम् (४१)

(सु०) कटिभ्रान्तं लक्षयति—द्रुतेति । यत्र सूचीसंज्ञकं पार्श्वं

एक उद्वेष्टितेनाधो विप्रकीर्णः करोऽपरः ॥ ६५२ ॥

ऊर्ध्वं तादृक्परावृत्त्या वक्षःक्षेत्रगतस्ततः ।

उत्तानो रेचितश्चैकोऽपरोऽधोमुखरेचितः ॥ ६५३ ॥

आलीढं स्थानकं यत्र तद्व्यसितमुदाहृतम् ।

प्रयोज्यमाञ्जनेयादिमहाकपिपरिक्रमे ॥ ६५४ ॥

इति व्यंसितम् (४३)

चार्यातिक्रान्तया पादं पात्यमानं तु कुञ्चयेत् ।

व्यावर्तितेन तत्कालं करं निष्क्रामयेत्ततः ॥ ६५५ ॥

आक्षिप्य परिवर्तेन तं कुर्यात्खट्कामुखम् ।

वक्षस्येवं द्वितीयाङ्गं यत्र तत्क्रान्तमिष्यते ॥ ६५६ ॥

प्रयोगमाहुराचार्यास्तस्योद्धतपरिक्रमे ।

इति क्रान्तम् (४४)

वामपादं द्रुतापसारितं कृत्वा, तस्य वामस्य पार्श्वे दक्षिणं चरणं न्यसेत् । ततः कटी रेचिता भवति । भ्रमर्याख्यां चारीं कुर्वन्, करौ च व्यावृत्तपरिवर्तितौ विधाय, अन्ते चतुश्चे कृते, तदा कटीभ्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च तालान्तरालेषु, यतीनां परिपूरणे, गतिपरिक्रमे च प्रयोज्यम् ॥-६४९-६५१-॥

इति कटीभ्रान्तम् (४२)

(सु०) व्यंसितं लक्षयति—एक इति । यत्र एककर उद्वेष्टितेन अधो विप्रकीर्णो भवति । अपरस्तु कर ऊर्ध्वमुद्वेष्टितेन परावृत्त्या उरःक्षेत्रं प्राप्नोति । ततः एकः कर उत्तानरेचितः, अपर अधोमुखरेचितः । तत् आलीढस्थानकं च भवति, तत् व्यंसिताख्यं करणं भवति । तच्च आञ्जनेयादिमहाकपिपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ -४५२-४५४ ॥

इति व्यंसितम् (४३)

(सु०) आतिक्रान्तं लक्षयति—चार्येति । अतिक्रान्तसंज्ञया चार्या

हस्तपादकटिग्रीवं रेचितं स्थानकं पुनः ॥ ६५७ ॥

वैशाखं यत्र तज्ज्ञेयं विज्ञैर्वैशाखरेचितम् ।

इति वैशाखरेचितम् (४५)

करिहस्तौ करौ पादौ पृष्ठे वृश्चिकपुच्छवत् ॥ ६५८ ॥

दूरसंनतपृष्ठं च यत्र तद्वृश्चिकं विदुः ।

एतदैरावणादीनां व्योमयाने नियुज्यते ॥ ६५९ ॥

इति वृश्चिकम् (४६)

वृश्चिकं चरणं कृत्वा बाहुशीर्षे यदा क्रमात् ।

अल्पघ्नौ निकुटयेते तदा वृश्चिककुट्टितम् ॥ ६६० ॥

पात्यमानं पादं कुञ्चितं कुर्यात् । तस्मिन्नेव समये व्यावर्तितेन करं निष्क्रामयेत् । ततः आक्षेपेण परिवर्तनेन च तं करं खट्कामुखं कुर्यात् ; एवं द्वितीयाङ्गमपि यत्र क्रियते, तद् अतिक्रान्ताख्यं करणं भवति । अस्य प्रयोगं तु आचार्या उद्धतपरिक्रमे प्राहुः ॥ ४९९, ४९६- ॥

इति क्रान्तम् (४४)

(सु०) वैशाखरेचितं लक्षयति—हस्तपादेति । हस्तपादादिकं यत्र रेचितं वैशाखं स्थानकं चेत् ; तदा वैशाखरेचिताख्यं करणं भवति ॥ -४९७, ४९७- ॥

इति वैशाखरेचितम् (४५)

(सु०) वृश्चिकं लक्षयति—करिहस्ताविति । करिहस्ताख्यौ हस्तौ, पादौ च पृष्ठे वृश्चिकपुच्छवदाकारं गच्छतः, पृष्ठं च दूरसंनतं यत्र, तत् वृश्चिकाख्यं करणं भवति । एतद् ऐरावणादीनां व्योमयाने प्रयोज्यम् ॥ -४९८, ४९९ ॥

इति वृश्चिकम् (४६)

(सु०) वृश्चिककुट्टितं लक्षयति—वृश्चिकमिति । वृश्चिकाख्यं करणं

सविस्मये व्योमयानवाञ्छादौ विनियुज्यते ।

इति वृश्चिककुट्टितम् (४७)

यत्राङ्घ्री वृश्चिकीभूतौ स्वस्तिकौ रेचितौ करौ ॥ ६६१ ॥

विच्युतौ चेत्तदाकाशयाने वृश्चिकरेचितम् ।

इति वृश्चिकरेचितम् (४८)

वृश्चिकश्चरणो यत्र वामहस्तो लताभिधः ॥ ६६२ ॥

तल्लतावृश्चिकं योज्यं गगनोत्पतने बुधैः ।

इति लतावृश्चिकम् (४९)

आक्षिप्ता यत्र चारी स्यादाक्षिप्तः खट्कामुखः ॥ ६६३ ॥

कृत्वा, अलपद्मौ बाहुशिखरे क्रमात् निकुट्येते, तत्र वृश्चिककुट्टिताख्यं
करणम् । तच्च विस्मये व्योमयाने च प्रयोज्यम् ॥ ६६०, ६६० ॥

इति वृश्चिकनिकुट्टकम् (४७)

(सु०) वृश्चिकरेचितं लक्षयति—यत्रेति । पादे वृश्चिकतां प्राप्ते, करौ
स्वस्तिकरेचितौ विच्युतौ च भवतः ; तत्र वृश्चिकरेचिताख्यं करणं भवति ।
तच्च आकाशयाने प्रयोज्यम् ॥ -६६१, ६६१- ॥

इति वृश्चिकरेचितम् (४८)

(सु०) लतावृश्चिकं लक्षयति—वृश्चिक इति । यत्र चरणे वृश्चिके
सति, वामहस्तो लताकरः ; तत्र लतावृश्चितम् । तच्च गमने, उत्पतने च
प्रयोज्यम् ॥ -६६२, ६६२- ॥

इति लतावृश्चिकम् (४९)

(सु०) आक्षिप्तं लक्षयति—आक्षिप्ता इति । यत्र आक्षिप्ताख्या

चतुरो वा तदाक्षिप्तं विदूषकगतौ मतम् ।

इत्याक्षिप्तम् (५०)

कनिष्ठाङ्गुलिभागे चेद्वामाङ्घ्रेर्दक्षिणः स्थितः ॥ ६६४ ॥

स्तब्धजङ्घः सार्धतालद्वितयं स्यात्प्रसारितः ।

तदैव स्तब्धबाहुः सन्वामपार्श्वेऽलपल्लवः ॥ ६६५ ॥

वामेतरः करः किञ्चित्प्रसृताग्रोऽर्गलं तदा ।

परिक्रमेऽङ्गदादीनां शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम् ॥ ६६६ ॥

इत्यर्गलम् (५१)

ऊर्ध्वमूर्ध्वाङ्गुलितलः पादः पार्श्वे प्रसारितः ।

तदग्रयुक्पताकोऽङ्गं यत्रेत्यमपरं क्रमात् ॥ ६६७ ॥

सूत्रधारादिविषये तत्स्यात्तलविलासितम् ।

इति तलविलासितम् (५२)

चारी, आक्षिप्तः खटकामुखः, चतुरो वा हस्तो भवति ; तदाक्षिप्तम् । तच्च विदूषकगतौ प्रयोज्यम् ॥ -६६३, ६३३- ॥

इत्याक्षिप्तम् (५०)

(सु०) अर्गलं लक्षयति—कनिष्ठेति । यत्र वामाङ्घ्रेः कनिष्ठाङ्गुलिभागे दक्षिणः पादः स्तब्धजङ्घं सार्धतालद्वयप्रविभागेन प्रसारितो भवति, तेनैव प्रकारेण, वामेतरः करः दक्षिणो बाहुः स्तब्धः सन्, वामपार्श्वे अलपल्लवतामेत्य किञ्चित् प्रसृताग्रो भवति । तदा अर्गलाख्यं करणं भवति । तच्च अङ्गदादीनां परिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ -६६४-६६६ ॥

इत्यर्गलम् (५१)

(सु०) तलविलासितं लक्षयति—ऊर्ध्वमिति । यत्र ऊर्ध्वप्रदेशे ऊर्ध्वं अङ्गुलयः तलः यस्य, तथाविधः पादः पार्श्वप्रदेशे प्रसारितो भवति । तस्य

अङ्गुष्ठो वृश्चिकाङ्घ्रेश्चेललाटे तिलकं लिखेत् ॥ ६६८ ॥

तदा ललाटतिलकं विद्याधरगतौ मतम् ।

इति ललाटतिलकम् (५३)

पाण्योः स्वस्तिकयोरूर्ध्वमुखः पार्श्वं निकुटितः ॥ ६६९ ॥

एकोऽन्योऽधोमुखो यत्र तद्वत्पादो निकुटितः ।

तत्प्रकाशनसंचाराभ्यासे पार्श्वनिकुट्टकम् ॥ ६७० ॥

इति पार्श्वनिकुट्टकम् (५४)

यत्र कृत्वाङ्कितां चारीं डोलाभ्यां चक्रवद्भ्रमेत् ।

अन्तर्नतेन गात्रेण तदुच्चुश्चक्रमण्डलम् ॥ ६७१ ॥

च अग्रे पताकाख्यः करः संयोगं प्राप्नोति । अन्यदप्येवमेव क्रियेत चेत्,
तदा तलविलासिताख्यं करणं भवति । तच्च सूत्रधारादिविषये प्रयोज्यम् ॥
॥ ६६७, ६६७- ॥

इति तलविलासितम् (५२)

(सु०) ललाटतिलकं लक्षयति—अङ्गुष्ठ इति । यत्र वृश्चिकाख्यस्य
करणस्य अङ्घ्रेः अङ्गुष्ठः पश्चादागत्य यदि ललाटे तिलकं करोति ; तदा
ललाटतिलकाख्यं करणं भवति । तच्च विद्याधरगतौ प्रयोज्यम् ॥ -६६८, ६६८- ॥

इति ललाटतिलकम् (५३)

(सु०) पार्श्वनिकुट्टकं लक्षयति—पाण्येति । स्वस्तिकाकारयोः मध्ये
एको हस्त ऊर्ध्वमुखः सन् पार्श्वं निकुटयति । अन्यस्तु हस्त अधोमुखो
भवति । पादश्च यत्र निकुटितः, तत् पार्श्वनिकुट्टकाख्यं करणं भवति । तच्च
प्रकाशनसंचाराभ्यासे प्रयोज्यम् ॥ -६६९, ६७० ॥

इति पार्श्वनिकुट्टकम् (५४)

(सु०) चक्रमण्डलं लक्षयति—यत्रेति । यत्र अङ्किताख्यां वक्ष्यमाणां

सुराणां वरिवस्यायां तदुद्धतपरिक्रमे ।

इति चक्रमण्डलम् (५५)

चार्यौ बद्धास्थितावर्ते उरोमण्डलिनौ करौ ॥ ६७२ ॥

यत्रोरोमण्डलं तत्तु शिववल्लभभाषितम् ।

इत्युरोमण्डलम् (५६)

उद्वेष्टेनापवेष्टेन यत्र ढोलाभिधौ करौ ॥ ६७३ ॥

चारी चाषगतिस्तत्स्यादावर्ते भयसर्पणे ।

इत्यावर्तम् (५७)

उत्तानो वामपार्श्वस्थोऽल्पघ्नो दक्षिणः करः ॥ ६७४ ॥

चारीं विधाय ढोलरूपाभ्यां हस्ताभ्यां मध्ये नतं प्राप्तेन गात्रेण शरीरेण यत्र भ्रमणं कुर्यात्, तत् चक्रमण्डलाख्यं कारणम् ऊचुः अवादिषुः । तच्च देवानां वरिवस्यायां, उद्धतपरिक्रमे च प्रयोज्यम् ॥ ६७१, ६७१- ॥

इति चक्रमण्डलम् (५५)

(सु०) उरोमण्डलं लक्षयति—चार्याविति । बद्धाख्यां स्थितावर्ताख्यां च चारीं कृत्वा, उरोमण्डलिनौ करौ यत्र क्रियेते; तत् उरोमण्डलाख्यं कारणं भवति ॥ -६७२, ६७२- ॥

इत्युरोमण्डलम् (५६)

(सु०) आवर्तं लक्षयति—उद्वेष्टेति । यत्र उद्वेष्टेनापवेष्टेनाभ्यां हस्तौ ढोलायितौ भवतः । ततः चारी च चाषगतिः; तत् आवर्ताख्यं कारणं भवति । तच्च भयसर्पणे प्रयोज्यम् ॥ -६७३, ६७३- ॥

इत्यावर्तम् (५७)

(सु०) कुञ्चितं लक्षयति—उत्तान इति । यत्र दक्षिणहस्तः वामपार्श्वे

यत्र तत्कुञ्चितं पादे सव्येऽग्रतलसंचरे ।
तेन देवानभिनयेल्लसदानन्दनिर्भरान् ॥ ६७५ ॥

इति कुञ्चितम् (५८)

ऊर्ध्वजानोः परं चारी डोलापादा यदा भवेत् ।
डोलौ हस्तौ तदा प्रोक्तं डोलापादं विदांवैरैः ॥ ६७६ ॥

इति डोलापादम् (५९)

पादमाक्षिप्तया चार्याक्षिप्याक्षिप्य करावपि ।
व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां कृत्वा भ्रमरिकां करौ ॥ ६७७ ॥
रेचितौ चेद्विवृत्तं स्यात्तच्चोद्धतपरिक्रमे ।

इति विवृत्तम् (६०)

अल्पव्रतां धत्ते, सव्यपादश्च अग्रतलसंचारो भवति । तत्र कुञ्चिताख्यं करणं भवति । तच्च आनन्दनिर्भरेण देवाभिनये प्रयोज्यम् ॥ -६७४, ६७५ ॥

इति कुञ्चितम् (५८)

(सु०) डोलापादं लक्षयति—ऊर्ध्वजानोरिति । यत्र ऊर्ध्वजानुसंज्ञिकां चारीं कृत्वा, अनन्तरं डोलापादाख्या चारी क्रियते; हस्तौ च डोलारूपौ क्रियेते; तदा डोलापादाख्यं करणं भवति ॥ ६७६ ॥

इति डोलापादम् (५९)

(सु०) विवृत्तं लक्षयति—पादमिति । यत्र आक्षिप्ताख्यया चार्या, उपलक्षितपादमाक्षिप्य, हस्तावपि व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां भ्रमरिकाकारौ कृत्वा यदा रेचितौ भवतः; तदा विवृत्ताख्यं करणं भवति । तच्च उद्धतपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ ६७७, ६७७- ॥

इति विवृत्तम् (६०)

सूच्यङ्घ्रिणा द्वितीयाङ्घ्रेः पार्णिगतः स्वस्तिकं भवेत् ॥ ६७८ ॥

व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां वलयित्वैकपार्श्वतः ।

त्रिकं बद्धाभिधां चारीं कुर्याद्वस्तौ तु रेचितौ ॥ ६७९ ॥

यत्र तद्विनिवृत्तं स्यात्पूर्वोक्तविनियोगभाक् ।

इति विनिवृत्तम् (६१)

पार्श्वक्रान्ता भवेच्चारी करौ पादानुगौ यदा ॥ ६८० ॥

पार्श्वक्रान्तं तदा यद्वाभिनेयवशगौ करौ ।

तद्योज्यं भीमसेनादे रौद्रप्राये परिक्रमे ॥ ६८१ ॥

इति पार्श्वक्रान्तम् (६२)

पार्णिदेशे द्वितीयाङ्घ्रेः कुञ्चितश्चरणो भवेत् ।

समुन्नतमुखः पाणेः खटकाख्यस्य मध्यमा ॥ ६८२ ॥

(सु०) विनिवृत्तं लक्षयति—सूच्यङ्घ्रिणेति । यत्र सूचीरूपेण चरणेन सह द्वितीयचरणस्य पार्श्वप्रदेशेन च स्वस्तिकं कुर्यात् । ततो व्यावर्तनेन परिवर्तनेन च वलनं विधाय, एकस्मिन् पार्श्वे त्रिकं बद्धाख्यां चारीं कुर्यात् । हस्तौ च यत्र रेचितौ भवतः; तत्र विनिवृत्ताख्यं करणं भवति । तच्च पूर्वोक्तार्थे प्रयोज्यम् ॥ -६७८-६७९- ॥

इति विनिवृत्तम् (६१)

(सु०) पार्श्वक्रान्तं लक्षयति—पार्श्वक्रान्तेति । पार्श्वक्रान्ताख्या चारी कृत्वा, हस्तौ पादानुगौ वा अभिनेयवशगौ वा भवतः; तत्र पार्श्वक्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च भीमसेनादीनां रौद्रप्राये परिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ -६८०, ६८१ ॥

इति पार्श्वक्रान्तम् (६२)

(सु०) निशुम्भितं लक्षयति—पार्णिभाग इति । यत्र द्वितीयचरणः

यत्राङ्गुलिस्तिलकयेललाटं तन्निशुम्भितम् ।

यद्वा वृश्चिकहस्तः स्यादभिनेयो महेश्वरः ॥ ६८३ ॥

इति निशुम्भितम् (६३)

पृष्ठतो भ्रामितं पादं सर्वतोमण्डलप्लुतः ।

भ्रामयेचेच्छिरःक्षेत्रे विद्युद्भ्रान्तं तदोच्यते ॥ ६८४ ॥

प्रयोगमस्य च प्राहुरुद्धतानां परिक्रमे ।

इति विद्युद्भ्रान्तम् (६४)

कृत्वा चारीमतिक्रान्तामङ्घ्रिमग्रे प्रसारयेत् ॥ ६८५ ॥

यत्र हस्तौ प्रयोगार्हावतिक्रान्तमदो विदुः ।

इत्यतिक्रान्तम् (६५)

पार्ष्णिभागे कुञ्चितो भवति । उरःस्थलं समुन्नतं च भवति, खटका मुखहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिः यत्र ललाटे तिलकं कुर्यात्; तत् निशुम्भिताख्यं करणं भवति । यद्वा वृश्चिकहस्तव्यापारः स्यात् । तच्च महेश्वरस्य अभिनये प्रयोज्यम् ॥ ६८२, ६८३ ॥

इति निशुम्भितम् (६३)

(सु०) विद्युद्भ्रान्तं लक्षयति—पृष्ठत इति । यत्र पृष्ठतः पार्श्वतो मण्डलगत्या भ्रामयित्वा, पादः शिरःक्षेत्रे भ्राम्यते, तत्र विद्युद्भ्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च उद्धतपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ ६८४, ६८४- ॥

इति विद्युद्भ्रान्तम् (६४)

(सु०) अतिक्रान्तं लक्षयति—कृत्वेति । यत्र अतिक्रान्तां चारीं कृत्वा, अनन्तरं चरणमग्रे प्रसारयेत् । हस्तौ च यत्र प्रयोगानुगुणं भवेताम् । तत्र अतिक्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च अतिक्रान्तमदे प्रयोज्यम् ॥ -६८५, ६८५- ॥

इत्यतिक्रान्तम् (६५)

विशुद्भ्रान्तादण्डपादे क्रमाचार्यौ विधाय चेत् ॥ ६८६ ॥

उद्वेष्टितापवेष्टाभ्यामेकमार्गगतौ करौ ।

रेचयन्नग्रतः पृष्ठे पार्श्वयोर्विक्षिपेत्तदा ॥ ६८७ ॥

विक्षिप्तमभिनेतव्यस्तेनोद्धतपरिक्रमः ।

इति विक्षिप्तम् (६६)

करं चरणमाक्षिप्य यत्र त्रिकविवर्तनम् ॥ ६८८ ॥

करोऽपरो रेचितश्च तद्वदन्ति विवर्तितम् ।

इति विवर्तितम् (६७)

डोलापादा यदा चारी करिहस्तोऽस्य कर्णगः ॥ ६८९ ॥

क्रियाविष्टः करोऽन्वर्थं गजविक्रीडितं तदा ।

इति गजविक्रीडितम् (६८)

(सु०) विक्षिप्तं लक्षयति—विद्युदिति । विशुद्भ्रान्ताख्यां दण्डपादाख्यां च चारीद्वयं कृत्वा, उद्वेष्टितापवेष्टिताभ्यां च हस्तौ एकमार्गवर्तिनौ कुञ्चितौ कुर्वन्, अग्रे पृष्ठे पार्श्वद्वये च यदा विक्षिप्येते, तदा विक्षिप्ताख्यं करणं भवति । तच्च उद्धतपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ -६८६, ६८७- ॥

इति विक्षिप्तम् (६६)

(सु०) विवर्तितं लक्षयति—करमिति । यत्र करं चरणं चाक्षिप्य त्रिकं विवर्त्यते, अपरो हस्तः रेचितो भवति, तत्र विवर्तिताख्यं करणं भवति ॥ -६८८, ६८८- ॥

इति विवर्तितम् (६७)

(सु०) गजविक्रीडितं लक्षयति—डोलेति । यत्र डोलापादाख्यां चारीं कृत्वा, करिहस्तः करः कर्णगतः सन् व्यापराविष्टो भवति । तदा अन्वर्थ-नामकं गजविक्रीडिताख्यं करणं भवति ॥ -६८९, ६८९- ॥

इति गजविक्रीडितम् (६८)

सूचीपादो नतं पार्श्वं वक्षस्थः खटकामुखः ॥ ६९० ॥

वामोऽलपल्लवो गण्डक्षेत्रे चेद्वण्डसूचि तत् ।

क्षेत्रेऽत्र केचिदिच्छन्ति सूचीपादं परे पुनः ॥ ६९१ ॥

सूचीमुखं नृत्तहस्तमन्येऽभिनयहस्तकम् ।

करणेनाभिनेतव्या कपोलालंकृतिस्तदा ॥ ६९२ ॥

इति गण्डसूची(चि) (६९)

लतारेचितकौ हस्तौ वृश्चिकाङ्घ्रिः समुन्नतम् ।

उरो यत्र तदन्वर्थाभिधानं गरुडप्लुतम् ॥ ६९३ ॥

इति गरुडप्लुतम् (७०)

दण्डपादाख्यया चार्या यद्वातिक्रान्तया द्रुतम् ।

उत्क्षिप्य पात्यमानेऽङ्घ्रावग्रे चेत्तालिकां करौ ॥ ६९४ ॥

(सु०) गण्डसूचि लक्षयति—सूचीति । यत्र सूच्याख्यश्वरणः, पार्श्वं नतम्, वक्षसि दक्षिणहस्तः खटकामुखः, वामश्च गण्डक्षेत्रे अलपल्लवो भवति ; तदा गण्डसूच्याख्यं करणं भवति । अत्र केचित् गण्डक्षेत्रे सूचीपादमिच्छन्ति । परे पुनः सूचीमुखं नृत्तहस्तमिच्छन्ति । अन्ये अभिनयहस्तकमिच्छन्ति । तच्च कपोलालंकृतौ प्रयोज्यम् ॥ -६९०-६९२ ॥

इति गण्डसूचि (६९)

(सु०) गरुडप्लुतं लक्षयति—लतारेचितकाविति । यत्र हस्तौ लतारेचितकौ ; पादौ च वृश्चिकः ; उरः समुन्नतम् ; तत्र अन्वर्थाभिधानं गरुडप्लुतं भवति ॥ ६९३ ॥

इति गरुडप्लुतम् (७०)

(सु०) तलसंस्फोटितं लक्षयति—दण्डपादेति । यत्र दण्डपादाख्यया चार्या वा, अतिक्रान्ताख्यया चार्या वा उपलक्षिते, अङ्घ्रौ तूर्णमुत्क्षिप्य

सशब्दां कुरुतोऽन्वर्थं तलसंस्फोटितं तदा ।

इति तलसंस्फोटितम् (७१)

समपादस्तु पृष्ठे चेन्निहितश्चरणोऽपरः ॥ ६९५ ॥

मुष्टिर्वक्षःस्थितो हस्तोऽप्यर्धचन्द्रः कटीतटे ।

पार्श्वजानु तदा ज्ञेयं योज्यं युद्धनियुद्धयोः ॥ ६९६ ॥

इति पार्श्वजानु (७२)

पृष्ठेऽङ्घ्रिः प्रसृतो भूमिश्छिष्टाङ्गुष्ठौ लताकरौ ।

यदा तदा महापक्षियुद्धे गृध्रावलीनकम् ॥ ६९७ ॥

इति गृध्रावलीनकम् (७३)

पात्यमाने सति, अग्रे यदि हस्तौ सशब्दां तालिकां विदधाते; तदा तलसंस्फोटितारूपं करणं भवति ॥ ६९४, ६९४- ॥

इति तलसंस्फोटितम् (७१)

(सु०) पार्श्वजानु लक्षयति—समपादेति । यत्र समपादोरूपं यथा तथा पृष्ठे पादौ निहितौ भवति । एको हस्तो मुष्टितामेत्य वक्षसि वर्तते । अन्योऽपि अर्धचन्द्राभूय कटीतटे संतिष्ठते; तत्र पार्श्वजान्वाख्यं करणं भवति । तच्च युद्धनियुद्धयोः प्रयोज्यम् ॥ -६९५, ६९६ ॥

इति पार्श्वजानु (७२)

(सु०) गृध्रावलीनकं लक्षयति—पृष्ठ इति । यत्र पृष्ठप्रदेशे चरणः प्रसरति; भूमिं छिष्टः श्रित अङ्गुष्ठो ययोः, तथाविधौ लताकरौ भवतः; तदा गृध्रावलीनकारूपं करणं भवति । तच्च महापक्षियुद्धे प्रयोज्यम् ॥ ६९७ ॥

इति गृध्रावलीनकम् (७३)

उत्क्षिप्य कुञ्चितः पादः पात्यते भूमिमस्पृशन् ।
खटकाख्यश्च तद्विक्रो हस्तो वक्षस्यथापरः ॥ ६९८ ॥
अलपद्मः शिरोदेशे तथैवाङ्गान्तरं क्रमात् ।
यत्र तच्छार्ङ्गदेवेन गदितं सूचि विस्मये ॥ ६९९ ॥

इति सूचि (७४)

सूच्येवैकाङ्गरचितमर्धसूचि प्रचक्षते ।

इत्यर्धसूचि (७५)

पक्षवञ्चितको वार्धचन्द्रो हस्तः कटीगतः ॥ ७०० ॥
खटकाख्योऽपरो वक्षस्यन्यपार्ष्णिस्थितोऽपरः ।
सूच्यङ्घ्रिश्चेत्तदा सूचीविद्धं चिन्तादिगोचरम् ॥ ७०१ ॥

इति सूचीविद्धम् (७६)

(सु०) सूचि लक्षयति—उत्क्षिप्येति । यत्र चरणमूर्ध्वमुत्क्षिप्य भूमि-
स्पर्शनं विनैव कुञ्चितं च कुर्यात् । तद्विशि वर्तमानो हस्तः खटकामुखो वक्षसि
भवति । अथ अपरः करः अलपद्मतामेत्य शिरःप्रदेशगतो भवति । एवमेव
अङ्गान्तरमपि कृतं चेत् ; तदा सूच्याख्यं करणं भवति । तच्च विस्मये
प्रयोज्यम् ॥ ६९८, ६९९ ॥

इति सूचि (७४)

(सु०) अर्धसूचि लक्षयति—सूचीति । एकाङ्गरचितं सूच्येव अर्ध-
सूच्याख्यं करणं भवति ॥ ६९९- ॥

इत्यर्धसूचि (७५)

(सु०) सूचीविद्धं लक्षयति—पक्षवञ्चितक इति । यत्र एकः करः
पक्षवञ्चितको वा अर्धचन्द्रो वा कटीगामी भवति ; वक्षसि अन्यः करः
खटकामुको भवति । अन्यचरणस्य पार्ष्णिप्रदेशे अन्यः चरणः सूची भवति

हरिणप्लुतया चार्या डोलाखटकहस्तकम् ।

हरिणप्लुतमाख्यातं नामोक्तविनियोगकम् ॥ ७०२ ॥

इति हरिणप्लुतम् (७७)

ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ सूच्यङ्घ्रिर्यत्र बद्धया ।

विवृतोऽथ भ्रमरिका परिवृत्तं तदुच्यते ॥ ७०३ ॥

इति परिवृत्तम् (७८)

चारीनूपुरपादोऽथ दण्डपादाद् द्रुतः करः ।

दण्डवन्यस्यते यत्र दण्डपादं तदुच्यते ॥ ७०४ ॥

सूरयो विनियुञ्जन्ति तत्साटोपपरिक्रमे ।

इति दण्डपादम् (७९)

चेत्, तदा सूचीविद्धाख्यं करणं भवति । तच्च चिन्तादिगोचरे प्रयोज्यम् ॥
॥ -७००, ७०१ ॥

इत्यर्धसूचि (७६)

(सु०) हरिणप्लुतं लक्षयति—हरिणेति । यत्र हरिणप्लुताख्यां चारीं कृत्वा, हस्तौ च क्रमात् डोलाखटकामुखौ भवतः । तदा हरिणप्लुताख्यं करणं भवति । तस्य विनियोगस्तु नाग्नैव बोध्यः ॥ ७०२ ॥

इति हरिणप्लुतम् (७७)

(सु०) परिवृत्तं लक्षयति—ऊर्ध्वेति । हस्तौ ऊर्ध्वमण्डलिनौ यत्र; अङ्घ्रिश्च सूची; बद्धया चार्या यत्र विवर्तनेन भ्रमरिका; तत् परिवृत्ताख्यं करणं भवति ॥ ७०३ ॥

इति परिवृत्तम् (७८)

(सु०) दण्डपादं लक्षयति—चारीति । यत्र प्रथमं नूपुरपादाख्या

हस्तौ चेद्रेचिताकारौ वृश्चिकाङ्घ्रिं निकुञ्च्य च ॥ ७०५ ॥

भ्रमरी क्रियतेऽन्वर्थं मयूरललितं तदा ।

इति मयूरललितम् (८०)

डोलापादाख्यचारीकादङ्घ्रेरन्याङ्घ्रिणा यदा ॥ ७०६ ॥

उत्प्लुत्य भ्रमरीं कुर्याद्भवेत्प्रेङ्खोलितं तदा ।

इति प्रेङ्खोलितम् (८१)

कृत्वा मृगप्लुतां चारीं कृतोऽङ्घ्रिः स्वस्तिकोऽग्रतः ॥ ७०७ ॥

डोलौ हस्तौ संनतं तदधमापसृतौ भवेत् ।

इति संनतम् (८२)

चारी ; ततो दण्डपादाख्या ; हस्तश्च शीघ्रं दण्डवत् न्यस्यते, तत् दण्डपा-
दाख्यं करणं भवति । तच्च साटोपपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ ७०४, ७०४- ॥

इति दण्डपादम् (७९)

(सु०) मयूरललितं लक्षयति—हस्ताविति । यत्र हस्तौ रेचितौ
विधाय, वृश्चिकपादं निकुञ्च्य संकोच्य, भ्रमरी चारी च यत्र क्रियते ; तत्र
अन्वर्थनामकं मयूरललिताख्यं करणं भवति ॥ -७०५, ७०५- ॥

इति मयूरललितम् (८०)

(सु०) प्रेङ्खोलितं लक्षयति—डोलेति । एकाङ्घ्रिणा दोलापादाख्या
चारी यस्मिन्, तथाविधात् अङ्घ्रेः अन्येन चरणेन यदा उत्प्लुत्य भ्रमरी
क्रियते ; तदा प्रेङ्खोलिताख्यं करणं भवति ॥ -७०६, ७०६- ॥

इति प्रेङ्खोलितम् (८१)

(सु०) संनतं लक्षयति—कृत्वेति । यत्र मृगप्लुताख्यां चारीं कृत्वा,
अग्रतः अङ्घ्रिः स्वस्तिकः क्रियते, हस्तौ च डोलाख्यौ क्रियेते, तदा संनताख्यं
करणं भवति । तच्च अधमापसृतौ प्रयोज्यम् ॥ -७०७, ७०७- ॥

इति संनतम् (८२)

अञ्चितेऽपसरत्यङ्घ्रावन्याङ्घ्रेर्नामितं शिरः ॥ ७०८ ॥

तस्मिन्पार्श्वे करोऽप्येष रेचितोऽङ्गान्तरं तथा ।

यत्र तत्सर्पितं मत्तस्योपसर्पापसर्पणे ॥ ७०९ ॥

इति सर्पितम् (८३)

वामथेत्वटको वक्षस्युद्वेष्टिततया परः ।

त्रिपताकः करः कर्णे तद्विकश्चरणोऽञ्चितः ॥ ७१० ॥

निष्क्रम्यते यदा प्रोक्तं करिहस्तं तदा बुधैः ।

इति करिहस्तम् (८४)

हस्तो यो रेचितस्तद्विपादश्चेद्भूमिघर्षणात् ॥ ७११ ॥

चरेत्पादान्तरान्मन्दं मन्दमन्यो लताकरः ।

तदा खेचरसंचारगोचरं स्यात्प्रसर्पितम् ॥ ७१२ ॥

इति प्रसर्पितम् (८५)

(सु०) सर्पितं लक्षयति—अञ्चित इति । यत्र एकाङ्घ्रौ अञ्चितीभूय, अन्याङ्घ्रेः अपसरति सति, शिरो नम्यते । तत्पार्श्वे एव करोऽप्येष रेचितो यदि भवति; तथा अङ्गान्तरमप्येवं क्रियते चेत्, तत् सर्पितारूपं करणं भवति । तच्च मत्तस्य उपसर्पणे, अपसर्पणे च प्रयोज्यम् ॥ -७०८, ७०९ ॥

इति सर्पितम् (८३)

(सु०) करिहस्तं लक्षयति—वाम इति । यत्र वामहस्तः खटकामुखतामेत्य वक्षसि भवति । अन्यो हस्तः उद्वेष्टितक्रियया त्रिपताकीभूय कर्णगतो भवति । तद्विगवस्थितः चरणोऽञ्चितः सन् निष्क्रम्यते; तत्र करिहस्ताख्यं करणं भवति ॥ ७१०, ७१०- ॥

इति करिहस्तम् (८४)

(सु०) प्रसर्पितं लक्षयति—हस्त इति । यत्र एको हस्तो रेचितो

बद्धापक्रान्तयोश्चार्योः कृतयोर्हस्तयोः पुनः ।
तत्तत्प्रयोगानुगयोरपक्रान्तमुदाहृतम् ॥ ७१३ ॥

इत्यपक्रान्तम् (८६)

अधोमुखाङ्गुली हस्तौ पताकौ चेच्छिरःस्थलम् ।
आनीय परिवृत्तेन निष्क्रम्योर्ध्वासयोस्तयोः ॥ ७१४ ॥
मिथोमुखाववस्थाप्य स्वदेहाभिमुखाङ्गुली ।
नितम्बाख्यौ विधीयेते नितम्बं करणं तदा ॥ ७१५ ॥

इति नितम्बम् (८७)

डोलापादाङ्घ्रिगमनागमने हंसपक्षकः ।

भवति । तद्दिगवस्थित एकश्चरणो भूमिं वर्षयेत्, अन्यश्चरणो मन्दं मन्दं
चार्यते, अन्यो हस्तो लताकरो भवति । तत्र प्रसर्पिताख्यं करणं भवति ।
तच्च खेचरसंचारे कार्यम् ॥ -७११, ७१२ ॥

इति प्रसर्पितम् (८५)

(सु०) अपक्रान्तं लक्षयति—बिद्धेति । बद्धापक्रान्ताख्यचारीद्वयं यत्र
क्रियते, हस्तद्वयमपि तत्प्रयोगानुसारि भवति, तत्र अपक्रान्ताख्यं करणं
भवति ॥ ७१३ ॥

इत्यपक्रान्तम् (८६)

(सु०) नितम्बं लक्षयति—अधोमुखेति । यत्र अधोमुखा अङ्गुलयो
ययोः, तथाविधौ पताकाख्यौ करौ शिरःप्रदेशं प्राप्य, परिवृत्तेन अंसयोरूर्ध्वं
निष्क्रम्य मिथोमुखमवस्थाप्य, तदेव स्वदेहाभिमुखाङ्गुलीकं नितम्बीक्रियते,
तत् नितम्बाख्यं करणं भवति ॥ ७१४, ७१५ ॥

इति नितम्बम् (८७)

(सु०) खलितं लक्षयति—डोलेति । यत्र डोलापादाख्या चारी ।

अभ्येत्याथेत्यमन्याङ्गं यत्र तत्स्खलितं मतम् ॥ ७१६ ॥

इति स्खलितम् (८८)

कृत्वालातां पुरोऽङ्घ्रिं चेद् द्रुतं न्यस्य चपेटवत् ।

कृतो हस्तस्तथान्याङ्गं सिंहविक्रीडितं तदा ॥ ७१७ ॥

एतद्रौद्रगतौ योज्यं ब्रूते श्रीकरणाग्रणीः ।

इति सिंहविक्रीडितम् (८९)

वृश्चिकोऽङ्घ्रिः पद्मकोशौ वोर्णनाभौ यदा करौ ॥ ७१८ ॥

अन्याङ्घ्रौ वृश्चिके पाञ्चौ भङ्क्त्वा तौ तादृशौ पुनः ।

कृतौ सिंहाभिनयने सिंहाकर्षितकं तदा ॥ ७१९ ॥

इति सिंहाकर्षितम् (९०)

अङ्घ्रिणा गमनागमने हंसपक्षाख्यः करः चरणानुगतो भवति; तदा स्खलिताख्यं करणं भवति ॥ ७१६ ॥

इति स्खलितम् (८८)

(सु०) सिंहविक्रीडितं लक्षयति—कृत्वेति । यत्र अलाताख्यां चारौ कृत्वा, अङ्घ्रिः पुरःप्रदेशे द्रुतं न्यस्यते, हस्तः चपेटाकारः कृतो भवति; तथा अन्याङ्गमप्येवं क्रियते, तत्र सिंहविक्रीडिताख्यं करणं भवति । तच्च रौद्रगतौ योज्यम् ॥ ७१७, ७१७- ॥

इति सिंहविक्रीडितम् (८९)

(सु०) सिंहाकर्षितं लक्षयति—वृश्चिक इति । यत्र वृश्चिकाख्यश्चरणः, करौ पद्मकोशौ ऊर्णनाभौ वा भवतः । अन्याङ्घ्रौ वृश्चिके सति, पूर्वकृतौ करौ भङ्क्त्वा, पुनस्तादृशावेव करौ क्रियेते; तदा सिंहाकर्षिताख्यं करणं भवति । तच्च सिंहाभिनयने प्रयोज्यम् ॥ -७१८, ७१९ ॥

इति सिंहाकर्षितम् (९०)

विधाय जनितां चारीं यद्यरालालपल्लवौ ।
ललाटवक्षःक्षेत्रस्थौ हस्तावभिमुखाङ्गुली ॥ ७२० ॥
क्रमात्कृत्वोद्वेष्टितेन व्यावृत्त्या पार्श्वगौ ततः ।
वाक्षोदेशेऽपवेष्टेन परिवृत्त्या च तादृशौ ॥ ७२१ ॥
मिथोमुखौ निधीयेते तदा स्यादवहित्यकम् ।
गोपनप्रायवाक्यार्थाभिनये तन्नियुज्यते ॥ ७२२ ॥
अन्येऽवहित्यहस्तेन युक्तत्वादवहित्यकम् ।
वदन्ति चिन्तादौर्बल्यप्रभृत्यभिनयक्षमम् ॥ ७२३ ॥

इत्यवहित्यकम् (९९)

यत्र वक्षसि निर्भुग्ने निहितौ खट्कामुखौ ।
मण्डलस्थानकं तत्तु निवेशं गजवाहने ॥ ७२४ ॥
इति निवेशम् (९२)

(सु०) अवहित्यकं लक्षयति—विधायेति । यत्र जनितां चरीं कृत्वा,
हस्तौ अरालालपल्लवतामेत्य, अभिमुखाङ्गुलीभूय, ललाटवक्षःक्षेत्रस्थौ क्रमात्
भवतः । तत उद्वेष्टितव्यावृत्तिभ्यां पार्श्वमागम्य, अपवेष्टितपरिवृत्तिभ्यां
पार्श्वमागम्य, अपवेष्टितपरिवृत्तिभ्यां वक्षःस्थले तादृशावेव मिथोमुखौ क्रियेते ;
तत् अवहित्यकाख्यं करणं भवति । तच्च गोपनप्रायवाक्यार्थाभिनये कार्यम् ।
अन्ये तु अवहित्यहस्तयुक्तमाहुः । तच्च चिन्तादौर्बल्यप्रभृतावपि कार्यमाहुः ॥
॥ ७२०-७२३ ॥

इत्यवहित्यकम् (९९)

(सु०) निवेशं लक्षयति—यत्रेति । यत्र निर्भुग्ने वक्षःस्थले खट्का-
मुखौ हस्तौ निधीयेते, मण्डलस्थानकं च यत्र क्रियेते ; तत् निवेशाख्यं करणं
भवति । तच्च गजवाहने कार्यम् ॥ ७२४ ॥

इति निवेशम् (९२)

एडकाक्रीडिता चारी चेड्डोलाखटकौ करौ ।
 संनतं वलितं गात्रमेडकाक्रीडितं तदा ॥ ७२५ ॥
 अधमप्रकृतिप्राणिगतिगोचरमिष्यते ।

इत्येडकाक्रीडितम् (९३)

चारी चेज्जनिता मुष्टिर्वक्षस्थोऽन्यो लताकरः ॥ ७२६ ॥
 यदा तदा क्रियारम्भाभिनये जनितं भवेत् ।

इति जनितम् (९४)

आक्षिप्तां वामतश्चारीं व्यावृत्तपरिवर्तितम् ॥ ७२७ ॥
 करं कृत्वा नते पार्श्वे दक्षिणेऽलतां नयेत् ।
 यत्र तत्स्यादुपसृतं विनयेनोपसर्पणे ॥ ७२८ ॥

इत्युपसृतम् (९५)

(सु०) एडकाक्रीडितं लक्षयति—एडकेति । यत्र प्रथमम् एडकाक्री-
 डिता चारी क्रियते; ततो डोलाखटकौ हस्तौ, गात्रं संनतं वलितं च भवति ।
 तत् एडकाक्रीडिताख्यं करणं भवति । तच्च अधमप्रकृतिप्राणिगतिगोचरे
 कार्यम् ॥ ७२५, ७२५- ॥

इत्येडकाक्रीडितम् (९३)

(सु०) जनितं लक्षयति—चारीति । यत्र जनिता चारी, एको हस्तो
 मुष्टितामेत्य वक्षःस्थो भवति, अन्यो हस्तः लताकरो भवति; तत् जनिताख्यं
 करणं भवति । तच्च क्रियारम्भाभिनये प्रयोज्यम् ॥ -७२६, ७२६- ॥

इति जनितम् (९४)

(सु०) उपसृतं लक्षयति—आक्षिप्तामिति । यत्र वामे आक्षिप्ता
 चारी क्रियते; ततो हस्तः व्यावृत्तपरिवर्तितो भूत्वा आस्ते, दक्षिणापार्श्वे

डोलापादां भजंश्चारीं संघट्टिततलौ करौ ।
पताकौ रेचयित्वा चेद्वैष्णवे स्थानके स्थितः ॥ ७२९ ॥
कटिस्थं दक्षिणं हस्तं वामं रेचितमाचरेत् ।
अनुकम्पाविधाने स्यात्तलसंघट्टितं तदा ॥ ७३० ॥

इति तलसंघट्टितम् (९६)

यत्र प्रसारितानीतं हस्तपादं विधीयते ।
गात्रमुद्धृतचारीकं तदुद्धृतं विदुर्बुधाः ॥ ७३१ ॥
इत्युद्धृतम् (९७)

नग्रीभूते सति, अरालं यत्र कुर्यात्, तत्र उपसृताख्यं करणं भवति । तच्च
उपसर्पणे कार्यम् ॥ -७२७, ७२८ ॥

इत्युपसृतम् (९५)

(सु०) तलसंघट्टितं लक्षयति—डोलापादामिति । यत्र डोलापादाख्या
चारी; ततः, संघट्टिततलौ हस्तौ पताकौ रेचितौ विधाय, ततो वैष्णवाख्ये
स्थानके स्थितः सन्, दक्षिणहस्तं कक्षां स्थापयित्वा, वामहस्तो रेचितश्च
भवति; तत् तलसंघट्टिताख्यं करणं भवति । तच्च अनुकम्पाविधाने कार्यम् ॥
॥ ७२९, ७३० ॥

इति तलसंघट्टितम् (९६)

(सु०) उद्धृतं लक्षयति—यत्रेति । यत्र हस्तपादं प्रसारितानीतम्,
गात्रं च उद्धृताख्यचारीकं च क्रियते, तत्र उद्धृतं नाम करणं भवति ॥
॥ ७३१ ॥

इत्युद्धृतम् (९७)

कुञ्चितः प्रसरत्यङ्घ्रिरग्रे यत्रोद्गमोन्मुखः ।

करौ च रेचितौ विष्णुक्रान्तं तत्क्रमणे हरेः ॥ ७३२ ॥

इति विष्णुक्रान्तम् (९८)

रेचितः पाणिरेकः स्यादक्षस्यन्योऽलपल्लवः ।

लोलितं शीर्षमुभयोर्विश्रान्तं पार्श्वयोरपि ॥ ७३३ ॥

वैष्णवं स्थानकं यत्र तदाहुर्लोलितं बुधाः ।

इति लोलितम् (९९)

स्वस्तिकापसृतौ पादौ क्रमेण परिवाहितम् ॥ ७३४ ॥

शिरो ढोलौ यदा हस्तौ मदस्खालेतकं तदा ।

एतन्मध्यमदे योज्यं भाषते भववल्लभः ॥ ७३५ ॥

इति मदस्खलितम् (१००)

(सु०) विष्णुक्रान्तं लक्षयति—कुञ्चित इति । यत्र उद्गमनाय उन्मुखः चरणः अग्रे कुञ्चितः प्रसरति, करौ च रेचितौ । तत् विष्णुक्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च तत्क्रमणे कार्यम् ॥ ७३२ ॥

इति विष्णुक्रान्तम् (९८)

(सु०) लोलितं लक्षयति—रेचित इति । यत्र एको हस्तो वक्षसि रेचितः, अन्य अलपल्लवः शीर्षं पार्श्वद्वये लोलितं विश्रान्तं च, ततो वैष्णव-स्थानकं च भवति । तत् लोलिताख्यं करणं भवति ॥ ७३३, ७३३- ॥

इति लोलितम् (९९)

(सु०) मदस्खलितं लक्षयति—स्वस्तिकेति । यत्र पादौ क्रमेण स्वस्तिकापसृतौ; शिरश्च परिवाहितं भवति; यदा हस्तौ च ढोलौ भवतः । तत्र मदस्खलिताख्यं करणं भवति । तच्च मध्यमदे कार्यम् ॥ -७३४, ७३५ ॥

इति मदस्खलितम् (१००)

आविद्धां विदधच्चारीं व्यावृत्तपरिवर्तितम् ।
अलपद्मकरं न्यस्येदूरुपृष्ठे यदा तदा ॥ ७३६ ॥
संभ्रान्तं तत्प्रयोक्तव्यं ससंभ्रमपरिक्रमे ।

इति संभ्रान्तम् (१०१)

अपेत्योपमृजेद्वामं दक्षिणो नृत्तहस्तकः ॥ ७३७ ॥
सूचीमुखो निकुटयेत साङ्घ्रिर्वात्मकरो हृदि ।
तद्वदङ्गान्तरं कृत्वा सूचीपादश्च दक्षिणः ॥ ७३८ ॥
हस्तोऽसावलपद्मः स्याद्वामहस्तस्तु पूर्ववत् ।
एवं पुनः पुनर्यत्र विष्कम्भं तद्वभाषिरे ॥ ७३९ ॥

इति विष्कम्भम् (१०२)

उद्धटितोऽङ्घ्रिः पार्श्वं तत्संनतं तालिकोद्यतौ ।

(सु०) संभ्रान्तं लक्षयति—आविद्धामिति । यत्र आविद्धाख्यां चारीं विधाय, व्यावृत्तपरिवर्तनानन्तरम् अलपद्माख्यं कमूरुपृष्ठे यदा क्षिपेत्, तदा संभ्रान्ताख्यं करणं भवति । तच्च ससंभ्रमपरिक्रमे प्रयोज्यम् ॥ ७३६, ७३६-॥

इति संभ्रान्तम् (१०१)

(सु०) विष्कम्भं लक्षयति—अपेत्येति । यत्र वाममपेत्य दक्षिणः सूची-मुखात् नृत्तहस्त उपमृज्य, वामहस्तसमीपं गच्छेत्, दक्षिणो निकुटितो भवति, वामहस्तश्च हृदये स्थाप्यः । एवमङ्गान्तरेऽपि कृत्वा, दक्षिणः पादः सूची, दक्षिणो हस्त अलपद्मः, वामस्तु पूर्ववत्; एवं पुनः पुनरावृत्तौ विष्कम्भाख्यं करणं भवति ॥ -७३७-७३९ ॥

इति विष्कम्भम् (१०२)

(सु०) उद्धटितं लक्षयति—उद्धटित इति । यत्र उद्धटितः चरणः,

हस्तौ यत्रोदघटितं तदावृत्ताङ्गं प्रमोदकम् ॥ ७४० ॥

इत्युदघटितम् (१०३)

शकटास्या भवेच्चारी प्रसार्येताङ्घ्रिणा सह ।

एको हस्तो द्वितीयस्तु वक्षस्थः खटकामुखः ॥ ७४१ ॥

यत्र तच्छकटास्यं स्यात्तादृशे बालखेलने ।

इति शकटास्यम् (१०४)

सहोरुद्वृत्तया चार्या यत्र व्यावर्तनान्वितौ ॥ ७४२ ॥

अरालखटकौ हस्तौ निदध्यादुरुपृष्ठयोः ।

ऊरुद्वृत्तं तदीर्ष्यायां प्रार्थनाप्रेमकोपयोः ॥ ७४३ ॥

इत्यूरुद्वृत्तम् (१०५)

पार्श्वे च संनतम् । हस्तौ तालिकोयतौ भवतः, तत् आवृत्ताङ्गमुदघटिताख्यं कारणं भवति । तच्च प्रमोदे प्रयोज्यम् ॥ ७४० ॥

इत्युदघटितम् (१०३)

(सु०) शकटास्यं लक्षयति—शकटास्येति । यत्र शकटास्या चारी, चरणेन सह एको हस्तः प्रसारितः; द्वितीयस्तु खटकामुखीभूय वक्षःस्थो भवति; तत् शकटास्याख्यं कारणं भवति । तच्च तादृशे बालखेलने कार्यम् ॥ ७४१, ७४१- ॥

इति शकटास्यम् (१०४)

(सु०) ऊरुद्वृत्तं लक्षयति—सहेति । यत्र उरुद्वृत्तया चार्या सह, व्यावर्तनेनोपलक्षितौ अरालखटकामुखौ हस्तौ ऊरुपृष्ठयोः निधीयेते; तत् ऊरुद्वृत्ताख्यं कारणं भवति । तच्च ईर्ष्यायाम्, प्रार्थनायाम्, प्रेम्णि, कोपे च प्रयोज्यम् ॥ -७४२, ७४३ ॥

इत्यूरुद्वृत्तम् (१०५)

अलातां विदधचारीं हस्तौ कुर्वीत रेचितौ ।
व्यावृत्त्या कुञ्चितौ कृत्वा लपद्भौ बाहुशीर्षयोः ॥ ७४४ ॥
न्यस्येते यत्र तद्धीरा वृषभक्रीडितं जगुः ।

इति वृषभक्रीडितम् (१०६)

हस्तौ चेद्रेचितौ स्यातां शिरस्तु परिवाहितम् ॥ ७४५ ॥
स्वस्तिकापसृतौ पादौ तदा नागापसर्पितम् ।
प्राहुः प्रयोगमेतस्य सूरयस्तरुणे मदे ॥ ७४६ ॥

इति नागापसर्पितम् (१०७)

अङ्घ्रेरुत्क्षेपनिक्षेपावनु प्रोन्नतिसंनती ।
भजेतां त्रिपताकौ चेदेवमेव शिरस्तदा ॥ ७४७ ॥
गङ्गावतरणं गङ्गावतारे शार्ङ्गिणोदितम् ।

इति गङ्गावतरणम् (१०८)

(सु०) वृषभक्रीडितं लक्षयति—अलातामिति । यत्र अलाताख्या चारीकरणसमये हस्तौ रेचितौ विदध्यात् । ततो व्यावर्तनं कृत्वा कुञ्चितौ अलपद्माख्यौ करौ क्रमेण बाहुशीर्षयोः अवक्षिप्येते; तदा वृषभक्रीडिताख्यं करणं भवति ॥ ७४४, ७४४- ॥

इति वृषक्रीडितम् (१०६)

(सु०) नागापसर्पितं लक्षयति—हस्ताविति । यत्र हस्तौ रेचितौ भवतः; शिरस्तु परिवाहितं भवति; पादौ स्वस्तिकापसृतौ भवतः; तत् नागापसर्पिताख्यं करणं भवति । तच्च तरुणे मदे प्रयोज्यम् ॥ ७४५, ७४६ ॥

इति नागापसर्पितम् (१०७)

(सु०) गङ्गावतरणं लक्षयति—अङ्घ्रेति । यत्र चरणस्य उत्क्षेपविक्षेपो,

कर्तव्यः करणे प्रायो वामो वक्षःस्थितः करः ॥ ७४८ ॥

पाणिस्तु दक्षिणस्तत्र स्यात्तत्तत्करणानुगः।

इत्यष्टोत्तरशतं करणानि ।

अथ देश्यनुसारेण देशे देशे लसद्यशाः ॥ ७४९ ॥

वदत्युत्प्लुतिपूर्वाणि करणानि हरप्रियः ।

अश्रितं चैकचरणाश्रितं स्याद्भैरवाश्रितम् ॥ ७५० ॥

दण्डप्रणामाश्रितं च कर्तर्यश्रितकं ततः ।

अलगं त्रीणि कूर्मोर्ध्वान्तरपूर्वाल्लगानि च ॥ ७५१ ॥

ततः उन्नतसंनती च त्रिपताकहस्तौ भवतः; शिरश्चैवमेव भवति; तदा गङ्गावतरणारूपं करणं भवति । तच्च गङ्गावतारे प्रयोज्यम् ॥ ७४७, ७४७- ॥

इति गङ्गावतरणम् (१०८)

(क०) सकलकरणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—कर्तव्यः करणे प्राय इति । प्राय इत्यनेन यत्र लक्षणे वामहस्तस्य पृथक्क्रिया नाभिहिता, तत्रेत्यवगन्तव्यम् ॥ -७४८, ४४८- ॥

इत्यष्टोत्तरशतं करणानि ।

(सु०) एवं करणानां लक्षणमुक्त्वा सर्वलक्षणसाधारणं करणसाधारणं करविन्यासमाह—कर्तव्य इति । करणे कर्तव्ये सति, वामः करः प्रायः बाहुल्येन वक्षसि स्थिते, दक्षिणः पाणिस्तु तत्तत्करणानुगतत्वमुपगच्छतीति ॥ ७४८, ७४८- ॥

इत्यष्टोत्तरशतं करणानि ।

(क०) अथोत्प्लुतिकरणानि लक्षयितुमाह—अथ देश्यनुसारेणेति । एतेषां भरताद्यनुक्तत्वाच्छुद्धकरणवलक्षणनियमो नाद्रियत इत्यर्थः ।

लोहडी कर्तरीलोहड्येकपादादिलोहडी ।
 ततः स्यादर्पसरणं शयनं जलपूर्वकम् ॥ ७५२ ॥
 नागबन्धं कपालाद्यं चूर्णनं नतपृष्ठकम् ।
 स्यान्मत्स्यकरणं चाथ करस्पर्शनसंज्ञकम् ॥ ७५३ ॥
 एणप्लुतं ततस्तिर्यकरणं तिर्यगञ्चितम् ।
 तिर्यक्स्वस्तिकसंज्ञं च सूच्यन्तमथ कीर्तितम् ॥ ७५४ ॥
 बाह्यान्तश्छत्रतिरिपालगचक्रेऽञ्चितादिमाः ।
 सप्त भ्रमर्यो भ्रमरी शिरःपूर्वा दिगादिमा ॥ ७५५ ॥
 समपादाञ्चितं भ्रान्तपादाञ्चितमतः परम् ।
 स्कन्धभ्रान्तं च षट्त्रिंशदिति सोढलनन्दनः ॥ ७५६ ॥
 संक्षिप्योत्प्लुतिपूर्वाणि करणानि समादिशत् ।

तानुद्दिशति—अञ्चितमित्यादि । कूर्मोर्ध्वान्तरपूर्वालगानीति । कूर्मालग-
 मूर्ध्वालगमन्तरालगमिति त्रीणि । कर्तरीलोहडीत्येकं पदम् । जलपूर्वकं शयनं
 जलशयनमित्येकम् । कपालाद्यं चूर्णनम् । सूच्यन्तमित्युद्देशे स्वतन्त्रमेकम् ।
 शिरःपूर्वा भ्रमरी शिरोभ्रमरी । दिगादिमा भ्रमरीत्यनुषङ्गः, दिग्भ्रम-
 रीति ॥ -७४९-७५६- ॥

(सु०) एवं नृत्यकरणान्युक्त्वा, उत्प्लुतिकरणानि वक्तुं प्रतिजानीते—
 अथेति । हरप्रिय इति सामिप्रयायं विशेषणम् । ईश्वरो हि ताण्डवे उत्प्लुति-
 पूर्वकैः करणैः नृत्यति । ततः तत्प्रीतये तानि कथयतीत्यर्थः । तानि
 षट्त्रिंशद्विधानि । यथा—अञ्चितम्, एकचरणाञ्चितम्, भैरवाञ्चितम्, दण्ड-
 प्रणामाञ्चितम्, कर्तर्यञ्चितम्, अलगम्, कूर्मालगम्, ऊर्ध्वालगम्, अन्तरा-
 लगम्, लोहडी, कर्तरीलोहडी, एकपादलोहडी, दर्पसरणम्, जलशयनम्,
 नागबन्धम्, कपालचूर्णनम्, नतपृष्ठम्, मत्स्यकरणम्, करस्पर्शनम्,

अश्रितं समपादेन स्थित्वोत्तानोत्प्लुतौ भवेत् ॥ ७५७ ॥

इत्यश्रितम् (१)

एकपादाश्रितं तत्स्यादेकपादविनिर्मितम् ।

इत्येकचरणान्वितम् (२)

ऊरुपृष्ठस्थितैकाङ्घ्रेरुत्प्लुतौ भैरवाश्रितम् ॥ ७५८ ॥

इति भैरवाश्रितम् (३)

एणप्लुतम्, तिर्यक्करणम्, तिर्यगश्रितम्, तिर्यक्स्वस्तिकम्, सूच्यन्तानि, बाह्यभ्रमरी, अन्तर्भ्रमरी, छत्रभ्रमरी, तिरिपमभ्रमरी, अलगभ्रमरी, चक्रभ्रमरी, अश्रितभ्रमरी, शिरोभ्रमरी, दिग्भ्रमरी, समपादाश्रितम्, भ्रान्तपादाश्रितम्, स्कन्धभ्रान्तमिति ॥ -७४९-७५६- ॥

(सु०) तेषां क्रमेण लक्षणमाह—अश्रितमिति । समपादेन ; सम-
चरणेन स्थित्वा उत्तानोत्प्लुतौ क्रियमाणायाम् ; अश्रिताख्यं करणं भवति ॥
॥ -७५७ ॥

इत्यश्रितम् (१)

(क०) अश्रितमिति । एतेषां लक्षणानि स्पष्टार्थानि ॥ -७५७-७५९ ॥

(सु०) एकचरणान्वितं लक्षयति—एकेति । एकपादविनिर्मितम्,
एकेन पादेन कल्पितम्, एकपादाश्रिताख्यं करणं भवति ॥ ७५७- ॥

इत्येकचरणान्वितम् (२)

(सु०) भैरवाश्रितं लक्षयति—ऊर्विति । ऊरुपृष्ठस्थितैकाङ्घ्रेः, ऊरुपृ-
ष्ठस्थैकचरणस्य, उत्प्लुतौ, उत्प्लुवने भैरवाश्रिताख्यं करणं भवति
॥ -७५८ ॥

इति भैरवाश्रितम् (३)

उत्प्लुत्याञ्चितवद्यत्र निपतेदण्डवद्भुवि ।

दण्डप्रणामाञ्चितं तद्वदितं नृत्तवेदिभिः ॥ ७५९ ॥

इति दण्डप्रणामाञ्चितम् (४)

अञ्चितं स्वस्तिकाङ्घ्रिभ्यां कर्तर्यञ्चितमुच्यते ।

इति कर्तर्यञ्चितम् (५)

अधोमुखोत्प्लुतोऽग्रे च पतित्वा कुक्कुटासनम् ॥ ७६० ॥

बध्नीयाद्यत्र तत्प्रोक्तमलगं सूरिशार्ङ्गिणा ।

इत्यलगम् (६)

कूर्मासनं यद्यलगे भवेत्कूर्मालगं तदा ॥ ७६१ ॥

इति कूर्मालगम् (७)

(सु०) दण्डप्रणामाञ्चितं लक्षयति—उत्प्लुत्येति । अञ्चितवत् पूर्वोक्ता-
ञ्चितकरणवत्, यत्र भुवि दण्डवन्निपतने दण्डप्रणामाञ्चिताख्यं कारणं
भवति ॥ ७५९ ॥

इति दण्डप्रणामाञ्चितम् (४)

(सु०) कर्तर्यञ्चितं लक्षयति—अञ्चितमिति । अञ्चितस्वस्तिकचर-
णाभ्यां कृतं कर्तर्यञ्चिताख्यं कारणं भवति ॥ ७५९- ॥

इति कर्तर्यञ्चितम् (५)

(सु०) अलगं लक्षयति—अधोमुखेति । अधोमुखमुत्प्लवनं विधाय
अग्रे पतित्वा यत्र कुक्कुटासनं बध्नाति, तत् अलगाख्यं कारणं भवति ॥
॥ -७६०, ७६०- ॥

इत्यलगम् (६)

(सु०) कूर्मालगं लक्षयति—कूर्मासनमिति । यदा पूर्वोक्तालगे कूर्मासनं
बध्यते चेत्, तदा कूर्मालगाख्यं कारणं भवति ॥ -७६१ ॥

इति कूर्मालगम् (७)

ऊर्ध्वालङ्गं तत्पतित्वा समाङ्घ्रेरूर्ध्वसंस्थितौ ।

इत्यूर्ध्वालङ्गम् (८)

कृतालङ्गो निपत्योर्व्यामुत्तानोरःस्थलस्थितः ॥ ७६२ ॥

पृष्ठतः श्रोणिसंस्पर्शि शिरः स्यादन्तरालङ्गे ।

इत्यन्तरालङ्गम् (९)

समपादस्थितो यत्र विवर्त्य त्रिकमुत्प्लुतः ॥ ७६३ ॥

तिर्यक्पाते लोहडी तल्लुठितं चोच्यते बुधैः ।

इति लोहडी, लुठितं वा (१०)

वस्तिकाङ्घ्रिकृता सैव कर्तरीलोहडी मता ॥ ७६४ ॥

इति कर्तरीलोहडी, कर्तरीलुठितं वा (११)

(सु०) ऊर्ध्वालङ्गं लक्षयति—ऊर्ध्वालङ्गमिति । यत्र पतित्वा सम-
चरणस्य ऊर्ध्वसंस्थितिः क्रियते, तदा ऊर्ध्वालङ्गाख्यं करणं भवति ॥ ७६१- ॥

इत्यूर्ध्वालङ्गम् (८)

(सु०) अन्तरालङ्गं लक्षयति—कृतालङ्ग इति । कृतम् अलङ्गं येन,
तथाविधम् उर्व्यां पतित्वा उत्तानम् उरःस्थलं यस्य, तथाविधः स्थितः पृष्ठतः
श्रोणीं स्पृशति शिरो यस्य, तथाविधो यदि भवेत्; तदा अन्तरालङ्गाख्यं
करणं भवति ॥ -७६२, ७६२- ॥

इत्यन्तरालङ्गम् (९)

(सु०) लोहडीं लक्षयति—समपादेति । समपादस्थितः, समाभ्यां
पादाभ्यां स्थितः सन्, त्रिकं विवर्त्य उत्प्लुत्य यत्र तिर्यक्पतेत् सा लोहडी;
तदेव बुधैः लुठितमित्युच्यते ॥ -७६३, ७६३- ॥

इति लोहडी, लुठितं वा (१०)

(सु०) कर्तरीलोहडीं लक्षयति—स्वस्तिकेति । यत्र स्वस्तिकचरण-
कल्पिता लोहडयेव कर्तरीलोहडी भवति ॥ -७६४ ॥

इति कर्तरीलोहडी, कर्तरीलुठितं वा (११)

एकाङ्घ्रिजा त्वेकपादलोहडी संमता सताम् ।

इत्येकपादलोहडी, एकपादलुठितं वा (१२)

वैष्णवे स्थानके स्थित्वा पतेत्पार्श्वेन चेद्भुवि ॥ ७६५ ॥

करणं दर्पसरणं तदाह करणाधिपः ।

इति दर्पसरणम् (१३)

तदेव जलशय्याख्यमासने जलशायिवत् ॥ ७६६ ॥

इति जलशयनम् (१४)

नागबन्धं तदेव स्यान्नागबन्धवदासने ।

इति नागबन्धम् (१५)

(सु०) एकपादलोहडीं लक्षयति—एकेति । एकचरणोद्भवा लोहडी एकपादलोहडी भवति ॥ ७६४- ॥

इत्येकपादलोहडी, एकपादलुठितं वा (१२)

(सु०) दर्पसरणं लक्षयति—वैष्णव इति । यत्र वैष्णवाख्ये स्थानके स्थित्वा, यदि भुवि पार्श्वेन पतेत्; तत् दर्पसरणाख्यं करणं भवति ॥ -७६५, ७६५- ॥

इति दर्पसरणम् (१३)

(सु०) जलशयनं लक्षयति—तदेवेति । तदेव दर्पसरणमेव यत्र जलशायिवत् आसने क्रियमाणे सति ; जलशयनाख्यं करणं भवति ॥ -७६६ ॥

इति जलशयनम् (१४)

(सु०) नागबन्धं लक्षयति—नागबन्धमिति । तदेव दर्पसरणमेव यत्र नागबन्धासने क्रियमाणे सति ; नागबन्धाख्यं करणं भवति ॥ ७६६- ॥

इति नागबन्धम् (१५)

समपादस्थितो यत्र संस्पृश्य शिरसा भुवम् ॥ ७६७ ॥

परावृत्तस्तत्कपालचूर्णनं वर्णितं बुधैः ।

इति कपालचूर्णनम् (१६)

कपालचूर्णनं कृत्वोत्तानं वक्षश्चलासनम् ॥ ७६८ ॥

यत्रोक्तं नतपृष्ठं तद्वङ्कोलमपरैरिदम् ।

इति नतपृष्ठम् (१७)

उत्प्लुत्य मध्यमावर्त्य वामपार्श्वेन मत्स्यवत् ॥ ७६९ ॥

परिवर्तेत चेन्मत्स्यकरणं वर्णितं तदा ।

इति मत्स्यकरणम् (१८)

अलग्नं करणं कृत्वा हस्तेनाश्रित्य च क्षितिम् ॥ ७७० ॥

(सु०) कपालचूर्णं लक्षयति—समपादेति । यत्र समाभ्यां पादाभ्यां स्थितं सत् शिरसा भूमिं स्पृशन् परावृत्तो भवति, तत् कपालचूर्णाख्यं करणं भवति ॥ -७६७, ७६७- ॥

इति कपालचूर्णम् (१६)

(सु०) नतपृष्ठं लक्षयति—कपालेति । यत्र कपालचूर्णनं कृत्वा वक्षसि चलासनं क्रियते, तत् नतपृष्ठाख्यं करणं भवति । तदेव वङ्कोलमित्युच्यते ॥ -७६८, ७६८- ॥

इति नतपृष्ठम् (१७)

(सु०) मत्स्यपृष्ठं लक्षयति—उत्प्लुत्येति । यत्र उत्प्लुत्य मध्यमावर्त्य मत्स्यवत् वामपार्श्वेन परिवर्तेत, तत् मत्स्यकरणं भवति ॥ -७६९, ७६९- ॥

इति मत्स्यकरणम् (१८)

(सु०) करस्पर्शनं लक्षयति—अलग्नमिति । यत्र अलग्नं करणं कृत्वा,

परिवर्तेत यत्राधः करस्पर्शनमूचिरे ।

इति करस्पर्शनम् (१९)

उत्प्लुत्यान्यतमां सूचीं खे कृत्वा भजते क्षितौ ॥ ७७१ ॥

यदोत्कटासनं चोर्ध्वस्थानमेणप्लुतं तदा ।

इत्येणप्लुतम् (२०)

तिर्यगेकेन पादेन समुत्प्लुत्य निपत्य चेत् ॥ ७७२ ॥

तिष्ठेद्भुज्यङ्घ्रिणान्येन स्यात्तिर्यकरणं तदा ।

इति तिर्यकरणम् (२१)

समपादात्परं तिर्यगुत्प्लुतौ तिर्यगञ्चितम् ॥ ७७३ ॥

इति तिर्यगञ्चितम् (२२)

हस्तेन भूमिमाश्रित्य, अधः परिवर्तने कृते सति; करस्पर्शनाख्यं करणं भवति ॥ -७७०, ७७०- ॥

इति करस्पर्शनम् (१९)

(सु०) एणप्लुतं लक्षयति—उत्प्लुत्येति । यत्र उत्प्लवनं विधाय, यां कांचित् सूचीं गगने कृत्वा, यदि भूमौ ऊर्ध्वस्थानमुत्कटासनं क्रियते; तत् एणप्लुताख्यं करणं भवति ॥ ७७१, ७७१- ॥

इत्येणप्लुतम् (२०)

(सु०) तिर्यकरणं लक्षयति—तिर्यगिति । एकेन पादेन तिर्यगुत्प्लुत्य, अन्येन चरणेन भूमौ यदि तिष्ठति, तदा तिर्यक्करणम् ॥ -७७२, ७७२- ॥

इति तिर्यकरणम् (२१)

(सु०) तिर्यगञ्चितं लक्षयति—समपादेति । समपादेन स्थित्वा, तिर्यगुत्प्लवने, तिर्यगञ्चिताख्यं करणं भवति ॥ -७७३ ॥

इति तिर्यगञ्चितम् (२२)

स्यात्तिर्यक्स्वस्तिकं कृत्वा स्वस्तिकं तिर्यगुत्प्लुतौ ।

इति तिर्यक्स्वस्तिकम् (२३)

समाद्यन्यतमां सूचीं दधते निधने यदि ॥ ७७४ ॥

करणानि तदा प्राञ्चि सूच्यन्तानि प्रचक्षते ।

इति सूच्यन्तानि (२४)

दक्षिणेनाङ्घ्रिणा स्थित्वा वाममङ्घ्रिं तु कुञ्चयेत् ॥ ७७५ ॥

वामावर्ता भवेद्यत्र सा बाह्यभ्रमरी मता ।

इति बाह्यभ्रमरी (२५)

एतस्यास्तु विपर्यासादन्तर्भ्रमरिका भवेत् ॥ ७७६ ॥

इत्यन्तर्भ्रमरी (२६)

(सु०) तिर्यक्स्वस्तिकं लक्षयति—स्यादिति । स्वस्तिकं कृत्वा तिर्यगुत्प्लुतौ, तिर्यक्स्वस्तिकारूपं करणं भवति ॥ ७७३-॥

इति तिर्यक्स्तिकम् (२३)

(सु०) सूच्यन्तानि लक्षयति—समादीति । यत्र समाद्यन्यतमां सूचीं भजन्ते, यदि पूर्वोक्तानि करणानि धारयति, तदा सूच्यन्तारूपं करणं भवति ॥ -७७४, ७७४- ॥

इति सूच्यन्तानि (२४)

(सु०) बाह्यभ्रमरीं लक्षयति—दक्षिणेनेति । यत्र दक्षिणेन चरणेन वामचरणं निकुञ्च्य, अन्यत्र वामावर्ता भ्रामयेत्; सा बाह्यभ्रमरी ॥ -७७५, ७७५- ॥

इति बाह्यभ्रमरी (२५)

(सु०) अन्तर्भ्रमरीं लक्षयति—एतस्या इति । एतस्याः बाह्य-भ्रमर्या विपर्यासे; अन्तर्भ्रमरिका भवेत् ॥ -७७६ ॥

इत्यन्तर्भ्रमरिका (२६)

त्रिविक्रमाकारधारी स्थानमास्थाय यत्र तु ।

वामावर्तभ्रमादाहुस्तां छत्रभ्रमरीं बुधाः ॥ ७७७ ॥

इति छत्रभ्रमरी (२७)

तिरिपभ्रमरी तिर्यग्भ्रमेऽङ्घ्रिस्वस्तिकात्परम् ।

इति तिरिपभ्रमरी (२८)

वैष्णवस्थानके स्थित्वा यदा वामाङ्घ्रिणा स्थितः ॥ ७७८ ॥

देहं भ्रामयते तिर्यगलगभ्रमरी तदा ।

इत्यलगभ्रमरी (२९)

चक्रभ्रमरिका खण्डसूच्यर्थे चक्रवद्भ्रमात् ॥ ७७९ ॥

इति चक्रभ्रमरी (३०)

(सु०) छत्रभ्रमरीं लक्षयति—त्रिविक्रमेति । यत्र एकं चरणं भूमौ निधाय, त्रिविक्रमाकारः सन् वामावर्तं भ्रमति, सा छत्रभ्रमरी ॥ ७७७ ॥

इति छत्रभ्रमरी (२७)

(सु०) तिरिपभ्रमरीं लक्षयति—तिरिपेति । चरणस्य स्वस्तिकानन्तरं तिर्यक् भ्रमे क्रियमाणे; तिरिपभ्रमरी ॥ ७७७- ॥

इति तिरिपभ्रमरी (२८)

(सु०) अलगभ्रमरीं लक्षयति—वैष्णवेति । वैष्णवस्थानके स्थित्वा, ततो वामचरणेन स्थितः सन्, देहं तिर्यक् भ्रामयति चेत्, तदा अलगभ्रमरी भवति ॥ -७७८, ७७८- ॥

इत्यलगभ्रमरी (२९)

(सु०) चक्रभ्रमरीं लक्षयति—चक्रभ्रमरिकेति । यत्र खण्डसूच्याख्यस्य चरणस्य अर्धचक्राकारभ्रमणयुक्तं क्रियते; तदा चक्रभ्रमरी भवति ॥ -७७९ ॥

इति चक्रभ्रमरी (३०)

समपादानन्तरं चेत्तिरश्चीं भ्रामयेत्तनुम् ।

उचितभ्रमरीं प्राह तदा शंकरवल्लभः ॥ ७८० ॥

इत्यञ्चितभ्रमरी (३१)

शिरसैव भुवि स्थित्वोर्ध्वाकृतौ चरणौ दधत् ।

परिभ्रमति यत्र त्रिः सा शिरोभ्रमरी मता ॥ ७८१ ॥

इति शिरोभ्रमरी (३२)

प्राग्वत्सकृत्सकृद्भ्रान्त्वा हस्तभ्रान्त्या धृतक्षितिः ।

दिक्चतुष्के क्रमात्तिष्ठेद्यदा दिग्भ्रमरी तदा ॥ ७८२ ॥

इति दिग्भ्रमरी (३३)

समपादाञ्चितं कृत्वा स्कन्धेनैकेन भूस्थितः ।

(सु०) अञ्चितभ्रमरीं लक्षयति—समपादेति । समपादां चारीं विधाय,
यदा तिर्यक् देहं भ्रामयेत्; तदा अञ्चितभ्रमरी ॥ ७८० ॥

इत्युचितभ्रमरी (३१)

(सु०) शिरोभ्रमरीं लक्षयति—शिरसैवेति । शिरसा भूमौ स्थित्वा,
ऊर्ध्वाकृतौ चरणौ कृत्वा, यत्र त्रिवारं परिभ्रमति ; तदा शिरोभ्रमरी ॥ ७८१ ॥

इति शिरोभ्रमरी (३२)

(सु०) दिग्भ्रमरीं लक्षयति—प्राग्वदिति । पूर्ववत् सकृत् भ्रान्त्वा च
एकस्यां दिशि तिष्ठति । पुनः सकृत् भ्रान्त्वा अन्यस्यां दिशि, एवं च
तत्तद्दिक्षु हस्तेन क्षितिमवलम्ब्य भ्रान्त्वा तिष्ठति चेत्, तदा दिग्भ्रमरी ॥
॥ ७८२ ॥

इतिदिग्भ्रमरी (३३)

(सु०) समपादाञ्चितं लक्षयति—समपादेति । समपादः सन् अञ्चि-

परिवृत्य च तिर्यक्चेत्पादाबुल्लोलयेत्तदा ॥ ७८३ ॥

समपादाञ्चितं ग्राह सूरिः श्रीकरणाग्रणीः ।

इति समपादाञ्चितम् (३४)

भ्रामयित्वा दक्षिणाङ्घ्रिं तदीयतलपृष्ठतः ॥ ७८४ ॥

जङ्घ्यामध्यमवष्टभ्य वामाङ्घ्रेरञ्चितं पदम् ।

विधाय तिर्यक्स्कन्धाभ्यामधिष्ठाय विवृत्य च ॥ ७८५ ॥

पादाबुल्लोलयेत्प्रोक्तं भ्रान्तपादाञ्चितं तदा ।

इति भ्रान्तपादाञ्चितम् (३५)

उत्कटासनमास्थायाञ्चितं कृत्वा सयुग्मतः ॥ ७८६ ॥

स्थित्वा भुवि व्योम्नि कृत्वाङ्गान्तराणि ततो भुवम् ।

अवष्टभ्य कराभ्यां चेद् भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा च पूर्ववत् ॥ ७८७ ॥

तिष्ठेत्प्रतिदिशं प्रोक्तं स्कन्धभ्रान्तं तदा बुधैः ।

ताख्यं करणं कृत्वा, स्कन्धप्रदेशेन भूमौ स्थितः सन्, परिवर्त्य तिर्यक्पार्श्व-
प्रदेशे यदा उल्लोलयेत्, तदा समपादाञ्चिताख्यं करणं भवति ॥ ७८३, ७८३-॥

इति समपादाञ्चितम् (३४)

(सु०) भ्रान्तपादाञ्चितं लक्षयति—भ्रामयित्वेति । दक्षिणचरणं
भ्रामयित्वा, दक्षिणाङ्गुलितलपृष्ठेन वामचरणस्य जङ्घामवष्टभ्य, अञ्चिताख्यं
करणं विधाय, तत्तत्स्कन्धाभ्यां भूमिवलम्ब्य विवृत्य यदा चरणौ उल्लोलयेत्;
तदा भ्रान्तपादाञ्चिताख्यं करणं भवति ॥ -७८४, ७८५- ॥

इति भ्रान्तपादाञ्चितम् (३५)

(सु०) स्कन्धभ्रान्तं लक्षयति—उत्कटेति । उत्कटासने स्थित्वा
अञ्चिताख्यं करणं कृत्वा, स्कन्धयुग्मेन भूमौ स्थित्वा, अङ्गान्तराणि आकाशे

विद्यन्तेऽन्येऽपि भूयांसो भेदाः करणसंश्रयाः ॥ ७८८ ॥

न ते श्रीशार्ङ्गिणा प्रोक्ता ग्रन्थप्रथिमभीरूणा ।

इति स्कन्धभ्रान्तम् (३६)

इति षट्त्रिंशदुत्प्लुतिकरणानि ।

पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यान् दृष्टादृष्टफलानपि ॥ ७८९ ॥

अङ्गहारान् प्रवक्ष्यामि नामतो लक्ष्मतस्तथा ।

अङ्गानामुचिते देशे हरणं सविलासकम् ॥ ७९० ॥

मातृकोत्करसंपाद्यमङ्गहारोऽभिधीयते ।

यद्वा हारो हरस्यायं प्रयोगोऽङ्गैरिति स्मृतः ॥ ७९१ ॥

विधाय, ततो हस्ताभ्यां भुवं धृत्वा, भ्रमणानन्तरं दिग्भ्रमरीवत् दिक्षु चतुष्टये यदा तिष्ठेत्, तदा स्कन्धभ्रान्ताख्यं करणं भवति । एवं करणसंश्रया अन्येऽपि भेदा बहवो विद्यन्ते । न ते ग्रन्थविस्तरभीरूणा शार्ङ्गदेवेनोक्ताः ॥-७८६-७८८-॥

इति स्कन्धभ्रान्तम् (३६)

इति षट्त्रिंशदुत्प्लुतिकरणानि ।

(क०) अथ करणसमुदायरूपान् अङ्गहारान् लक्षयितुमादौ तेषां प्रयोगस्थलं फलं सनिर्वचनं स्वरूपं चाह—पूर्वरङ्ग इत्यादि । पूर्वरङ्गो नाम नाटकादिषु रूपकेषु प्रथमं नाटकादिवस्तुसूचकत्वेन ^१प्रत्याहारादिभिर्द्वाविंश-

^१ तत्र भावप्रकाशने पूर्वरङ्गाङ्गमुक्तम् ; तद्यथा—

प्रत्याहारोऽवतरणमारम्भासावणे अपि ।

वक्त्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत् परिवदना ।

संघटना ततो मार्गासारितं च ततो भवेत् ।

शुष्कापकृष्टकं तन्नोत्थापनं परिवर्तनं ।

नान्दीप्ररोचना तत्र विगतासारिते अपि ।

गीतं ध्रुवा त्रिसाम स्याद्रङ्गद्वारमतः परम् ।

एतान्यङ्गानि कथ्यन्ते पूर्वरङ्गस्य सूरिभिः । (पृ० १९५)

त्यङ्गैर्युक्तो नान्दीप्रभृतिः कविना निबद्धः संदर्भविशेषः । यथाह भाव-
प्रकाशकारः, तस्य सनिरुक्तिकं लक्षणम्—

“नटो गीतेन नाट्येन^१ नृत्तेनाभिनयेन च ।
रङ्गे रामाद्यवस्थाभिरनुकार्याभिरञ्जसा ॥
रामादितादात्म्यापत्तेः प्रेक्षकान् रसयिष्यति ।
सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ॥
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं^२ यस्तु प्रयुज्यते ॥
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ।
कलापाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ॥
पूर्वं कियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः” इति ।

(भावप्रकाशनम्, पृ० १९४)

तस्मिन्पूर्वरङ्गे । तत्र द्वाविंशत्यङ्गेषु मार्गासारितादौ तथा त्रिसाञ्जो-
ऽ^३नन्तररङ्गद्वाराख्येऽङ्गे ;

“देवस्तुत्याश्रयकृतं यद्रङ्गं यत्र दृश्यते ।
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ॥

^१ वाद्येन.

^२ यत्स प्रकल्पते.

^३ त्रिसाञ्जो लक्षणमुक्तं तत्रैव भावप्रकाशने—

त्रिसाम स्यात् त्रिवृत्तं च त्रिलयं च त्रिपाणि तत् ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैस्त्रिवृत्तमभिधीयते । (पृ० १९८)

स्थानमुक्तं लयलोधा द्रुतं मध्यं विलम्बितम् । (पृ० १९९)

त्रिलयं नाम—द्रुतमध्यविलम्बितयोगात् ।

त्रिपाणिकं नाम—समपाणिः, अवरपाणिः, उपरिपाणिश्चेति ।

(नाट्यशास्त्रम्-३४-३७-)

यत्र शृङ्गारसंबन्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ।

देव्या कृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत् ” ।

(भावप्रकाशनम्, पृ० १९८)

इत्यादिवचनवशादङ्गहारास्तत्र प्रयोक्तव्या इत्यर्थः । सम्यक्प्रयोगेदृष्टं फलं तावद्गीतश्रवणेन नृत्तदर्शनेन च जनित आनन्दः । अदृष्टं फलं तु देवता-
प्रीतिजनकत्वेनापूर्वसाध्यं लोकान्तरसुखम् ; तदुभयमप्येतैः सिध्यतीत्युक्तम्
—दृष्टादृष्टफलानपीति ।

तथाचोक्तम् —

“एवं यः पूर्वैरङ्गं तु विधिना संप्रयोजयेत् ।

नाशुभं प्राप्नुयादत्र पश्चात्स्वर्गं स गच्छति ” इति ॥

(भावप्रकाशनम्, पृ० १९९)

अङ्गानामिति । करचरणादीनाम् । उचिते देश इति । पूर्वोक्तेषु पार्श्वादि-
त्रयोदशसु पाणिक्षेत्रादिषु यत्रोचितो देशस्तस्मिन्निति । तथा पादयोर्यस्यां
चार्यो य उचितो देशस्तस्मिन्निति । एवं शिरःप्रभृतीनामप्युचितो देशो
द्रष्टव्यः । तत्र हरणं हारो देशान्तरात्प्रापणमित्यर्थः । एतावत्येवाङ्ग-
हारलक्षणेऽभिहिते लौकिकाङ्गक्रियाणामप्यङ्गहारत्वं प्रसज्येत । तद्व्यवच्छेदार्थं
सविलासकमित्युक्तम् । तथापि नृत्तकरणेष्वतिव्याप्तिर्भवतीति तत्परिहाराय
मातृकोत्करसंपाद्यमित्युक्तम् । मातृका नाम करणद्वयनिष्पाद्या क्रिया । तथा
वक्ष्यति—“करणाभ्यां मातृका स्यात्” इति । तासामुत्करः समूहः ।
तेन संपाद्यः । एवं विशिष्टमङ्गानां हरणमङ्गहार इति सनिरुक्तिकं लक्षणम् ।
निरुक्त्यन्तरं दर्शयति—यद्वेति । हरस्यायं हार इति प्रयोगविशेषणम् ।
सोऽपि प्रयोगोऽङ्गैर्निर्वर्तित इत्यङ्गैर्हारीऽङ्गहार इत्यर्थः ॥ -७८९-७९१ ॥

(सु०) एवं करणान्युक्त्वा, करणसंदर्भरूपान् अङ्गहारान् नाम्ना
लक्षणेन च कथयति—पूर्वरङ्ग इति । पूर्वैरङ्गैः प्रयोक्तव्या दृष्टफला अङ्गहार

करणाभ्यां मातृका स्यात्कलापः करणैस्त्रिभिः ।

चतुर्भिः खण्डको ज्ञेयः संघातः पञ्चभिर्मतः ॥ ७९२ ॥

इति संघविशेषेण संज्ञाभेदान् परे जगुः ।

करणन्यूनताधिक्यं तेषां मेने मुनिः स्वयम् ॥ ७९३ ॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वेत्येतद्वाशब्दसूचितम् ।

इति कथ्यन्ते । तेषां निरुक्तिद्वारा सामान्यलक्षणमाह—अङ्गानामिति । अङ्गानाम्; शिर आदीनाम्, हार उचिते देशे सविलासं प्रापणम्; मातृकोत्कर-संपाद्यम्; मातृकापूर्वो शिर आद्यङ्गप्रत्यङ्गपात्रसमुदायः, तस्य उत्करः समूहः, तेन संपाद्यो विधेय अङ्गहार उच्यते । अन्यथा निर्वक्ति—यद्वेति । अङ्गैः कृतः हरस्य ईश्वस्य संबन्धी यो अङ्गहार इति ॥ -७८९-७९१ ॥

(क०) ‘मातृकोत्करसंपाद्यम्’, इत्यङ्गहारलक्षणे प्रसक्ताया मातृकाया लक्षणप्रसङ्गात्करणसंघातविशेषाणां संज्ञा दर्शयति—करणाभ्यामित्यादि । करणाभ्यामवयवभूताभ्याम् । मातृकेत्यवयविसंज्ञा वेदितव्या । तथा त्रिभिः करणैः अवयवैः कलापो नामावयवी, चतुर्भिः करणैः खण्डकं नाम रागावयवी, पञ्चभिः करणैः संघात इति । करणन्यूनताधिक्यमिति । अङ्गहारेषु करणानां न्यूनता चाधिक्यं च । कचिदुक्तेषु न्यूनता, कचिदुक्तेभ्य आधिक्यमिति । तेषामङ्गहाराणां तत्कुतोऽवगन्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—वाशब्दसूचित-मिति । द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिरिति मातृकाविशेषणम् ॥ ७९२-७९३- ॥

(सु०) तस्य भेदानाह—करणाभ्यामिति । करणद्वयेन कृत अङ्ग-हारो मातृका; करणत्रयेण कलापः; करणचतुष्टयेन खण्डकः; करणपञ्चकेन संघात इति करणविशेषाणां संज्ञाविशेषान् आचार्या आहुः । भरतमुनिस्तु तेषां मातृकादीनां भेदानां करणेषु न्यूनत्वमाधिक्यत्वं च मेने । ननु कुत्र भरतेनैवमुक्तम्? तत्राह—द्वाभ्यामिति । “द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा (नाट्य-

स्थिरहस्तोऽथ पर्यस्तः सूचीविद्धोऽपराजितः ॥ ७९४ ॥
 वैशाखरेचितः पार्श्वस्वस्तिको भ्रमरोऽपरः ।
 आक्षिप्तकः परिच्छिन्नो मदाद्विलसितस्ततः ॥ ७९५ ॥
 आलीढाच्छुरितौ पार्श्वच्छेदसंज्ञोऽपसर्पितः ।
 मत्ताक्रीडस्तथा विद्युद्भ्रान्तोऽमी षोडशोदिताः ॥ ७९६ ॥
 चतुरश्रेण मानेनाङ्गहारा मुनिसंमताः ।
 विष्कम्भापसृतो मत्तस्खलितो गतिमण्डलः ॥ ७९७ ॥
 अपविद्धश्च विष्कम्भोद्धृताक्षिप्तरेचिताः ।
 रेचितोऽर्धनिकुट्टश्च वृश्चिकापसृतस्ततः ॥ ७९८ ॥
 अलातकः परावृत्ताः परिवृत्तादिरेचितः ।
 उद्वृत्तकश्च संभ्रान्तसंज्ञः स्वस्तिकरेचितः ॥ ७९९ ॥
 षोडशेति त्र्यश्रमाना द्वार्त्रिशदुभये मताः ।
 करणव्रातसंदर्भान्त्यात्तेषामनन्तता ॥ ८०० ॥
 द्वार्त्रिशत्ते तथाप्युक्ताः प्राधान्यविनियोगतः ।

शास्त्रम्, ४-३१) ” इत्यस्मिन् श्लोके “वाशब्देन नियमः सूचितः” इति
 व्याख्यातमभिनवगुप्तादिभिः ॥ ७९२, ७९३- ॥

(क०) अथाङ्गहारानुद्दिशति—स्थिरहस्त इत्यादि मदाद्विलसित
 इति । मदविलसित इत्यर्थः । चतुरश्रेण मानेनेति । चतुरश्रश्चत्सुटः, तस्य
 मानं प्रमाणं समसंख्याकलात्मकं चतुरश्रमित्युच्यते । तेनेत्यर्थः । अतः स्थिर-
 हस्तादीनां षोडशानामेकैकगुरुकलाप्रयोज्यत्वेन वक्ष्यमाणानां करणानां
 समसंख्यया चतुरश्रत्वमवगन्तव्यम् । ननु सूचीविद्धादिकेषु केषुचिदङ्ग-
 हारेषु करणन्यूनताधिक्यस्य दृष्टत्वात्कथं करणानां समसंख्यात्वं कथं च

एकैकं करणं कार्यं कलया गुरुरूपया ॥ ८०१ ॥

सर्वेषामङ्गहाराणामित्याह करणाग्रणीः ।

तेषामङ्गहाराणां चतुरश्रत्वमिति चेत्, उच्यते—तत्र करणस्थाने रेचकैः पूरणः कर्तव्यमिति संप्रदायो वेदितव्यः । अत एव ग्रन्थकारेणापि^१—
'अङ्गहाराः सरेचकाः' इत्युद्दिशता रेचकानामङ्गहाराङ्गत्वं सूचितम् । तथा गतिमण्डलादिषु त्र्यश्राङ्गहारेषु रेचकैः करणानां विषमसंख्या संपादनीये-
त्यवगन्तव्यम् ॥ ७९४-८००- ॥

(सु०) अङ्गहारान् विभजते—स्थिरहस्त इत्यादिना । स्थिरहस्तः, पर्यस्तकः, सूचीविद्धः, अपराजितः, वैशाखरेचितः, पार्श्वस्वस्तिकः, भ्रमरकः, आक्षिप्तः, परिच्छिन्नः, मदविलसितः, आलीढः, छुरितकः, पार्श्वच्छेदः, अपसर्पितः, मत्ताक्रीडः, विद्युद्भ्रान्त इति चतुरश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ; विष्कम्भापसृतः, मत्तस्खलितः ; गतिमण्डलः, अपविद्धः, विष्कम्भः, उद्ध-
द्वितः, आक्षिप्तरेचितः, रेचितः, अर्धनिकुङ्कः, वृश्चिकापसृतः, अलातः, परावृत्तः, परिवृत्तरेचितः, उद्धवृत्तः, संभ्रान्तः, स्वस्तिकरेचित इति त्र्यश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ; सर्वे मिलिता द्वात्रिंशदङ्गहारा भवन्ति । करणसमूहानां रचनाविशेषाणामङ्गहारा अनेकविधाः, तथापि मुख्यत्वेन द्वात्रिंशदुक्ताः ॥
॥ ७९४-८००- ॥

(क०) अङ्गहाराङ्गानां करणानां प्रयोगे कालप्रमाणमाह—एकैकं करणं कार्यं कलया गुरुरूपयेति । कलाशब्दस्य लघुपर्यायत्वेन प्रसि-
द्धत्वादत्र गुरुरूपयेति विशेषणम् ॥ ८०१-८०१- ॥

(सु०) करणानां प्रयोगे कालप्रमाणमाह—एकैकमिति । सर्वेष्वङ्गहारेषु एकैकं करणं च गुरुरूपया कलया कार्यम् ॥ -८०१-८९१- ॥

^१ प्रबन्धकारेणापि.

लीनं समनखं कृत्वा व्यंसितं चात्र विच्युतौ ॥ ८०२ ॥

करौ कृत्वोज्झितालीढः प्रत्यालीढं व्रजेत्ततः ।

निकुट्टकोरुद्धृत्ताख्यस्वस्तिकाक्षिप्तकान्यथ ॥ ८०३ ॥

नितम्बं करिहस्तं च कटीच्छिन्नमिति क्रमात् ।

करणैः स्थिरहस्तः स्यादशभिः शिववल्लभः ॥ ८०४ ॥

अङ्गहारेषु सर्वेषु प्रत्यालीढान्तमादितः ।

प्रयोक्तव्यमिति प्राहुः केचिन्नाट्यविशारदाः ॥ ८०५ ॥

इति स्थिरहस्तः (१)

तलपुष्पपुटं पूर्वमपविद्धं च वर्तितम् ।

निकुट्टकोरुद्धृत्ताख्याक्षिप्तोरोमण्डलान्यथ ॥ ८०६ ॥

नितम्बं करिहस्तं च कटीच्छिन्नमिति क्रमात् ।

दशभिः करणैरेभिः प्रोक्तः पर्यस्तको बुधैः ॥ ८०७ ॥

इति पर्यस्तकः (२)

(क०) अङ्गहाराणां विशेषलक्षणानि ग्रन्थत एव सूत्रोधानि ॥

॥ ८०२-८०९ ॥

(सु०) स्थिरहस्तस्य लक्षणमाह—लीनमिति । लीनं, समनखं, व्यंसितं च कृत्वा हस्तौ विच्युतौ कुर्यात् । आलीढं स्थानकं कृत्वा, प्रत्यालीढं व्रजेत् । ततः निकुट्टकम्, ऊरुद्धृत्तम्, स्वस्तिकम्, आक्षिप्तकम्, नितम्बम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति क्रमात् दशभिः करणैर्युक्तः स्थिरहस्ताख्यो-
ऽङ्गहारः । केचित् आचार्याः सर्वेषु अङ्गहारेषु आदितः प्रत्यालीढान्तं प्रयोक्तव्यमित्याहुः ॥ -८०२-८०९ ॥

इति स्थिरहस्तः (१)

(सु०) पर्यस्तकं लक्षयति—तलपुष्पपुटमिति । तलपुष्पपुटम्, अप-

अर्धसूच्यथ विक्षिप्तमावर्तं च निकुट्टकम् ।

ऊरुद्वृत्तमथाक्षिप्तमुरोमण्डलसंज्ञकम् ॥ ८०८ ॥

करिहस्तं कटीच्छिन्नं नवभिः करणैरिति ।

सूचीविद्धाभिधः प्रोक्तोऽङ्गहारो भरतादिभिः ॥ ८०९ ॥

इति सूचीविद्धः (३)

दण्डपादं व्यंसितं च प्रसर्पितकसंज्ञकम् ।

निकुट्टार्धनिकुट्टे चाक्षिप्तोरोमण्डले ततः ॥ ८१० ॥

करिहस्तं कटीच्छिन्नमिति लक्ष्मापराजिते ।

नवभिः करणैर्युक्तमुक्तं निःशङ्कसूरिणा ॥ ८११ ॥

इत्यपराजितः (४)

विद्धम्, वर्तितम्, निकुट्टकम्, ऊरुद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, नितम्बम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति कारणदशैर्युक्तं पर्यस्तकाख्यो-
ऽङ्गहारः ॥ ८०६, ८०७ ॥

इति पर्यस्तकः (२)

(सु०) सूचीविद्धं लक्षयति—अर्धसूचीति । अर्धसूचि, विक्षिप्तम्, आवर्तम्, निकुट्टकम्, ऊरुद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति क्रमेण नवभिः करणैर्युक्तः सूचीविद्धो भवति ॥ ८०८, ८०९ ॥

सूचीविद्धः (३)

(सु०) अपराजितं लक्षयति—दण्डपादमिति । यत्र दण्डपादम्, व्यंसितम्, प्रसर्पितम्, निकुट्टकम्, अर्धनिकुट्टकम्, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति क्रमेण नवभिः करणैर्युक्तः अपराजिताख्यो-
ऽङ्गहारो भवति ॥ ८१०, ८११ ॥

अपराजितः (४)

वैशाखरेचितं द्वाभ्यामङ्गाभ्यामथ नूपुरम् ।
 भुजङ्गत्रासितोन्मत्तमण्डलस्वस्तिकान्यथ ॥ ८१२ ॥
 निकुट्कोरुद्वृत्ताख्याक्षिप्तोरोमण्डलानि च ।
 करिहस्तं कटीच्छिन्नमित्येकादशभिः क्रमात् ॥ ८१३ ॥
 करणैरङ्गहारः स्यान्नाम्ना वैशाखरेचितः ।

इति वैशाखरेचितः (५)

दिक्स्वस्तिकं ततश्चाङ्गेनैकेनार्धनिकुट्टकम् ॥ ८१४ ॥
 पुनर्दिक्स्वस्तिकमथान्याङ्गेनार्धनिकुट्टकम् ।
 अपविद्धोरुद्वृत्ताख्ये तथाक्षिप्तं नितम्बकम् ॥ ८१५ ॥
 करिहस्तं कटीच्छिन्नमष्टभिः करणैरिति ।
 स्यात्पार्श्वस्वस्तिकोऽभ्यासास्वाद्ययोर्दशभिर्भवेत् ॥ ८१६ ॥
 इति पार्श्वस्वस्तिकः (६)

(सु०) वैशाखरेचितं लक्षयति—वैशाखेति । यत्र अङ्गद्वयेन वैशाखरेचितम्, ततो नूपुरम्, भुजङ्गत्रासितम्, उन्मत्तम्, मण्डलस्वस्तिकम्, निकुट्टकम्, ऊरुद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमित्येकादशभिः करणैर्युक्तो वैशाखरेचिताख्योऽङ्गहारो भवति ॥ ८१२, ८१३-॥

वैशाखरेचितः (५)

(सु०) पार्श्वस्वस्तिकं लक्षयति—दिक्स्वस्तिकमिति । यत्र दिक्स्वस्तिकम्, तत एकेनाङ्गेन कृतमर्धनिकुट्टकम्, पुनः दिक्स्वस्तिकम्, ततोऽन्याङ्गेन कृतमर्धनिकुट्टकम्, अपविद्धम्, ऊरुद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, नितम्बकम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमित्यष्टभिः, आद्ययोरभ्यासेन दशत्वं गतैः करणैरुपलक्षितः पार्श्वस्वस्तिकाख्योऽङ्गहारो भवति ॥ ८१४-८१६ ॥

पार्श्वस्वस्तिकः (६)

नूपुराक्षिप्तकच्छिन्नसूचीन्यथ नितम्बकम् ।
करिहस्तं च करणमुरोमण्डलकं ततः ॥ ८१७ ॥
कटीछिन्नमिति प्रोक्तः करणैर्भ्रमरोऽष्टभिः ।

इति भ्रमरः (७)

कृत्वा नूपुरविक्षिप्तालातान्याक्षिप्तकं ततः ॥ ८१८ ॥
उरोमण्डलसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
कटीछिन्नं च करणैरेभिराक्षिप्तकोऽष्टभिः ॥ ८१९ ॥
विक्षिप्तालातकाक्षिप्तप्रयोगं द्विः परे जगुः ।

इत्याक्षिप्तकः (८)

कृत्वा समनखं छिन्नं संभ्रान्तमथ वामतः ॥ ८२० ॥
भ्रमरं वामपार्श्वार्धसूच्यङ्घ्रिक्रान्तसंज्ञकम् ।

(सु०) भ्रमरं लक्षयति—नूपुरेति । यत्र नूपुरम्, आक्षिप्तम्, छिन्नम्, सूचि, नितम्बम्, करिहस्तम्, उरोमण्डलम्, कटीच्छिन्नमित्यष्टभिः करणैः क्रमादुपलक्षितो भ्रमरो भवति ॥ ८१७, ८१७- ॥

इति भ्रमरः (७)

(सु०) आक्षिप्तकं लक्षयति—कृत्वेति । यत्र नूपुरम्, विक्षिप्तम्, अलातम्, आक्षिप्तम्, तत उरोमण्डलम्, नितम्बम्, करिहस्तकम्, कटी-
च्छिन्नमिति करणाष्टकं क्रमेण वर्तते, स आक्षिप्तकः । अत्र विक्षिप्तमलातमा-
क्षिप्तं च करणं द्विःप्रयोज्यमिति केचिदाहुः ॥ -८१८, ८१९- ॥

इत्याक्षिप्तकः (८)

(सु०) परिच्छिन्नं लक्षयति—कृत्वेति । यत्र प्रथमतः समनखम्, ततः छिन्नम्, संभ्रान्तम्, वामतो भ्रमरम्, वामतैवार्धसूचि, अतिक्रान्तम्,

भुजङ्गत्रासितादूर्ध्वं करिहस्तं विधीयते ॥ ८२१ ॥

कटीच्छिन्नं परिच्छिन्नो नवभिः करणैरिति ।

इति परिच्छिन्नः (९)

मदस्खलितमत्तल्लितलसंस्फोटितानि च ॥ ८२२ ॥

बहुशश्चित्रगुम्फानि निकुट्टकमतः परम् ।

ऊरुद्वृत्तं च करणं करिहस्तसमाह्वयम् ॥ ८२३ ॥

कटीच्छिन्नं च सप्तेति मदाद्विलसिते जगुः ।

करणानि त्रयाणां तु त्रिरभ्यासात्त्रयोदश ॥ ८२४ ॥

अभ्यासांस्त्रिषु वाञ्छन्ति चतुष्पञ्चादिकानपि ।

इति मदविलसितः (१०)

व्यंसितं सनिकुट्टं स्यान्नूपुरं वामतोऽङ्घ्रितः ॥ ८२५ ॥

अन्यतोऽलातकाक्षिते उरोमण्डलकं ततः ।

भुजङ्गत्रासितम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नं च क्रमात् कल्प्यते, स नवभिः करणैर्युक्तः परिच्छिन्नख्योऽङ्गहारो भवति ॥ -८२०, ८२१- ॥

इति परिच्छिन्नः (९)

(सु०) मदविलसितं लक्षयति—यत्र मदस्खलितमत्तल्लितलसंस्फोटितानि बहुशः चित्रगुम्फानि क्रियन्ते; ततः निकुट्टकम्, ऊरुद्वृत्तम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नं च क्रियते, स मदविलसितः । अत्राद्यस्य करणत्रयस्य त्रिरावृत्त्या सप्तापि करणानि त्रयोदश भवन्ति ॥ -८२२-८२४- ॥

इति मदविलसितः (१०)

(सु०) आलीढं लक्षयति—व्यंसितमिति । यत्र व्यंसितम्, निकुट्टकम्, वामाङ्घ्रिकृतं नूपुरम्, दक्षिणाङ्घ्रिकृते अलातकाक्षिते, उरोमण्डलम्, करि-

करिहस्तं कटीच्छिन्नमित्येभिः करणैः क्रमात् ॥ ८२६ ॥
भवेदष्टभिरालीढोऽङ्गहारो मुनिसंमतः ।

इत्यालीढः (११)

नूपुरं भ्रमरं चाथ व्यंसितालातके ततः ॥ ८२७ ॥
नितम्बं सूचिसंज्ञं च करिहस्तमतः परम् ।
कटीच्छिन्नं च करणान्यष्टेत्याच्छुरिते विदुः ॥ २९८ ॥

इत्याच्छुरितः (१२)

वृश्चिकाद्यं कुट्टितं स्यादूर्ध्वजानु ततः परम् ।
आक्षिप्तस्वस्तिकं कृत्वा त्रिकस्य परिवर्तनम् ॥ ८२९ ॥
उरोमण्डलसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
कटीच्छिन्नं च करणं पार्श्वच्छेदेऽष्टमं मतम् ॥ ८३० ॥

इति पार्श्वच्छेदः (१३)

हस्तम्, कटीच्छिन्नं च क्रमात् कल्प्यते, स करणाष्टकवान् आलीढः ॥
॥ -८२९, ८२६- ॥

इत्यालीढः (११)

(सु०) आच्छुरितं लक्षयति—नूपुरमिति । नूपुरम्, भ्रमरम्, व्यंसि-
तम्, अलातम्, नितम्बम्, सूचि, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति करणाष्टकं
यत्र क्रमेण भवति ; स आच्छुरितः ॥ -८२७, ८२८ ॥

इत्याच्छुरितकः (१२)

(सु०) पार्श्वच्छेदं लक्षयति—वृश्चिकाद्यमिति । वृश्चिककुट्टितम्, ऊर्ध्व-
जानु, आक्षिप्तम्, स्वस्तिकम्, त्रिकपरिवर्तनोत्तरमुरोमण्डलम्, नितम्बम्,
करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति करणाष्टकं यत्र क्रमाद् भवति, स पार्श्वच्छेदः ॥
॥ ८२९, ८३० ॥

इति पार्श्वच्छेदः (१३)

अपक्रान्तं व्यंसितस्य केवलं करयोः क्रिया ।
 करिहस्तं चार्धसूचि विक्षिप्ताख्यं कटीयुतम् ॥ ८३१ ॥
 छिन्नमूरुद्वृत्तसंज्ञमाक्षिप्तं करिहस्तकम् ।
 कटीछिन्नं च सप्तेति करणान्यपसर्पिते ॥ ८३२ ॥
 सार्धानि द्विः कटीछिन्नकरिहस्तकृतेर्नव ।

इत्यपसर्पितः (१४)

भ्रमरं नूपुराख्यं च भुजङ्गत्रासिताभिधम् ॥ ८३३ ॥
 दक्षिणाङ्गेनैव कृत्वा कुर्याद्वैशाखरेचितम् ।
 आक्षिप्तच्छिन्नकरणे भ्रमरव्यंसिते ततः ॥ ८३४ ॥
 उरोमण्डलसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
 कटीछिन्नं च करणैरेभिर्द्वादशभिः क्रमात् ॥ ८३५ ॥
 एकादशभिरभ्यासाद्रणना भ्रमरस्य तु ।
 मत्ताक्रीडाभिधानः स्यादङ्गहारो हरप्रियः ॥ ८३६ ॥

इति मत्ताक्रीडः (१५)

(सु०) अपसर्पितं लक्षयति—अपक्रान्तमिति । अपक्रान्तम्, व्यंसितस्य हस्तक्रियामात्रम्, करिहस्तम्, अर्धसूचि, विक्षिप्तम्, कटीछिन्नम्, ऊरुद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, करिहस्तकम्, कटीछिन्नमिति करणसप्तकं यत्र क्रमाद् भवति ; सोऽपसर्पितः ॥ ८३१, ८३२-॥

इत्यपसर्पितः (१४)

(सु०) मत्ताक्रीडितं लक्षयति—भ्रमरमिति । यत्र भ्रमरम्, नूपुरम्, भुजङ्गत्रासितं च दक्षिणाङ्गेन कृत्वा, ततो वैशाखरेचितम्, आक्षिप्तच्छिन्नम्, भ्रमरं च वामाङ्गेन कृत्वा, तत उरोमण्डलम्, नितम्बम्, करिहस्तम्,

वामाङ्गेनार्धसूचि स्याद्विद्युद्भ्रान्तं तु दक्षिणे ।
 पुनरङ्गविपर्यासाद् द्वयं छिन्नमतः परम् ॥ ८३७ ॥
 अतिक्रान्तं वामतोऽथ लतावृश्चिकमाचरेत् ।
 कटीच्छिन्नं च षडिति द्वयोरभ्यासतः पुनः ॥ ८३८ ॥
 करणान्यष्टसंख्यानि विद्युद्भ्रान्ते विदुर्बुधाः ।

इति विद्युद्भ्रान्तः (१६)

इति चतुरश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ।

निकुट्टकाख्यं करणं विधायार्धनिकुट्टकम् ॥ ८३९ ॥
 भुजङ्गत्रासितादूर्ध्वं भुजङ्गगत्रस्तरेचितम् ।
 आक्षिप्तोरोमण्डले च क्रमात्कृत्वा लताकरम् ॥ ८४० ॥
 कटीच्छिन्नं सप्तमं तु विष्कम्भापसृते भवेत् ।

इति विष्कम्भापसृतः (१)

कटीच्छिन्नमिति करणदशकं यत्र क्रमेण भवति; स मत्ताक्रीडः । अत्र भ्रम-
 राभ्यां गणने एकादशकरणानि भवन्ति ॥ -८३३-८३६ ॥

इति मत्ताक्रीडः (१५)

(सु०) विद्युद्भ्रान्तं लक्षयति—वामाङ्गेनेति । यत्र वामाङ्गेन अर्धसूचि,
 दक्षिणाङ्घ्रिणा विद्युद्भ्रान्तम्, पुनरपि अङ्गव्यत्यासेन तद्व्ययम्, ततः
 छिन्नम्, अतिक्रान्तं च, वामाङ्गेन लतावृश्चिकम्, कटीच्छिन्नं च क्रियते; स
 विद्युद्भ्रान्तः ॥ ८३७, ८३८- ॥

इति विद्युद्भ्रान्तः (१६)

इति चतुरश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ।

(सु०) अथ त्र्यश्रमानेन षोडशाङ्गहारान् लक्षयति—निकुट्टकाख्यमिति ।
 यत्र निकुट्टम्, अर्धनिकुट्टम्, भुजङ्गगत्रस्तरेचितम्, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्,

मत्तल्लिगण्डसूच्याख्ये लीनमप्यपविद्धम् ॥ ८४१ ॥

तद्द्रुतत्वेन कर्तव्यं तलसंस्फोटितं ततः ।

करिहस्तं कटीच्छिन्नं करणानि क्रमादिति ॥ ८४२ ॥

सप्ताङ्गहारे प्रोक्तानि मत्तस्खलितसंज्ञके ।

इति मत्तस्खलितः (२)

मण्डलस्वस्तिकादूर्ध्वं निवेशोन्मत्तसंज्ञके ॥ ८४३ ॥

उद्घटिताख्यं मत्तल्लि स्यादाक्षिप्तमतः परम् ।

उरोमण्डलकं छिन्नं कट्यादि गतिमण्डले ॥ ८४४ ॥

इत्यष्टौ करणानि स्युरिति निःशङ्कभाषितम् ।

इति गतिमण्डलः (३)

अपविद्धं प्रथमतः सूचीविद्धमथो करौ ॥ ८४५ ॥

लतावृश्चिकम्, कटीच्छिन्नमिति करणसप्तकं क्रमाद्भवति ; स विष्कम्भापसृता-
ख्योऽङ्गहारः ॥ -८३९, ८४०- ॥

इति विष्कम्भापसृतः (१)

(सु०) मत्तस्खलितं लक्षयति—मत्तल्लीति । यत्र मत्तल्लि, गण्डसूचि,
लीनम्, अपविद्धमेतत्त्रितयं द्रुतम्, ततः तलसंस्फोटितम्, करिहस्तम्,
कटीच्छिन्नमिति करणाष्टकं क्रमेण भवति, स मत्तस्खलितः ॥ -८४१, ८४२- ॥

इति मत्तस्खलितः (२)

(सु०) गतिमण्डलं लक्षयति—मण्डलेति । मण्डलस्वस्तिकम्, निवे-
शम्, उन्नतम्, उद्घटितम्, मत्तल्लि, आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, कटीच्छिन्न-
मिति करणाष्टकं यत्र क्रमेण भवति ; स गतिमण्डलः ॥ -८४३, ८४४- ॥

इति गतिमण्डलः (३)

(सु०) अपविद्धं लक्षयति—यत्र प्रथममपविद्धम्, ततः सूचीविद्धम्, ततः

उद्वेष्टिते समं चार्या बद्धया वलयेत्त्रिकम् ।
ऊरुद्वृत्तं च करणमुरोमण्डलकं ततः ॥ ८४६ ॥
कटीच्छिन्नं पञ्चमं चेदपविद्धस्तदा भवेत् ।

इत्यपविद्धः (४)

निकुट्टकाख्यं करणं स्यान्निकुञ्चितमञ्चितम् ॥ ८४७ ॥
ऊरुद्वृत्तं ततोऽप्यर्धनिकुट्टकरणं ततः ।
भुजङ्गत्रासितं हस्तोद्वेष्टने भ्रमरं ततः ॥ ८४८ ॥
करिहस्तं कटीच्छिन्नं विष्कम्भे नवमं भवेत् ।

इति विष्कम्भः (५)

उद्धट्टिते निकुट्टाख्यमुरोमण्डलकं ततः ॥ ८४९ ॥
नितम्बं करिहस्तं स्यात्कटीच्छिन्नं च पञ्चमम् ।

इत्युद्धट्टितः (६)

करे उद्वेष्टिते, ततः बद्धाख्यया चार्या त्रिकवलनम्, तत ऊरुद्वृत्तम्, उरोमण्ड-
लम्, कटीच्छिन्नं च क्रमात् क्रियते ; सोऽपविद्धः ॥ -८४९, ८४६- ॥

इत्यपविद्धः (४)

(सु०) विष्कम्भं लक्षयति—निकुट्टकेति । यत्र निकुट्टम्, कुञ्चितम्,
अञ्चितम्, ऊरुद्वृत्तम्, अर्धनिकुट्टम्, भुजङ्गत्रासितम्, करोद्वेष्टनेन भ्रमरम्,
करिहस्तम् कटीच्छिन्नमिति करणनवकं विष्कम्भं भवति ॥ -८४७, ८४८- ॥

इति विष्कम्भः (५)

(सु०) उद्धट्टितं लक्षयति—उद्धट्टित इति । निकुट्टम्, उरोमण्डलम्,
नितम्बम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति करणपञ्चकम् उद्धट्टितो भवति ॥
॥ -८४९, ८४९- ॥

इत्युद्धट्टितः (६)

स्वस्तिकाद्यं रेचितं स्यात्पृष्ठस्वस्तिकसंज्ञकम् ॥ ८५० ॥

दिक्स्वस्तिकं कटीछिन्नं समं घूर्णितनामकम् ।

भ्रमरं वृश्चिकाद्यं च रेचितं पार्श्वपूर्वकम् ॥ ८५१ ॥

निकुट्टकमुरःपूर्वं मण्डलं संनतं ततः ।

सिंहाकर्षितकं नागापसर्पितसमाह्वयम् ॥ ८५२ ॥

अथ वक्षःस्वस्तिकं तु केचिदिच्छन्ति सूरयः ।

दण्डपक्षं च करणं ललाटतिलकाह्वयम् ॥ ८५३ ॥

वृश्चिकं तु लताद्यं च भवेदथ निशुम्भितम् ।

विद्युद्भ्रान्ताभिधादूर्ध्वं गजविक्रीडितं ततः ॥ ८५४ ॥

नितम्बविष्णुक्रान्ताख्योरुद्वृत्ताक्षिप्तकानि च ।

उरोमण्डलसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ॥ ८५५ ॥

वैकल्पिकं कटीछिन्नमिच्छन्त्याक्षिप्तरेचिते ।

पञ्चविंशतिसंख्यानि करणानि पुरातनाः ॥ ८५६ ॥

नितम्बोरोमण्डलयोस्त्वावृत्त्या सप्तविंशतिः ।

ये वक्षःस्वस्तिकं नात्र कटीछिन्नं च मन्वते ॥ ८५७ ॥

पञ्चविंशतिरेव स्यादावृत्तावपि तन्मते ।

इत्याप्तरेचितः (७)

(सु०) आक्षिप्तरेचितं लक्षयति—स्वस्तिकाद्यमिति । यत्र स्वस्तिकरे-
चितम्, पृष्ठस्वस्तिकम्, दिक्स्वस्तिकम्, कटीसमम्, घूर्णितम्, भ्रमरम्,
वृश्चिकरेचितम्, पार्श्वनिकुट्टकम्, उरोमण्डलम्, संनतम्, सिंहाकर्षितम्,
नागापसर्पितम्, वक्षःस्वस्तिकम्, दण्डपक्षम्, ललाटतिलकम्, लतावृश्चिकम्,
विद्युद्भ्रान्तम्, गजविक्रीडितम्, नितम्बम्, विष्णुक्रान्तम्, ऊरुद्वृत्तम्,

स्वस्तिकाद्यं रेचितं स्यादर्धरेचितकं ततः ॥ ८५८ ॥
 वक्षःस्वस्तिकमुन्मत्तसंज्ञमाक्षिप्तरेचितम् ।
 अर्धमत्तल्लिकरणं स्याद्रेचकनिकुट्टकम् ॥ ८५९ ॥
 भुजङ्गत्रस्तपूर्वं च रेचितं नूपुरं ततः ।
 वैशाखरेचितं कृत्वा भुजङ्गाश्रितमाचरेत् ॥ ८६० ॥
 दण्डरेचितकं चक्रमण्डलं वृश्चिकादिमम् ।
 रेचितं वृश्चिकादूर्ध्वं विवृत्तविनिवृत्तके ॥ ८६१ ॥
 विवर्तितं च गरुडप्लुतकं ललितं भवेत् ।
 मयूराद्यं सर्पितं च स्वलिताख्यं प्रसर्पितम् ॥ ८६२ ॥
 तलसंघट्टितमथो वृषभक्रीडितं ततः ।
 लोलितं षड्विंशतिर्या करणानामितीरिता ॥ ८६३ ॥
 तां कृत्वा विषमैर्भागैश्चतुर्धा दिक्चतुष्टये ।
 परिवृत्तिप्रकारेण प्रयुज्यान्ते समाचरेत् ॥ ८६४ ॥
 उरोमण्डलकं यत्र कटीच्छिन्नं सरेचितः ।

इति रेचितः (८)

आक्षिप्तम्, उरोमण्डलम्, नितम्बम्, कटीच्छिन्नमिति पञ्चविंशतिकरणानि
 यत्र सन्ति ; तदाक्षिप्तरेचितः ॥ -८५०-८५७- ॥

इत्याक्षिप्तरेचितः (७)

(सु०) रेचितं लक्षयति—स्वस्तिकाद्यमिति । स्वस्तिकरेचितम्, अर्ध-
 रेचितम्, वक्षःस्वस्तिकम्, उन्मत्तम्, आक्षिप्तरेचितम्, अर्धमत्तल्लि, रेचकनि-
 कुट्टकम्, भुजङ्गत्रस्तरेचितम्, नूपुरम्, वैशाखरेचितम्, भुजङ्गाश्रितम्,
 दण्डरेचितम्, चक्रमण्डलम्, वृश्चिकरेचितम्, विवृत्तम्, निवृत्तम्,
 विवर्तितम्, गरुडप्लुतम्, ललितम्, मयूरललितम्, सर्पितम्, स्वलितम्,

नूपुराख्यं विवृत्तं च निकुट्टार्धनिकुट्टके ॥ ८६५ ॥
 अर्धरेचितकादूर्ध्वं स्याद्रेचकनिकुट्टकम् ।
 ललिताख्यं च वैशाखरेचितं चतुरं ततः ॥ ८६६ ॥
 दण्डरेचितकादूर्ध्वं भवेद्वृश्चिककुट्टितम् ।
 निकुट्टकं पार्श्वपूर्वं संभ्रान्तोद्धटिते ततः ॥ ८६७ ॥
 उरोमण्डलकादूर्ध्वं करिहस्तसमाह्वयम् ।
 कटीच्छिन्नं सप्तदश भवेदर्धनिकुट्टके ॥ ८६८ ॥

इत्यर्धनिकुट्टकः (९)

लतावृश्चिकमादौ स्यान्निकुञ्चितमतः परम् ।
 मत्तल्लि च नितम्बाख्यं करणं करिहस्तकम् ॥ ८६९ ॥
 कटीच्छिन्नं स्मृतं षष्ठं वृश्चिकापसृते बुधैः ।

प्रसर्पितम्, तलसंघटितम् वृषभक्रीडितम्, लोलितमिति षड्विंशतिकरणानि
 विषमभागैः दिक्चतुष्टये चतुर्धा कृत्वा परिवृत्तिप्रकारेण उरोमण्डलं कटीच्छिन्नं
 च यत्र क्रियते; स रेचितः ॥ -८६८-८६९- ॥

इति रेचितः (८)

(सु०) अर्धनिकुट्टकं लक्षयति—नूपुराख्यमिति । नूपुरम्, विवृत्तम्,
 निकुट्टम्, अर्धनिकुट्टम्, अर्धरेचितम्, रेचकनिकुट्टम्, ललितम्, वैशाखरे-
 चितम्, चतुरम्, दण्डरेचितम्, वृश्चिककुट्टितम्, निकुट्टकम्, पार्श्वसंभ्रान्तम्,
 उद्धटितम्, उरोमण्डलम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति सप्तदश करणानि यत्र
 क्रमेण भवन्ति; सोऽर्धनिकुट्टकः ॥ -८६९-८६८ ॥

इत्यर्धनिकुट्टकः (९)

(सु०) वृश्चिकापसृतं लक्षयति—लतावृश्चिकमिति । लतावृश्चिकम्,
 निकुञ्चितम्, मत्तल्लि, नितम्बम्, करिहस्तम्, कटीच्छिन्नमिति षट्करणानि

अत्र स्थाने नितम्बस्य भ्रमरं केचिदूचिरे ॥ ८७० ॥

इति वृश्चिकापसृतः (१०)

त्वस्तिकं व्यंसितं द्विरलाताख्योर्ध्वजानुनी ।

निकुञ्चितार्धसूच्याख्यविक्षिप्तोद्वृत्तकान्यथ ॥ ८७१ ॥

आक्षिप्तं करिहस्तं स्यात्कटीच्छिन्नमलातके ।

एकादश स्युः करणान्येकं द्विव्यंसितेऽधिकम् ॥ ८७२ ॥

इत्यलातकः (११)

दक्षिणाङ्गेन जनितं शकटास्यमलातकम् ।

भ्रमरं वाममङ्गं च निकुटितकरान्वितम् ॥ ८७३ ॥

करिहस्तं कटीच्छिन्नं करणानि क्रमादिति ।

परावृत्ते षडुक्तानि श्रीमत्सोढलसूनुना ॥ ८७४ ॥

नमनोन्नमनं तज्जैरङ्गस्योक्तं निकुट्टकम् ।

इति परवृत्तः (१२)

यत्र सन्ति ; स वृश्चिकापसृतः । अत्र नितम्बस्थाने भ्रमरमपि केचिदिच्छन्ति ॥

॥ ८६९, ८७० ॥

इति वृश्चिकापसृतः (१०)

(सु०) अलातकं लक्षयति—स्वस्तिकमिति । स्वस्तिकम्, व्यंसितम्, अलातम्, ऊर्ध्वजानु, निकुञ्चितम्, अर्धसूचि, विक्षिप्तम्, उद्वृत्तम्, आक्षिप्तम्, कटीच्छिन्नमित्येकादशकरणश्रित अलातकः ॥ ८७१, ८७२ ॥

इत्यरालः (११)

(सु०) परावृत्तं लक्षयति—दक्षिणेति । दक्षिणाङ्गेन जनितं कृत्वा, शकटास्यम्, अलातकम्, वामाङ्गकृतं भ्रमरम्, निकुट्टकयुतकरिहस्तम्, कटी-

नितम्बं करणं कृत्वा कुर्यात्स्वस्तिकरेचितम् ॥ ८७५ ॥
 विक्षिप्ताक्षिप्तकमथो लतावृश्चिकसंज्ञकम् ।
 उन्मत्तं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं ततः ॥ ८७६ ॥
 आक्षिप्तकं नितम्बं च नितम्बान्तान्यमून्यथ ।
 नव भ्रमरकाख्येण परिवृत्तं समाचरेत् ॥ ८७७ ॥
 दिगन्तरमुखे कृत्वा व्यावृत्य परयोर्दिशोः ।
 करिहस्तकटीच्छिन्ने कुर्यादाद्यदिशि स्थितः ॥ ८७८ ॥
 यत्र तं प्राहुराचार्याः परिवृत्तकरेचितम् ।
 परिवृत्तविधिश्चायं त्यक्त्वान्त्यं करणद्वयम् ॥ ८७९ ॥
 सर्वेषामङ्गहाराणां शार्ङ्गदेवेन सूरिणा ।
 भट्टाभिनयगुप्तादिमतज्ञेन निगद्यते ॥ ८८० ॥

इति परिवृत्तकरेचितः (१३)

च्छिन्नमिति षट्करणानि क्रमेण यत्र भवति ; स परावृत्तः । अङ्गस्य नमनो-
 मनमेव निकुट्टकमित्युच्यते ॥ ८७३, ८७४- ॥

इति परावृत्तः (१२)

(सु०) परिवृत्तकरेचितं लक्षयति—नितम्बमिति । नितम्बम्, स्वस्ति-
 करेचितम्, विक्षिप्ताक्षिप्तकम्, लतावृश्चिकम्, उन्मत्तम्, करिहस्तम्,
 भुजङ्गत्रासितम्, आक्षिप्तकम्, नितम्बमेतानि नव भ्रमरीयुक्तां यदा कुर्यात्,
 दिगन्तराभिमुखः स्थित्वा, अन्यदिशोरावृत्त्या, आद्यदिशि करिहस्तं कटी-
 च्छिन्नं च कुर्यात् ; तदा परिवृत्तकरेचितम् । अत्र अन्त्यकरणद्वयं त्यक्त्वा अयं
 परिवृत्तविधिः सर्वेष्वङ्गहारेषु आवश्यक एवेति ॥ -८७९-८८० ॥

इति परिवृत्तकरेचितः (१३)

नूपुरात्करणादूर्ध्वं भुजङ्गाश्रितमाचरेत् ।
 गृधावलीनकं द्वे च विक्षिप्ते पृथगङ्गजे ॥ ८८१ ॥
 उद्धृतमध्येर सूच्याख्यं नितम्बमथ वृश्चिकम् ।
 लतापूर्वं कटीच्छिन्नं नवभिः करणैरिति ॥ ८८२ ॥
 उद्धृतको द्विविक्षिप्तोद्धृत्ताख्यमधिकं द्वयम् ।

इत्युद्धृतकः (१४)

विक्षिप्तमश्रितं गण्डसूचीचि सर्वान्तिमं ततः ॥ ८८३ ॥
 अर्धसूचि ततो दण्डपादं वामाङ्गसाधितम् ।
 चतुरं भ्रमरं चाथ नूपुराक्षिप्तनामके ॥ ८८४ ॥
 अर्धस्वस्तिकसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
 उरोमण्डलसंज्ञं च कटीच्छिन्नमिति क्रमात् ॥ ८८५ ॥
 करणैः पञ्चदशभिः संभ्रान्तमभगन्बुधाः ।

इति संभ्रान्तः (१५)

(सु०) उद्धृतकं लक्षयति—नूपुरादिति । अत्र नूपुरम्, भुजङ्गाश्रितम्, गृधावलीनकम्, विक्षिप्तम्, उद्धृतम्, उद्धृतितम्, नितम्बम्, लतावृश्चिकम्, कटीच्छिन्नमिति नवभिः करणैः उद्धृतः कार्यः ॥ ८८१, ८८२-॥

इत्युद्धृतकः (१४)

(सु०) संभ्रान्तं लक्षयति—विक्षिप्तमिति । अत्र विक्षिप्तम्, अश्रितम्, गण्डसूचि, गङ्गावतरणम्, अर्धसूचि, दण्डपादम्, चतुरम्, भ्रमरम्, नूपुरम्, आक्षिप्तम्, अर्धस्वस्तिकम्, नितम्बम्, करिहस्तम्, उरोमण्डलम्, कटीच्छिन्नमिति क्रमेण पञ्चदशभिः करणैः संभ्रान्तः कार्यः ॥ ८८३-८८५-॥

इति संभ्रान्तः (१५)

वैशाखरेचितादूर्ध्वं वृश्चिकं द्विरिदं द्वयम् ॥ ८८६ ॥
 निकुट्टकाभिधादूर्ध्वं क्रमावाप्तलताकरम् ।
 कटीच्छिन्नं चतुर्थं चेत्तदा स्वस्तिकरेचितम् ॥ ८८७ ॥
 द्वेयमाद्यद्वयाभ्यासादधिकं करणद्वयम् ।

इति स्वस्तिकरेचितः (१६)

इति त्र्यश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ।

मृदङ्गैर्गोमुखैर्भम्भाभेरीपटहडिण्डिमैः ॥ ८८८ ॥
 पणवैर्ददुराद्यैश्च वाद्यैस्ताललयानुगैः ।
 वर्धमानासारितेषु पाणिकागीतकादिषु ॥ ८८९ ॥
 पूर्वरङ्गस्य चाङ्गेषु धीरैरुत्थापनादिषु ।
 अङ्गहाराः प्रयोक्तव्याः श्रेयः परमभीप्सुभिः ॥ ८९० ॥
 विनियोगोऽङ्गहारेषु करणानामितीरितः ।
 आहुः पृथक्प्रयोगेऽपि करणानां महत्फलम् ॥ ८९१ ॥
 इति द्वात्रिंशदङ्गहारलक्षणम् ।

(सु०) स्वस्तिकरेचितं लक्षयति—वैशाखेति । वैशाखरेचितं वृश्चिकम्, वैशाखरेचितं वृश्चिकम्, निकुट्टकं लताकरयुक्तम्, कटीच्छिन्नं यत्र वर्तते ; स स्वस्तिकरेचितः ॥ -८८६, ८८७- ॥

इति स्वस्तिकरेचितः (१६)

इति त्र्यश्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ।

(क०) पूर्वरङ्गाङ्गेषु केषुचिद्यथोचितमङ्गहाराः सवाद्यं प्रयोक्तव्या इत्याह—मृदङ्गैरित्यादि ॥ -८८८-८९१ ॥

इति द्वात्रिंशदङ्गहारलक्षणम् ।

रेचकानथ वक्ष्यामश्चतुरो भरतोदितान् ।
 पादयोः करयोः कट्या ग्रीवायाश्च भवन्ति ते ॥ ८९२ ॥
 पाष्ण्यङ्गुष्ठाग्रयोरन्तर्बहिश्च सततं गतिः ।
 नमनोन्नमनोपेता प्रोच्यते पादरेचकः ॥ ८९३ ॥
 परितो भ्रमणं तूर्णं हस्तयोर्हंसपक्षयोः ।
 यत्पर्यायेण रचितं स भवेत्कररेचकः ॥ ८९४ ॥
 विरलप्रसृताङ्गुष्ठाङ्गुलेस्तिर्यग्भ्रमेण च ।
 सर्वतो भ्रमणं कट्याः कटीरेचकमूचिरे ॥ ८९५ ॥
 ग्रीवाया विधुतभ्रान्तिः कथ्यते कण्ठरेचकः ।
 अङ्गहाराङ्गमप्येते जनयन्ति पृथक् फलम् ॥ ८९६ ॥
 इति रेचकलक्षणम् ।

(सु०) पूर्वरङ्गाङ्गेष्वङ्गहाराणां प्रयोगनियममाह—मृदङ्गैरित्यादिना ।
 ताललयानुसारिमृदङ्गगोमुखभम्भाभेरीपटहडिण्डिमपणवददुंरादिवाद्यैः, वर्धमा-
 नासारितेषु, पाणिकागीतिक्रादिषु पूर्वरङ्गाङ्गेषु, धीरैः उत्थापनादिषु च
 श्रेयोऽभिलाषिभिः अङ्गहाराः प्रयोक्तव्याः । प्रत्येकं करणप्रयोगेऽपि महाफलद
 एव ॥ -८८८-८९१ ॥

इति द्वात्रिंशदङ्गहारलक्षणम् ।

(क०) अङ्गहारोपयोगिनो रेचकान् लक्षयितुमाह—रेचकानथे-
 त्यादि । तत्र पादरेचकं लक्षयति—पाष्ण्यङ्गुष्ठाग्रयोरित्यादि । नमनोन्न-
 मनोपेतान्तर्बहिश्च सततं गतिरिति । यदा पाष्ण्योर्नमनोपेतान्तर्गतिस्तदा
 अङ्गुष्ठाग्रस्य नमनोपेता अन्तर्गतिर्भवति । एवं यदा अङ्गुष्ठाग्रस्योन्न-
 मनोपेता बहिर्गतिर्भवति, तदा पाष्ण्योरुन्नमनोपेता बहिर्गतिर्भवतीति
 द्रष्टव्यम् । कररेचकं लक्षयति—परितो भ्रमणमित्यादि । हंसपक्षयोर्हस्तयोः

विचित्रमङ्घ्रिजङ्घोरुकटीकर्म समं कृतम् ।

चारी स्यात्करणे ङीषि चरेरिञ्प्रत्ययान्ततः ॥ ८९७ ॥

पर्यायेण रचितं तूर्णं परितो परिभ्रमणमन्तर्बहिश्चेत्यर्थः । वामदक्षिणहस्त-
योरेकस्मिन्हंसपक्षेऽन्तर्भ्रमणं कुर्वति, तदन्यो बहिर्भ्रमणं करोति । एवं पर्यायेण
क्रियते चेत्स कररेचको भवेत् । कटीरेचकं लक्षयति—सर्वतो भ्रमणमिति ।
तच्च भ्रमरीभेदेष्वनुगतं द्रष्टव्यम् । कण्ठरेचकं लक्षयति—ग्रीवाया
इति ॥ ८९२-८९६ ॥

इति रेचकलक्षणम् ।

(सु०) करादीनां रेचकं पूर्वमुक्तम्, तत्र कोऽयं रेचक इत्यपेक्षायां
प्रतिज्ञाय विभागपूर्वकं रेचकं लक्षयति—रेचकानिति । पादादीनां चत्वारो रेचका
भवन्ति । यथा—पादरेचकाः; कररेचकाः, कटीरेचकाः; ग्रीवारेचका इति ।
तेषां क्रमेण लक्षणमाह—पार्ष्णिगिरिति । पार्ष्णिगद्वयस्य अङ्गुष्ठद्वयस्य च
बाह्याभ्यन्तरयोः नतोनतयोः संततं या गतिः स पादरेचकः । हंसपक्षां
प्राप्तयोः हस्तयोः पर्यायेण कृतं त्वरितं परितो भ्रमणं कररेचकः । कट्यां
सर्वतो भ्रमणं कटीरेचकः । विरलप्रसृताङ्गुलैः तिर्यग्भ्रमणेन या ग्रीवाया
विधुतभ्रान्तिः सा ग्रीवारेचकः । एते रेचका अङ्गहाराङ्गं फलमपि जनयन्ति
उत्पादयन्ति । ननु “द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्, फलश्रुतिरर्थवादः
स्यात्” इत्युक्तत्वात् कथमङ्गस्य पृथक्फलत्वम्? दध्नेन्द्रियकरणन्यायेन गुण-
फलसंबन्धेन भविष्यति ॥ ८९२-८९६ ॥

इति रेचकलक्षणम् ।

(क०) अथ चारीणां सामान्यलक्षणमाह—विचित्रमित्यादि ।
विचित्रमङ्घ्रिजङ्घोरुकटीकर्म चारी स्यादित्येतावत्युच्यमाने प्रत्येक-
मङ्घ्र्यादिकृतानां कर्मणामपि चारीत्वप्रतीतिः स्यात्; अत उक्तं समं कृत-
मिति । समं सह युगपदिति यावत् । एकस्मिन्कालेऽङ्घ्र्यादिभिः कृत-

हस्तो वाभिनये गत्यां चरणो यो यदेप्सितः ।

तत्संपच्युचिता चारी कार्या तदुचिता परा ॥ ८९८ ॥

एवमन्योन्यनियमात्सैव व्यायाम उच्यते ।

चारी च करणं खण्डो मण्डलं चेति तद्भिदाः ॥ ८९९ ॥

मित्यर्थः । एवमपि लौकिके कर्मण्यतिव्याप्तिः स्यादित्युक्तं विचित्रमिति । वैचित्र्यापादनं नर्तन एव क्रियत इति न कुत्राप्यतिव्याप्तिः । चारीशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति—करणे ङीषि चरेरिञ्प्रत्ययान्तत इति । “चर गतिभक्षणयोः” इत्येतस्माद्भ्रत्यर्थे वर्तमानाच्चार्येतेऽनयेति करणार्थे विवक्षिते, “इञ् वपादिभ्यः” इत्यौणादिक इति वार्तिकेनेञ्प्रत्यये सति ‘चारि’ इति स्थिते “कृदिकारादक्तिनो वा ङीप्वक्तव्यः” इति पक्षे ङीषि कृतं चारीति रूपं सिद्धम् ॥ ८९७ ॥

(सु०) चारीं लक्षयति—विचित्रेति । वक्ष्यमाणविशेषयुक्ता समकालकृत-संघातादिकर्मचरणादितद्विशेषहेतोः चारीत्युच्यते । चारीशब्दनिष्पत्तिमाह—चारी स्यादिति । चरधातोः इञ् करणे, भावे वा, “कृदिकारादक्तिनः” इति ङीषि चारीशब्दनिष्पत्तिः ॥ ८९७ ॥

(क०) चारीप्रयोग इतिकर्तव्यतामाह—हस्तो वेत्यादि । अत्र वाशब्द उपमाने । अभिनये हस्तो वा हस्त इव । गत्यां गत्यनुकारे यदा यश्चरणोऽञ्चितादिषु पादभेदेष्वीप्सितो व्यापारयितुमिष्टः । तत्संपच्युचिता ; तस्य चरणस्य संपत्तिः, तस्या उचिता । समादिचरणसंपादनयोग्येत्यर्थः । चारी, अङ्घ्रिजङ्घोरुकटीक्रिया कार्या कर्तव्या । परा ; तदितरा पादादि-क्रिया ; तदुचिता ; प्रथमचार्युचिता कार्या । द्वितीया चारी प्रथमचार्यनु-सारिणी कर्तव्येत्यर्थः । एवमन्योन्यनियमादिति । द्वितीयादिचार्यनुसारेण तृतीयादयश्चार्यः कृताश्चेदित्यर्थः । सैव ; चार्यैव व्यायाम इत्युच्यते ।

तत्रैकपादनिष्पाद्या चारी चार्येव कीर्तिता ।

पादद्वयेन करणं तन्मृत्तकरणात्पृथक् ॥ ९०० ॥

करणैः स्यास्त्रिभिः खण्डो मण्डलं खण्डकैस्त्रिभिः ।

चतुर्भिर्वा क्रमात्ताले त्र्यश्रे च चतुरश्रके ॥ ९०१ ॥

सेति जातिपरतयैकवचनम् । तस्य व्यायामस्य भेदानाह—चारी चेत्यादि ।
तद्भिदाः ; व्यायामभेदाः ॥ ८९८, ८९९ ॥

(सु०) चारीणामितिकर्तव्यतामाह—हस्त इति । अभिनये हस्तो वा, गत्यां पादो वा यदा ईप्सितः गत्यनुकारेण व्यापारयितुमिष्टः, तदनुगुणा चारी प्रधानम् । तत्संपत्त्युचिता ; तस्य पादस्य संपत्तिः रूपनिष्पत्तिः उचिता । अङ्घ्रिजङ्घोरुकटीकर्मचारी कार्येत्यर्थः । परा इतरा चरणादिक्रिया तदुचिता प्रथमचार्युचिता कार्या । एवं करणचरणयोः परस्परनियमेन क्रियमाणा चारी व्यायाम इत्युच्यते । तस्य भेदाश्चतुर्विधः, चारी, करणम्, खण्डः, मण्डलं चेति ॥ ८९८, ८९९ ॥

(क०) क्रमेण तेषां स्वरूपमाह—तत्रेत्यादि । एकपादनिष्पाद्या ; वामेन दक्षिणेन वैकेन पादेन निर्वर्तयितव्या । अत्र प्राधान्यात्पादग्रहणम् । पादादिनेत्यर्थः । चार्येव ; पूर्वोक्ता चार्येव चारी कीर्तिता । व्यायामभेदत्वेनोक्ता चारीति कथिता । पादद्वयेन निष्पाद्या चार्येव करणम् ; व्यायामभेदत्वेनोक्तं करणं भवति । अत्र तलपुष्पपुटादिभिः सांकर्यशङ्कां परिहरति—तन्मृत्तकरणात्पृथगिति । करपादादिक्रियात्मकं नृत्तकरणम् । केवलपादादिक्रियात्मिका चारीति भेदोऽवगन्तव्य इत्यभिप्रायः । तैस्त्रिभिः करणैर्निष्पाद्या चार्येव खण्डः ; व्यायामभेदत्वेनोक्तः खण्डो भवेत् । तैस्त्रिभिः खण्डैः त्र्यश्रे ताले चतुर्भिरेव खण्डकैश्चतुरश्रे ताले चेति क्रमाद्विषयव्यवस्थया विकल्पो द्रष्टव्यः । एवं च त्र्यश्रे ताले चाक्षुपुटे त्रिभिः खण्डकैः,

भौमी चाकाशिकीत्येषा द्वेधा भौम्योऽत्र षोडश ।
 समपादा स्थितावर्ता शकटास्या च विच्यवा ॥ ९०२ ॥
 अध्यर्धिका चाषगतिरेडकाक्रीडिता तथा ।
 समोत्सरितमत्तल्ली मत्तल्ल्युत्स्पन्दिताडिता ॥ ९०३ ॥
 स्पन्दितावस्पन्दिताख्या बद्धा च जनितार्भधा ।
 ऊरूद्वृत्तेत्यथ ब्रूमः षोडशाकाशिकीरिमाः ॥ ९०४ ॥
 इति भैम्यः ।

चतुरश्रे ताले चच्चत्पुटे चतुर्भिः खण्डकैर्वा क्रमान्निष्पाद्या चार्येव व्याया-
 मभेदो मण्डलमित्युच्यत इति योजनीयम् ॥ ९००, ९०१ ॥

(सु०) तेषां स्वरूपमाह—तत्रेति । एकपादनिष्पाद्या चारी पूर्वोक्ता
 चार्येव चारी भवति । पादद्वयेन करणं भवति । तत्; करणम् । नृत्तकरणान्;
 करचरणादिक्रियात्मकात् पृथगिति वेदितव्यम् । त्रिभिः करणैः निष्पाद्या चारी
 खण्डो भवति । त्रिभिः खण्डैः मण्डलं भवति ॥ ९००, ९०१ ॥

(क०) चारीविभागमाह—भौमीत्यादि । एषेत्येकपादनिष्पाद्या
 प्रकृता चारी निर्दिश्यते । एषा चारी भौमी भूमिसंबन्धिनी, आकाशिकी
 आकाशसंबन्धिनी चेति द्विधा । अत्र आसु मध्ये भौम्यश्चार्थः षोडश । ता
 उद्दिशति—समपादेत्यादि ॥ ९०२—९०४ ॥

इति भैम्यः ।

(सु०) चारीविभागमाह—भौमीति । चारी द्विविधा, भौमी, आकाशिकी
 चेति । समपादेति । अत्र आसु मध्ये भौम्यश्चार्थः षोडश । यथा—समपादा,
 स्थितावर्ता, शकटास्या, विच्यवा, अध्यर्धिका, चाषगतिः, एडकाक्रीडिता,
 समोत्सरितमत्तल्ली, मत्तल्ली, उत्स्पन्दिता, अडिता, स्पन्दिता, अवस्पन्दिता,
 बद्धा, जनिता, ऊरूद्वृत्तेति ॥ ९०२—९०४ ॥

इति भौम्यः ।

अतिक्रान्ताप्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता मृगप्लुता ।
 ऊर्ध्वजानुरलाता च सूची नूपुरपादिका ॥ ९०५ ॥
 डोलापादा दण्डपादा विद्युद्भ्रान्ता भ्रमर्यपि ।
 भुजङ्गत्रासिताक्षिप्ता विद्धोद्वृत्तेति कीर्तिताः ॥ ९०६ ॥
 भरताभिमताश्चार्यो द्वात्रिंशन्मिलितास्तु ताः ।
 देशीप्रसिद्धाः सन्त्यन्यास्ताः संप्रत्यभिदध्यहे ॥ ९०७ ॥
 इत्याकाशिक्याः ।

रथचक्रा परावृत्ततला नूपुरविद्धका ।
 तिर्यङ्मुखा मराला च करिहस्ता कुलीरिका ॥ ९०८ ॥
 विश्लिष्टा कातरा पार्ष्णिरेचिताप्यूरुताडिता ।
 ऊरुवेणी तलोद्वृत्ता हरिणत्रासिका परा ॥ ९०९ ॥

(क०) अथाकाशिकीरुद्दिशति—अतिक्रान्तेत्यादि । एवं द्वेधा
 मार्गचार्यो द्वात्रिंशत् ॥ ९०५—९०७ ॥

इत्याकाशिक्यः ।

(सु०) आकाशिकीमाह—अतिक्रान्तेति । अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता,
 पार्श्वक्रान्ता, मृगप्लुता, ऊर्ध्वजानुः, अलाता, सूची, नूपुरपादिका, डोलापादा,
 दण्डपादा, विद्युद्भ्रान्ता, भ्रमरी, भुजङ्गत्रासिता, आक्षिप्ता, विद्धा, उद्वृत्तेति
 षोडश भवन्ति । भरताभिमताः ताः सर्वाः चार्यो मिलिता द्वात्रिंशत् ॥
 ॥ ९०५—९०७ ॥

इत्याकाशिक्यः ।

(क०) अथ देशीचारीषु भौमीरुद्दिशति—रथचक्रेत्यादि ॥
 विद्युद्भ्रान्तेत्यादि ॥ ९०८—९१२- ॥

इति देशीचारीषु भौम्यः ।

अर्धमण्डलिका तिर्यक्कुञ्चिता च मदालसा ।
 संचारितोत्कुञ्चिता च स्तम्भक्रीडनिका ततः ॥ ९१० ॥
 चारी लङ्घितजङ्घाख्या स्फुरिताप्यवकुञ्चिता ।
 अपि संघट्टिता खुत्ता स्वस्तिका तलदर्शिनी ॥ ९११ ॥
 पुराट्थपुराटी च सरिका स्फुरिका ततः ।
 निकुट्टिका लताक्षेपाप्यङ्गुस्खलितिका परा ॥ ९१२ ॥
 समस्खलितिका भौम्यः पञ्चत्रिंशदितीरिताः ।

इति देशीचारीषु भौम्यः ।

विद्युद्भ्रान्ता पुरःक्षेपा विक्षेपा हरिणप्लुता ॥ ९१३ ॥
 अपक्षेपा च डमरी दण्डपादाङ्घ्रिताडिता ।
 जङ्घालङ्घनिकालाता जङ्घावर्ता च वेष्टनम् ॥ ९१४ ॥

(सु०) देशीं लक्षयति—देशीप्रसिद्धा अन्याश्चार्यः सन्ति । तत्र भौमी-
 चार्यः पञ्चत्रिंशद्विधाः । ता उद्दिशति—रथचक्रेति । रथचक्रा, परावृत्ततला,
 नूपुरविद्धका, तिर्यङ्मुखा, मराला, करिहस्ता, कुलीरिका, विस्लिष्टा, कातरा,
 पार्श्विरेचिता, ऊरुताडिता, ऊरुवेणी, तलोद्वृत्ता, हरिणत्रासिका, अर्ध-
 मण्डलिका, तिर्यक्कुञ्चिता, मदालसा, संचारिता, उत्कुञ्चिता, स्तम्भक्रीडनिका,
 लङ्घितजङ्घिका, स्फुरिता, अवकुञ्चिता, संघट्टिता, खुत्ता, स्वस्तिका, तलदर्शिनी,
 पुराटी, अर्धपुराटी, सरिका, स्फुरिका, निकुट्टिका, लताक्षेपिका, अङ्गुस्ख-
 लितिका, समस्खलितिकेति ॥ ९०८-९१२ ॥

इति देशीचारीषु भौम्यः ।

(क०) आकाशिकीरुद्दिशति—विद्युद्भ्रान्तेत्यादि । एता अप्यु-
 भयाश्चतुष्पञ्चशत् ॥ ९१३-९१६ ॥

इति देशीचारीपञ्चाकाशिक्यः ।

उद्वेष्टनमथोत्क्षेपः पृष्ठोत्क्षेपश्च सूचिका ।

विद्धा प्रावृतमुल्लोल इत्यत्रैकोनविंशतिः ॥ ९१५ ॥

व्योमगा उभयास्तु स्याच्चतुष्पञ्चाशद्वचिरं ।

मार्गदेशीगताश्चार्यः षडशीतिरिमा मताः ॥ ९१६ ॥

इति देशीचारीष्वाकाशिक्यः ।

अथ मौम्यः—

लक्षणानि क्रमात्तासां चारीणामभिदध्यहे ।

निरन्तरौ समनखौ पादौ कृत्वा स्थितो यदा ॥ ९१७ ॥

स्थानेन समपादेन समपादा तदोदिता ।

प्रचारयोग्यतामात्राच्चारी स्थानेऽप्यसौ मता ॥ ९१८ ॥

इति समपादा (१)

(सु०) देशीषु आकाशिक्यश्चार्य एकोनविंशतिः । ता उद्दिशति—
विद्युदिति । विद्युद्भ्रान्ता, पुरःक्षेपा, विक्षेपा, हरिणप्लुता, अपक्षेपा, डमरी,
दण्डपादा, अङ्घ्रिताङ्किता, जङ्घालङ्घनिका, अलाता, जङ्घावर्ता, वेष्टनम्,
उद्वेष्टनम्, उत्क्षेपः, पृष्ठोत्क्षेपः, सूचिका, विद्धा, प्रावृतम्, उल्लोल इति । उभय-
गताः सर्वे मिलिताः चतुष्पञ्चाशच्चार्यो भवन्ति । एवं मार्गदेशीगताः चार्यः
षडशीतिः ॥ ९१३-९१६ ॥

इति देशीचारीष्वाकाशिक्यः

(क०) तासां सर्वासां प्रत्येकं लक्षणान्यभिधातुमाह—लक्षणानीति ।

तत्र समपादां लक्षयति—निरन्तरावित्यादि । यदा पादौ निरन्तरौ परस्परं
श्लिष्टौ । समनखौ; समा नखा ययोस्तौ । समाम्प्रपार्ष्णिभागावित्यर्थः । प्रथमं
तादृशौ कृत्वा. समपादेन स्थानेन स्थितश्चेत् । पादयोर्वितस्त्यन्तरस्थित्या
समपादं नाम स्थानकं वक्ष्यते । तत्र वितस्तिर्नाम देशाश्रयः परिमाणविशेषो

चरणान्तरपार्श्वं चेद्वत्वाग्रतलसंचरः ।

अन्तर्जानुः स्वस्तिकत्वं प्राप्तः पादस्तथेतरः ॥ ९१९ ॥

विश्लिष्य पार्श्वं स्वंनीतः स्थितावर्ता तदोच्यते ।

इति स्थितावर्ता (२)

द्वादशाङ्गुलात्मकः । यथोक्तं—“ वितस्तिद्वादशाङ्गुलः ” (नामलिङ्गानु-
शासनम् २-६-८४) इति । तेन समपादस्थानकेन यदा स्थितो भवति, तदा
समपादा नाम चार्युदिता । अत्र स्थित इति पुंलिङ्गनिर्देशेन नर्तकपरत्वे
नर्तक्या अप्युपलक्षणं द्रष्टव्यम् । अत्र कृत्वा स्थित इति क्रियाद्वय-
श्रवणात्पूर्वं पादयोर्नैरन्तर्यक्रियानन्तरं समपादस्थानस्थितिक्रियेति पौर्वापर्यं
द्रष्टव्यम् । प्रचारेत्यादि । समपादाया गतिरूपताभावेऽपि प्रचारयो-
ग्यतामात्रात्प्रचारस्य गतेर्योग्यतामात्राच्चारित्युपचर्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु,
स्थाने; स्थानकेऽप्यसौ समपादा मता । रूपद्वयमप्यस्यां संभवतीत्यर्थः
॥ ९१७, ९१८ ॥

इति समपादा (१)

(सु०) तासां प्रत्येकं लक्षणानि वक्तुमुपक्रमते—लक्षणानीति । तत्र
समपादां लक्षयति—निरन्तराविति । निरन्तरौ समनखौ पादौ विधाय, यदा
समपादेन स्थानेन स्थितौ चेत्, तदा समपादा भवति । सा च प्रचारयोग्य-
स्थितावपि भवति ॥ ९१७, ९१८ ॥

इति समपादा (१)

(क०) अथ स्थितावर्तो लक्षयति—चरणान्तरेत्यादि । अग्रत-
लसंचरः पादः । चरणान्तरपार्श्वम् ; अग्रतलसंचारादन्यश्चरणश्चरणान्तरम् ।
तस्य पार्श्वं बहिर्भागप्रदेशं गत्वा, अन्तर्जानुः स्वस्तिकत्वं प्राप्तश्चेदिति ।
अनेन चरणान्तरस्य पार्ष्णिभागेन गमनं गम्यपार्श्वदेशावधिश्च गम्यते ।

यत्र धृत्वा पूर्वकायं पादोऽग्रतलसंचरः ॥ ९२० ॥

प्रसार्योद्वाहितमुरः शकटास्या तदा भवेत् ।

आस्यं क्षेप्यं हि शकटं चारीमेनामुपाश्रितैः ॥ ९२१ ॥

इति शकटास्या (३)

तथेतर इति । इतरः स्थितः पादः । तथेति । अग्रतलसंचरो भूत्वेत्यर्थः ।
विश्लिष्य स्वस्तिकं कृत्वा ; पार्श्वं नीत इति । चरणान्तराङ्गुल्य-
ग्रभागेन स्वकीयं पार्श्वं नीतश्चेत् ; तदा स्थितावर्ता नाम चारी भवेत् ॥
॥ ९१९, ९१९- ॥

इति स्थितावर्ता (२)

(सु०) स्थितावर्ता लक्षयति—चरणेति । यत्र चरणान्तरपार्श्वं भ्रान्त्वा,
एकः पादः अग्रतलसञ्चारी भूय, अन्तर्जानुः स्वस्तिकत्वमाप्नोति । इतरस्तथैव
विश्लिष्य स्वपार्श्वं नीयते, सा स्थितावर्ता चारी भवति ॥ ९१९, ९१९- ॥

इति स्थितावर्ता (२)

(क०) शकटास्यायाम्—आस्यं क्षेप्यमिति । क्षेप्यमित्यास्यमित्यस्य
प्रतिपदम् । अनेनास्या अन्वर्थता दर्शिता भवति । एवं सर्वत्र चारीणां
प्रायेणान्वर्थता द्रष्टव्या ॥ -९२०-९२७ ॥

इति शकटास्या (३)

(सु०) शकटास्यां लक्षयति—यदेति । यदा पूर्वकायं यक्तात् धृत्वा,
उद्वाहितमुरः प्रसार्य, अग्रतलसंचरः क्रियते, तदा शकटास्या भवति ॥
॥ -९२०, ९२१ ॥

इति शकटास्या (३)

उद्धृत्य समपादायाः पादौ यदि तलाग्रतः ।

निकुट्टयेतां धरणीमुच्यते विच्यवा तदा ॥ ९२२ ॥

इति विच्यवा (४)

दक्षिणाङ्घ्रेः पार्श्विदेशे वामः पादो निधीयते ।

दक्षिणस्त्वपसृत्य स्वे पार्श्वे त्र्यश्रतया स्थितः ॥ ९२३ ॥

सार्धतालान्तरत्वेन दक्षिणोऽप्येवमेव चेत् ।

वामपाष्णौ स च त्र्यश्रो भवेदध्यर्धिका तदा ॥ ९२४ ॥

इत्यध्यर्धिका (५)

तालमात्रं पुरः कृत्वा द्वितालं पृष्ठतो गते ।

दक्षिणेऽङ्घ्रौ समं पादौ किञ्चिदुत्थुतिपूर्वकम् ॥ ९२५ ॥

उपसृत्यापसर्पेतामपसृत्योपसर्पतः ।

यत्र सत्रासगत्यादौ सैषा चाषगतिर्मता ॥ ९२६ ॥

इति चाषगतिः (६)

(सु०) विच्यवां लक्षयति—उद्धृत्येति । यत्र समपादायां पादा उद्धृत्य तलाग्रेण भूमिर्निकुट्टयेते ; सा विच्यवा भवति । निकुट्टनं पूर्वमुक्तम् ॥ ९२२ ॥

इति विच्यवा (४)

(सु०) अध्यर्धिकां लक्षयति—दक्षिणाङ्घ्रेरिति । दक्षिणचरणस्य पार्श्विप्रदेशे यदा वामः पादो विन्यस्यते । ततो दक्षिणस्तु त्र्यश्रः सन् स्वापार्श्वे अपसृत्य वर्तते, दक्षिणोऽपि सार्धतालान्तरत्वेन, एवमेव वामपार्श्विदेशे स्थितो भवति, स च त्र्यश्रो भवति ; सा अध्यर्धिका भवति ॥ ९२३, ९२४ ॥

इत्यध्यर्धिका (५)

(सु०) चाषगतिं लक्षयति—तालमात्रमिति । तालप्रमाणलक्षणं स्थान-

किञ्चिदुत्प्लुत्य चरणौ यत्राग्रतलसंचरौ ।

पर्यायशो निपततः सैडकाक्रीडिता मता ॥ ९२७ ॥

इत्येडकाक्रीडिता (७)

अभ्यन्तरेऽङ्घ्रेरन्यस्य पादेऽग्रतलसंचरे ।

सजङ्घास्वस्तिकेऽथान्यपादेऽग्रतलसंचरे ॥ ९२८ ॥

कृतेऽङ्घ्रयोर्धूर्णतोऽर्थत्रापसृतिश्चोपसर्पणम् ।

समोत्सरितमत्तल्ली सा भवेन्मध्यमे मदे ॥ ९२९ ॥

इति समोत्सरितमत्तल्ली (८)

प्रकरणे वक्ष्यति । यत्र पुरः तालमात्रं कृत्वा, दक्षिणपादे पृष्ठतः तालद्वयं गते सति, पादौ सममेव किञ्चिदुपसृत्य अपसर्पतः, अपसृत्य उपसर्पतश्च भवति ; सा चाषगतिः । एषा सत्रासगत्यादौ प्रयोज्या ॥ ९२९, ९२६ ॥

इति चाषगतिः (६)

(सु०) एडकाक्रीडितां लक्षयति—कचिदिति । उभौ चरणावग्रतलसंचारौ किञ्चिदुत्प्लवनं विधाय पर्यायशः क्रमशः निपततः, तदा ^१एडकाक्रीडिता भवति ॥ ९२७ ॥

इत्येडकाक्रीडिता (७)

(क०) समोत्सरितमत्तल्लीति संज्ञायां समप्रसृतेत्यत्र समोत्सरितेति प्राकृतपदं मुनिना प्रयुक्तं द्रष्टव्यम् । मत्तचेष्टितत्वान्मत्तल्ली इति संज्ञा द्रष्टव्या ॥ ९२८—९३८ ॥

(सु०) समोत्सरितमत्तल्लीं लक्षयति—अभ्यन्तर इति । एकपादाभ्यन्तरे अन्यपादे अग्रतलसंचरे सति, तत्पादे च आधूर्णिते अपसरण उपसरणे समं क्रियते, सा समोत्सरितमत्तल्ली । सा मध्यमे मदे प्रयोज्या ॥ ९२८, ९२९ ॥

इति समोत्सरितमत्तल्ली (८)

^१ अजिकागतितुल्यत्वादेडकाक्रीडिता इत्यभिनवगुप्तपादाः ।

भूमिस्त्रिष्टाखिलतलौ जङ्घास्वस्तिकसंयुतौ ।
अर्धत्र्यश्रौ यदा पादौ घूर्णन्तौ वोपसर्पतः ॥ ९३० ॥
यद्वापसर्पतः सा स्यान्मत्तल्ली तरुणे मदे ।

इति मत्तल्ली (९)

कनिष्ठाङ्गुलिभागेनाङ्गुष्ठभागेन च क्रमात् ॥ ९३१ ॥
रेचकस्यानुकारेण शनैरङ्गुलिर्गतागतम् ।
कुरुते यत्र सा चारी बुधैरुत्स्पन्दितोदिता ॥ ९३२ ॥
औदासीन्याधश्च्युतिस्तु स्पन्द इत्यभिधीयते ।
रेचितं नृत्तहस्तं च केचिदत्र प्रचक्षते ॥ ९३३ ॥

इत्युत्स्पन्दिता (१०)

समाङ्घ्रेरग्रपृष्ठाभ्यामन्योऽग्रतलसंचरः ।
निघृष्टश्चरणो यत्र क्रमात्तामङ्कितां विदुः ॥ ९३४ ॥
इत्यङ्किता (११)

(सु०) मत्तल्लीं लक्षयति—भूमीति । यत्र भूमिस्त्रिष्टाखिलतलौ, जङ्घा
स्वस्तिकसंयुतौ, यदा पादौ अर्धत्र्यश्रौ, घूर्णन्तौ वा उपसर्पतः, यद्वा अपसर्पतः ;
सा मत्तल्ली ; एषा तरुणे मदे प्रयोज्या ॥ ९३०, ९३०- ॥

इति मत्तल्ली (९)

(सु०) उत्स्पन्दितां लक्षयति—कनिष्ठेति । यत्र कनिष्ठाङ्गुलिभागेन
अङ्गुष्ठभागेन च रेचकानुसारेण पादः क्रमात् शनैः गतागतं कुरुते, सा
उत्स्पन्दिता । औदासीन्येन अधश्च्युतिः स्पन्दः । अत्र केचिदाचार्या रेचितं
नृत्तहस्तमपि भणन्ति ॥ -९३१-९३३ ॥

इत्युत्स्पन्दिता (१०)

(सु०) अङ्कितां लक्षयति—समेति । यत्र समपादस्य अग्रपृष्ठाभ्याम्
अन्यः अग्रतलसंचरः पादः निघृष्यते ; सा अङ्किता ॥ ९३४ ॥

इत्यङ्किता (११)

^१ यमयाः प्रत्यावर्तनरूपस्पन्दितकृत् तत्तुल्यत्वात् उत्स्पन्दितेत्यभिनवगुप्तपादाः ।

निषण्णोरुः समो वामो दक्षिणोऽङ्घ्रिः प्रसारितः ।
पञ्चतालान्तरं तिर्यग्यस्यां सा स्पन्दिता मता ॥ ९३५ ॥

इति स्पन्दिता (१२)

अङ्घ्रिचारविपर्यासात्सैवावस्पन्दिता मता ।

इत्यवस्पन्दिता (१३)

ऊरुद्वयस्य वलनं जङ्घास्वस्तिकसंयुतम् ॥ ९३६ ॥
भङ्क्त्वा वा स्वस्तिकं पादतलाग्रे मण्डलभ्रमम् ।
कृत्वा पार्श्वं गते स्वं स्वं यत्र बद्धेति सा मता ॥ ९३७ ॥

इति बद्धा (१४)

चारी सा जनिता यस्यां पादोऽग्रतलसंचरः ।

(सु०) स्पन्दित्रं लक्षयति—निषण्ण इति । यत्र निषण्णोरुः, वाम-
पादः समः, दक्षिणपादः पञ्चतालान्तरं तिर्यक् प्रसारितो भवति ; सा
स्पन्दिता ॥ ९३५ ॥

इति स्पन्दिता (१२)

(सु०) अवस्पन्दितां लक्षयति—अङ्घ्रीति । यत्र अङ्घ्रिचारविपर्यासात् ;
पादचारव्यत्यासात् ; सैव ; स्पन्दिताव अवस्पन्दिता भवति ॥ ९३५- ॥

इत्यवस्पन्दिता (१३)

(सु०) बद्धां लक्षयति—ऊरुद्वयस्येति । यत्र ऊरुद्वयस्य वलनम् ; प्रत्येकं
जङ्घा स्वस्तिकसंयुतं वा कृत्वा, पादतलेन अग्रे मण्डलभ्रमं विधाय स्वस्वपार्श्वं
गच्छतः ; सा बद्धा ॥ -९३६, ९३७ ॥

इति बद्धा (१४)

(सु०) जनितां लक्षयति—चारीति । यत्र पादः अग्रतलसंचरो भवति ;

मुष्टिर्वक्षसि हस्तोऽन्यो यथाशोभं प्रवर्तते ॥ ९३८ ॥

अङ्घ्रिक्रिया प्रधानं स्यादितिकर्तव्यतेतरा ।

इति जनिता (१५)

पार्णिः पादस्य चेदग्रतलसंचरसंज्ञितः ॥ ९३९ ॥

अन्याङ्घ्रिपृष्ठाभिमुखी विपर्यासोऽथवा भवेत् ।

अभ्यन्यजङ्घं वलिता जङ्घा चेन्नतजानुका ॥ ९४० ॥

ऊरुद्वृत्ता तदा चारी लज्जेर्ष्यादौ नियुज्यते ।

इत्यूरुद्वृत्ता (१६)

नियुद्धे चाङ्गहारेषु नाट्ये चैताः प्रतिष्ठिताः ॥ ९४१ ॥

वक्षसि मुष्टीभूतो हस्तः यथाशोभं प्रवर्तते ; सा जनिता । अत्र इतरा इतिकर्तव्यता
अङ्घ्रिक्रिया प्रधानं स्यात् ॥ ९३८, ९३८- ॥

इति जनिता (१५)

(क०) जनितायां 'मुष्टिर्वक्षस्थः (श्लो० ७२६)' इत्युक्तम्,
तलक्षणत्वेन न ग्राह्यमित्याह—अङ्घ्रिक्रियेति । अन्यथा चारीकरणयोः
सांकर्यं स्यादिति भावः । एवमन्यत्रापि चारीषु करव्यापारवचने
द्रष्टव्यम् ॥ -९३९, ९४०- ॥

(सु०) ऊरुद्वृत्तां लक्षयति—पार्णिरिति । यत्र अग्रतलसंचरपादस्य
पार्णिः अन्यपादपृष्ठाभिमुखी भवति, तद्व्यत्यासो वा भवति । नतजानुका एका
जङ्घा अन्यजङ्घाभिमुखं वलिता भवति । सा ऊरुद्वृत्ता भवति । एषा ईर्ष्या-
लजादौ प्रयुज्यते ॥ -९३९, ९४०- ॥

इत्यूरुद्वृत्ता (१६)

(क०) भौमचारीणां साधारणविनियोगमाह—नियुद्धे चेत्यादि ।

अनादिवेदमूलेन नाट्यवेदेन कीर्तिताः ।

इति षोडश भौम्यश्चार्यः ।

अथाकाशिक्यः—

गुल्फक्षेत्रेऽन्यपादस्योद्वृत्त्याङ्घ्रि कुञ्चितं पुरः ॥ ९४२ ॥

किञ्चित्प्रसार्य चोत्क्षिप्य यथाप्रकृति लोकवत् ।

चतुस्तालाद्यन्तरेण ततोऽग्रेण निपातयेत् ॥ ९४३ ॥

यत्र चारीमतिक्रान्तां निःशङ्कस्तामकीर्तयत् ।

इत्यतिक्रान्ता (१)

नियुद्धं मुष्टियुद्धम् । अङ्गहार इत्यनेन नृतं गृह्यते । नाट्ये चेत्यत्र चकारेण नृत्यमपि गृह्यत इत्यवगन्तव्यम् । नियुद्धादिषु यथोचितं भौम्यश्चार्यः प्रयोक्तव्या इत्यर्थः । एतासामनादित्वं दर्शयति—अनादिवेदमूलेनेति । अनादयो वेदा ऋग्वेदादयश्चत्वारः ॥ -९४१, ९४१- ॥

इति षोडश भौम्यश्चार्यः ।

(सु०) भौमचारीणां विनियोगमाह—नियुद्ध इति । अनादिवेदमूल-नाट्यनिगमप्रतिपादिताः, नियुद्धे; मुष्टियुद्धे, अङ्गहारेषु नाट्ये च प्रयोज्या एताश्चार्यः ॥ -९४१, ९४१- ॥

इति षोडश भौम्यश्चार्यः ।

(क०) अथाकाशिकीनां लक्षणानि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ -९४२-९६५- ॥

इति षोडश आकाशिक्यश्चार्यः ।

(सु०) अथाकाशिकीं लक्षयति—अथाकाशिक्य इति । तत्रातिक्रान्तां

बद्धां विधाय चारीं चेदुद्वृत्याङ्घ्रिं च कुञ्चितम् ॥ ९४४ ॥
पार्श्वे विनिक्षिपेचारीमपक्रान्तां तदादिशेत् ।

इत्यपक्रान्ता (२)

नीत्वोपरि स्वपार्श्वेन कुञ्चितं चरणं ततः ॥ ९४५ ॥
पाण्य्या चेत्यातयेद्भूमौ पार्श्वक्रान्ता तदोच्यते ।
सा पार्श्वदण्डपादेति प्रसिद्धा लोकवर्त्मनि ॥ ९४६ ॥
अन्योरुक्षेत्रपर्यन्तमुत्क्षिप्य चरणं ततः ।
उद्धटितं भुवि न्यस्येदस्यामित्यपरे जगुः ॥ ९४७ ॥

इति पार्श्वक्रान्ता (३)

लक्षयति—गुल्फक्षेत्रेति । यत्र गुल्फक्षेत्रे अन्यपादोद्वृत्या कुञ्चितः पुरः पादं
किञ्चित्प्रसार्य उत्क्षिप्य चतुस्तालाद्यन्तरेण अग्रेण निपातयेत् । सा अति-
क्रान्ता ॥ -९४२, ९४३- ॥

इत्यतिक्रान्ता (१)

(सु०) अपक्रान्तां लक्षयति—बद्धामिति । यत्र बद्धां चारीं विधाय,
उद्वृत्या कुञ्चितः पादः पार्श्वे विनिक्षिप्यते ; सा अपक्रान्ता ॥ -९४४, ९४४- ॥

इत्यपक्रान्ता (२)

(सु०) पार्श्वक्रान्तां लक्षयति—नीत्वेति । यत्र पार्श्वे कुञ्चितं पादं
पाण्य्या भूमौ पातयेत् ; सा पार्श्वक्रान्ता । सा च पार्श्वदण्डपादेति प्रसिद्धा ।
अन्योरुक्षेत्रपर्यन्तं पादमुत्क्षिप्य उद्धटितं यदा भूमौ न्यस्येत् ; तदा पार्श्वक्रान्ता
इत्यपरे प्राहुः ॥ -९४५-९४७ ॥

इति पार्श्वक्रान्ता (३)

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्योत्प्लुत्य भूमौ निपात्य तम् ।
 अन्याञ्चिताङ्घ्रिजङ्घां च पश्चाद्देशे क्षिपेद्यदा ॥ ९४८ ॥
 तदा मृगप्लुता ज्ञेया सा विदूषककर्तृका ।

इति मृगप्लुता (४)

कुञ्चितोत्क्षिप्तपादस्य जानुस्तनसमं यदा ॥ ९४९ ॥
 न्यस्य स्तब्धीकृतोऽन्योऽङ्घ्रिरूर्ध्वजानुस्तदा भवेत् ।

इत्यूर्ध्वजानुः (५)

पृष्ठप्रसारितोऽङ्घ्रिश्चेदन्योर्वभिमुखं तलम् ॥ ९५० ॥
 कृत्वा पार्श्विणः स्वपार्श्वं क्षमान्यस्तालाता तदोदिता ।

इत्यलाता (६)

(सु०) मृगप्लुतां लक्षयति—कुञ्चितमिति । यत्र कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य,
 तमपि भूमौ निपात्य, अन्याञ्चितपादजङ्घा यदा पश्चाद्देशे निक्षिप्यते, तदा
 मृगप्लुता । सा च विदूषकेन कार्या ॥ ९४८, ९४८- ॥

इति मृगप्लुता (४)

(सु०) ऊर्ध्वजानुं लक्षयति—कुञ्चितेति । यत्र कुञ्चितोत्क्षिप्तजानू स्तन-
 समं विन्यस्य, अन्यपादः स्तब्धीक्रियते ; स ऊर्ध्वजानुः ॥ -९४९, ९४९- ॥

इत्यूर्ध्वजानुः (५)

(सु०) अलातां लक्षयति—पृष्ठेति । यत्र अङ्घ्रिः पृष्ठतः प्रसार्य तत्तल-
 मन्योर्वभिमुखं विधाय पार्श्विणः स्वपार्श्वभूमिं न्यस्यते ; सा अलाता ॥
 ॥ -९५०, ९५०- ॥

इत्यलाता (६)

उत्क्षिप्य कुञ्चितं पादं जङ्घामस्य प्रसार्य च ॥ ९५१ ॥

जान्वन्तां वोरुपर्यन्तामग्रयोगे नतं भुवि ।

चरणं पातयेद्यस्यां सा सूचीति निगद्यते ॥ ९५२ ॥

इति सूची (७)

पश्चानीत्वाञ्चितं पादं तस्य पाष्ण्यां स्फिजं स्पृशेत् ।

तं ततोऽञ्चितजङ्घं च भूमावग्रतलेन चेत् ॥ ९५३ ॥

निपातयेत्तदा चारी प्रोक्ता नूपुरपादिका ।

इति नूपुरपादिका (८)

पादं कुञ्चितमुद्धृत्य डोलयित्वा च पार्श्वयोः ॥ ९५४ ॥

न्यस्येत्पाष्ण्यां स्वपार्श्वं चेड्डोलापादा तदोच्यते ।

इति डोलापादा (९)

(सु०) सूचीं लक्षयति—उत्क्षिप्येति । यत्र कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य तजङ्घां जान्वन्तरम् ऊरुपर्यन्तां वा प्रसार्य, अग्रेण तं पादं भुवि पातयेत्; सा सूची ॥ -९५१, ९५२ ॥

इति सूची (७)

(सु०) नूपुरपादिकां लक्षयति—पश्चादिति । यत्र अञ्चितं पादं पश्चानीत्वा, पाष्ण्यां: 'स्फिजप्रदेशमुत्स्पृशति अञ्चितजङ्घं तमेव पादमग्रतलेन भूमौ निपातयेत्; सा नूपुरपादिका ॥ ९५३, ९५३- ॥

इति नूपुरपादिका (८)

(सु०) डोलापादां लक्षयति—पादमिति । यत्र कुञ्चितं पादं पार्श्वयोः उद्धृतं डोलयित्वा पाष्ण्यां पार्श्वं न्यस्येत्; सा डोलापादा ॥ ९५४, ९५४- ॥

इति डोलापादा (९)

१ “ स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ ” (२-२-७५) इत्यमरः ।

नूपुरश्चरणेऽन्यस्य पार्ष्णिदेशे विधाय चेत् ॥ ९५५ ॥

स्वदेहक्षेत्राभिमुखं जान्वग्रत्वेन वेगतः ।

अग्रे प्रसार्यते चारी दण्डपादा तदोदिता ॥ ९५६ ॥

इति दण्डपादा (१०)

पृष्ठतो वलितं स्पृष्ट्वा शिरो भ्रान्त्वा च सर्वतः ।

प्रसृतश्चरणो यत्र विद्युद्भ्रान्ता भवेदसौ ॥ ९५७ ॥

इति विद्युद्भ्रान्ता (११)

अतिक्रान्तागतं पादं त्र्यश्रस्योरोविवर्तनम् ।

कृत्वा पादान्तरतलभ्रमेण भ्राम्यते तनुः ॥ ९५८ ॥

यत्र सा भ्रमरी चारी शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता ।

इति भ्रमरी (१२)

(सु०) दण्डपादां लक्षयति—नूपुर इति । यत्र चरणे पार्ष्णिदेशे च नूपुरं निधाय, स्वदेहक्षेत्राभिमुखजान्वग्रत्वेन वेगात् प्रसारयति; सा दण्डपादा ॥ -९५५, ९५६ ॥

इति दण्डपादा (१०)

(सु०) विद्युद्भ्रान्तां लक्षयति—पृष्ठत इति । यत्र पृष्ठतो वलितं शिरः संस्पृश्य सर्वतो भ्रमणेन चरणः प्रसार्यते; सा विद्युद्भ्रान्ता ॥ ९५७ ॥

इति विद्युद्भ्रान्ता (११)

(सु०) भ्रमरीं लक्षयति—अतिक्रान्तेति । यत्र अतिक्रान्तागतं पादं त्र्यश्रस्य उरोविवर्तनं कृत्वा, पादान्तरतलभ्रमणेन तनुः भ्राम्यते; सा भ्रमरी ॥ ९५८, ९५९- ॥

इति भ्रमरी (१२)

अन्योरुमूलक्षेत्रान्तं पादमुत्क्षिप्य कुञ्चितम् ॥ ९५९ ॥
 नितम्बाभिमुखी पार्ष्णिः कुर्याज्जानु स्वपार्श्वगम् ।
 यत्रोत्तानं पादतलं कटीजानुविवर्तनात् ॥ ९६० ॥
 भुजङ्गत्रासिता सा स्याद् भुजङ्गत्राससूचिका ।

इति भुजङ्गत्रासिता (१३)

तालत्रयान्तरोत्क्षिप्तं कुञ्चितं पादमानयेत् ॥ ९६१ ॥
 पार्श्वान्तरं ततो जङ्घां स्वस्तिकीकृत्य पातयेत् ।
 धरण्यां पार्ष्णिभागेन यत्राक्षिप्तममूं विदुः ॥ ९६२ ॥

इत्याक्षिप्ता (१४)

विश्लिष्टजङ्घयोः कृत्वा स्वस्तिकं तस्य कुञ्चितः ।
 पादः प्रसारितो वक्रः स्वपार्श्वस्थोऽथ पात्यते ॥ ९६३ ॥
 पाण्यां पाण्यन्तरक्षेत्रे यत्राविद्धा भवत्यसौ ।

इत्याविद्धा (१५)

(सु०) भुजङ्गत्रासितां लक्षयति—अन्योरुमूलेति । यत्र अन्योरुमूल-
 क्षेत्रपर्यन्तं कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य, पार्ष्णिः नितम्बाभिमुखी, जानु स्वपार्श्व-
 गतं कटीजानुविवर्तनेन पादतलमुत्तानं च क्रियते; सा भुजङ्गत्रासिता ॥
 ॥ -९५९-९६०- ॥

इति भुजङ्गत्रासिता (१३)

(सु०) आक्षिप्तां लक्षयति—तालत्रयेति । यत्र तालत्रयान्तरमुत्क्षिप्तः
 कुञ्चितः पादः पार्श्वान्तरमानीयते, ततो जङ्घां स्वस्तिकीकृत्य, पार्ष्णिभागेन
 भूमौ पात्यते; सा आक्षिप्ता ॥ -९६१, ९६२ ॥

इत्याक्षिप्ता (१४)

(सु०) आविद्धां लक्षयति—विश्लिष्टेति । यत्र विश्लिष्टजङ्घयोः स्वस्तिकं

आविद्धापादमन्योरुप्रदेशस्थास्तुषार्णिकम् ॥ ९६४ ॥

कृत्वोत्प्लुत्य भ्रमरकं दत्वा यत्र निपातयेत् ।

तथान्यं पादमुद्धृत्य सोद्वृत्ताशेषरूपिणी ॥ ९६५ ॥

इत्युद्धृता (१६)

इति षोडश आकाशिक्यश्चार्थः ।

ललिताङ्गक्रियासाध्याश्चार्यो युद्धनियुद्धयोः ।

नृत्ते नाट्ये गतौ चैताः प्रयोक्तव्या मनीषिभिः ॥ ९६६ ॥

विधाय, प्रसारितः वक्रः स्वपार्श्वस्थः तत्पादः पार्णिभागेन पाष्ण्यन्तरक्षेत्रे
पात्यते ; सा आविद्धा ॥ ९६३, ९६३- ॥

इत्याविद्धा (१५)

(सु०) उद्वृत्तां लक्षयति—आविद्धेति । यत्र आविद्धापादम् अन्योर-
प्रदेशस्थपार्णिकं कृत्वा उत्प्लुत्य, भ्रमरकं दत्वा निपातयेत्, तथा अन्यं
पादमुद्धृत्य एवं क्रियते चेत् ; सा उद्वृत्ता ॥ -९६४, ९६५ ॥

(सु०) आसां साधारणं विनियोगमाह—ललितेति । ललिताङ्गक्रियासाध्या
एताश्चार्यः, युद्धनियुद्धयोः, नृत्ते, नाट्ये च मनीषिभिः प्रयोक्तव्या इत्यर्थः ॥ ९६६ ॥

इत्युद्धृता (१६)

इति षोडश आकाशिक्यश्चार्थः ।

(क०) आकाशिकीनामपि साधारणं विनियोगं दर्शयति—युद्धनि-
युद्धयोरित्यादि । ललिताङ्गक्रियासाध्या इति तासां द्विविधानामपि
स्वरूपकथनम् । अत्र गताविति नाट्यात्पृथगुपादानाद्धस्ताभिनयवर्जितं
गमनमात्रानुकरणं गम्यते ॥ ९६६ ॥

प्रधानं यो यदा यत्र हस्तः पादोऽथवा भवेत् ।
 सोऽग्रे तदनुगोऽन्यः स्यात्साम्ये तु समकालता ॥ ९६७ ॥
 यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततस्त्रिकः ।
 चरणानुचराण्याहुरङ्गोपाङ्गानि सूरयः ॥ ९६८ ॥
 एवं चारीप्रधानत्वे स्यादङ्गविनियोजनम् ।
 प्राधान्ये हस्तकानां तु हस्तमङ्गान्युपासते ॥ ९६९ ॥
 चारं चारं यथा चार्यौ चरणः श्रयते महीम् ।
 कारं कारं करस्तद्विश्वाभ्यति कटीतटे ॥ ९७० ॥

(क०) हस्ताभिनयचार्योर्गुणप्रधानभावं विषयव्यवस्थया दर्शयति—
 प्रधानमित्यादि । यत्र नाट्ये वा नृत्ते वा, यदा नाट्येऽर्थवशाद्गत्यनु-
 करणावसरे, नृत्ते वा प्रयोगवशाद्धस्तक्रियावसरे, यो हस्तः पादो वा
 प्रधानं भवेत् । सोऽग्र इति । स हस्तः पादो वा अग्रे प्रथमं प्रयोक्तव्य
 इत्यर्थः । अन्यः; प्रथमप्रयुक्तादन्यः, तदनुगः; तस्य प्रथमप्रयुक्तस्यानु-
 गोऽनुसारी भवेत् । साम्ये त्विति । नाट्ये वा नृत्ते वा हस्तपादयोः
 समप्राधान्ये विषयभूत इत्यर्थः । समकालता; हस्तपादयोरेककालता;
 हस्तपादयोरेककालप्रयोज्यत्वमित्यर्थः ॥ ९६७ ॥

(क०) हस्तपादयोरेकतरप्राधान्ये तदितरेषामङ्गभूतानां प्रवृत्तिनियम-
 माह—यतः पाद इत्यादि ॥ ९६८, ९६९ ॥

(क०) करक्षेत्राणां त्रयोदशानामुक्तत्वेऽपि तेषु कस्या एव प्राधान्यं
 दर्शयितुं सदृष्टान्तमाह—चारं चारमिति । चरणश्चार्यौ चारं चारं चरित्वा
 चरित्वा यथा महीं श्रयते । तत्र स्थानान्तरस्यानुक्तत्वादसंभवाच्चेति भावः ।
 तद्वत्तथा करः, कारं कारं, कृत्वा कृत्वा कटीतटे विश्राभ्यतीति । पार्श्वद्वया-

अर्धचन्द्रः करो नाट्ये संश्रयेत कटीतटम् ।

पक्षवञ्चितको नृत्ते पक्षप्रद्योतकोऽथवा ॥ ९७१ ॥

चतुरश्रं समाश्रित्य भूलग्नौ चेत्प्रसर्पतः ।

पुरतः पृष्ठतो वाङ्घ्री रथचक्रा तदोच्यते ॥ ९७२ ॥

इति रथचक्रा (१)

दिष्टूक्तेषु स्थानान्तरेषु सत्स्वपि कटीतटे विश्राम्यतीति वचनं प्राचुर्यामिप्रा-
येणेति मन्तव्यम् ॥ ९७० ॥

(क०) तत्र कट्याश्रयणे नाट्यनृत्तयोर्व्यवस्थया हस्तनियममाह—
अर्धचन्द्र इत्यादि । एतासामपि मार्गत्वं नाट्यवेदोक्तत्वेनेति पूर्वोक्त-
मनुसंधेयम् ॥ ९७१ ॥

इति द्वात्रिंशच्चारीलक्षणम् ।

(सु०) हस्ताभिनयचार्याणां गुणप्रधानभावमाह—प्रधानमिति । यत्र
हस्तो वा पादो वा यः प्रधानं भवति स प्रथमः । अन्यस्तदनुगो भवति ।
उभयोः साम्ये समकालता । यतश्चरणः, ततः करः, यतः करः, ततस्त्रिकं
भवति । अङ्गोपाङ्गानि पादानुचराणीत्याहुः । यथा पादः चार्यौ चारं चारं
भूमिं भजते, तथा हस्तः कारं कारं कटीप्रदेशे विश्रान्तो भवति । नाट्ये
अर्धचन्द्रहस्तः कटीतटगतो भवति । नृत्ते पक्षवञ्चितको वा, पक्षप्रद्योतको वा
भवति ॥ ९६६-९७१ ॥

इति द्वात्रिंशच्चारीलक्षणम् ।

(सु०) अथ देशीचारी लक्षयति—चतुरश्रमिति । यत्र चतुरश्रमासाद्य
भूलग्नौ पादौ पृष्ठतो वा प्रसर्पतः ; सा रथचक्रा ॥ ९७२ ॥

इति रथचक्रा (१)

पश्चादुत्तानिततलश्चरणः प्रसृतो बहिः ।

यस्यां परावृत्ततला शार्ङ्गदेवेन सोदिता ॥ ९७३ ॥

इति परावृत्ततला (२)

स्थित्वा स्वस्तिकबन्धेन पाण्डुर्योः प्रपदयोस्तथा ।

रेचितौ चरणौ यत्र सोक्ता नूपुरविद्धका ॥ ९७४ ॥

इति नूपुरविद्धा (३)

वर्धमाने स्थितौ स्थाने वामदक्षिणतो यदा ।

सरतो द्रुतमानेन पादौ तिर्यङ्मुखा तदा ॥ ९७५ ॥

इति तिर्यङ्मुखा (४)

(सु०) परावृत्ततलां लक्षयति—पश्चादिति । यत्र पश्चादुत्तानिततलः बहिः प्रसृतश्च चरणो भवति ; सा परावृत्ततला ॥ ९७३ ॥

इति परावृत्ततला (२)

(सु०) नूपुरविद्धां लक्षयति—स्थित्वेति । यत्र स्वस्तिकबन्धे स्थित्वा पाण्डुर्योः पादौ रेचितौ भवतः ; सा नूपुरविद्धा ॥ ९७४ ॥

इति नूपुरविद्धा (३)

(क०) अथ देशीचारीषु भौमीषु प्रथमोद्दिष्टायां रथचक्रायां चतुरश्रं समाश्रित्य भूलभौ चेदित्युक्तम् । अत्र चतुश्रशब्देन वक्ष्यमाणदेशीस्थानकमुच्यते । न तु वैष्णवस्थानकोक्ताङ्गसंनिवेशविशेषः । प्रसिद्धाप्रसिद्धयोः सिद्धस्यैव ग्राह्यत्वात् ; देशीत्वसंबन्धाच्च । पादयोर्भूलभूत्वेन प्रसर्पणमेव लोके निःसरणमित्युच्यते । परावृत्ततलादीनां लक्षणानि तु ग्रन्थत एव सुबोधानि । तत्र तत्रोक्तस्थानकानां लक्षणं तत्तल्लक्षणादवगन्तव्यम् ।

नन्द्यावर्तस्थितौ पादौ पार्श्विपादाग्ररेचितौ ।

पुरः प्रसारितौ यस्यां सा मरालाभिधीयते ॥ ९७६ ॥

इति मराला (५)

संहतस्थानके स्थित्वा पार्श्वभ्यां घर्षतः क्षितिम् ।

चरणौ यत्र सा चारी करिहस्ता प्रकीर्तिता ॥ ९७७ ॥

इति करिहस्ता (६)

नन्द्यावर्तस्थयोरङ्घ्र्योस्तिर्यक्सृत्वा कुलीरिका ।

इति कुलीरिका (७)

रथचक्रादीनां पञ्चत्रिंशच्चारीणां भौमीत्वं प्रायेण भूतलसंबन्धानपायादित्यव-
गन्तव्यम् ॥ ९७५-१०००- ॥

इति पञ्चत्रिंशद्भौमचार्यः ।

(सु०) तिर्यङ्मुखां लक्षयति—वर्धमाने इति । यत्र वर्धमानस्थितौ
पादौ हुतमानेन वामतो दक्षिणतश्च चरतः ; सा तिर्यङ्मुखा ॥ ९७५ ॥

इति तिर्यङ्मुखा (४)

(सु०) मरालां लक्षयति—नन्द्यावर्तेति । यत्र नन्द्यावर्तस्थौ पादौ
पार्श्विपादाग्ररेचितौ, पुरः प्रसारितौ च यथा भवतः ; सा मराला ॥ ९७६ ॥

इति मराला (५)

(सु०) करिहस्तां लक्षयति—संहतेति । यत्र संहतस्थानस्थौ पादौ
पार्श्वदेशाभ्यां भूमिं घर्षतः ; सा करिहस्ता ॥ ९७७ ॥

इति करिहस्ता (६)

(सु०) कुलीरिकां लक्षयति—नन्द्यावर्तेति । नन्द्यावर्तस्थौ पादौ यत्र
तिर्यक् सरतः ; सा कुलीरिका ॥ ९७७- ॥

इति कुलीरिका (७)

पार्णिविद्धस्थितौ पादौ चेद्विश्लिष्योपसर्पतः ॥ ९७८ ॥

यद्वापसर्पतः प्रोक्ता सा विश्लिष्टाभिधा बुधैः ।

इति विश्लिष्टा (८)

नन्द्यावर्तस्थपादाभ्यां पश्चात्सृत्वा तु कातरा ॥ ९७९ ॥

इति कातरा (९)

पार्णिपार्श्वगते स्थाने स्थित्वा चेद्रेचिता कृता ।

पार्णिस्तदोदिता चारी निष्णातैः पार्णिरेचिता ॥ ९८० ॥

इति पार्णिरेचिता (१०)

एकपादे स्थितः स्थाने भूस्थेन चरणेन चेत् ।

ऊरुं ताडयति प्रोक्ता तदा चार्यूरुताडिता ॥ ९८१ ॥

इत्यूरुताडिता (११)

(सु०) विश्लिष्टां लक्षयति—पार्णिरिति । यत्र पार्णिविद्धस्थानस्थौ पादौ विश्लिष्य उपसर्पतः, अथवा प्रसर्पतः ; सा विश्लिष्टा ॥ -९७८, ९७८- ॥

इति विश्लिष्टा (८)

(सु०) कातरां लक्षयति—नन्द्यावर्तेति । यत्र नन्द्यावर्तस्थौ पादौ पश्चात् सरतः ; सा कातरा ॥ -९७९ ॥

इति कातरा (९)

(सु०) पार्णिरेचितां लक्षयति—पार्णीति । यत्र पार्णिपार्श्वगते स्थाने स्थित्वा पार्णिः रेचिता क्रियते ; सा पार्णिरेचिता ॥ ९८० ॥

इति पार्णिरेचिता (१०)

(सु०) ऊरुताडितां लक्षयति—एकपादे इति । यत्र एकपादे स्थाने स्थित्वा, भूगतेन पादेन ऊरुः ताडयति ; सा ऊरुताडिता ॥ ९८१ ॥

इत्यूरुताडिता (११)

ऊरुस्थस्वस्तिकाकारावङ्घ्री संघर्षतो भुवम् ।

पार्श्वभ्यां यत्र तामाहुरूरुवेणीं मनीषिणः ॥ ९८२ ॥

इत्यूरुवेणी (१२)

अङ्गुलीपृष्ठभागेन पुरतः सरतो द्रुतम् ।

मपदे यत्र सा चारी तलोद्भृता मता सताम् ॥ ९८३ ॥

इति तलोद्भृता (१३)

कुञ्चिते स्वस्तिकीकृत्य वलितान्ते तले यदा ।

अङ्घ्रयोस्तप्लुत्य निपतेद्धरिणत्रासिका तदा ॥ ९८४ ॥

इति हरिणत्रासिका (१४)

भूमिघृष्ट्या बहिर्नीतावावर्तेते शनैः क्रमात् ।

चरणौ यत्र तामाहुरर्धमण्डलिकां बुधाः ॥ ९८५ ॥

इत्यर्धमण्डलिका (१५)

(सु०) ऊरुवेणीं लक्षयति—ऊरुस्थिति । यत्र पादौ ऊरुस्वस्तिका-
लम्ब्य पार्श्वभ्यां भूमिं घर्षयतः ; सा ऊरुवेणी ॥ ९८२ ॥

इत्यूरुवेणी (१२)

(सु०) तलोद्भृतां लक्षयति—अङ्गुलीति । यत्र पादाग्रे अङ्गुलि-
पृष्ठभागेन द्रुतं पुरतो गच्छतः ; सा तलोद्भृता ॥ ९८३ ॥

इति तलोद्भृता (१३)

(सु०) हरिणत्रासिकां लक्षयति—कुञ्चिते इति । यत्र कुञ्चिते स्वस्तिकी-
भूय वलितान्ते पादतले उत्प्लुत्य पतिता ; सा हरिणत्रासिका ॥ ९८४ ॥

इति हरिणत्रासिका (१४)

(सु०) अर्धमण्डलिकां लक्षयति—भूमीति । यत्र पादौ भूमिं घृष्ट्वा
बहिर्नीता क्रमेण शनैरावर्त्येते ; सा अर्धमण्डलिका ॥ ९८५ ॥

इत्यर्धमण्डलिका (१५)

यत्राकुञ्च्य तिरश्चीनं चरणं प्रक्षिपेन्मुहुः ।

तां तिर्यक्कुञ्चितां चारीमाह श्रीकरणेश्वरः ॥ ९८६ ॥

इति तिर्यक्कुञ्चिता (१६)

इतस्ततश्च चरणौ स्थापयेत विसंस्थुलौ ।

मत्तवद्यत्र तामाहुश्चारीं धीरा मदालसाम् ॥ ९८७ ॥

इति मदालसा (१७)

आकुञ्चितोऽङ्घ्रिरुत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्येनाङ्घ्रिणा यदा ।

युज्यतेऽन्यस्तु संसर्पेत्तिर्यक्संचारिता तदा ॥ ९८८ ॥

इति तिर्यक्संचारिता (१८)

उत्क्षिप्य कुञ्चितौ पादौ न्यस्येदेकैकमग्रतः ।

यस्यां सोत्कुञ्चिता चारी प्रोक्ता सोढलसूनुना ॥ ९८९ ॥

इत्युत्कुञ्चिता (१९)

(सु०) तिर्यक्कुञ्चितां लक्षयति—यत्रेति । यत्र तिरश्चीनं पादमाकुञ्च्य मुहुः प्रक्षिपति ; सा तिर्यक्कुञ्चिता ॥ ९८६ ॥

इति तिर्यक्कुञ्चिता (१६)

(सु०) मदालसां लक्षयति—इतस्ततश्चेति । यत्र भूसंस्थितौ पादौ इतस्ततो मत्तवत् स्थापयेत् ; सा मदालसा ॥ ९८७ ॥

इति मदालसा (१७)

(सु०) तिर्यक्संचारितां लक्षयति—यत्रेति यत्र आकुञ्चिता एकपादः उत्क्षिप्योत्क्षिप्य अन्यपादेन युज्यते, अन्यश्च संसर्पति ; सा तिर्यक्संचारिता ॥ ९८८ ॥

इति तिर्यक्संचारिता (१८)

(सु०) उत्कुञ्चितां लक्षयति—उत्क्षिप्येति । यत्र कुञ्चितौ पादौ एकैकतोऽग्रतो न्यस्येत् ; सा उत्कुञ्चिता ॥ ९८९ ॥

इत्युत्कुञ्चिता (१९)

तिर्यक्प्रसारितैकाङ्घ्रि पार्श्वमन्यत्तलेन चेत् ।

मुहुः संयोजयेदुक्ता स्तम्भक्रीडनिका तदा ॥ ९९० ॥

इति स्वम्भक्रीडनिका (२०)

स्थानेऽङ्घ्रिः खण्डसूच्याख्ये तिष्ठन्नाकृष्य वेगतः ।

लङ्घ्यतेऽन्याङ्घ्रिणा यत्र सोक्ता लङ्घितजङ्घिका ॥ ९९१ ॥

इति लङ्घितजङ्घिका (२१)

स्फुरिताग्रे सृतौ वेगाद्भ्रूस्पृशोः पादपार्श्वयोः ।

इति स्फुरिता (२२)

क्रमादाकुञ्चिताङ्घ्रिभ्यां पश्चाद्रत्यावकुञ्चिता ॥ ९९२ ॥

इत्यवकुञ्चिता (२३)

(सु०) स्तम्भक्रीडनिकां लक्षयति—तिर्यगिति । यत्र तिर्यक् प्रसारि-
तैकचरणः, अन्यपादतलेन पार्श्वं संयोजयति; सा स्तम्भक्रीडनिका ॥ ९९० ॥

इति स्तम्भनक्रीडनिका (२०)

(सु०) लङ्घितजङ्घिकां लक्षयति—स्थान इति । यत्र खण्डसूचिस्थानस्थः
एकः पादः अन्यपादेन आकृष्य वेगेन लङ्घयते; सा लङ्घितजङ्घिका ॥ ९९१ ॥

इति लङ्घितजङ्घिका (२१)

(सु०) स्फुरितां लक्षयति—स्फुरितेति । यत्र पादौ पृष्ठयोः पादपार्श्व-
योश्च अग्रे वेगात् सरतः; सा स्फुरिता ॥ ९९१- ॥

इति स्फुरिता (२२)

(सु०) अवकुञ्चितां लक्षयति—क्रमादिति । यत्र आकुञ्चितौ पादौ
क्रमात् पश्चात् गच्छतः; सा अवकुञ्चिता ॥ -९९२ ॥

इत्यवकुञ्चिता (२३)

स्थाने विषमसूच्याख्ये स्थित्वोत्प्लुत्य पतन्भुवि ।

अङ्घ्री संघट्टयेद्यत्र सोक्ता संघट्टिताभिधा ॥ ९९३ ॥

इति संघट्टिता (२४)

धरण्यां चरणाग्रेण घातः खुत्ता निगद्यते ।

इति खुत्ता (२५)

चरणः स्वस्तिकाकारकारितः स्वस्तिका भवेत् ॥ ९९४ ॥

इति स्वस्तिका (२६)

यत्राङ्घ्री संहतस्थाने स्थित्वा तिर्यक्पृथक्कृतौ ।

स्पृशतो बाह्यपार्श्वाभ्यां भुवं सा तलदर्शिनी ॥ ९९५ ॥

इति तलदर्शिनी (२७)

(सु०) संघट्टितां लक्षयति—स्थान इति । यत्र विषमसूचीस्थाने स्थित्वा, उत्प्लुत्य भूमौ पतन् पादः संघट्ट्यते ; सा संघट्टिता ॥ ९९३ ॥

इति संघट्टिता (२४)

(सु०) खुत्तां लक्षयति—धरण्यामिति । यत्र भूमौ पादाग्रेण ताड्यते ; सा खुत्ता ॥ ९९३- ॥

इति खुत्ता (२५)

(सु०) स्वस्तिकां लक्षयति—चरण इति । यत्र चरणः स्वस्तिकाकारं गतः, सा स्वस्तिका ॥ -९९४ ॥

इति स्वस्तिका (२६)

(सु०) तलदर्शिनीं लक्षयति—यत्रेति । यत्र पादौ संहतस्थाने स्थित्वा, तिर्यगेव पृथग्गत्वा, बाह्यपार्श्वाभ्यां भूमिं स्पृशतः ; सा तलदर्शिनी ॥ ९९५ ॥

इति तलदर्शिनी (२७)

निकुट्टनान्मिथोऽङ्घ्रिभ्यामुद्धताभ्यां पुराटिका ।

इति पुराटिका (२८)

उद्वृत्तेन निकुट्टेन चरणेन निकुट्टनम् ॥ ९९६ ॥

उद्वृत्तस्यान्यपादस्य यत्र सार्धपुराटिका ।

इत्यर्धपुराटिका (२९)

चरणोऽग्रे सरत्येको यत्र सा सरिका मता ॥ ९९७ ॥

इति सरिका (३०)

पुरःसरणमङ्घ्रिभ्यां समाभ्यां स्फुरिका भवेत् ।

इति स्फुरिका (३१)

(सु०) पुराटिकां लक्षयति—निकुट्टनादिति । यत्र उद्वृत्तौ पादौ मिथो निकुट्थेते; सा पुराटिका ॥ ९९५- ॥

इति पुराटिका (२८)

(सु०) अर्धपुराटिकां लक्षयति—उद्वृत्तेनेति । यत्र उद्वृत्तेन निकुट्टेन चरणेन, उद्वृत्तस्य अन्यचरणस्य निकुट्टनं क्रियते; सा अर्धपुराटिका ॥-९९६, ९९६- ॥

इत्यर्धपुराटिका (२९)

(सु०) सरिकां लक्षयति—चरण इति । यत्र एकः पादः अग्रे सरति; सा सरिका ॥ -९९७ ॥

इति सरिका (३०)

(सु०) स्फुरिकां लक्षयति—पुर इति । यत्र समाभ्यां चरणाभ्यां पुरतो सरणं क्रियते; सा स्फुरिका ॥ ९९७- ॥

इति स्फुरिका (३१)

स्थितिस्तु चरणप्रेण कुञ्चितेन निकुट्टिका ॥ ९९८ ॥

इति निकुट्टिका (३२)

पश्चान्यस्य पुरस्ताच्च प्रसार्य चरणं यदि ।

निकुट्टयेद्भुवं तेन लताक्षेपस्तदोदितः ॥ ९९९ ॥

इति लताक्षेपः (३३)

स्खलिते चरणे तिर्यगङ्गुस्खलितिका भवेत् ।

इत्यङ्गुस्खलितिका (३४)

पुरतः पृष्ठतस्तिर्यक्चरणौ युगपद्यदा ॥ १००० ॥

स्खलतः प्रोच्यते चारी समस्खलितिका तदा ।

इति समस्खलितिका (३५)

इति पञ्चत्रिंशद्भौमचार्यः ।

(सु०) निकुट्टिकां लक्षयति—स्थितिस्त्विति । यत्र कुञ्चितेन चरणप्रेण स्थितिः क्रियते ; सा निकुट्टिका ॥ -९९८ ॥

इति निकुट्टिका (३२)

(सु०) लताक्षेपं लक्षयति—पश्चादिति । यत्र चरणं पश्चात् न्यस्य, पुरस्ताच्च प्रसार्य, तेन चरणेन यदि भूमिं निकुट्टयेत् ; स लताक्षेपः ॥ ९९९ ॥

इति लताक्षेपः (३३)

(सु०) अङ्गुस्खलितिकां लक्षयति—स्खलिते इति । यत्र पादः तिर्यक् स्खलितः ; सा अङ्गुस्खलितिका ॥ ९९९- ॥

इत्यङ्गुस्खलितिका (३४)

(सु०) समस्खलितिकां लक्षयति—पुरत इति । यत्र चरणद्वयं पुरतः पृष्ठतश्च युगपत् स्खलति ; सा समस्खलितिका ॥ -१०००, १०००- ॥

इति समस्खलितिका (३५)

इति पञ्चत्रिंशद्भौमचार्यः

यस्यां पुरोऽङ्घ्रिमुत्क्षिप्य ललाटस्योपरि द्रुतम् ॥ १००१ ॥
भ्रामयित्वा भुवि न्यस्येद्विद्युद्भ्रान्ताममूं विदुः ।

इति विद्युद्भ्रान्ता (१)

अङ्घ्रिं कुञ्चितमुत्क्षिप्य पुरो विस्तार्य वेगतः ॥ १००२ ॥
विन्यसेदवनौ यत्र पुरःक्षेपा भवेदसौ ।

इति पुरःक्षेपा (२)

पुरो गगनभागे चेत्यस्य चरणं मुहुः ॥ १००३ ॥
आकुञ्चयेत्तदा चारी विक्षेपा शार्ङ्गिणोदिता ।

इति विक्षेपा (३)

(क०) विद्युद्भ्रान्तादीनामेकोनविंशतिचारीणामाकाशिकीत्वमाकाशे
व्यापारप्राचुर्यादित्यवगन्तव्यम् ॥ १००१-१०१६- ॥

(सु०) अथाकाशिकीं विद्युद्भ्रान्तां लक्षयति—यस्यामिति । यत्र
पुरतः पादमुत्क्षिप्य, ललाटोपरि तूर्णं भ्रामयित्वा भूमौ न्यस्येत्; सा
विद्युद्भ्रान्ता ॥ -१००१, १००१- ॥

इति विद्युद्भ्रान्ता (१)

(सु०) पुरःक्षेपां लक्षयति—अङ्घ्रिमिति । यत्र कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य,
पुरतः वेगेन विस्तार्य भूमौ विन्यसेत्; सा पुरःक्षेपा ॥ १००२, १००२- ॥

इति पुरःक्षेपा (२)

(सु०) विक्षेपां लक्षयति—पुर इति । यत्र पुरतः गगनप्रदेशे पादं
प्रसार्य मुहुराकुञ्चयेत्; सा विक्षेपा ॥ -१००३, १००३- ॥

इति विक्षेपा (३)

नताङ्घ्रेरुत्प्लुत्याभीक्ष्णं निपाताहरिणप्लुता ॥ १००४ ॥

इति हरिणप्लुता (४)

बाह्यपार्श्वेन यत्रोरोः पृष्ठं स्पृष्टेतरत्पदम् ।

नितम्बनिकटं याति सापक्षेपा प्रकीर्तिता १००५ ॥

इत्यपक्षेपा (५)

दमर्याकुञ्चितस्याङ्घ्रेर्वामदक्षिणतो भ्रमात् ।

इति डमरी (६)

यत्र स्वस्तिकमावर्त्य प्रोत्क्षिपेत्तिर्यगूर्ध्वतः ॥ १००६ ॥

चरणौ दण्डपादा सा चारी निःशङ्ककीर्तिता ।

इति दण्डपादा (७)

(सु०) हरिणप्लुतां लक्षयति—नतेति । यत्र पादौ अभीक्ष्णं यथातथा उत्प्लुत्य भूमौ निपातयेत् ; सा हरिणप्लुता ॥ -१००४ ॥

इति हरिणप्लुता (४)

(सु०) अपक्षेपां लक्षयति—बाह्येति । यत्र ऊरोः बाह्यपृष्ठं पार्श्वेन स्पृष्ट्वा, इतरत्पदं नितम्बसमीपं गच्छति ; सा अपक्षेपा ॥ १००५ ॥

इत्यपक्षेपा (५)

(सु०) डमरीं लक्षयति—डमर्येति । यत्र आकुञ्चितपादः वामतो दक्षिणतः क्रमात् क्षिप्यते ; सा डमरी ॥ १००६- ॥

इति डमरी (६)

(सु०) दण्डपादां लक्षयति—यत्रेति । यत्र पादौ स्वस्तिकमावर्त्य तिर्य-
गूर्ध्वं च प्रोत्क्षिप्येते ; सा दण्डपादा ॥ -१००६, १००६- ॥

इति दण्डपादा (७)

विस्तार्याङ्घ्री प्लुतं कृत्वा गमनं ताडयेन्मिथः ॥ १००७ ॥

यदा पादतलद्वन्द्वं तदा चार्यङ्घ्रिताडिता ।

इत्यङ्घ्रिताडिता (८)

किञ्चिदाकुञ्चितं पादमङ्घ्रिणान्येन लङ्घयेत् ॥ १००८ ॥

गगने चेत्तदा चारी जङ्घालङ्घनिका मता ।

इति जङ्घालङ्घनिका (९)

अलाताङ्घ्रौ पृष्ठगते शीघ्रमन्याङ्घ्रिलङ्घिते ॥ १००९ ॥

इत्यलाता (१०)

तलमन्तभ्रमस्याङ्घ्रेर्जानुपृष्ठे क्षिपेद्यदि ।

बहिर्भ्रमस्य तत्पार्श्वे जङ्घावर्ता तदा भवेत् ॥ १०१० ॥

इति जङ्घावर्ता (११)

(सु०) अङ्घ्रिताडिकां लक्षयति—विस्तार्याङ्घ्रीति । यत्र पादं विस्तीर्य प्लुतिं कृत्वा आकाशे पादतलद्वयं परस्परं ताडयेत्; सा अङ्घ्रिताडिका ॥ -१००७, १००७- ॥

इत्यङ्घ्रिताडिका (८)

(सु०) जङ्घालङ्घनिकां लक्षयति—किञ्चिदिति । यत्र ईषदाकुञ्चितं चरणम् अन्येन पादेन आकाशे लङ्घयेत्; सा जङ्घालङ्घनिका ॥ -१००८, १००८- ॥

इति जङ्घालङ्घनिका (९)

(सु०) अलातां लक्षयति—अलातेति । यत्र पृष्ठगतः पादः, अन्यपादेन तूर्णं लङ्घ्यते; सा अलाता ॥ -१००९ ॥

इत्यलाता (१०)

(सु०) जङ्घावर्ता लक्षयति—तलमिति । यत्र अन्तर्भ्रान्तपादतलं जानुपृष्ठे बहिर्भ्रान्तपादतलं तत्पार्श्वं निक्षिप्यते; सा जङ्घावर्ता ॥ १०१० ॥

इति जङ्घावर्ता (११)

अङ्घ्रिणैकेन चेदन्यं वेष्टयेद्वेष्टनं तदा ।

तदेव बलनं केचिदवदन्वृत्तकोविदाः ॥ १०११ ॥

इति वेष्टनम् (१२)

उद्वेष्टनं वेष्टयित्वा पृष्ठतोऽङ्घ्रौ प्रसारिते ।

इत्युद्वेष्टनम् (१३)

आकुञ्चितस्य पादस्य पुरतः पृष्ठतस्तथा ॥ १०१२ ॥

उत्क्षेपो जानुपर्यन्तमुत्क्षेपः कथ्यते बुधैः ।

इत्युत्क्षेपः (१४)

स चेत्पृष्ठत एव स्यात्पृष्ठोत्क्षेपममुं विदुः ॥ १०१३ ॥

इति पृष्ठोत्क्षेपः (१५)

(सु०) वेष्टनं लक्षयति—अङ्घ्रिणेति । यत्र एकपादेन अपरपादं वेष्टयति ; तद् वेष्टनम् । तदेव बलनमिति केचिद्वदन्ति ॥ १०११ ॥

इति वेष्टनम् (१२)

(सु०) उद्वेष्टनं लक्षयति—उद्वेष्टनमिति । यत्र पादः पृष्ठतो वेष्टयित्वा, पुरतः प्रसार्यते ; तद् उद्वेष्टनम् ॥ १०११-॥

इत्युद्वेष्टनम् (१३)

(सु०) उत्क्षेपं लक्षयति—आकुञ्चितस्येति । यत्र आकुञ्चितः पादः पुरतः पृष्ठतश्च जानुपर्यन्तमुत्क्षिप्यते ; स उत्क्षेपः ॥ -१०१२, १०१२-॥

इत्युत्क्षेपः (१४)

(सु०) पृष्ठोत्क्षेपं लक्षयति—स इति । स एव ; उत्क्षेप एव, पृष्ठमात्रे उत्क्षिप्तश्चेत् ; तदा पृष्ठोत्क्षेपः ॥ १०१३ ॥

इति पृष्ठोत्क्षेपः (१५)

उरः पार्श्वेन विन्यस्य पदं यत्र प्रसारयेत् ।

तीक्ष्णाग्रीकृत्य तामाह सूचीं श्रीकण्ठवल्लभः ॥ १०१४ ॥

इति सूची (१६)

पादयोः स्वस्तिकेऽस्यैकः किञ्चिदान्दोलितः पुरः ।

कुञ्चितश्चरणो यत्र सा विद्धा बोधिता बुधैः ॥ १०१५ ॥

इति विद्धा (१७)

ललिता वलिता मूर्तिरुद्धतश्चरणो भवेत् ।

यत्र तत्प्रावृतं ज्ञेयं मकरध्वजजीवनम् ॥ १०१६ ॥

इति प्रावृतम् (१८)

उल्लोलः स्याच्चरणयोः क्रमेणोल्लालनादिवि ।

इत्युल्लोलः (१९)

इत्योक्त्वाविशत्याकाशचार्यः ।

इति षडशीतिमार्गदेशीचार्यः ।

(सु०) सूचीं लक्षयति—उर इति । यत्र उरः पार्श्वेन विन्यस्य, पादः तीक्ष्णाग्रीकृत्य प्रसार्यते ; सा सूची ॥ १०१४ ॥

इति सूची (१६)

(सु०) विद्धां लक्षयति—पादयोरिति । यत्र एकः पादः स्वस्तिकीभूय किञ्चिद् आन्दोल्यते, अन्यश्च कुञ्चितो भवति ; सा विद्धा ॥ १०१५ ॥

इति विद्धा (१७)

(सु०) प्रावृतं लक्षयति—ललितेति । यत्र मूर्तिः वलिता ; पादौ उद्धृतौ भवतः ; तत् पञ्चशरजीवनं प्रावृतं ज्ञेयम् ॥ १०१६ ॥

इति प्रावृतम् (१८)

(सु०) उल्लोलं लक्षयति—उल्लोल इति । यत्र पादयोः क्रमेण आकाशे उल्लोलनं क्रियते ; स उल्लोलः ॥ १०१६- ॥

इत्युल्लोलः (१९)

इत्योक्त्वाविशत्याकाशचार्यः ।

इति षडशीतिमार्गदेशीचार्यः ।

(क०) एतासां चतुष्पञ्चाशच्चारीणां देशीत्वं भरतानुक्तत्वे सति कोहलाद्युक्तत्वाद् द्रष्टव्यम् । लोके मधुपसंज्ञकाश्चारीविशेषा देशीचारीष्वेवान्तर्भूता मन्तव्याः । ता अप्यत्र व्याख्याने कोहलोक्ताः प्रदर्श्यन्ते ।
यथा—

“ अथ पादनिकुट्टाख्यचारीणां लक्षणं ब्रूवे ।
पादकुट्टनचारी तु लोके मधुपसंज्ञिका ॥
तस्याश्च बहवो भेदा दिङ्मात्रं चोच्यते मया ।
सव्यापसव्यचलनं पादचारीषु चोच्यते ॥
निकुट्टनं तु पादेन ताडनं स्यान्महीतले ।
उद्देशः क्रियतेऽन्वर्थश्चारीणां स्वोचितो मतः ॥
पुरःपश्चात्सरा चारी तथा पश्चात्पुरःसरा ।
त्रिकोणचारी पश्चाच्च तथैकपदकुट्टिता ॥
पादद्वयनिकुट्टाख्या पादस्थितिनिकुट्टिता ।
क्रमपादनिकुट्टा च पार्श्वद्वयचरी तथा ॥
चारी डमरुकुट्टाख्या डमरुद्वयकुट्टिता ।
पुरःक्षेपनिकुट्टा च पश्चात्क्षेपनिकुट्टिता ॥
पार्श्वक्षेपनिकुट्टा च चतुष्कोणाख्यकुट्टिता ।
मध्यस्थापनकुट्टा च तिरश्चीनाख्यकुट्टिता ॥
चारी च पृष्ठलुठिता पुरस्ताल्लुठिता तथा ।
अनुलोमविलोमा च प्रतिलोमानुलोमिका ॥
समपादनिकुट्टा च चक्रकुट्टनिका ततः ।
मध्यचक्रा ततो मध्यलुठिता वक्त्रकुट्टिता ॥
पञ्चविंशतिसंख्याश्च कीर्तिता बर्थयोगतः ।

एवमन्याश्च कर्तव्याश्चार्यश्चान्वर्थलक्षणाः ॥

इति चारीणामुद्देशः ।

पादशिक्षासु कर्तव्याः करव्यापारनर्तनैः ।
 निकुट्टच च तलेनादौ पुरःपश्चान्निधीयते ॥
 पादश्चाङ्गुलिपृष्ठेन स्वस्थाने चापि कुट्टितः ।
 पुरःपश्चात्सरा नाम सान्वर्था परिकीर्तिता ॥
 इति पुरःपश्चात्सरा (१)

सैव पश्चात्पुरःक्षेपात्प्रोक्ता पश्चात्पुरःसरा ।
 इति पश्चात्पुरःसरा (२)

निवेशिताभिधः पादः स्थापितोऽङ्गुलिपृष्ठतः ।
 निकुट्टितः पुरस्ताच्च पार्श्वे पृष्ठे निवेशितः ॥
 चरणाङ्गुलिपृष्ठेन पुनः स्थाने च कुट्टितः ।
 त्रिकोणचारी सोद्दिष्टा चारी चान्वर्थसंज्ञिका ॥
 इति त्रिकोणचारी (३)

कुट्टितश्च स्वपार्श्वे च स्थापितोऽङ्गुलिपृष्ठतः ।
 पुनर्निकुट्टितस्थाने सा चैकपदकुट्टिता ॥
 इत्येकपदकुट्टिता (४)

एवं पादद्वयकृता सा पादद्वयकुट्टिता ।
 इति पादद्वयकुट्टिता (५)

कुट्टितः प्रथमं पादः स्थितश्चाङ्गुलिपृष्ठतः ।
 अन्यस्ततः कुट्टितश्चेत्पादस्थितिनिकुट्टिता ॥
 इति पादस्थितिनिकुट्टिता (६)

पादद्वयकृता सैव क्रमपादनिकुटिता ।

इति क्रमपादनिकुटिता (७)

कुटितोऽङ्गुलिपृष्ठे च स्थितः पादोऽपरः स्थितः ।

स्वस्तिकस्थापितः पूर्वं स्वपार्श्वे स्थलकुटितः ॥

एवं पादद्वयेनापि सा पार्श्वद्वयचारिणी ।

इति पार्श्वद्वयचारिणी (८)

कुटितश्चरणः पूर्वं लुठितोऽङ्गुलिपृष्ठतः ।

पश्चान्निकुटितस्थाने भवेद्धमरुकुटिता ॥

इति डमरुकुटिता (९)

पादद्वयकृता सा चेद्धमरुद्वयकुटिता ।

इति डमरुद्वयकुटिता (१०)

कुटितश्चरणः पूर्वं पुरतोऽङ्गुलिपृष्ठतः ।

स्थापितः कुटितस्थाने पुरःक्षेपनिकुटिता ॥

इति पुरःक्षेपनिकुटिता (११)

पश्चात्क्षेपाच्च सा प्रोक्ता पश्चात्क्षेपनिकुटिता ।

इति पश्चात्क्षेपनिकुटिता (१२)

पार्श्वतश्च पुनः क्षेपात्पार्श्वक्षेपाख्यकुटिता ।

इति पार्श्वक्षेपाख्यकुटिता (१३)

कुटितश्चरणः पूर्वं पुरः पश्चान्निवेशितः ।

त्र्यश्रभावात्पुनश्चापि पुरः पश्चात्तदन्यथा ॥

कुटितश्च ततः स्थाने चतुष्कोणाख्यकुटिता ।

इति चतुष्कोणकुटिता (१४)

कुट्टितः प्रथमं पादः पुरः पश्चान्निवेशितः ।
 मध्ये निवेशितश्चायं पुनस्तत्रैव कुट्टितः ॥
 मध्यस्थापनकुट्टाख्या चारी चान्वर्थलक्षणा ।
 इति मध्यस्थापनकुट्टा (१५)

कुट्टितश्चरणः पूर्वं स्वपार्श्वेऽप्यन्यपार्श्वके ।
 निक्षिप्तश्चापि मध्ये च तत्रापि च निकुट्टितः ॥
 सा तिरश्चीनकुट्टाख्या प्रोक्ता सार्थप्रचारिका ।
 इति तिरश्चीनकुट्टिता (१६)

कुट्टितश्चरणः पृष्ठे लुठितोऽङ्गुलिपृष्ठतः ।
 पुनश्च कुट्टितस्थाने सा पृष्ठलुठिताभिधा ॥
 इति पृष्ठलुठिता (१७)

पुरस्ताच्च कृता सैव पुरस्ताल्लुठिताभिधा ।
 इति पुरस्ताल्लुठिता (१८)

त्रिकोणचारी वा चारी त्वनुलोमविलोमगा ।
 स्वस्थाने स्थापितपदा ततस्तत्रापि कुट्टिता ॥
 सानुलोमविलोमाख्या चारीयं परिकीर्तिता ।
 इत्यनुलोमविलोमा (१९)

विषरीतप्रचारा सा प्रतिलोमानुलोमिका ।
 इति प्रतिलोमानुलोमिका (२०)

निकुट्टितौ समौ पादौ स्थितौ चाङ्गुलिपृष्ठयोः ।
 समपादनिकुट्टा च कीर्तितान्वर्थलक्षणा ॥
 इति समपादनिकुट्टिता (२१)

स्थानं स्थितिर्गतिश्चारी स्थानमाद्यन्तयोगतेः ॥ १०१७ ॥

कुट्टितं चरणं पश्चाद् भ्रामयित्वा च विन्यसेत् ।

कुट्टयेच्च ततः स्थाने चक्रकुट्टनिका मता ॥

इति चक्रकुट्टनिका (२२)

कुट्टयित्वा च विन्यस्य भ्रामयित्वा न्यसेत्ततः ।

निकुट्टयेत्ततः स्थाने मध्यचक्रा प्रकीर्तिता ॥

इति मध्यचक्रा (२३)

कुट्टयित्वा च विन्यस्य लुठितश्च निकुट्टितः ।

सा मध्यलुठिता चेति कीर्तितान्वर्थनामिका ॥

इति मध्यलुठिता (२४)

कुट्टयित्वा च विन्यस्य भ्रामितो लुठितस्ततः ।

कुट्टितश्च पुनः स्थाने वक्त्रकुट्टनिकाभिधा ॥

इति वक्त्रकुट्टनिका (२५)

एवं प्रकीर्तिताश्चार्यः पञ्चविंशतिसंख्यया ।

एवमन्याश्च विज्ञेयाश्चार्यो बुद्ध्या मनीषिभिः” ॥ इति ।

प्रसङ्गान्मधुपसंज्ञाश्चार्यो दर्शिताः । प्रकृतमनुसरामः ॥ १०१६- ॥

इत्येकोनविंशतिराकाशिक्यश्चार्यः ।

इत्युभयश्चतुष्पञ्चाशद्देशीचार्यः ।

इति षडशीतिर्मार्गदेशीचार्यः ।

(क०) अथ चारीणामनन्तरं स्थानकानां लक्षणे संगतिं दर्शयितु-
माह—स्थानं स्थितिरित्यादि । स्थीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या अधिकरण-

स्थित्वा गच्छति गत्वा च तिष्ठतीत्यविनाकृताः ।

चार्यः स्थानेन ताभ्योऽतोऽनन्तरं स्थानमुच्यते ॥ १०१८ ॥

साधनत्वं मा विज्ञायीतेति स्थानशब्दस्य भावसाधनतां दर्शयति—स्थानं स्थितिरिति । चर्यतेऽनयेति व्युत्पत्त्या गतिरेव चारीशब्दोच्यत इत्याह—गतिश्चारीति । तच्च स्थानं गतेरादावन्ते च नियमेन भवतीत्याह—स्थानमाद्यन्तयोर्गतेरिति । अमुमेवार्थं लोकसंमत्या द्रढयति—स्थित्वा गच्छति गत्वा च तिष्ठतीति । तत्र स्थित्वा गच्छतीति स्थितेरादिभावनियमो दर्शितः । गत्वा च तिष्ठतीति स्थितेरन्त्यभावनियमश्च । अत्र धूमाभ्योरिव व्याप्तिनियमो द्रष्टव्यः । ततो गतिरेव स्थानेन व्याप्ता । न तु स्थानं गत्येति । यथामिना धूमो व्याप्तः । नतु धूमेनाग्निरितिवत् । इतीत्यादि । इत्युक्तप्रकारेण चार्यः स्थानेनाविनाकृता व्याप्ताः । यतोऽत इत्यध्याहर्तव्यम् । ताभ्यश्चारीभ्योऽनन्तरमव्यवधानेन स्थानकमुच्यत इति संगतिप्रदर्शनम् । स्थानकानां सामान्यलक्षणमाह—संनिवेशविशेष इत्यादि । निश्चलश्चलनरहितः । अङ्गे शरीरे संनिवेशविशेषः । अत्र विशेषशब्देन बुद्धिपूर्वं कृत इत्यवगन्तव्यम् । तेन लौकिकादङ्गसंनिवेशाद्व्यावृत्तिर्द्रष्टव्या ॥ १०१७, १०१८- ॥

(सु०) अथ चारीनिरूपणानन्तरं स्थानकानां लक्षणं वक्तुमारभते—स्थानमिति । स्थितिः स्थानमित्युच्यते । गतिः चारीत्युच्यते । स्थित्वा गच्छति, गत्वा च तिष्ठति ; अतः तद् द्वयमप्यविनाभूतम् । स्थानेन चार्थ्युपलक्षितः । इदानीं स्थानं कथ्यते । अङ्गे निश्चलः संनिवेशविशेषः स्थानम् । तच्च द्विविधम्, पुंस्थानम् ; स्त्रीस्थानमिति । आद्यं षड्विधम्, वैष्णवम्, समपादम्, वैशाखम्, मण्डलम्, प्रत्यालीढम्, आलीढमिति । द्वितीयं सप्तविधम् ; आयतम्, अवहितम्, क्रान्तम्, गतागतम्, वलितम्, मोटितम्, विनिवर्ति-तमिति ॥ -१०१७-१०२१- ॥

संनिवेशविशेषोऽङ्गे निश्चलः स्थानमुच्यते ।
 वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ॥ १०१९ ॥
 आलीढप्रत्यालिढे च स्थानानीति नरेषु षट् ।
 अथ स्थानानि वक्ष्यामस्त्रीणि स्त्रीणां मुनेर्मतात् ॥ १०२० ॥
 आयताख्यावहित्थाश्वक्रान्तान्यन्यच्चतुष्टयम् ।
 अथापि चेति वदता मुनिना सूचितं ब्रुवे ॥ १०२१ ॥
 गतागतं च वलितं मोटितं विनिवर्तितम् ।
 अथ देशीस्थानकानां त्रयोविंशतिरुच्यते ॥ १०२२ ॥
 स्वस्तिकं वर्धमानाख्यं नन्द्यावर्तं च संहतम् ।
 समपादं चैकपादं पृष्ठोत्तानतलं तथा ॥ १०२३ ॥
 चतुरश्रं पार्ष्णिविद्धं पार्ष्णिपार्श्वगतं तथा ।
 एकपार्श्वगतं च स्यादेकजानुनताभिधम् ॥ १०२४ ॥
 परावृत्ताह्वयं सूचि समादि विषमाद्यपि ।
 खण्डसूचि ततो ब्राह्मं वैष्णवं शैवगारुडे ॥ १०२५ ॥
 कूर्मासनं नागबन्धं वृषभासनमित्यपि ।
 स्वस्थं मदालसं क्रान्तं स्याद्विष्कम्भितमुत्कटम् ॥ १०२६ ॥
 स्रस्तालसं जानुगतं मुक्तजानु विमुक्तकम् ।
 उपविष्टस्थानकानि नवेति भरतोऽब्रवीत् ॥ १०२७ ॥
 सममाकुञ्चितं स्थानं प्रसारितविवर्तिते ।
 उद्वाहितं नतं चेति सुप्तस्थानानि सन्ति षट् ॥ १०२८ ॥
 इति स्थानानि षट्पुंसां स्त्रीणां सप्तापराण्यपि ।

(क०) तद्भेदानुद्दिशति—वैष्णवमित्यादि । वैष्णवादिष्वेकपञ्चा-

त्रयोविंशतिरुक्तानि नव स्थानानि चासने ॥ १०२९ ॥
 सुप्तस्थानानि षट् तानि सर्वाणि मिलितानि तु ।
 एकपञ्चाशदाचष्ट निःशङ्कः करणाग्रणीः ॥ १०३० ॥
 सर्वेषां वच्मि लक्ष्मैषामिदानीं तद्विदां मतम् ।
 एकः समस्थितः पादसूत्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ॥ १०३१ ॥
 सार्धद्वितालान्तरालो जङ्घा किञ्चिन्नता भवेत् ।
 सौष्टवं यत्र तज्ज्ञेयं वैष्णवं विष्णुदैवतम् ॥ १०३२ ॥
 प्रकृतिस्थस्य संलापे नानाकार्यान्तरान्विते ।
 प्रयोज्यं तन्मुनिः प्राह नृभिरुत्तममध्यमैः ॥ १०३३ ॥

शस्त्रस्थानकेषु मध्ये, स्वस्तिकादीनि त्रयोविंशतिः स्थानकानि देशीस्थानकानि ।
 देशीमार्गविवेकश्च चार्युक्तप्रकारेण द्रष्टव्यः ॥ -१०१९-१०३०- ॥

(सु०) अथ देशीस्थानानि लक्षयति—अथेति । देशीस्थानानि त्रयो-
 विंशतिविधानि—स्वस्तिकम्, वर्धमानम्, नन्द्यावर्तम्, संहतम्, समपादम्,
 एकपादम्, पृष्ठोत्तानतलम्, चतुरश्रम्, पार्श्वविद्धम्, पार्श्वपाश्वर्गतम्,
 एकपाश्वर्गतम्, एकजानुगतम्, परावृत्तम्, समसूचि, विषमसूचि, खण्डसूचि,
 ब्राह्मम्, वैष्णवम्, शैवम्, गारुडम्, कूर्मासनम्, नागबन्धम्, वृषभासन-
 मिति । उपविष्टस्थानकान्याह—स्वस्थमिति । स्वस्थम्, मदालसम्, क्रान्तम्,
 विष्कम्भम्, उत्कटम्, स्रस्तालसम्, जानुगतम्, मुक्तजानु, विमुक्तमिति नव
 उपविष्टस्थानकानि । सुप्तस्थानकान्याह—सममिति । समम्, आकुञ्चितम्,
 प्रसारितम्, विवर्तितम्, उद्धाहितम्, नतमिति षट् सुप्तस्थानकानि । आहत्यैक-
 पञ्चाशत्स्थानकानि भवन्ति । तत्र स्वस्तिकादीनि त्रयोविंशतिः देशीस्थान-
 कानि । देशीमार्गविभागस्तु चार्युक्तप्रकारेण बोध्यः ॥ -१०२९-१०३०- ॥

(क०) तत्र वैष्णवस्थानकस्य लक्षणम्—एकः समस्थित इत्यादि ।

विष्णुवेषधरेणैव नटेनेत्यपरे जगुः ।
 सूत्रधारादिना नाट्यस्थितिकर्त्रेति चापरे ॥ १०३४ ॥
 पक्षस्थितोऽसौ चरणो यः पार्श्वाभिमुखाङ्गुलिः ।
 त्र्यश्रः स एव किञ्चित्पुरोदेशाभिमुख्यभाक् ॥ १०३५ ॥
 अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ ये हस्तस्य प्रसारिते ।
 तदग्रयोरन्तरालं तालमाहुर्मनीषिणः ॥ १०३६ ॥
 कटी जानुसमा यत्र कूर्परांसशिरःसमम् ।
 उरः समुन्नतं सन्नं गात्रं तत्सौष्ठवं भवेत् ॥ १०३७ ॥
 सन्नं स्वस्थानविश्रान्तं निषण्णं त्वचलस्थिति ।
 चलपादमनत्युच्चमचञ्चलमकुञ्जकम् ॥ १०३८ ॥
 सौष्ठवेऽङ्गं भवेत्तच्च कार्यमुत्तममध्यमैः ।
 एतच्च वैष्णवं स्थानं चतुरश्रस्य जीवनम् ॥ १०३९ ॥
 वैष्णवं स्थानकं यत्र कटीनाभिचरौ करौ ।
 पृथक्समुन्नतं वक्षश्चतुरश्रं तदुच्यते ॥ १०४० ॥

इति वैष्णवम् (१)

तत्र पक्षस्थितस्य पादस्य लक्षणमाह—यः पार्श्वाभिमुखाङ्गुलिरिति ।
 त्र्यश्रस्य लक्षणमाह—त्र्यश्रः स एवेति । पक्षस्थित एव किञ्चित्पुरोदेशाभि-
 मुख्यभाक्चेत्, त्र्यश्रो भवति । अत्र तालशब्देन रेखाशास्त्राश्रयः परिमाणभेद
 उच्यते । तस्य तालस्य लक्षणमाह—अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्याचित्यादि ।
 इदमेवादेशपरिमाणम्—“तालान्तरौ तदा स्यातामतालखटकामुखौ”
 इत्यादिषु द्रष्टव्यम् । न तु प्रसिद्धं कालपरिमाणं तद्वचञ्जको घनवाद्यभेदो
 वा । सौष्ठवस्य लक्षणमाह—कटी जानुसमेत्यादि । कूर्परांसशिर इति ।
 कूर्परौ चांसौ च शिरश्चेति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । तानि कूर्परादीनि सौष्ठवे
 मिथः समानि कर्तव्यानि भवन्ति । प्रसङ्गात्सन्ननिषण्णशब्दयोरर्थमाह—

प्रधानं सौष्ठवं पादावेकतालान्तरौ समौ ।

यत्र तत्समपादं स्याच्चतुराननदैवतम् ॥ १०४१ ॥

एतच्च विप्रदत्ताशीःस्वीकारेऽथ निरीक्षणे ।

मध्यमानां विहङ्गानां कन्यावरकुतूहले ॥ १०४२ ॥

लिङ्गिव्रतिविमानस्थस्यन्दनस्थेषु चेज्यते ।

इति समपादम् (२)

सन्नं स्वस्थानविश्रान्तं निषण्णं त्वचलस्थितीति । सौष्ठवे शरीरस्य स्थितिविशेषमाह—चलपादमित्यादि । चतुरश्रस्य जीवनमित्येतेन प्रसक्तस्य चतुरश्रस्य लक्षणमाह—वैष्णवं स्थानकं यत्रेत्यादि ॥ १०३१—१०४०—॥

इति वैष्णवम् (१)

(सु०) तत्र वैष्णवस्थानकं लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः समः, अन्यः त्र्यश्रीभूय वक्षसि वर्तते ; जङ्घा च सार्धतालद्वयान्तराले किञ्चिन्नता भवति ; तत्सौष्ठवं विष्णुदेवतासंन्धिं वैष्णवं स्थानं भवति । तच्च प्रकृतिस्थस्य नानाकार्यान्तरलंसापे उत्तमैः मध्यमैश्च पुरुषैः प्रयोज्यमिति मुनेर्मतम् । अपरे तु विष्णुवेषधारिणैव नटेनेत्याहुः । अन्ये नाट्यस्थितिकर्त्रा सूत्रधारादिना प्रयोज्यमित्याहुः । पक्षस्थित इति । यश्चरणः पार्श्वाभिमुखाङ्गुलिर्भवति, असौ पक्षस्थितः । अङ्गुष्ठेति । हस्तस्य प्रसारित अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यग्रान्तरालं ताल इत्युच्यते । कटीति । यत्र कटीकूर्परजानुशिरःसमं वक्षः समुन्नतं, गात्रं च सन्नं तत्सौष्ठवम् । सौष्ठवे अङ्गं सन्नं स्वस्थानविश्रान्तं निषण्णं, समपादं, अनत्युच्चम्, अचञ्चलम्, अकुब्जं च भवति । एतदेव चतुरश्रजीवनं वैष्णवं स्थानम् । यत्र हस्तकटी नाभिचारिणौ, वक्षः समुन्नतं च भवति, तत् चतुरश्रमित्युच्यते ॥ -१०३१-१०४०- ॥

इति वैष्णवम् (१)

(क०) अतः परं समपादादीनि स्थानकानि ग्रन्थत एव व्यक्तलक्षणानि ॥ १०४१-१०५३ ॥

भूमेरूर्ध्वनिषण्णौ चेतसार्धतालत्रयान्तरे ॥ १०४३ ॥
 नभस्यूरू चरणयोस्तावदेवान्तरं भुवि ।
 त्र्यश्रपक्षस्थयोः स्थानं वैशाखं कथितं तदा ॥ १०४४ ॥
 विशाखदैवतं तच्च स्थूलपक्षीक्षणे भवेत् ।
 युद्धादौ प्रेरणेऽश्वानां वेगदाने च वाहने ॥ १०४५ ॥

इति वैशाखम् (३)

पक्षस्थौ चरणौ त्र्यश्रावेकतालान्तरौ भुवि ।
 कटीजानुसमौ व्योम्नि सार्धतालद्वयान्तरे ॥ १०४६ ॥
 ऊरू यत्र निषण्णौ तन्मण्डलं शक्रदैवतम् ।
 धनुर्वज्रादिशस्त्राणां प्रयोगे गजवाहने ॥ १०४७ ॥
 वीक्षणे गरुडादीनामिदं मुनिरुपादिशत् ।
 चतुस्तालान्तरौ पादौ मण्डलेऽन्ये प्रचक्षते ॥ १०४८ ॥

इति मण्डलम् (४)

(सु०) समपादं लक्षयति—प्रधानमिति । यत्र पूर्वोक्तं सौष्ठवं प्रधानम्,
 एकतालान्तरे पादौ च समौ भवतः ; तद् ब्रह्मदेवताकं समपादं भवति । तच्च
 विप्रापिताशीर्वचनस्वीकरणे, मध्यविहङ्गनिरीक्षणे, कन्यावरकौतुके, लिङ्गिनि,
 व्रत्तिनि, विमानस्थे, स्यन्दनस्थे च प्रयोज्यम् ॥ १०४१-१०४२- ॥

इति समपादम् (२)

(सु०) वैशाखं लक्षयति—भूमेरिति । यत्र भूमेः ऊर्ध्वं सार्धतालत्रया-
 न्तराले आकाशे ऊरू निषण्णौ भवतः, तावदेव अन्तराले भूतले चरणौ
 त्र्यश्रपक्षस्थौ भवतः, तत् वैशाखं भवति । तच्च विशाखदेवताकम् । स्थूलपक्षीक्षणे,
 युद्धादौ, अश्वानां प्रेरणे, वेगदाने, वाहने च प्रयोज्यम् ॥ -१०४३, १०४५- ॥

इति वैशाखम् (३)

(सु०) मण्डलं लक्षयति—पक्षस्थाविति । यत्र पादौ एकतालान्तरौ

वामो यत्र निषण्णोरुस्वरे पूर्वमानतः ।
 दक्षिणश्चरणश्चाग्रे पञ्चतालं प्रसारितः ॥ १०४९ ॥
 त्र्यश्रौ द्वावपि तद्विद्यादालीढं रुद्रदैवतम् ।
 ईर्ष्याक्रोधकृतो जल्पः कार्यस्तेनोत्तरोत्तरः ॥ १०५० ॥
 वीररौद्रकृतं मल्लसंघर्षास्फोटनादिकम् ।
 तथा संधाय शस्त्राणि प्रत्यालीढं समाश्रयेत् ॥ १०५१ ॥

इत्यालीढम् (५)

आलीढाङ्गविपर्यासात्प्रत्यालीढमुदीरितम् ।
 आलीढकृतसंधानशस्त्रमेतेन मोक्षयेत् ॥ १०५२ ॥
 रुद्रं च दैवतं तत्र भाषते शंभुवल्लभः ।
 एषामाद्यानि चत्वारि दृश्यन्ते नाट्यनृत्तयोः ॥ १०५३ ॥

भूमौ त्र्यश्रौ भवतः, कटीजानुसमं सार्धतालद्वयान्तरे नभसि ऊरू निषण्णौ भवतः, तत् शक्रदेवताकं मण्डलं स्थानं भवति । तच्च धनुर्वज्रादिशस्त्रप्रयोगे, गजवाहने, गरुडादिवीक्षणो च प्रयोज्यम् । अन्ये आचार्याः, अत्र मण्डल-स्थानके चतुस्तालान्तरालौ प्रचक्षते ॥ १०४६-१०४८ ॥

इति मण्डलम् (४)

(सु०) आलीढं लक्षयति—वाम इति । यत्र वामः पादः आकाशे प्रथममानतः दक्षिणपादश्च अग्रे तालपञ्चकान्तराले प्रसारितो भवति, पादद्वयमपि त्र्यश्रं भवति; तद् रुद्रदेवताकमालीढं स्थानं भवति । तच्च ईर्ष्याक्रोधकृते जल्पे, वीररौद्रकृते मल्लसंघर्षास्फोटनादिके शस्त्रसंधाने च कार्यम् ॥ १०४९-१०५१ ॥

इत्यालीढम् (५)

प्रयोगस्त्वन्ययोस्तज्ज्ञैरिष्टो नाट्यैकगोचरः ।

अन्ये पञ्चविधेऽप्याहुर्नर्तने स्थानकानि षट् ॥ १०५४ ॥

इति प्रत्यालीढम् (६)

इति षट्पुरुषस्थानकानि ।

वामस्तालान्तरस्त्र्यश्रो दक्षिणश्चरणः समः ।

प्रसन्नं वदनं वक्षः समुन्नतमनुन्नता ॥ १०५५ ॥

कटीनितम्बगो हस्तो दक्षिणोऽन्यो लताकरः ।

यत्रायतं तदाख्यातं कमला चात्र देवता ॥ १०५६ ॥

(क०) अत्र पुरुषकर्तृकाणां षण्णां स्थानकानां साधारणविनियोग-
प्रदर्शनावसरे पञ्चविधे नर्तने इत्युक्तम् । तत्र नाट्यनृत्यनृत्तलास्यताण्डव-
मेदेन नर्तनस्य पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वमनुसंधेयम् ॥ १०५४ ॥

इति प्रत्यालीढम् (६)

इति षट्पुरुषस्थानकानि ।

(सु०) प्रत्यालीढं लक्षयति—आलीढेति । आलीढाङ्गव्यत्यासात्प्रत्यालीढं
भवति । आलीढे संधीयमानशस्त्रस्यात्र मोक्षणं कार्यम् । अत्रापि रुद्रदैवतं,
शंभुवल्लभः; शार्ङ्गदेवो भाषते । अत्र आद्यस्थानचतुष्टयं नाट्यनृत्तयोः प्रयुज्यते ।
अन्यद् द्वयं नाट्यमात्रगोचरं भवति । अन्ये पञ्चविधेऽप्याहुः ॥ १०५२—
१०५४ ॥

इति प्रत्यालीढम् (६)

इति षट्पुरुषस्थानकानि ।

(क०) आयतस्थानविनियोगे—रङ्गावतरणारम्भ इत्युक्तम्? रङ्गाव-
तरणं नाम पात्रस्य रङ्गप्रवेशोपक्रमः ॥ १०५५—१०६२ ॥

इत्याद्यतम् (१)

स्थानं चिकीर्षितासु स्यात्क्षतासु च गतिष्विदम् ।
 आभाषणे च कर्तव्ये सखीप्रियतमादिभिः ॥ १०५७ ॥
 रङ्गावतरणारम्भे पुष्पाञ्जलिविसर्जने ।
 अमर्षे चाभिलाषेर्ष्याप्रभवेऽङ्गुलिमोटने ॥ १०५८ ॥
 तर्जने प्रतिषेधे च कार्यं मानावलम्बने ।
 गर्वगाम्भीर्यमौने स्यादावाहनविसर्जने ॥ १०५९ ॥
 पूर्वरङ्गे स्त्रीभिरेव प्रयोज्यं केचिदूचिरे ।
 नरो नार्योऽथवा कुर्युः प्रवेशे स्थानकं स्त्रियाः ॥ १०६० ॥
 स्थानं यथाभिनेयं स्यात्प्रविष्टेष्विति चापरे ।
 आयतानन्तरं कार्या रङ्गावतरणादयः ॥ १०६१ ॥
 हस्तपादप्रचारस्तु तेषु ज्ञेयो यथोचितम् ।
 भट्टाभिनवगुप्तस्य मतमेतदुदीरितम् ॥ १०६२ ॥

इत्यायतम् (१)

(सु०) अथ स्त्रीस्थानकानि लक्षयति—वाम इति । यत्र वामः पादः
 तालान्तरे त्र्यश्रः, दक्षिणः पादः समः, मुखं प्रसन्नम्, वक्षः समुन्नतं च, कटी
 चोन्नता, वामहस्तो लताकरः, दक्षिणहस्तो नितम्बगतश्च भवति, तत् कमला-
 देवताकम् आयतं स्थानं भवति । इदं स्थानं चिकीर्षितासु क्षतासु गतिषु
 प्रयुज्यते । सखीप्रियतमाद्याभाषणे, रङ्गावतरणारम्भे; पुष्पाञ्जलिविसर्जने,
 अमर्षे, अभिलाषेर्ष्याप्रभवे, अङ्गुलिमोटने, गर्वगाम्भीर्यमौने, आवाहनविसर्जने,
 पूर्वरङ्गे च स्त्रीभिरेव प्रयोज्यमिति केचिदाचार्या ऊचिरे । नरो वा नार्यो वा
 प्रवेशे स्थानकं कुर्युः । प्रविष्टेष्वपि स्थानमभिनेतव्यमित्यपरे । आयतानन्तरं
 रङ्गावतरणादिकं कार्यम् । तत्र हस्तपादप्रचाराः यथोचितं ज्ञेया इति भट्टाभि-
 नवगुप्तस्य मतम् ॥ १०५९-१०६२ ॥

इत्यायतम् (१)

अवहित्थं तदेव स्याद्विपर्यासेन पादयोः ।
चिन्तावितर्कयोस्तोषे संलापे च निसर्गजे ॥ १०६३ ॥
विस्मये भूरिसौभाग्यगर्वजे स्वाङ्गवीक्षणे ।
लीलाविलासलावण्यवरमार्गविलोकने ॥ १०६४ ॥
कार्यं दौर्गमिदं स्थानमवहित्थस्य सूचकम् ।

इत्यवहित्थम् (२)

समस्यैकस्य पादस्य पार्ष्णिदेशगतोऽपरः ॥ १०६५ ॥
सूचीपादः स्वपार्श्वे वा समस्तालान्तरे स्थितः ।
यत्राश्वारोहणारम्भे तदश्वक्रान्तमुच्यते ॥ १०६६ ॥
स्वलिते विगलद्वस्त्रधारणे गोप्यगोपने ।
प्रसूनस्तवकादाने तरुशाखावलम्बने ॥ १०६७ ॥
नैसर्गिके च संलापे विभ्रमे ललिते तथा ।
प्रयोक्तव्यमिदं स्थानं भारती चात्र देवता ॥ १०६८ ॥

इत्यश्वक्रान्तम् (३)

(सु०) अवहित्थं लक्षयति—अवहित्थमिति । यत्र पादयोर्विपर्यासेन रचितं तदेव अवहित्थम् । तच्च चिन्तावितर्कतोषसंलापेषु, नैसर्गिकविस्मये, भूरिसौभाग्यगर्वेण स्वाङ्गावलोकने, लीलाविलासलावण्यवरमार्गविलोकने च प्रयोज्यम् । इदं तु दुर्गादेवताकम् ॥ १०६३, १०६४-॥

इत्यवहित्थम् (२)

(सु०) अश्वक्रान्तं लक्षयति—समस्येति । यत्र समैकपादपार्ष्णिदेश-गतः, सूचीपादोऽपरः, स्वपार्श्वे वा समात् तालान्तरे वा तिष्ठति, तद् भारती-देवतात्मकम् अश्वक्रान्तं भवति । तच्च अश्वारोहणारम्भे, स्वलिते, विगलद्वस्त्र-धारणे, गोप्यगोपने, पुष्पस्तवकादाने, वृक्षशाखावलम्बने, नैसर्गिकसंलापे, विभ्रमे, ललिते च प्रयोज्यम् ॥ -१०६५-१०६८ ॥

इत्यश्वक्रान्तम् (३)

गत्युन्मुखी च यत्रैकं पदमुद्धृत्य नर्तकी ।

उदास्ते तद्वतिस्थित्योर्निरोधात्स्याद्गतागतम् ॥ १०६९ ॥

इति गतागतम् (४)

शरीरमीषद्वलितं पादो वलितदिग्भवः ।

कनिष्ठाश्लिष्टभूरन्यो भूलग्राङ्गुष्ठको यदा ॥ १०७० ॥

तदा वलितमाख्यातं साभिलाषविलोकने ।

इति वलितम् (५)

एकः समोऽङ्घ्रिरन्यस्तु कुञ्चितोऽर्धतलाङ्गुलिः ॥ १०७१ ॥

अग्रे यदोर्ध्वगौ हस्तौ कर्कटौ मोदितं तदा ।

कामावस्थासु सर्वासु विनियोगोऽस्य कीर्तितः ॥ १०७२ ॥

इति मोदितम् (६)

(सु०) गतागतं लक्षयति—गतीति । यत्र नर्तकी एकं चरणमुद्धृत्य गत्युन्मुखी वर्तते, गतिस्थितिनिरोधयुक्तं तद् गतागतं भवति ॥ १०६९ ॥

इति गतागतम् (४)

(सु०) वलितं लक्षयति—शरीरमिति । यत्र शरीरमीषद्वलितं भवति ।

एकः पादः कनिष्ठाश्लिष्टभूमिः, अन्यो भूमिलग्राङ्गुष्ठश्च भवति ; तद्वलितम् ।

तच्च साभिलाषविलोकने प्रयोज्यम् ॥ १०७०- ॥

इति वलितम् (५)

(सु०) मोदितं लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः समः, अन्यः कुञ्चितः, अर्धतलाङ्गुलिश्च भवति ; अग्रे कर्कटहस्तौ ऊर्ध्वं गच्छतः, तन्मोदितम् ।

तच्च सर्वास्वपि कामावस्थासु विनियुज्यते ॥ -१०७१, १०७२ ॥

इति मोदितम् (६)

पृष्ठतोऽङ्गपरावृत्त्या तदेव विनिवर्तितम् ।

इति विनिवर्तितम् (७)

इति सप्त स्त्रीस्थानकानि ।

स्वस्तिको हंसकस्थाने चरणौ कुञ्चितौ यदा ॥ १०७३ ॥

मिथः श्लिष्टकनिष्ठौ च तदाहुः स्वस्तिकं बुधाः ।

इति स्वस्तिकम् (१)

वर्धमाने तु चरणौ तिर्यञ्चौ पार्श्वसंगतौ ॥ १०७४ ॥

इति वर्धमानम् (२)

(क०) अवहित्थस्थानकविनियोगे—अवहित्थस्य सूचकमित्युक्तम् ।

तत्रावहित्थं नामेङ्गिताकारगोपनात्मकः संचारिभावः ; तस्येत्यर्थः ॥

॥ १०६३—१०७२- ॥

इति सप्त स्त्रीस्थानकानि ।

(क०) स्वस्तिकादीनां लक्षणानि स्पष्टार्थानि ॥-१०७३-१०८३ ॥

(सु०) विनिवर्तितं लक्षयति—पृष्ठत इति । पृष्ठत अङ्गपरावृत्तियुक्तं तदेव, मोटितमेव विनिवर्तितम् ॥ १०७२- ॥

इति विनिवर्तितम् (७)

इति सप्त स्त्रीस्थानकानि ।

(सु०) अथ देशीस्थानानि लक्षयति—स्वस्तिक इति । यत्र पादौ स्वस्तिकौ कुञ्चितौ परस्परश्लिष्टकनिष्ठौ च भवतः ; तत् स्वस्तिकम् ॥ -१०७३, १०७३- ॥

इति स्वस्तिकम् (१)

(सु०) वर्धमानं लक्षयति—वर्धमान इति । यत्र पादौ तिर्यञ्चौ पार्श्वसंगतौ च भवतः ; तद् वर्धमानम् ॥ -१०७४ ॥

इति वर्धमानम् (२)

अस्यैव चेच्चरणयोरन्तरं स्यात्षडङ्गुलम् ।

वितस्तिमात्रमथवा नन्द्यावर्तं तदोदितम् ॥ १०७५ ॥

इति नन्द्यावर्तम् (३)

देहः स्वाभाविकोऽङ्गुष्ठौ पादयोश्चेन्मिथो युतौ ।

गुल्फौ च संहतं तत्स्यात्पुष्पाञ्जलिविसर्जने ॥ १०७६ ॥

इति संहतम् (४)

वपुः स्वाभाविकं पादौ वितस्त्यन्तरितावृजू ।

यत्र तत्समपादाख्यं शार्ङ्गदेवः समादिशत् ॥ १०७७ ॥

इति समपादम् (५)

समस्याङ्घ्रेस्तु जानूर्ध्वं बाह्यपार्श्वं यदीतरः ।

बाह्यपार्श्वेन लग्नोऽङ्घ्रिरेकपादं तदोच्यते ॥ १०७८ ॥

इत्येकपादम् (६)

(सु०) नन्द्यावर्तं लक्षयति—अस्यैवेति । अस्मिन्नेव पादयोरन्तरालं षडङ्गुलं वा वितस्तिमात्रं वा भवति ; तदा नन्द्यावर्तम् ॥ १०७५ ॥

इति नन्द्यावर्तम् (३)

(सु०) संहतं लक्षयति—देह इति । यत्र देहः स्वाभाविकः, पादाङ्गुष्ठौ गुल्फौ च मिथः संयुतौ भवतः ; तद् संहतम् । तत्पुष्पाञ्जलिविसर्जने कार्यम् ॥ १०७६ ॥

इति संहतम् (४)

(सु०) समपादं लक्षयति—वपुरिति । यत्र शरीरं स्वाभाविकम् ; पादौ वितस्त्यन्तरालगतौ ऋजू भवतः ; तत् समपादम् ॥ १०७७ ॥

इति समपादम् (५)

(सु०) एकपादं लक्षयति—समस्येति । यत्र एकः समपादः, जानू स्वबाह्यपार्श्वगतः, इतरो बाह्यपार्श्वलग्नः ; तद् एकपादम् ॥ १०७८ ॥

इत्येकपादम् (६)

भूलग्राङ्गुलिपृष्ठोऽङ्घ्रिः पश्चादेकोऽपरः पुरः ।

समो यत्र तदादिष्टं पृष्ठोत्तानतलं बुधैः ॥ १०७९ ॥

इति पृष्ठोत्तानतलम् (७)

नन्द्यावर्तस्य चेदङ्घ्रयोर्भवेदष्टादशाङ्गुलम् ।

अन्तरं चतुरैः स्थानं चतुरश्रं तदोदितम् ॥ १०८० ॥

इति चतुरश्रम् (८)

पार्ष्णिरङ्गुष्ठसंश्लिष्टा पार्ष्णिविद्धे विधीयते ।

इति पार्ष्णिविद्धम् (९)

पार्ष्णिपार्श्वगते पार्ष्णिरन्तः पार्श्वान्तरस्थितः ॥ १०८१ ॥

इति पार्ष्णिपार्श्वगतम् (१०)

(सु०) पृष्ठोत्तानतलं लक्षयति—भूलग्रेति । यत्र एकः पादः पश्चाद् भूमिलग्रा-
ङ्गुलिपृष्ठः, अन्यः पुरः समश्च भवति ; तत् पृष्ठोत्तानतलम् ॥ १०७९ ॥

इति पृष्ठोत्तानतलम् (७)

(सु०) चतुरश्रं लक्षयति—नन्द्यावर्तेति । यदा नन्द्यावर्त एव पादयो-
रन्तरम् अष्टादशाङ्गुलं भवति ; तदा चतुरश्रम् ॥ १०८० ॥

इति चतुरश्रम् (८)

(सु०) पार्ष्णिविद्धं लक्षयति—पार्ष्णिरिति । यत्र पार्ष्णिः अङ्गुष्ठ-
संश्लिष्टा ; तत् पार्ष्णिविद्धम् ॥ १०८०- ॥

इति पार्ष्णिविद्धम् (९)

(सु०) पार्ष्णिपार्श्वगतं लक्षयति—पार्ष्णीति । यत्र पार्ष्णिः, पार्ष्णि-
पार्श्वगता ; तत् पार्ष्णिपार्श्वगतम् ॥ -१०८१ ॥

इति पार्ष्णिपार्श्वगतम् (१०)

समस्याङ्घ्रेः पुरः किञ्चिदपरश्चरणो यदा ।

स्याद्बाह्यपार्श्वगस्तिर्यगेकपार्श्वगतं तदा ॥ १०८२ ॥

इत्येकपार्श्वगतम् (११)

एकः समोऽङ्घ्रिरन्यश्चेदन्तरे चतुरङ्गुले ।

तिर्यक्कुञ्चितजानुः स्यादेकजानुनतं तदा ॥ १०८३ ॥

इत्येकजानुनतम् (१०)

परावृत्ते समे स्यातां पाण्यङ्गुष्ठकनिष्ठिके ।

इति परावृत्तम् (१३)

(सु०) एकपार्श्वगतं लक्षयति—समस्येति । यत्र समपादस्य पुरतः, अपरः पादः बाह्यपार्श्वे किञ्चित् तिर्यग्भवति ; तद् एकपार्श्वगतम् ॥ १०८२ ॥

इत्येकपार्श्वगतम् (११)

(सु०) एकजानुनतं लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः समः, अन्यः चतुरङ्गुलान्तरे तिर्यक् कुञ्चितजानुर्भवति ; तद् एकजानुनतम् ॥ १०८३ ॥

इत्येकजानुनतम् (१२)

(क०) परावृत्ताख्यस्य स्थानकस्य लक्षणे—अङ्गुष्ठकनिष्ठिके पाण्यङ्गुष्ठे समे स्यातामित्युच्यते । तस्यायमर्थोऽवगन्तव्यः । द्वयोः पादयोरेकस्याङ्गुष्ठ इतरस्य कनिष्ठिका चेत्यङ्गुष्ठकनिष्ठिकेति द्वन्द्वः । ते—पाण्यङ्गुष्ठे समे स्यातामिति । वामाङ्गुष्ठो दक्षिणपाण्यङ्गुष्ठः समः ; दक्षिणकनिष्ठिका वामपाण्यङ्गुष्ठः समा ; यद्वा दक्षिणाङ्गुष्ठो वामपाण्यङ्गुष्ठः समः ; वामकनिष्ठिका दक्षिणपाण्यङ्गुष्ठः समेति । अत्र समत्वमेकदेशस्थितत्वमवगन्तव्यम् । अन्यथैकपादस्याङ्गुष्ठकनिष्ठयोस्तदीयपाण्यङ्गुष्ठः समत्वं न संभवति । एवं पादान्तरपाण्यङ्गुष्ठस्य समत्वं तूक्तप्रकारेण संभवति । पादान्तरपाणिपश्चाद्बाह्यस्थित्या

पार्ष्णिजङ्घोरुसंलग्नधरणी चरणौ यदा ॥ १०८४ ॥

तिर्यक्प्रसारितौ स्यातां समसूचि तदोच्यते ।

इति समसूचि (१४)

सूचीपादौ पृथग्यत्र पुरः पश्चात्प्रसारितौ ॥ १०८५ ॥

युगपद्गतं तज्ज्ञैः स्थानं विषमसूचि तत् ।

भूलग्नजानुगुल्फौ तौ चरणौ केचिद्वचिरे ॥ १०८६ ॥

इति विषमसूचि (१५)

एकोऽङ्घ्रिः कुञ्चितोऽन्यस्तु भूसंलग्नोरुपार्ष्णिकः ।

तिर्यक्प्रसारितो यत्र खण्डसूचि तदोच्यते ॥ १०८७ ॥

इति खण्डसूचि (१६)

समत्वे विवक्षिते त्वङ्गुष्ठकनिष्ठिकाग्रहणमनर्थकं स्यात् । पादग्रहणेनैव गतार्थत्वादिति ॥ १०८३- ॥

इति त्रयोविंशतिर्देशीस्थानानि ।

(सु०) परावृत्तं लक्षयति—परावृत्त इति । यत्र अङ्गुष्ठकनिष्ठिके पाण्डुर्यो परावृत्ते समे च भवतः ; तत् परावृत्तम् ॥ १०८३- ॥

इति परावृत्तम् (१३)

(सु०) समसूचि लक्षयति—पार्ष्णीति । यत्र पार्ष्णिजङ्घोरुभूलग्नं पादौ च तिर्यक्प्रसारितौ भवतः ; तत् समसूचि ॥ -१०८४, १०८४- ॥

इति समसूचि (१४)

(सु०) विषमसूचि लक्षयति—सूचीपादाविति । यत्र सूचीपादौ पुरः पश्चाच्च पृथगेव युगपत्प्रसारितौ च भवतः ; तद् विषमसूचि । केचित् तौ चरणौ भूलग्नजानुगुल्फौ वदन्ति ॥ -१०८५, १०८६ ॥

इति विषमसूचि (१५)

(सु०) खण्डसूचि लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः कुञ्चितः,

एकः समोऽङ्घ्रिन्यथेत्कुञ्चितोऽपः ।

जानुसंधिसमत्वेनोत्क्षिप्तो ब्राह्मं तदुच्यते ॥ १०८८ ॥

इति ब्राह्मम् (१७)

सममेकं विधायाङ्घ्रिमन्यथेत्कुञ्चितो मनाक् ।

पुरः प्रसारितस्तिर्यक्पदं स्याद्वैष्णवं तदा ॥ १०८९ ॥

इति वैष्णवम् (१८)

अङ्घ्रेः समस्य वामस्य जानुशीर्षसमोऽपरः ।

उद्धृतः कुञ्चिताकारो यत्र शैवं तदुच्यते ॥ १०९० ॥

इति शैवम् (१९)

अन्यः भूलग्नपाणिकं तिर्यक्प्रसारितश्च भवति ; तत् खण्डसूचि ॥ १०८७ ॥

इति खण्डसूचि (१६)

(सु०) ब्राह्मं लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः समः, अन्यः पृष्ठतः कुञ्चितो भूत्वा जानुसंधिसमत्वेनोत्क्षिप्यते ; तद् ब्राह्मम् ॥ १०८८ ॥

इति ब्राह्मम् (१७)

(सु०) वैष्णवं लक्षयति—सममिति । यत्र एकं पादं समं विधाय, अन्य ईषत्कुञ्चितः, पुनः तिर्यक्प्रसारितश्च भवति ; तद् वैष्णवम् ॥ १०८९ ॥

इति वैष्णवम् (१८)

(सु०) शैवं लक्षयति—अङ्घ्रेरिति । यत्र वामपादः जानुशीर्षसमः, अपरः पाद उद्धृतः कुञ्चिताकारश्च भवति ; तत् शैवम् ॥ १०९० ॥

इति शैवम् (१९)

आकुञ्चितः पुरो वामः पश्चादन्यस्तु जानुना ।

भुवं गतौ यदा पादौ गारुडं गदितं तदा ॥ १०९१ ॥

इति गारुडम् (२०)

दक्षिणश्चरणो जानुबाह्यगुल्फमिलत्क्षितिः ।

वामः समो भवेद्यत्र कूर्मासनमदो विदुः ॥ १०९२ ॥

इति कूर्मासनम् (२१)

यदोपविश्य वामोरोः पृष्ठे न्यस्यति दक्षिणाम् ।

जङ्घां तदा नागबन्धमभ्यधात्करणाग्रणीः ॥ १०९३ ॥

इति नागबन्धम् (२२)

वियुते संयुते वा चेज्जानुनी संस्थिते क्षितौ ।

वृषभासनमाख्यातं सौष्ठवाधिष्ठितं तदा ॥ १०९४ ॥

इति वृषभासनम् (२३)

इति त्रयोविंशतिर्देशीस्थानानि ।

(सु०) गारुडं लक्षयति—आकुञ्चित इति । यत्र वामः पादः पुरः कुञ्चितः, अन्यः पादः जानुभूमिगतो भवति ; तद् गारुडम् ॥ १०९१ ॥

इति गारुडम् (२०)

(सु०) कूर्मासनं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणः पादः जानुबाह्यगुल्फमिलितभूमिः, वामश्च समो भवति ; तत् कूर्मासनम् ॥ १०९२ ॥

इति कूर्मासनम् (२१)

(सु०) नागबन्धं लक्षयति—यदेदि । यदा उपविश्य वामोरुपृष्ठे दक्षिणजङ्घाभ्यस्यते ; तदा नागबन्धम् ॥ १०९३ ॥

इति नागबन्धम् (२२)

(सु०) वृषभासनं लक्षयति—वियुत इति । यत्र जानुनी संयुज्य, वियुज्य वा भूस्थिते भवतः ; तत् सौष्ठवाधिष्ठितं वृषभासनं भवति ॥ १०९४ ॥

इति वृषभासनम् (२३)

इति त्रयोविंशतिर्देशीस्थानानि ।

विस्तारिताश्रितावङ्घ्री यत्रोरः किंचिदुन्नतम् ।
करावूरुकटिन्यस्तौ स्वस्थं स्थानं तदुच्यते ॥ १०९५ ॥

इति स्वस्थम् (१)

एकः प्रसारितः किंचिदन्योऽङ्घ्रिस्त्वासनाश्रितः ।
शिरःपार्श्वगतं यत्र तन्मदालसमिष्यते ॥ १०९६ ॥
मदे विपदि निर्वेदेऽप्यौत्सुक्ये विरहे भवेत् ।

इति मदालसम् (२)

हस्तौ चिबुकविन्यस्तौ बाहुशीर्षश्रितं शिरः ॥ १०९७ ॥
ईषद्वाष्पे च नयने यत्र क्रान्तमुदाहृतम् ।
निर्जने निगृहीते च शोकग्लाने भवेदिदम् ॥ १०९८ ॥

इति क्रान्तम् (३)

(सु०) अथोपविष्टस्थानकानि लक्षयति—विस्तारितेति । यत्र पादौ विस्तारिताश्रितौ, उर ईषदुन्नतम्, हस्तौ ऊरुकटीन्यस्तौ च भवतः; तत् स्वस्थम् ॥ १०९५ ॥

इति स्वस्थम् (१)

(सु०) मदालसं लक्षयति—एक इति । यत्र एकः पादः किंचित् प्रसारितः, अन्यश्च तथा शिरःपार्श्वगतं च भवति; तत् मदालसम् । तच्च मदे, विपदि, निर्वेदे, औत्सुक्ये, विरहे च कार्यम् ॥ १०९६, १०९६- ॥

इति मदालसम् (२)

(सु०) क्रान्तं लक्षयति—हस्ताविति । यत्र हस्तौ चिबुकन्यस्तौ, शिरः बाहुशीर्षगतं भवति; नयने च ईषद्वाष्पयुते भवतः; तत् क्रान्तम् । इदं निर्जने, निगृहीते, शोकग्लाने च कार्यम् ॥ -१०९७, १०९८ ॥

इति क्रान्तम् (३)

ऊरू विस्तारितौ बाहू पादौ विस्तारिताञ्चितौ ।
यदा निमीलिते नेत्रे विष्कम्भं भणितं तदा ॥ १०९९ ॥
योगे ध्याने भवेदेतत्स्वभावेन यदासने ।

इति विष्कम्भितम् (४)

समे पाष्णीं सह स्फिग्भ्यां भूतले चरणौ समौ ॥ ११०० ॥
यदा तदोत्कटं योगध्यानसंध्याजपादिषु ।

इत्युत्कटम् (५)

हस्तौ स्रस्तौ विमुक्तौ च शरीरमलसं यदा ॥ ११०१ ॥
लोचने मन्थराकारधरे स्रस्तालसं तदा ।
हानिग्लानिमदव्याधिमूर्च्छाभीतिषु तद्भवेत् ॥ ११०२ ॥

इति स्रस्तालसम् (६)

(सु०) विष्कम्भितं लक्षयति—ऊर्विति । यत्र ऊरू विस्तारितौ; बाहू
पादौ च अञ्चितौ भवतः; नेत्रे निमीलिते च भवतः; तद् विष्कम्भितम् । तच्च
योगे, ध्याने, स्वभावासने च कार्यम् ॥ १०९९, १०९९- ॥

इति विष्कम्भितम् (४)

(सु०) उत्कटं लक्षयति—समे इति । यत्र पाष्णीं समे; पादौ
भूतले समौ च भवतः; तद् उत्कटम् । तच्च योगध्यानसंध्याजपादिषु
प्रयोज्यम् ॥ ११००, ११००- ॥

इत्युत्कटम् (५)

(सु०) स्रस्तालसं लक्षयति—हस्ताविति । यत्र हस्तौ स्रस्तौ विमुक्तौ
च भवतः; शरीरमलसं, लोचने मन्थराकारधरे च भवतः; तत् स्रस्तालसम् ।
तच्च हानिग्लानिमदव्याधिमूर्च्छाभीतिषु प्रयोज्यम् ॥ ११०१, ११०२ ॥

इति स्रस्तालसम् (६)

जानुभ्यां भूमिसंस्थाभ्यां स्थानं जानुगतं मतम् ।

होमे देवार्चने दीनयाचने मृगदर्शने ॥ ११०३ ॥

कुसत्त्वत्रासने चेदं भवेत्क्रुद्धप्रसादने ।

इति जानुगतम् (७)

उत्कटस्यैव जान्वैकं धरापृष्ठमधिष्ठितम् ॥ ११०४ ॥

यत्रैतन्मुक्तजानु स्यान्मानिनीनां प्रसादने ।

हवने सज्जनानां च सान्त्वने साधुकर्तृके ॥ ११०५ ॥

इति मुक्तजानु (८)

विमुक्तं भूपतनं हावक्रन्दादिषु स्मृतम् ।

इति विमुक्तम् (९)

इति नवोपविष्टस्थानकानि ।

(सु०) जानुगतं लक्षयति—जानुभ्यामिति । यत्र भूमिसंस्थाभ्यां स्थीयते, तत् जानुगतम् । तच्च होमे, देवार्चने, कुसत्त्वत्रासने, क्रुद्धप्रसादने च प्रयोज्यम् ॥ -११०२, ११०३- ॥

इति जानुगतम् (७)

(सु०) मुक्तजानु लक्षयति—उत्कटस्येति । उत्कट एव एकजानु धरापृष्ठगतं चेत् ; तत् मुक्तजानु । तच्च मानिनीनां प्रसादने, हवने, साधुकृत-सज्जनानां सान्त्वने च प्रयोज्यम् ॥ -११०४, ११०५ ॥

इति मुक्तजानु (८)

(सु०) विमुक्तं लक्षयति—विमुक्तमिति । यत्र भूपतनं तत् विमुक्तम् । तच्च हावक्रन्दादिषु प्रयोज्यम् ॥ ११०६- ॥

इति विमुक्तम् (९)

इति नवोपविष्टस्थानकानि ।

सुप्तमुत्तानवक्त्रं च स्रस्तमुक्तकरं समम् ॥ ११०६ ॥

इति समम् (१)

आकुञ्चिताङ्गमाविद्धजान्वाकुञ्चितमुच्यते ।

प्रयोगस्तस्य शीतार्ताभिनये शार्ङ्गिणोदितः ॥ ११०७ ॥

इत्याकुञ्चितम् (२)

उपधाय भुजामेकां यत्प्रसारितजानुकम् ।

सुप्तं प्रसारितं स्थानं सुखसुप्ते तदिष्यते ॥ ११०८ ॥

इति प्रसारितम् (३)

विवर्तितमधोवक्त्रं सुप्तं शस्त्रक्षतादिषु ।

इति विवर्तितम् (४)

(सु०) सुप्तस्थानकानि लक्षयति—सुप्तमिति । यत्र उत्तानवक्त्रं, स्रस्तमुक्तकरं सुप्तम्; सत् समम् ॥ -११०६ ॥

इति समम् (१)

(सु०) आकुञ्चितं लक्षयति—आकुञ्चिताङ्गमिति । यत्र आविद्धजान्वा आकुञ्चिताङ्गं भवति ; तद् आकुञ्चितम् । तच्च शीतार्ताभिनये कार्यम् ॥ ११०७ ॥

इत्याकुञ्चितम् (२)

(सु०) प्रसारितं लक्षयति—उपधायेति । यत्र एकां भुजामुपधाय, प्रसारितजानुकं सुप्तम्; तत् प्रसारितम् । तच्च सुखसुप्ते प्रयोज्यम् ॥ ११०८ ॥

इति प्रसारितम् (३)

(सु०) विवर्तितं लक्षयति—विवर्तितमिति । यत्र अधोवक्त्रं सुप्तम्; तद्विवर्तितम् । तच्च शस्त्रक्षतादिषु प्रयोज्यम् ॥ ११०८- ॥

इति विवर्तितम् (४)

स्कन्धन्यस्तशिरः सुप्तं कूर्पराधिष्ठितक्षिति ॥ ११०९ ॥

यत्तदुद्वाहितं प्रोक्तं लीलयावस्थितौ प्रभोः ।

इत्युद्वाहितम् (५)

ईषत्प्रसृतजङ्घं यत्सुप्तं स्रस्तकरद्वयम् ॥ १११० ॥

तन्नतं स्थानकं खेदश्रमालस्यादिषु स्मृतम् ।

इति नतम् (६)

इति षट्सुप्तस्थानकानि ।

इत्येकपञ्चाशत्स्थानप्रकरणम् ।

वाङ्मनःकायजा चेष्टा पुरुषार्थोपयोगिनी ॥ ११११ ॥

वृत्तिः सा भारती सात्त्वत्यारभ्यथ कैशिकी ।

(सु०) उद्वाहितं लक्षयति—स्कन्धन्यस्तेति । यत्र स्कन्धन्यस्तशिरः कूर्परप्राप्तभूतलं सुप्तम्, तद् उद्वाहितम् । तच्च लीलया अवस्थितौ प्रभोः पुरतः प्रयोज्यम् ॥ -११०९, ११०९- ॥

इत्युद्वाहितम् (५)

(सु०) नतं लक्षयति—ईषदिति । यत्र ईषत् प्रसृतजङ्घम्, स्रस्तकरद्वयं यत् सुप्तम्; तद् नतम् । तच्च खेदश्रमालस्यादिषु प्रयोज्यम् ॥ -१११०, १११०- ॥

इति नतम् (६)

इति षट्सुप्तस्थानकानि ।

इत्येकपञ्चाशत्स्थानप्रकरणम् ।

(क०) अथोद्देशक्रमेण वृत्तीर्लक्षयितुं तासां सामान्यलक्षणमाह—
वाङ्मनःकायजेत्यादि । वाङ्मनःकायेभ्यो जायत इति तथोक्ता ।
पुरुषार्थोपयोगिनी; अत्र पुरुषार्थशब्देन धर्मार्थकामा गृह्यन्ते, न मोक्षः;

चतुर्विधेति विज्ञेया तासामुत्पत्तिरुच्यते ॥ १११२ ॥

ऋग्वेदाद्भारती जाता यजुर्वेदात्तु सात्त्वती ।

अथर्वणादारभटी सामवेदात्तु कैशिकी ॥ १११३ ॥

वृत्तिः संस्कृतवाक्यैकप्रधाना भरतैर्नृभिः ।

प्रयुज्यमाना वाग्वृत्तिः प्राधान्याद्भारती मता ॥ १११४ ॥

तं प्रत्यासामुपयोगाभावात् । तेषु धर्मादिषूपयोगोऽस्या अस्तीति पुरुषार्थोप-
योगिनीत्युक्तम् । चेष्टा ; व्यापारो वृत्तिरुच्यते । सा वृत्तिर्भारतीत्यादिभेदेन
चतुर्विधेति विज्ञेयेति संबन्धः । तासां ऋगादिवेदेभ्य उत्पत्तिं दर्शयति—
तासामिति ॥ -११११-१११३- ॥

(सु०) अथ क्रमप्राप्ता वृत्तीर्लक्षयति—वाङ्मनःकायजेति । वाङ्मनः-
कायजा ; वाङ्मनःकायभवा, पुरुषार्थोपयुक्ता चेष्टा व्यापारो वृत्तिरिति कथ्यते ।
सा ; वृत्तिः, चतुर्विधा—भारती, सात्त्वती, आरभटी, कैशिकीति । वृत्तीना-
मुत्पत्तिमाह—तासामिति । ऋग्वेदात् भारती जाता ; यजुर्वेदात्तु सात्त्वती जाता ;
अथर्वणात् आरभटी जाता ; सामवेदात्तु कैशिकी जातेति ॥-११११-१११३-॥

(क०) तत्र च भारती वृत्तिं लक्षयति—वृत्तिः संस्कृतेत्यादि ।
संस्कृतवाक्यमेव प्रधानं यस्याः सा तथोक्ता । अत्र वाग्व्यापारस्यैकस्य
प्राधान्यम् । मनःकायव्यापारयोस्त्वप्राधान्यमित्यर्थः । अत एव वाग्वृत्ति-
रित्युच्यते । भरतैर्नृभिः प्राधान्यात्प्रयुज्यमानेति भारतीशब्दस्य व्युत्पत्ति-
दर्शिता । नाटकार्थाभिनेतारः सूत्रधारादयो भरता इत्युच्यन्ते ॥ १११४ ॥

(सु०) तत्र भारतीमाह—वृत्तिरिति । वृत्तिः ; भारतीवृत्तिः, संस्कृत-
वाक्यप्रधाना ; अत एव भरतैः नृभिः प्राधान्यात् प्रयुज्यमाना भवति । अत्र
भरतशब्देन नाटकाभिनेतारः सूत्रधारादयो विवक्षिताः ॥ १११४ ॥

सत्त्वप्रकाशकं यत्स्यात्तद्युक्तं सत्त्वमुच्यते ।
 मनस्तत्प्रभवा हर्षशौर्यत्यागास्तु सात्त्वताः ॥ १११५ ॥
 तत्प्रधाना सात्त्वती स्याद्वीररौद्राद्भुतोत्कटा ।
 हीना शृङ्गारनिर्वेदकरुणैरुद्धताश्रयात् ॥ १११६ ॥
 आरादुत्साहिनो ये स्युर्भटास्तत्कायसंभवा ।
 भवेदारभटी वृत्ती रौद्रादाबुद्धते रसे ॥ १११७ ॥
 मायेन्द्रजालबहुला चित्रयुद्धप्रवर्धिनी ।
 वागङ्गाभिनयानां या सौकुमार्येण निर्मिता ॥ १११८ ॥
 उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा ।

(क०) सात्त्वत्या निरुक्तिपूर्वकं लक्षणमाह— सत्त्वप्रकाशकं यत्स्या-
 दित्यादि । एतेनास्या मनोव्यापारप्रधानत्वं दर्शितं भवति ॥ १११५,
 १११६ ॥

(सु०) सात्त्वतीमाह—सत्त्वप्रकाशकमिति । सत्त्वप्रकाशकं यत्, तद्युक्तं
 सत्त्वं मनः, तद्भवा हर्षशौर्यत्यागादयः सात्त्वताः, तत्प्रधाना वृत्तिः सात्त्वती ।
 सा च वीररौद्राद्भुतवती शृङ्गारनिर्वेदकरुणरहिता भवति ॥ १११५, १११६ ॥

(क०) अथारभट्या लक्षणं सनिरुक्तिकमाह—आरादित्यादि ।
 तत्कायसंभवात्तेषां भटानां शरीरसंभवेत्यनेन चारभट्याः कायव्यापारप्रधानत्वं
 दर्शितम् ॥ १११७, १११७- ॥

(सु०) आरभटीमाह—आरादिति । आरात् उत्साहिनो ये भटाः स्युः,
 तेषां कायसंभवा, शरीरव्यापारजा वृत्तिः, सा अरभटी । सा च रौद्राद्भुत्तर-
 सोदिता, मायेन्द्रजालबहुला, चित्रयुद्धप्रवर्धिनी च भवति ॥ १११७, १११७-॥

(क०) अथ कैशिक्या लक्षणमाह—वागङ्गाभिनयानामित्यादि ।
 एतेन कैशिक्यां वाङ्मनःकायव्यापाराणां समप्राधान्यमुक्तं भवति । अत्र

निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यैकजीविताम् ॥ १११९ ॥

सौन्दर्यसौकुमार्याभ्यां रौद्रादावप्यसौ भवेत् ।

आमुखं च प्रहसनं तथा वीथी प्ररोचना ॥ ११२० ॥

अंशाः स्युरिति चत्वारो ये भारत्या मुनेर्मताः ।

उद्घात्यकावलगिते कथोद्घातः प्रवर्तकम् ॥ ११२१ ॥

प्रयोगातिशयश्चेति भेदाः पञ्चामुखस्य ये ।

उत्थापकाभिधो भेदः सात्त्वत्याः परिवर्तकः ॥ ११२२ ॥

संलापकश्चतुर्थस्तु यः संघात्यकसंज्ञकः ।

संक्षिप्तकं चावपातः स्याद्वस्तूत्थापनं तथा ॥ ११२३ ॥

कैशिकीशब्दो रूढो द्रष्टव्यः । यद्वा केशानां समूहः कैशिकम् । कैशिकवन्मृ-
दुत्वात्सुमनोभिर्विचित्रत्वाच्च कैशिकीयोगोऽपि द्रष्टव्यः ॥-१११८, १११९-॥

(सु०) कैशिकीमाह—वागङ्गेति । वागङ्गाभिनयानां या समप्राधान्यं
भवति । या च गीतनृत्ताढ्या, शृङ्गाररसनिर्भरा, सौन्दर्यैकजीविता उल्लङ्घ्यतिः, सा
कैशिकी । इयं सौन्दर्यसौकुमार्याभ्यां रौद्रादावपि भवति ॥-१११८, १११९- ॥

(क०) अथ भारत्यादीनामवान्तरभेदान्परिगणयति—आमुखं
चेत्यादिना ॥ -११२०-११२५ ॥

इति वृत्तिलक्षणम् ।

(सु०) भारतीवृत्तेर्भेदानाह—आमुखमिति । आमुखम्, प्रहसनम्, वीथी,
प्ररोचनेति । तत्रामुखं पञ्चविधम् । उद्घात्यकम्, अवलगितम्, कथोद्घातः,
प्रवर्तकः, प्रयोगातिशयश्चेति ॥ -११२०, ११२१- ॥

(सु०) सात्त्वतेर्भेदानाह—उत्थापकेति । उत्थापकः, परिवर्तकः,
संलापकः, संघातक इति सात्त्वतीभेदाश्चत्वारः । आरभटीभेदानाह—संक्षिप्त-
कमिति । संक्षिप्तकम्, अवपातः, वस्तूत्थापनम्, संप्रेष इत्यारभट्या भेदाश्च-

संपेदश्चारभट्यां यदिति भेदचतुष्टयम् ।
 कैशिक्यां यन्मतं नर्म नर्मस्फुञ्जस्तथापरः ॥ ११२४ ॥
 नर्मस्फोटो नर्मगर्भश्चेति भेदचतुष्टयम् ।
 परिचित्ताक्षेपकं च परोपालम्भकं तथा ॥ १२२५ ॥
 रोषेर्ष्यासूचकं चेति नर्मभेदास्त्रयश्च ये ।
 सोदाहरणलक्षमाणस्तेऽमी नाटकगोचराः ॥ ११२६ ॥
 विस्तरत्रस्तचित्तेन निःशङ्केन न तेनिर ।
 काव्यं गीतं तथा नृत्तं वृत्तिहीनं न शोभते ॥ ११२७ ॥
 अतो वृत्तीर्विजानीयादेता भरतभाषिताः ।

इति वृत्तिलक्षणम् ।

त्वारः । कैशिकीभेदानाह—कैशिक्यामिति । कैशिक्यां नर्म, नर्मस्फुञ्जः,
 नर्मस्फोटः, नर्मगर्भ इति चत्वारो भेदाः । परिचित्ताक्षेपकम्, परोपालम्भकम्,
 रोषेर्ष्यासूचकमिति नर्मभेदास्त्रयः । एतेषां लक्षणानि विस्तरभीत्या न प्रति-
 पाद्यते । काव्यगीतनृत्तानि वृत्तिहीनानि न शोभते ॥ -११२२-११२५- ॥

(क०) तेषां लक्षणानभिधाने हेतुमाह—सोदाहरणेत्यादिना ।
 नाटकगोचरास्तेऽमी वृत्तिभेदा विस्तरत्रस्तचित्तेन निःशङ्केन सोदाहरण-
 लक्षमाणो न तेनिर इति संबन्धः । तेषां नाटकगोचरत्वेन नृत्ते नातीवोप-
 योग इति भावः ॥ -११२६, ११२६- ॥

(क०) तर्हि नृत्तप्रकरणे वृत्तिकथनं कथमित्यत आह—काव्यं
 गीतमित्यादि । वृत्तिहीनं न शोभत इति । यद्यपि वृत्तिहीनत्वेन काव्यादीनां
 न स्वरूपनिष्पत्तिः तथापि निष्पन्नस्य नृत्तादेः शोभातिशयाधानहेतुत्वेन वृत्ती-
 नामप्युपयोगो विद्यत इत्यत्र प्रकरणे तत्कार्यमिति भावः ॥ -११२७, ११२७-॥

इति वृत्तिलक्षणम् ।

युद्धे परात्मशस्त्राणां क्रमाद्रक्षणपातने ॥ ११२८ ॥

विधातुमुचिता गात्रवर्तना न्याय उच्यते ।

भारतः सात्त्वतो वार्षगण्यः कैशिकसंज्ञकः ॥ ११२९ ॥

भेदास्तस्येति चत्वारः क्रमाद् वृत्तिचतुष्टये ।

तेषां लक्षणसिद्धयर्थं प्रविचारान् ब्रुवेऽधुना ॥ ११३० ॥

याः प्रकृष्टा विचित्राश्च गतयस्ते परिक्रमाः ।

त एव प्रविचाराः स्युः शस्त्रमोक्षणगोचराः ॥ ११३१ ॥

(क०) अथ वृत्त्यनुषक्तान् सविचारान् न्यायाल्लक्षयितुं न्याय-
सामान्यलक्षणं तावदाह—युद्ध इत्यादि । परात्मशस्त्राणां क्रमाद्रक्षणपातने
इति । परशस्त्राणां रक्षणं नाम शत्रुप्रहरणानि यथा स्वदेहे न निपतन्ति,
तथा फलकादिना स्वदेहसंरक्षणमित्यर्थः ; आत्मशस्त्रपातनं नाम शत्रुशरीरे
स्वप्रहरणानि यथा फलकादिनिवारणं वञ्चयित्वा निपतन्ति, तथा स्वहस्त-
लाघवादिना शस्त्रपातनम् ; ते विधातुमुचिता नाट्योचितेत्यर्थः । गात्रवर्तना
न्याय उच्यत इति संबन्धः । क्रमाद्वृत्तिचतुष्टय इति । भारत्यां भारतः ।
सात्त्वत्यां सात्त्वतः । आरभट्यां वार्षगण्यः । वृषगणो नाम कश्चिद्भटवरः ।
तत्संबन्धादयं व्यपदेशो द्रष्टव्यः । कैशिक्यां कैशिक इति क्रमः ॥
॥ -११२८-११३०- ॥

(सु०) न्यायलक्षणमाह—युद्धे इति । युद्धे परशस्त्राणां च्यावनपातनवि-
धानोचिता गात्रवर्तना न्यायीत्युच्यते । स चतुर्विधः । भारतः, सात्त्वतः,
वार्षगण्यः, कैशिक इति ॥ -११२८, ११३० ॥

(क०) प्रविचाराणां सामान्यस्वरूपमाह—याः प्रकृष्टा इत्यादि ।
शस्त्रमोक्षणगोचरा इति । स्वदेहरक्षणे कर्तव्येऽपि प्रविचाराणां शस्त्रमोक्षण-
प्रवणत्वमेवेत्यर्थः ॥ ११३१ ॥

फलकं वामहस्तेन खड्गं दक्षिणपाणिना ।
 गृहीत्वाप्रसृतौ कृत्वा करावाक्षिप्य तौ ततः ॥ ११३२ ॥
 फलकभ्रामणं कृत्वा पार्श्वयोरुभयोरथ ।
 परितः शिरसः शस्त्रं भ्रामयित्वा तु खड्गिनम् ॥ ११३३ ॥
 करं शिरःकपोलान्तरद्वेष्ट्य मणिवन्धतः ।
 फलकस्याप्युपशिरः परिभ्रमणमाचरेत् ॥ ११३४ ॥
 विधिरेष सकृत्कट्यां शस्त्रपातश्च भारते ।
 सात्त्वतेऽप्येवमेव स्याच्छस्त्रभ्रान्तिस्तु पृष्ठतः ॥ ११३५ ॥
 कर्तव्यः शस्त्रपातस्तु पादयोरिह तद्विदा ।
 प्रविचारः सात्त्वतवद्वार्षगण्ये विधीयते ॥ ११३६ ॥
 पृष्ठतः फलकस्यापि भ्रमणं स्यादिहाधिकम् ।
 स्कन्धे वक्षसि वा शस्त्रहस्तस्योद्वेष्टनं तथा ॥ ११३७ ॥

(सु०) तेषां लक्षणसिद्ध्यर्थं प्रविचारः कथ्यते—या इति । प्रकृष्टा
 विचित्राश्च गतयः प्रविचारा इत्युच्यन्ते । वामहस्तेन फलकं, दक्षिणहस्तेन खड्गं
 गृहीत्वा प्रसृतौ हस्तौ कृत्वा, तौ आक्षिप्य पार्श्वद्वयेऽपि फलकभ्रमणं कृत्वा
 शिरसः परितः शस्त्रं भ्रामयित्वा, खड्गिनं हस्तं शिरः कपोलान्ते उद्वेष्ट्य
 शिरःसमीपे फलकभ्रमणं कुर्यात् । एष विधिः भारते कट्यां सकृच्छस्त्रपातश्च
 भवति । सात्त्वतेऽप्येवमेव । शस्त्रभ्रमणं तु पृष्ठतः कार्यम् । पादयोः शस्त्रपातः,
 पृष्ठतः फलकभ्रमणं च वार्षगण्ये कार्यम् । स्कन्धे वक्षसि वा शस्त्रं, शस्त्रोद्वेष्टनं
 च वक्षःस्थले प्रहारः पातनं चात्र भवति । कैशिके तु भारतवत्सर्वम् ।
 शस्त्रपातस्तु शिरसि बोध्यः ॥ ११३१ ॥

(क०) सप्रविचाराणां भारतादीनां पृथक्स्वरूपमाह—फलकं
 वामहस्तेनेत्यादिना ॥ ११३२—११३८ ॥

प्रहारपातनं चात्र वक्षस्थलगतं मतम् ।

कैशिके स्याद्भारतवच्छस्त्रपातस्तु मूर्धनि ॥ ११३८ ॥

शक्तिकुन्तादिशस्त्राणि धनुर्वज्रादिकान्यपि ।

न्यायेष्वेषु प्रयुञ्जीत सौष्ठवेन समन्वितः ॥ ११३९ ॥

प्रविचारा न शोभन्ते सौष्ठवेन विना कृताः ।

संज्ञामात्रेण कर्तव्यः प्रहारो न तु वास्तवः ॥ ११४० ॥

मायेन्द्रजालैरथवा प्रहारमिव दर्शयेत् ।

एते न्यायाः प्रयोक्तव्याश्चारीभिः शस्त्रमोक्षणे ॥ ११४१ ॥

इति न्यायलक्षणम् ।

चारीचयविशेषः प्राङ्मण्डलं प्रतिपादितम् ।

तद्भेदानधुना धीमान्वक्ति श्रीकरणाग्रणीः ॥ ११४२ ॥

(क०) नर्तने न्यायोपयोगमाह—शक्तिकुन्तेत्यादि । प्रहारमिवेति ।

यथा वास्तवः प्रहारो न भवति, तथा कुर्यादित्यर्थः ॥ ११३९—११४१ ॥

इति न्यायलक्षणम् ।

(सु०) न्यायोपयोगमाह—शक्तीति । अत्र न्यायेषु शक्तिकुन्तधनुर्व-

ज्रादीनि ससौष्ठवः सन् प्रयुञ्जीत । संज्ञामात्रेण प्रहारः कार्यः । न तु वास्तवः ।

अथवा मायेन्द्रजालैः प्रहारमिव दर्शयेत् । एते न्यायाः चारिभिः शस्त्रमोक्षणे प्रयोज्याः ॥ ११३९—११४१ ॥

इति न्यायलक्षणम् ।

(क०) उद्देशक्रमेण मण्डलानि लक्षयिष्यन् पूर्वं चारीणां लक्षणावसरे

प्रसङ्गादुक्तं तत्सामान्यलक्षणमनुस्मारयति—चारीचयविशेषः प्राङ्मण्डलं

प्रतिपादितमिति । चारीचयविशेष इति । मण्डलखण्डकैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वेति

पूर्वोक्तमित्यर्थः ॥ ११४२ ॥

भ्रमरास्कन्दितावर्तशकटास्यानि चाङ्कितम् ।
 समोत्सरितमध्यर्धमेडकाक्रीडितं ततः ॥ ११४३ ॥
 पिष्टकुट्टं चाषगतं भौमानीति दशावदन् ।
 अतिक्रान्तं दण्डपादं क्रान्तं ललितसंचरम् ॥ ११४४ ॥
 सूचीविद्धं वामविद्धं विचित्रं विहृतं ततः ।
 अलातं ललितं चेति व्योमजानि दशाब्रुवन् ॥ ११४५ ॥
 भौमाकाशिकचारीणां प्राचुर्यान्मण्डलान्यपि ।
 भौमान्याकाशिकानीति व्यपदेशं प्रपदिरे ॥ ११४६ ॥
 एतेषां विनियोगश्च विज्ञेयः शस्त्रमोक्षणे ।
 नभोभवानां प्राधान्यं बोध्यं युद्धपरिक्रमे ॥ ११४७ ॥
 चारीनाम्नात्र चरणं वक्ष्ये चारीविवक्षया ।
 चारीणां न्यूनताधिक्यं न दूषयति मण्डलम् ॥ ११४८ ॥

(सु०) प्रसङ्गान्मण्डलानां सामान्यलक्षणमाह—चारीति । चारीविशेषो मण्डलम् । तद् द्विविधम् । भौमम्, आकाशिकं चेति । भौमचारीप्राधान्ये भौमम्; आकाशचारीप्राचुर्ये आकाशिकम् । तत्र भौमस्य भेदानाह—भ्रमरेति । भ्रमरम्, आस्कन्दितावर्तम्, शकटास्यम्, अङ्कितम्, समोत्सरितम्, अर्धधम्, एडकाक्रीडितम्, पिष्टकुट्टम्, चाषगतमिति भौममण्डलानि दश ॥ ११४२ ॥

(क०) तद्भेदान्दर्शयति—भ्रमरास्कन्दितेत्यादि । चारीणां न्यूनताधिक्यं न दूषयति मण्डलमिति । चतुरश्रव्यश्रमतिष्वङ्गहारेषु करणानां न्यूनताधिक्यमिव चतुरश्रव्यश्रमानमितेषु मण्डलेषु चारीणां न्यूनताधिक्यं मण्डलं न दूषयति । तत्राङ्गहारेषु यथा रेचकैः पूरणं कृतं तथात्रापि मण्डलेषु पादरेचकैश्चारीसंख्यापूरणे कृते सति चतुरश्रव्यश्रत्वयोः संभवाददोष इति भावः ॥ -११४३-११४८- ॥

दक्षिणो जनितो वामः स्पन्दितो दक्षिणः पुनः ।

शकटास्यस्तथा वामः पादोऽवस्पन्दितोऽथवा ॥ ११४९ ॥

दक्षिणो भ्रमरो वामः स्पन्दितोऽङ्घ्रिरथेतः ।

शकटास्यश्चाषगतिर्वामोऽन्यो भ्रमरो भवेत् ॥ ११५० ॥

वामान्ते स्पन्दितो यत्र तदूचे भ्रमरं बुधैः ।

इति भ्रमरम् (१)

दक्षिणो भ्रमरो वामोऽङ्घ्रितोऽथ भ्रमरः स चेत् ॥ ११५१ ॥

दक्षिणः शकटास्यत्वं गत्वोरुद्वृत्ततां गतः ।

(सु०) आकाशिकस्य भेदानाह—अतिक्रान्तमिति । अतिक्रान्तम्, दण्डपादम्, क्रान्तम्, ललितसंचरम्, सूचीविद्धम्, वामविद्धम्, विचित्रम्, विह्वतम्, अलातम्, ललितमित्याकाशमण्डलानि दश । भौमाकाशिकानां चारीणां प्राचुर्यात् मण्डलान्यपि भौमानि आकाशिकानीति व्यपदेशः । एतेषां विनियोगस्तु शस्त्रमोक्षणे विज्ञेयः । नभोभवानां युद्धपरिक्रमे प्राधान्यं बोध्यम्, मण्डलचारीणां न्यूनताधिक्ये न दोषाय ॥ ११४३-११४८ ॥

(क०) मण्डलानां लक्षणानि ग्रन्थत एव सुबोधानि ॥ -११४९, ११७३ ॥

(सु०) भ्रमरं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणः पादो जनितः, वामपादः स्पन्दितः, पुनर्दक्षिणः शकटास्यः, पुनर्वामः स्पन्दितः; यद्वा दक्षिणो भ्रमरः, वामः स्पन्दितः, पुनर्दक्षिणः शकटास्यः, पुनर्वामः चाषगतिः, पुनर्दक्षिणो भ्रमरः, अन्ते वामः स्पन्दितश्च भवति; तद् भ्रमरमित्युच्यते ॥ ॥ ११४९-११५०- ॥

इति भ्रमरम् (१)

(सु०) आस्कन्दितं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणो भ्रमरः,

वामो वाध्यर्धिकीभूय भ्रमरौ दक्षिणः पुनः ॥ ११५२ ॥

स्पन्दितः शकटास्यस्तु वामस्तेनैव भूतलम् ।

स्फुटमास्फोटितं धीरैस्तदास्कन्दितमिष्यते ॥ ११५३ ॥

इत्यास्कन्दितम् (२)

दक्षिणो जनितो वामः स्थितावर्तस्ततः परम् ।

शकटास्यो भवेत्पश्चादेडकाक्रीडिताह्वयः ॥ ११५४ ॥

ऊरुद्वृत्तोऽङ्घ्रितश्चारीं जनितामाश्रितस्ततः ।

समोत्सरितमचल्लिः क्रमादङ्घ्रिस्तु दक्षिणः ॥ ११५५ ॥

शकटास्यः क्रमादूरुद्वृत्तश्च स्यादथेततः ।

पादश्चाषगतिर्द्विः स्यादक्षिणः स्पन्दितस्ततः ॥ ११५६ ॥

वामाङ्घ्रिः शकटास्यः स्यादन्योऽङ्घ्रिर्भ्रमरस्ततः ।

वामश्चाषगतिर्यत्र तदावर्तमवादिषुः ॥ ११५७ ॥

इत्यावर्तम् (३)

वामोऽङ्घ्रितः, पुनर्दक्षिणो भ्रमरः, वामोऽङ्घ्रितः, पुनर्दक्षिणः शकटास्यतामासाद्य, ऊरुद्वृत्तः, वामोऽध्यर्धकतामासाद्य भ्रमरः, पुनर्दक्षिणः स्पन्दितः, वामस्तु शकटास्यश्च भवति । अन्ते तादृशेन वामहस्तेन भूतलं स्फुटमास्फोड्यते च ; तद् आस्कन्दितम् ॥ -११५१-११५३ ॥

इत्यास्कन्दितम् (२)

(सु०) आवर्तं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणो जनितः, वामः स्थितावर्तः, ततः शकटास्यः, तत एडकाक्रीडितः, तत ऊरुद्वृत्तः, ततोऽङ्घ्रितः, ततो जनितश्च भवति । पुनर्दक्षिणः क्रमात् शकटास्यः, ऊरुद्वृत्तश्च, पुनर्वामः चाषगतिः, पुनर्दक्षिणः द्विःस्पन्दितः, वामः शकटास्यः, पुनर्दक्षिणो द्विर्भ्रमरः, वामश्चाषगतिश्च भवति ; तद् आवर्तम् ॥ ११५४-११५७-॥

इत्यावर्तम् (३)

जनितः सप्तपूर्वोक्तस्थितावर्तादिभेदभाक् ।
क्रमेण शकटास्यश्च दक्षिणः स्पन्दितोऽपरः ॥ ११५८ ॥
शकटास्यस्ततः पादो यावन्मण्डलपूरणम् ।
क्रमेण यत्र तज्ज्ञेयं शकटास्याभिधं बुधैः ॥ ११५९ ॥

इति शकटास्यम् (४)

उद्धटितस्ततो बद्धः समोत्सरितपूर्वकः ।
मत्तल्लिरर्धमत्तल्लिरपक्रान्तश्च दक्षिणः ॥ ११६० ॥
उद्धृतो विद्युद्भ्रान्तश्च भ्रमरः स्पन्दितश्च सः ।
वामस्तु शकटास्योऽन्यो द्विः स्याच्चाषगतिस्ततः ॥ ११६१ ॥
वामोऽङ्कितोऽध्यर्धिकस्तु क्रमाच्चाषगतिः परः ।
समोत्सरितमत्तल्लिर्मत्तल्लिर्भ्रमरस्तथा ॥ ११६२ ॥
वामोऽथ स्पन्दितो भूत्वा भूतटास्फोटनं यदा ।
कुरुते पक्षिणः प्राहुरङ्कितं मण्डलं तदा ॥ ११६३ ॥

इत्यङ्कितम् (५)

(सु०) शकटास्यं लक्षयति—जनित इति । यत्र प्रथममावर्तोक्ताः सप्त भेदाः, ततो दक्षिणः शकटास्यः, वामः स्पन्दितः, पुनर्दक्षिणः शकटास्यो भवति ; तत् शकटास्यम् ॥ ११५८, ११५९- ॥

इति शकटास्यम् (४)

(सु०) अङ्कितं लक्षयति—उद्धटित इति । यत्र दक्षिण उद्धटितः, ततो बद्धः, समोत्सरितमत्तल्लिः, अर्धमत्तल्लिः, अपक्रान्तश्च, वामस्तु उद्धृतः, विद्युद्भ्रान्तः, भ्रमरः, स्पन्दितश्च ; पुनर्दक्षिणः शकटास्यः, चाषगतिश्च, वामोऽङ्कितः अध्यर्धकश्च, पुनर्दक्षिणश्चाषगतिः, समोत्सरितमत्तल्लिः, मत्तल्लिः, भ्रमरश्च भवति ।

स्थानेन समपादेन स्थित्वा हस्तौ प्रसारयेत् ।
 निरन्तरावूर्ध्वकृतावावेष्ट्योद्वेष्ट्य च क्षिपेत् ॥ ११६४ ॥
 कटीतटे ततः पादौ भ्रामयेदक्षिणे ततः ।
 क्रमेणानन्तरं वामं पुनः पादं प्रसारयेत् ॥ ११६५ ॥
 एवं भ्रान्त्वा क्रमाद्यत्र मण्डलभ्रमणं भवेत् ।
 चतुर्दिकं तदारुण्यातं समोत्सरितसंज्ञकम् ॥ ११६६ ॥

इति समोत्सरितम् (६)

क्रमेण दक्षिणः पादो जनितः स्पन्दितस्ततः ।
 अङ्कितोक्ता चतुर्भेदा वामस्याध्यर्थिकादिका ॥ ११६७ ॥
 दक्षिणः शकटास्यः स्याद्यत्रान्ते दिक्चतुष्टये ।
 मण्डलभ्रमणं तत्तु नियुद्धेऽध्यर्थमण्डलम् ॥ ११६८ ॥

इत्यध्यर्थम् (७)

वामः स्पन्दितो भूत्वा, भूतटे आस्फोटनं कुरुते; तत् अङ्कितम् ॥ ११६०—
 ११६३ ॥

इत्यङ्कितम् (५)

(सु०) समोत्सरितं लक्षयति—स्थानेनेति । यत्र समपादस्थानेन स्थित्वा हस्तौ प्रसार्य, ऊर्ध्वकल्पितौ निरन्तरौ तावेव आवेष्ट्य, उद्वेष्ट्य च कटीतटे क्षिप्येते; ततो दक्षिणवामपादौ क्रमेण भ्राम्येते, ततो वामपादः प्रसार्यते । एवं भ्रान्त्वा दिक्चतुष्टयेऽपि मण्डलभ्रमणं क्रियते; तत् समोत्सरितम् ॥ ११६४—११६६ ॥

इति समोत्सरितम् (६)

(सु०) अध्यर्थं लक्षयति—क्रमेणेति । यत्र दक्षिणो जनितः, स्पन्दितश्च,

भूयुक्तैश्चरणैः सूचीविद्धं करणमाश्रितैः ।

सूचीविद्धाभिधे चार्यावेढकाक्रीडितैरथ ॥ ११६९ ॥

संपूर्णैर्भ्रमरैः प्राग्वत्सूचीविद्धाङ्घ्रिभिस्ततः ।

आक्षिप्तैर्मण्डलभ्रान्त्या दिक्चतुष्टययुक्तया ॥ ११७० ॥

अन्ते रचितया द्वेयमेढकाक्रीडिताद्वयम् ।

इत्येढकाक्रीडितम् (८)

सूची दक्षिणपादः स्याद्वामोऽपक्रान्तकस्ततः ॥ ११७१ ॥

सव्यवामौ च बहुशो भुजङ्गत्रासितौ क्रमात् ।

यत्रान्ते मण्डलभ्रान्तिः पिष्टकुट्टं तदुच्यते ॥ ११७२ ॥

इति पिष्टकुट्टम् (९)

वामस्तु अङ्घ्रितोक्तमेदचतुष्टयवान्, अध्यर्धकश्च । पुनर्दक्षिणः शकटास्यः, अन्ते दिक्चतुष्टये मण्डलभ्रमणं च भवति ; तद् अध्यर्धम् ॥ ११६७, ११६८ ॥

इत्यध्यर्धम् (७)

(सु०) एढकाक्रीडितं लक्षयति—भूयुक्तैरिति । यत्र भूसङ्गतैः सूची-विद्धकरणसङ्गतैः सूचीविद्धाख्यचार्याश्रितैः, ततो भ्रमरैः पादैः, तत आक्षिप्तैः सूचीविद्धाङ्घ्रिभिश्च दिक्चतुष्टये मण्डलभ्रान्त्या अन्ते रेचितया च एढकाक्रीडितं भवति ॥ ११६९, ११७०- ॥

इत्येढकाक्रीडितम् (८)

(सु०) पिष्टकुट्टं लक्षयति—सूचीति । यत्र दक्षिणः सूची, वामोऽप-क्रान्तः, सव्यवामौ क्रमाद् बहुशो भुजङ्गत्रासितौ, अन्ते मण्डलभ्रान्तिश्च भवति ; तत् पिष्टकुट्टम् ॥ -११७१, ११७२ ॥

इति पिष्टकुट्टम् (९)

चरणैश्चाषगतिभिः समस्तैर्मण्डलभ्रमम् ।

अन्ते दधच्चाषगतं नियुद्धविषयं भवेत् ॥ ११७३ ॥

इति चाषगतम् (१०)

इति दश भौममण्डलानि ।

जनितः शकटास्यश्च दक्षिणश्चरणः क्रमात् ।

वामोऽलातो दक्षिणस्तु पार्श्वक्रान्तस्ततोऽपरः ॥ ११७४ ॥

सूची स एव भ्रमर उद्धृतो दक्षिणो भवेत् ।

वामस्त्वलातको वाङ्घ्री छिन्नाख्यकरणाश्रयौ ॥ ११७५ ॥

बाह्यभ्रमरकं यत्र वामाङ्गं रेचितं भवेत् ।

अतिक्रान्तस्ततो वामो दण्डपादस्तु दक्षिणः ॥ ११७६ ॥

अवोचत्तदतिक्रान्तं मण्डलं शंकरप्रियः ।

इत्यतिक्रान्तम् (१)

(सु०) चाषगतं लक्षयति—चरणैरिति । यत्र समस्तैः चरणैः चाषगतिभिः मण्डलभ्रमणम्, अन्ते चाषगतिश्च भवति; तत् चाषगतम् । तच्च मुष्टियुद्धे प्रयोज्यम् ॥ ११७३ ॥

इति चाषगतम् (१०)

इति दश भौममण्डलानि ।

(सु०) आकाशिकेष्वतिक्रान्तं लक्षयति—जनित इति । यत्र दक्षिण-श्चरणः क्रमात् जनितः, शकटास्यश्च, वामोऽलातः, दक्षिणस्तु पार्श्वक्रान्तः, ततः सूची भ्रमर उद्धृतश्च, ततो वामोऽलातः, पादद्वयं छिन्नाख्यकरणयुक्तं वामाङ्गकृतं बाह्यभ्रमरकं यत्र रेचितं भवेत् । ततः वामोऽतिक्रान्तः, दक्षिणस्तु दण्डपादो भवति; तद् अतिक्रान्तम् ॥ ११७४-११७६- ॥

इत्यतिक्रान्तम् (१)

दक्षिणो जनितो भूत्वा दण्डपादो भवेदथ ॥ ११७७ ॥
 सूची च भ्रमरो वाम उद्वृत्तो दक्षिणस्ततः ।
 अलातो वामचरणः पार्श्वक्रान्तस्तु दक्षिणः ॥ ११७८ ॥
 भुजङ्गत्रासितश्चासौ वामोऽतिक्रान्ततां गतः ।
 दक्षिणो दण्डपादोऽथ सूची च भ्रमरोऽपरः ॥ ११७९ ॥
 यत्र तदण्डपादाख्यं मण्डलं भणितं बुधैः ।

इति दण्डपादम् (२)

दक्षिणः सूच्यपक्रान्तो वामोऽङ्घ्रिर्दक्षिणस्ततः ॥ ११८० ॥
 पार्श्वक्रान्तस्तथा वामः समन्तान्मण्डलभ्रमः ।
 सूची यत्राय वामः स्यादपक्रान्तस्तु दक्षिणः ॥ ११८१ ॥
 तदुक्तं कृतिभिः क्रान्तं स्वभावगतिगोचरम् ।

इति क्रान्तम् (३)

(सु०) दण्डपादं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणो जनितो भूत्वा,
 ततः दण्डपादो भवेत्, वामः सूची भ्रमरश्च भवति । ततो दक्षिण उद्वृत्तो
 भवति । वामोऽलातः, दक्षिणस्तु पार्श्वक्रान्तः, भुजङ्गत्रासितश्च । पुनर्वामोऽति-
 क्रान्तः, दक्षिणो दण्डपादः, अथ अपरो वामः सूची, भ्रमरश्च भवति ; तद्
 दण्डपादम् ॥ -११७७-११७९- ॥

इति दण्डपादम् (२)

(सु०) क्रान्तं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणः सूची, वामोऽप-
 क्रान्तः, पुनर्दक्षिणः पार्श्वक्रान्तः, वामः समन्तात् मण्डलभ्रान्तः, सूची वा,
 पुनर्दक्षिणोऽपक्रान्तश्च भवति ; तद् स्वभावगतिगोचरं क्रान्तं भवति ॥
 ॥ -११८०-११८१- ॥

इति क्रान्तम् (३)

ऊर्ध्वजानुस्तथा सूची दक्षिणश्वरणः क्रमात् ॥ ११८२ ॥
 वामपादस्त्वपक्रान्तः पार्श्वक्रान्तस्तु दक्षिणः ।
 क्रमात्सूची भ्रमरको वामः पादोऽथ दक्षिणः ॥ ११८३ ॥
 पार्श्वक्रान्तस्ततो वामोऽतिक्रान्तो दक्षिणः पुनः ।
 सूच्यपक्रान्तको वामः पार्श्वक्रान्तोऽपरस्ततः ॥ ११८३ ॥
 स्याद्वामाङ्घ्रिरतिक्रान्तश्वरणद्वितीयी ततः ।
 स्याच्छिन्नकरणोक्ता चेद्वामाङ्घ्रिरचितं श्रिता ॥ ११८५ ॥
 बाह्यभ्रमरकं विद्यात्तदा ललितसंचरम् ।

इति ललितसंचरम् (४)

दक्षिणश्वरणः सूची भ्रमरश्च भवेत्ततः ॥ ११८६ ॥
 पार्श्वक्रान्तोऽथ वामाङ्घ्रिरपक्रान्तोऽथ दक्षिणः ।
 सूची वामस्त्वपक्रान्तः पार्श्वक्रान्तस्तु दक्षिणः ॥ ११८७ ॥
 यत्र तन्मण्डलं प्रोक्तं सूचीविद्धं पुरातनैः ।

इति सूचीविद्धम् (५)

(सू०) ललितसंचरं लक्षयति—ऊर्ध्वजानुरिति । यत्र दक्षिण ऊर्ध्व-
 जानुः, सूची च, वामोऽपक्रान्तः, पार्श्वक्रान्तः, वामोऽतिक्रान्तः, पुनर्दक्षिणः
 सूची, अपक्रान्तश्च, वामः पार्श्वक्रान्तः, अतिक्रान्तश्च ; पादद्वये छिन्नकरणं,
 वामपादरचितं बाह्यभ्रमरकं च वर्तते ; तत् ललितसंचरम् ॥-११८२-११८५-॥

इति ललितसंचरम् (४)

(सु०) सूचीविद्धं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणः सूची
 भ्रमरश्च ; वामः पार्श्वक्रान्तः अपक्रान्तश्च ; अथ दक्षिणः सूची, वामस्त्वपक्रान्तः,
 दक्षिणस्तु पार्श्वक्रान्तो भवति ; तत् सूचीविद्धम् ॥ -११८६, ११८७- ॥

इति सूचीविद्धम् (५)

सूच्यङ्घ्रिर्दक्षिणो वामस्त्वपक्रान्तोऽथ दक्षिणः ॥ ११८८ ॥

दण्डपादोऽथ सूची स्याद्वामो भ्रमरकश्च सः ।

पार्श्वक्रान्तो दक्षिणः स्यादाक्षिप्तो दक्षिणेतरः ॥ ११८९ ॥

दक्षिणो दण्डपादः स्यादूरुद्वृत्तोऽप्यनन्तरम् ।

वामश्च सूची भ्रमरोऽलातश्च क्रमतो भवेत् ॥ ११९० ॥

पार्श्वक्रान्तो दक्षिणः स्याद्वामोऽतिक्रान्तां व्रजेत् ।

यत्र तद्वामविद्धाख्यं मण्डलं शार्ङ्गिणोदितम् ॥ ११९१ ॥

इति वामविद्धम् (६)

दक्षिणो जनितोऽङ्घ्रिः स्यादूरुद्वृत्तश्च विच्यवः ।

ततः सप्तस्थितावर्तोद्वयावर्तोदितभेदभाक् ॥ ११९२ ॥

स्पन्दितो वामपादः स्यात्पार्श्वक्रान्तस्तु दक्षिणः ।

भुजङ्गत्रासितो वामोऽतिक्रान्तो दक्षिणो भवेत् ॥ ११९३ ॥

उद्वृत्तश्चैव वामस्तु स्यादलातोऽथ दक्षिणः ।

पार्श्वक्रान्तोऽथवा सूची वामो विक्षिप्य दक्षिणम् ॥ ११९४ ॥

वामोऽपक्रान्तां नीतस्तद्विचित्रं प्रचक्षते ।

इति विचित्रम् (७)

(सु०) वामविद्धं लक्षयति—सूच्यङ्घ्रिरिति । यत्र दक्षिणः सूची, वामस्त्वपक्रान्तः, दक्षिणो दण्डपादः, वामः सूची भ्रमरश्च, दक्षिणः पार्श्वक्रान्तः, वाम आक्षिप्तः, दक्षिणो दण्डपादः ऊरुद्वृत्तश्च, वामः सूची, भ्रमरोऽलातश्च क्रमशो भवेत् । पुनर्दक्षिणः पार्श्वक्रान्तः, वामोऽतिक्रान्तो भवति ; तद् वामविद्धम् ॥ -११८८-११९१ ॥

इति वामविद्धम् (६)

(सु०) विचित्रं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणश्चरणो जनितः,

दक्षिणो विच्यवो भूत्वा स्पन्दितोऽनन्तरं भवेत् ॥ ११९५ ॥

पार्श्वक्रान्तो दक्षिणोऽङ्घ्रिर्वामस्तु स्पन्दितस्ततः ।

उद्वृत्तो दक्षिणोऽलातो वामः सूची तु दक्षिणः ॥ ११९६ ॥

पार्श्वक्रान्तस्तु वामाङ्घ्रिराक्षिप्तीभूय दक्षिणः ।

भ्रान्त्वा सव्यापसव्येन दण्डपादत्वमागतः ॥ ११९७ ॥

वामः क्रमेण सूची स्याद् भ्रमरश्चाथ दक्षिणः ।

भुजङ्गत्रासितो वामोऽतिक्रान्तो विहृताभिधे ॥ ११९८ ॥

इति विहृतम् (८)

सूचीं च भ्रमरीं वामे क्रमात्पादे तु दक्षिणे ।

भुजङ्गत्रासितां चारीमलातां दक्षिणेतरे ॥ ११९९ ॥

ऊरुद्वृत्तः विच्यवश्च । ततः स्थितावर्तोद्वयावर्तोक्तभेदसप्तकम् । ततो वामः, स्पन्दितः, दक्षिणः पार्श्वक्रान्तः, वामो भुजङ्गत्रासितः, दक्षिणोऽतिक्रान्तः, वाम उद्वृत्तः, दक्षिणोऽलातः, पुनर्वामः पार्श्वक्रान्तः सूची दक्षिणं विक्षिप्य अपक्रान्तत्वं नीयते ; तद् विचित्रम् ॥ ११९२-११९४- ॥

इति विचित्रम् (७)

(सु०) विहृतं लक्षयति—दक्षिण इति । यत्र दक्षिणो विच्यवो भूत्वा, अनन्तरं स्पन्दितः पार्श्वक्रान्तश्च । ततो वामः स्पन्दितः, उद्वृत्तश्च ; ततो दक्षिणोऽलातः, वामः सूची, पुनर्दक्षिणः पार्श्वक्रान्तः, वाम आक्षिप्तः, दक्षिणः सव्यापसव्येन भ्रान्त्वा दण्डपादत्वं गच्छति ; पुनर्वामः क्रमेण सूची भ्रमरश्च ; दक्षिणो भुजङ्गत्रासितः, वामोऽतिक्रान्तश्च भवति ; तद् विहृतम् ॥ ॥ -११९५-११९८ ॥

इति विहृतम् (८)

(सु०) अलातं लक्षयति—सूचीमिति । यत्र वामः सूचीं भ्रमरीं कुरुते,

षट्कृत्वः सप्तकृत्वो वा कृत्वा चारीरिमाः क्रमात् ।
 चतुर्दिक्षु द्रुतं भ्रान्त्वा परिमण्डलिताकृतिः ॥ १२०० ॥
 दक्षिणाङ्घ्रावपक्रान्तां वामे तु चरणे क्रमात् ।
 अतिक्रान्ता भ्रमरिके ललितैश्चरणक्रमैः ॥ १२०१ ॥
 करोति यत्र तत्पादुरलातं मण्डलं बुधाः ।

इत्यलातम् (९)

सूच्यङ्घ्रिर्दक्षिणो वामस्त्वपक्रान्तोऽथ दक्षिणः ॥ १२०२ ॥
 पार्श्वक्रान्तत्वमागत्य भुजङ्गत्रासितो भवेत् ।
 अतिक्रान्तस्तु वामाङ्घ्रिराक्षिप्तो दक्षिणस्ततः ॥ १२०३ ॥
 वामोऽतिक्रान्ततां नीत्वोरूढवृत्तोऽलातकः क्रमात् ।
 पार्श्वक्रान्तो दक्षिणः स्याद्वामः सूच्यथ दक्षिणः ॥ १२०४ ॥
 अपक्रान्तो वामपादस्त्वतिक्रान्तीकृतो यदा ।
 ललितं संचरेदुक्तं ललितं मण्डलं तदा ॥ १२०५ ॥

इति ललितम् (१०)

इति दशाकाशिकमण्डलानि ।

इति मण्डललक्षणम् ।

दक्षिणो भुजङ्गत्रासितामलातां च चारीं तनुते । एवं षट्कृत्वो वा, सप्तकृत्वो वा
 एताश्चारीः कृत्वा, ततो दिक्चतुष्टये द्रुतं भ्रान्त्वा, परिमण्डलिताकारः
 दक्षिणोऽपक्रान्तां चारीं, ततो वामोऽतिक्रान्तां भ्रमरीं च तनुते; तद्
 अलातम् ॥ ११९९-१२०१-॥

इत्यलातम् (९)

(सु०) ललितं लक्षयति—सूच्यङ्घ्रिरिति । यत्र दक्षिणः सूची, वामो-
 ऽपक्रान्तः, पुनर्दक्षिणः पार्श्वक्रान्तो भुजङ्गत्रासितश्च; वामोऽतिक्रान्तः, ततो

चालिश्चालिवडश्चाथ लढिः सूकमुरोङ्गणम् ।
 धसकश्चाङ्गहारः स्यादोयारो विहसी मनः ॥ १२०६ ॥
 लास्याङ्गानि दशैतानि देश्यां देशीविदो विदुः ।
 कोमलं सविलासं च मधुरं ताललास्ययुक् ॥ १२०७ ॥
 नातिद्रुतं नातिमन्दं त्र्यश्रताप्रचुरं तथा ।
 पादोरुकटिबाहूनां यौगपद्येन चालनम् ॥ १२०८ ॥

इति चालिः (१)

दक्षिण आक्षिप्तः, वामोऽतिक्रान्तः, ऊरुद्वृत्तः, अलातश्च; ततो दक्षिणः
 पार्श्वक्रान्तः, वामः सूची, पुनर्दक्षिणोऽपक्रान्तः, वामोऽतिक्रान्तश्च भवति;
 तत् ललितम् ॥ -१२०२—१२०५ ॥

इति ललितम् (१०)

इति दशाकाशिकमण्डलानि ।

इति मण्डललक्षणम् ।

(क०) अथ देशीलास्याङ्गानि लक्षयितुं तान्युद्दिशति—चालि-
 श्चालिवड इत्यादि । चालिवडस्य लक्षणांशे—सांमुख्यप्रायेति ।
 मध्यलयत्र्यश्रताभ्यां प्रचुरो भवति । इतरत्तु द्वयोरपि समानमित्यर्थः
 ॥ १२०६—१२०८ ॥

इति चालिः (१)

(सु०) अथ लास्याङ्गानि लक्षयति—चालिरिति । चाल्यादीनि दश
 लास्याङ्गानि भवन्ति । यथा—चालिः, चालिवडः, लढिः, सूकम्, उरोङ्गणम्,
 धसकः, अङ्गहारः ओयारः, विहसी, मन इति । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—
 कोमलमिति । यत्र कोमलं सविलासतालसाम्ययुक्तं मधुरं नातिद्रुतं नातिमन्दं
 त्र्यश्रताप्रचुरं, यौगपद्येन पादोरुकटिबाहुचलनं क्रियते, सा चालिः ॥
 ॥ १२०६—१२०८ ॥

इति चालिः (१)

चालिः सा शैध्यसांमुख्यप्राया चालिवडो भवेत् ।

इति चालिवडः (२)

सुकुमारं तिरश्चीनं विलासरसिकं च यत् ॥ १२०९ ॥

युगपत्कटिबाहूनां चालनं सा लढिर्मतः ।

इति लढिः (३)

कर्णयोर्हावबहुलं लसल्लीलावतंसयोः ॥ १२१० ॥

विलम्बेनाविलम्बेन सूकं तल्लयचालनम् ।

इति सूकम् (४)

(सु०) चालिवडं लक्षयति—सेति । शीघ्रसांमुख्यप्राया सा चालिरेव चालिवडः ॥ -१२०८ ॥

इति चालिवडः (२)

(क०) लढिलक्षणे—कटिबाहूनामिति । कटिश्च बाहू च कटिबाहव इति बहुप्रकृतिको द्वन्द्वः । प्रतिपार्श्वं कटिबाहोरेव चालनं लढिरित्यर्थः ॥ -१२०९, १२०९- ॥

इति लढिः (३)

(सु०) लढिं लक्षयति—सुकुमारमिति । सुकुमारं तिरश्चीनं यद् विलासरसिकं युगपत् कटिबाहूनां चालनं क्रियते ; सा लढिः ॥ -१२०९, १२०९- ॥

इति लढिः (३)

(क०) सूकलक्षणे—हावबहुलमिति । हावो नाम स्त्रीणां विलासविशेषः । यथोक्तं भावप्रकाशे—

“हेलाहेतुः स शृङ्गारो भावार्त्किञ्चित्प्रकर्षवान् ।

सग्रीवारेचको हावो नासाक्षिभ्रूविकासकृत्” ॥ इति ।

तेन हावेन प्रचुरम् ॥ -१२१०, १२११- ॥

इति सूकम् (४)

विलम्बेनाविलम्बेन कुचयोर्भुजशीर्षयोः ॥ १२११ ॥

ललितं चालनं तिर्यक्तज्ज्ञाः प्राहुरोङ्गणम् ।

इत्युरोङ्गणम् (५)

धसकः स्यात्सुललितं स्तनाधोनमनं लयात् ॥ १२१२ ॥

इत्युरोङ्गणम् (६)

(सु०) सूकं लक्षयति—कर्णयोरिति । यत्र लीलावतंसयोः कर्णयोः लसत् हावबहुलं विलम्बेन अविलम्बेन वा लयचालनं क्रियते, तत् सूकम् ॥
॥ -१२१०, १२१०- ॥

इति सूकम् (४)

(सु०) उरोङ्गणं लक्षयति—विलम्बेनेति । यत्र विलम्बाविलम्बाभ्यां कुचयोः भुजशीर्षयोश्च ललितं चालनं तिर्यक् क्रियते; तद् उरोङ्गणम् ॥
॥ -१२११, १२११- ॥

इत्युरोङ्गणम् (५)

(क०) धसकलक्षणे—लयात्स्तनाधोनयनमिति । स्वभावेन स्थिताया नर्तक्यास्ताललयानुकरणक्रमेणैव स्थित्वा ह्रस्वीभाव इत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ -१२११-१२१५ ॥

इति धसकः (६)

इति दश लास्याङ्गानि ।

(सु०) धसकं लक्षयति—धसक इति । सुललितं स्तनाधोनमनं धसक इत्युच्यते ॥ -१२१२ ॥

इति धसकः (६)

सतालललितोपेता क्रमात्कार्थयोर्नतिः ।

धनुर्वदङ्गहारः स्यादिति निःशङ्कभाषितम् ॥ १२१३ ॥

इत्यङ्गहारः (७)

किञ्चित्तिर्यग्धो मूर्ध्नो गतिरोयारको मतः ।

इत्योयारकः (८)

स्मितं स्याद्विहसी यस्तु शृङ्गाररसनिर्भरः ॥ १२१४ ॥

अभ्यस्तादन्य एवातिसूक्ष्मप्रत्यग्रभङ्गिभाक् ।

इति विहसी (९)

गीतादेरागतः स्थायस्तल्लयात्तन्मनो मतम् ॥ १२१५ ॥

इति मनः (१०)

(सु०) अङ्गहारं लक्षयति—सतालेति । यत्र सतालललितोपेता, धनुर्वत् कार्थयोर्नतिः, स अङ्गहारः ॥ १२१३ ॥

इत्यङ्गहारः (७)

(सु०) ओयारकं लक्षयति—किञ्चिदिति । यत्र मूर्ध्नः किञ्चित् तिर्यग्धो-
गतिः क्रियते, स ओयारक इत्युच्यते ॥ १२१३- ॥

इत्योयारकः (८)

(सु०) विहसीं लक्षयति—स्मितमिति । यत्र शृङ्गाररसनिर्भरः, अभ्य-
स्तात् अन्य एव अतिसूक्ष्मप्रत्यग्रभङ्गिभाक् स्मितं क्रियते, सा विहसी ॥
॥ -१२१४, १२१४- ॥

इति विहसी (९)

(सु०) मनो लक्षयति—गीतादेरिति । यत्र गीतादिस्थायलयो वर्तते,
तद् मनः ॥ -१२१५ ॥

इति मनः (१०)

इति दश लास्याङ्गानि ।

शिरोनेत्रकरादीनामङ्गानां मेलने सति ।

कायस्थितिर्मनोनेत्रहारी रेखा प्रकीर्तिता ॥ १२१६ ॥

इति रेखालक्षणम् ।

अथ श्रमविधिः—

विघ्नेशं भारतीं देवीं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ।

रङ्गं तदेवतास्तालवाद्यभाण्डानि च क्रमात् ॥ १२१७ ॥

उपाध्यायं नृत्तकन्याः स्तम्भयुग्मं च दण्डिकाम् ।

कस्तूरिकाचन्दनाद्यैः सामोदैरनुलेपनैः ॥ १२१८ ॥

शुभ्रैः सुगन्धिभिः पुष्पैर्धूपैरारात्रिकैरपि ।

नैवेद्यैर्विविधैर्वस्त्रैस्ताम्बूलैर्बलिभिस्तथा ॥ १२१९ ॥

अर्चयित्वा शुभे लभे प्रारभेत श्रमं सुधीः ।

स्तम्भद्वयोपरिन्यस्येत्कन्या हृदयसंमिताम् ॥ १२२० ॥

हस्तग्राह्यां तिरश्चीनामवष्टम्भाय दण्डिकाम् ।

वसित्वा वसनं शुभ्रं दृढमादाय कञ्चुकम् ॥ १२२१ ॥

(क०) अथ रेखां लक्षयति— शिरोनेत्रेत्यादि । मनांसि नेत्राणि च हरतीत्यर्थे, हरतेरौणादिक इन्प्रत्यये ङीषि हारीति रूपं वेदिव्यम् ॥ १२१६ ॥

इति रेखालक्षणम् ।

(सु०) अथ रेखालक्षणमाह— शिरोनेत्रेति । शिरोनेत्रकराद्यङ्गमेलने मनोनेत्रहारीणि कायस्थितिः, रेखेत्युच्यते ॥ १२१६ ॥

इति रेखालक्षणम् ।

(क०) अथ श्रमविधिमाह— विघ्नेशमित्यादि । अङ्गविवर्तनमिति

दण्डिकालम्बिनी कन्याभ्यस्येदङ्गविवर्तनम् ।

वलनं स्थापनं रेखां तालसाम्यं लयानपि ॥ १२२२ ॥

अङ्गादीनि पुरोक्तानि लास्याङ्गान्यखिलान्यपि ।

गीतवाद्यानुगमनं शिक्षेत सुमनाः सती ॥ १२२३ ॥

इति श्रमविधिः ।

पात्रं स्यान्नर्तनाधारो नृत्ते प्रायेण नर्तकी ।

मुग्धं मध्यं प्रगल्भं च पात्रं त्रेधेति कीर्तितम् ॥ १२२४ ॥

मुग्धादेर्लक्षणं प्रोक्तं यौवनत्रितयं क्रमात् ।

लीनाधरस्तनाभोगकपोलजघनोरुकम् ॥ १२२५ ॥

सामान्यवचनम् ; वलनमित्यादि तु विशेषवचनम् । श्रमो नाम नर्तनशिक्षा-
भ्यास उच्यते ॥ १२१७—१२२३ ॥

इति श्रमविधिः ।

(सु०) अथ श्रमविधिं लक्षयति—विघ्नेशमिति । विघ्नेशं, भारतीं, देवीं,
ब्रह्मविष्णुमहेशान्, रङ्गं, रङ्गदेवताः, तालवाद्यभाण्डानि च, क्रमात्,
उपाध्यायं, नृत्तकन्याः, स्तम्भयुग्मं, दण्डिकां च, कस्तूरिकाचन्दनसुगन्धि-
पुष्पधूपदीपनैवेद्यवस्त्रताम्बूलादिभिः समभ्यर्च्य, शुभे लग्ने श्रमः कार्यः ।
स्तम्भयोरुपरि हृदयसंमितां हस्तप्राद्यां तिरश्चीनां दण्डिकावष्टम्भाय कापि कन्या
न्यस्तव्या । तदण्डिकावलम्बिनी धवलवस्त्रपरिष्कृता, दृढकञ्चुकवती कन्या अङ्ग-
विवर्तनं, वलनं, स्थापनं, रेखां, तालसाम्यं लयान् प्रागुक्तान्यङ्गहारादीनि सक-
लानि लास्याङ्गानि चाभ्यस्येत् । गीतवाद्यानुगमनं च शिक्षेत ॥ १२१७—१२२३ ॥

इति श्रमविधिः ।

(क०) अथ पात्रस्य लक्षणमाह—पात्रं स्यादित्यादि । नर्त-
नाधारो नर्तकी नृत्ते प्रायेण पात्रं स्यादिति योजना । नर्तकस्यापि नर्त-

सुरतं प्रति सोत्साहं प्रथमं यौवनं मतम् ।
 पीनोरुजघनं पीनकठिनोच्चघनस्तनम् ॥ १२२६ ॥
 जीवितं मन्मथस्योक्तं द्वितीयं यौवनं बुधैः ।
 उन्मादकं श्रिया जुष्टं संपन्नरतिनैपुणम् ॥ १२२७ ॥
 कामशिक्षितभावं च तृतीयं यौवनं विदुः ।
 यौवनं तुर्यमप्यस्ति मन्दोत्साहमनो भवेत् ॥ १२२८ ॥
 म्लानाधरस्तनाभोगकपोलजघनं च तत् ।
 अतिप्रगल्भमेतस्माद्यौवनात्पात्रमुच्यते ॥ १२२९ ॥
 तज्जराभिमुखं शोभाविकलं नादृतं बुधैः ।
 बालं मनोविहीनत्वान्न पात्रं तज्ज्ञरञ्जकम् ॥ १२३० ॥
 इति पात्रलक्षणम् ।

नाधारत्वाविशेषेऽपि नृत्तविषये नर्तक्येव लोके पात्रमित्युच्यते ; न नर्तक
 इत्यर्थः । तत्पात्रं मुग्धं मध्यं प्रगल्भं चेति त्रेधा कीर्तितम् । मुग्धादेः पात्रस्य
 लक्षणम्—यौवनत्रितयं क्रमादिति । यौवनानां वक्ष्यमाणानां प्रथमद्वितीय-
 तृतीयानां त्रितयं तस्य क्रमादिति । प्रथमयौवनयुक्तं मुग्धं पात्रम् ।
 द्वितीययौवनयुक्तं मध्यमं पात्रम् । तृतीययौवनयुक्तं प्रगल्भं पात्रमिति
 क्रमः । तेषां यौवनानां लक्षणमाह—लीनेत्यादि ॥ १२२४—१२३० ॥

इति पात्रलक्षणम् ।

(सु०) अथ पात्रं लक्षयति—पात्रमिति । नर्तनाधारः पात्रम्, नृत्तपात्रं
 नर्तकीत्युच्यते । तत्पात्रं त्रिविधम् ; मुग्धम्, मध्यम्, प्रगल्भमिति ।
 मुग्धादिलक्षणं तु यौवनत्रितयक्रमेण बोध्यम् । लीनाधरस्तनाभोगकपोलजघनो-
 र्मुक्तं सुरतं प्रति सोत्साहं यद्यौवनं तत्प्रथमम् । पीनोरुजघनकठिनातिघनस्तन-
 मन्मथजीवितं यद्यौवनं तद् द्वितीयम् । उन्मादकशोभया समन्वितं रतिनैपुण-

सौष्ठवं रूपसंपत्तिश्चारुविस्तीर्णवक्त्रता ।
 विशालनेत्रता बिम्बाधरता कान्तदन्तता ॥ १२३१ ॥
 मुकम्बुकण्ठता वेल्ललतासरलबाहुता ।
 तनुमध्योन्नतिस्थूलनितम्बकरभोस्ता ॥ १२३२ ॥
 अत्युच्चस्वर्वपीनत्वरारहित्यमशिरालता ।
 लावण्यकान्तिमाधुर्यधैर्यौदार्यप्रगल्भता ॥ १२३३ ॥
 गौरता श्यामता वेति तज्ज्ञैः पात्रगुणा मताः ।
 यत्पात्रं गात्रविक्षेपैः कोमलैर्विलसल्लयैः ॥ १२३४ ॥
 सुतालैरक्षराणीव प्रोद्गिरद्गीतवाद्ययोः ।
 गीतवाद्यध्वनिं चाङ्गैश्चाक्षुषत्वमिवानयत् ॥ १२३५ ॥
 सुमनांसीव गात्राणि रसपूर्णतया दधत् ।
 नृत्यत्युत्तममाचष्ट तदिदं करणाग्रणीः ॥ १२३६ ॥

इति पात्रगुणाः ।

संपन्नं कामशिक्षितभावं यद्यौवनं तत् तृतीयम् । सुरते मन्दोत्साहमनस्कं
 म्लानस्तनाभोगकपोलजघनं यद्यौवनं तच्चतुर्थम् ; एतच्च जराभिमुखत्वात् शोभा-
 वैकल्याच्च बुधैर्नादृतम् । बालं मनोविहीनत्वान्न चतुरं जनाय ॥ १२२४-१२३० ॥

इति पात्रलक्षणम् ।

(क०) पात्रगुणानाह—सौष्ठवमित्यादि । सौष्ठवं नामाङ्गानां
 शोभनत्वम् । वैष्णवस्थानकोक्ताङ्गसंनिवेशो वा । रूपसंपत्तिरित्यस्यैव
 प्रपञ्चः, चारुविस्तीर्णवक्त्रतेत्यादि लावण्यादिप्रगल्भतेत्यन्तो बहूनां द्वन्द्वः ।
 गौरता श्यामता वेति । कृष्णता पात्रस्य गुण इत्यर्थः ॥ १२३१—
 १२३६ ॥

इति पात्रगुणाः ।

व्यस्तानां वा समस्तानामेषां दोषो विपर्ययः ।

गुणदोषौ परीक्षेत पात्रे नृत्तस्य सिद्धये ॥ १२३७ ॥

‘मार्कण्डेयपुराणोक्ता नृत्ते पात्रैकतन्त्रता ।

नृत्तेनामलरूपेण सिद्धिर्नान्येन रूपतः ॥ २२३८ ॥

चार्चधिष्ठानवन्तं नृत्तमन्यद्विडम्बना ।

इति पात्रदोषाः ।

(सु०) अथ पात्रगुणान् लक्षयति—सौष्टवमिति । सौष्टवम् ; अङ्गानां शोभावहत्वम् । रूपसंपत्तिः चारुविस्तीर्णं वक्त्रम् । विशालनयनत्वं बिम्ब-फलतुलिताघरत्वं, मञ्जुलरदनत्वं, कम्बुकण्ठत्वं, चलहृत्तोपमबाहुत्वं, तनु-मध्यत्वं, नातिस्थूलनिताम्बत्वं, करमोरुत्वं, अत्युच्चपीनखर्वत्वरहित्यं लावण्यं, कान्तिः, माधुर्यम्, प्रागल्भ्यम्, गौरवम्, श्यामत्वमित्येते पात्रगुणाः । लयविलसितैः सतालैः कोमलैः रसभरितैः गात्रविक्षेपैः यत्पात्रम्, गीतावाद्ययोः अक्षराणि प्रोद्भिदिव भासते तदुत्तमम् ॥ १२३१-१२३६ ॥

इति पात्रगुणाः ।

(क०) पात्रस्य दोषानाह—व्यस्तानां वेत्यादि । व्यस्तानां सौष्टवादिष्वेकैकगुणानां समस्तानां समवेतानामेषां गुणानां विपर्ययोऽभावो दोषः । पात्रस्य गुणदोषपरीक्षणे प्रयोजनमाह—नृत्तस्य सिद्धये इति । नृत्तसिद्धेः पात्रैकतन्त्रतामभियुक्तसंमतिपूर्वकं दर्शयति—मार्कण्डेयेत्यादि । ॥ १२३७, १२३८- ॥

इति पात्रदोषाः ।

(शु०) अथ पात्रदोषान् लक्षयति—व्यवस्तानामिति । एषां व्यत्यासेन वा सामस्त्येन वा अभावो दोषः ॥ १२३७, १२३८- ॥

इति पात्रदोषाः ।

१ मुद्रितमार्कण्डेयपुराणे, अयं विषयो नोपलभ्यते । अपितु विष्णुधर्मोत्तरे तृतीयखण्डे दृश्यते ।

सुनीलस्निग्धविस्तीर्णकेशपाशनिवेशितः ॥ १२३९ ॥
 ग्रन्थिर्विलुलितः पृष्ठे लसत्पुष्पावतंसकः ।
 वेणी वा सरला दीर्घा मुक्ताजालविराजितैः ॥ १२४० ॥
 कलितं कुन्तलैर्भालं कस्तूरीचन्दनादिना ।
 रचितं चित्रकं भाले नेत्रे तन्वञ्जनाश्रिते ॥ १२४१ ॥
 उल्लसत्कान्तिवलये तालपत्रे च कर्णयोः ।
 दन्तपङ्क्तिः प्रभाजालमोज्ज्वलीकृतरङ्गभूः ॥ १२४२ ॥
 कस्तूरीपत्रभङ्गाङ्कौ कपोलौ कण्ठलम्बिता ।
 ताराहारावली स्थूलमौक्तिका स्तनमण्डना ॥ १२४३ ॥
 प्रकोष्ठौ न्यस्तसद्रत्नसौवर्णवलयान्वितौ ।
 अङ्गुल्यो धृतपाणिक्यनीलवज्रादिमुद्रिकाः ॥ १२४४ ॥
 चन्दनैर्धूसरं गात्रं यद्वा कुङ्कुमरञ्जितम् ।
 क्षीरोदकं दुकूलादि वस्त्रं कूर्पासकस्तनुः ॥ १२४५ ॥
 सकञ्चुकं वा चलनं तत्तद्देशानुसारतः ।
 एतन्मण्डनमन्यद्वा पात्रयोः श्यामगौरयोः ॥ १२४६ ॥
 यथोचितं विधातव्यमित्याह शिववल्लभः ।

इति पात्रमण्डनानि ।

(क०) तस्य पात्रस्य मण्डनमाह—सुनीलस्निग्धेत्यादि
 ॥ -१२३९-१२४६- ॥

इति पात्रमण्डनानि ।

(सु०) अथ पात्रमण्डनानि लक्षयति—सुनीलेति । पृष्ठे, सुनीलस्निग्ध-
 विस्तीर्णकेशपाशनिवेशितः पुष्पालङ्कृतः विलुलितः ग्रन्थिः; मुक्तामालामनो-

रूपवान्तृत्तत्त्वज्ञो ग्रहमोक्षविचक्षणः ॥ १२४७ ॥
 समादिग्रहविज्ञश्च वाद्यवादनवेदिता ।
 संप्रदायागतज्ञानो ध्वनिमाधुर्यतत्त्ववित् ॥ १२४८ ॥
 स्थायाधिक्योनताभिज्ञः कुशलो लयतालयोः ।
 वाद्यप्रबन्धनिर्माता मुखवाद्येषु कोविदः ॥ १२४९ ॥
 उद्वेत्ता नूतनभङ्गीनां शिष्यशिक्षणदक्षिणः ।
 प्रतिष्ठापयिता नृत्तगीतवाद्यव्यवस्थितेः ॥ १२५० ॥
 प्रविष्टो हृदयं यद्वा पात्रस्य हृदि च स्वयम् ।
 रञ्जकः स्यादुपाध्यायो नृत्तदोषविधानवित् ॥ १२५१ ॥

इत्युपाध्यायलक्षणम् ।

हारिणी दीर्घा वा सरला वा वेणी ; कुन्तलाधिश्रितं भालम् ; तत्र कस्तूरी-
 चन्दनादिकल्पितं तिलकम् ; अञ्जनमञ्जुलं नयनयुगलम् ; कान्तिसंततिदन्तुर-
 तालपत्रपरिष्कृतं श्रवणयुगलम् ; रङ्गतटप्रोन्मेषघटनापदुप्रभापटलजटिलं दन्त-
 मण्डलम् ; कस्तूरीपत्रभङ्गकोमलौ कपोलौ ; तारावलीपरिष्कृतः कण्ठः ;
 स्थूलमौक्तिकदाम कुचयुगलम् ; लसद्भक्तकनकवलयकमनीयं प्रकोष्ठद्वयम् ; माणिक्य-
 वज्रमौक्तिकमेदुरा अङ्गुलयः ; चन्दनचर्चितं गात्रं, कुङ्कुमरञ्जितं वा ; दुक्क-
 लादिकं वसनम् ; सूक्ष्मं कूर्पासकं वा कञ्चुकं तत्तद्देशानुसारेण अन्यदपि वा
 मण्डनं ज्ञेयम् ॥ -१२३९-१२४६- ॥

इति पात्रमण्डनानि ।

(क०) उपाध्यायस्य लक्षणमाह—रूपवानित्यादि । उपा-
 ध्यायो नामात्र भरतादिशास्त्राभिज्ञोऽभिनयोपदेष्टा विद्वानभिधीयते ।
 नृत्ततत्त्वज्ञ इति । नृत्तस्य गात्रविक्षेपमात्रं त्वित्यादिनोक्तलक्षणस्य तत्त्वं
 स्वरूपं ताललयाश्रयत्वादिकं जानातीति तथोक्तः । ग्रहमोक्षविचक्षण इति ।

गीतवाद्ययोरुपक्रमोपसंहारवेदिता । समादिग्रहविज्ञश्चेति । ताने ये ग्रहा
समातीतानागताश्च त्रय उक्तास्तान्विशेषेण जानातीति तथोक्तः । वाद्य-
वादनवेदितेति । वाद्यानां ततादीनां वादनप्रकाराभिज्ञः । संप्रदायागतेति ।
शास्त्रे तत्र तत्र रहस्येषु गुरुपदेशात्परंपरायातपरिज्ञानवान् । ध्वनिमाधुर्य-
तत्त्वविदिति । ध्वनेर्नादस्य माधुर्यमिति । यस्य रागस्य यस्मिन्नादविशेषे
क्रियमाणे रक्तिविशेषः, तद्ध्वनिमाधुर्यमित्युच्यते ; तस्य तत्त्वं स्वरूपं
वेत्तीति तथोक्तः । स्थायाधिक्योनताभिज्ञ इति । स्थायानां रागावय-
वानामाधिक्यमूनता च तयोरभिज्ञ इति तथोक्तः । लोके यथा करचरणादी-
नामवयवानामाधिक्योनते पश्यत्येवं रागेषु स्थायाधिक्योनते जानातीत्यर्थः ।
कुशलो लयतालयोरिति । लयो द्रुतादिः ; तालश्चच्चत्पुटादिः ; तयोः
कुशलत्वं नाम वर्तमाने लये लयान्तरकरणं, वर्तमाने ताले तालान्तरकरणं
चेत्यर्थः । वाद्यप्रबन्धनिर्मातेति । वाद्यप्रबन्धाः पूर्वोक्ता यस्यादयः ।
तान्निर्मातुं शक्त इत्यर्थः । मुखवाद्येषु कोविद् इति । मुरजादिवाद्योद्भवा
वर्णसंघाता एव तालधरेणोच्चारिता मुखवाद्यानीत्युच्यन्ते, तेषु कोविदः ;
तद्गुणदोषाभिज्ञः । उद्भेत्ता नूतनभङ्गीनामिति । तूर्यत्रयेऽपि नूतनप्रकारा-
णामुत्पादकः । शिष्यशिक्षणदक्षिण इति । शिष्याणां शिक्षणे सम्यग्वि-
द्यासंकमणे समर्थः । नृत्तगीतवाद्यव्यवस्थितेः प्रतिष्ठापयितेति । तेन देशी-
मार्गविभागेन तूर्यत्रयव्यवस्थायाः प्रतिष्ठापकः । प्रविष्टो हृदयमिति ।
पात्रेण स्वहृदयं प्रविष्ट इति कर्मणि निष्ठा । यद्वा पात्रस्य हृदि स्वयं
प्रविष्टश्चेत्यत्र कर्तरि निष्ठा । उपाध्यायपात्रहृदययोरेकभावेन भवितव्य-
मित्यर्थः । अन्यथा सात्त्विकाभिनयोपदेशग्रहणेऽस्य न संभव इति भावः ।
रञ्जक इति । अभिनयोपदेशादिषु शास्त्रगोष्ठीषु च जनचित्ताकर्षकः ।
नृत्तदोषविधानविदिति । नृत्तस्य दोषं विधानं च वेत्तीति तथोक्तः ।
एवंविशिष्ट उपाध्यायः स्यात् । एतदुक्तं भवति—‘उपाध्यायेन

यत्रैको मुखरी श्रेष्ठस्तथा प्रतिमुखर्यपि ।

द्वावावजधरावड्ढावजौ च करटाधरौ ॥ १२५२ ॥

नृत्तादिषु सर्वेषु लक्ष्येषु तत्त्वज्ञेन भवितव्यम् । न तु तत्तत्कर्मकर्त्रा' इति ॥ -१२४७-१२५१ ॥

इत्युपाध्यायलक्षणम् ।

(सु०) उपाध्ययं लक्षयति—रूपवानिति । रूपवान् ; गम्भीरकृति-युक्तः, कोहलभरतादिशास्त्रतत्त्वज्ञः, अभिनयोपदेष्टा उपाध्याय इत्युच्यते । नृत्ततत्त्वज्ञः ; गात्रविक्षेपमात्रलक्षणस्य तत्त्वं तालादि जानातीति तथोक्तः ; ग्रहमोक्षविचक्षणः ; गीतवाद्ययोरुपक्रमोपसंहारे कुशलः ; समादिग्रहविज्ञश्च ; तानोक्ता समातीतानागता ये ग्रहाः ; तान् विशेषतो जानातीति तथोक्तः ; वाद्यवादनवेदिता ; ततादिवाद्यानां वादनविषये समर्थः ; संप्रदयागतज्ञानः ; गुरुपदेशपरंपरायातज्ञानसंयन्त्रः ; ध्वनिमाधुर्यतत्त्ववित् ; ध्वनेः नादस्य माधुर्य-मर्मवित् ; स्थायाधिक्योनताभिज्ञः ; स्थायाः, रागावयवाः, तेषां न्यूनाधिक-मर्मज्ञः ; लयतालयोः कुशलः ; लयतालेषु समर्थः ; वाद्यप्रबन्धनिर्माता, पूर्वोक्त-वाद्यप्रबन्धानां निर्माणे कुशलः ; मुखवाद्येषु कोविदः ; मुरजादिवाद्येषु पण्डितः ; नूतनभङ्गीनामुद्भेत्ता ; तौर्यत्रयेषु नूतनप्रकाराणामुत्पादकः ; शिष्यशिक्षण-दक्षिणः ; शिष्याणां शिक्षणे अभ्यासविषये समर्थः ; नृत्तगीतवाद्यः यवस्थितेः प्रतिष्ठापयिता ; नृत्तगीतवाद्यानां व्यवस्थायाः प्रतिष्ठापकः ; हृदयं प्रविष्टः ; नर्तकेन स्वहृदयं प्रविष्ट इत्यर्थः ; यद्वा पात्रस्य हृदि स्वयं प्रविष्टश्चेति ; उपाध्यायपात्रहृदययोरेकीभावेन भवितव्यमित्यर्थः । रञ्जकः ; जनचित्ता-कर्षकः ; नृत्तदोषविधानवित् ; अभिनयस्य दोषज्ञः ; एवंगुणविशिष्ट उपाध्यायः स्यादित्यर्थः ॥ -१२४७-१२५१ ॥

इत्युपाध्यायलक्षणम् ।

(क०) अथ संप्रदायं लक्षयति—यत्रैक इत्यादि । अत्र नर्तनो-

द्वात्रिंशन्मर्दलधरा वरास्तालधरद्वयम् ।
 कांस्यतालधरास्त्वष्टाविष्टाः काहलिकद्वयम् ॥ १२५३ ॥
 बांशिकौ रसिकौ व्यक्तसुरक्तप्रचुरध्वनी ।
 चत्वारो मधुरध्वाना भवन्त्येते वरास्तयोः ॥ १२५४ ॥
 द्वौ मुख्यगायनौ सार्धमष्टभिः सह गायनैः ।
 मुख्यगायनिके चाष्टौ सहगायनिकान्तयोः ॥ १२५५ ॥
 संप्रदायसमुल्लासि पात्रमेकं गुणान्वितम् ।
 सर्वेऽपी रूपवन्तः श्रुतित्रालंकरणान्विताः ॥ १२५६ ॥
 गीतादिसाम्यनिपुणाः प्रहर्षोत्फुल्लचेतसः ।
 उत्तमः संप्रदायोऽसौ लोके कुटिलमुच्यते ॥ १२५७ ॥
 तदर्धे मध्यमो न्यूनोऽस्मात्कनिष्ठो निगद्यते ।

इति संप्रदायलक्षणम्

पयोगिनां वादकगायकानां बृन्दं संप्रदाय इति लोकरूढ्या उच्यते ।
 ॥ १२५७-॥

इति संप्रदायलक्षणम् ।

(सु०) संप्रदायं लक्षयति—यत्रेति । यत्र एको मुखरी ; प्रतिमुखरी चैकः ;
 द्वावावजधरौ ; द्वावद्वावजौ ; द्वौ करटधारिणौ ; द्वात्रिंशन्मर्दलधराः ; द्वौ तालधरौ ;
 अष्टौ कांस्यतालधराः ; द्वौ काहलवादकौ ; बांशिकाश्चत्वारः ; अष्टभिर्गायनैः
 सह द्वौ मुख्यगायनौ ; अष्टौ गायनीयुक्ते द्वे मुख्यगायन्यौ ; तयोर्मध्ये एकं
 गुणान्वितं संप्रदायसमुल्लासि पात्रम्, सर्वेऽपि चित्रालंकरणान्विता रूपशालिनः ;
 गीतादिसाम्यपटवः ; संतोषविकसितमनसश्च भवन्ति ; स उत्तमः संप्रदायः,
 तदर्धे मध्यमः संप्रदायः, तद्राहित्ये कनिष्ठः ॥ १२५२-१२५७-॥

इति संप्रदायलक्षणम् ।

अनुवृत्तिर्मुखरिणस्तल्लयोन्यूनपूरणम् ॥ १२५८ ॥

तालानुवृत्तिरित्येते चत्वारः कुटिले गुणाः ।

संप्रदायस्य दोषः स्यादेतद्गुणविपर्ययः ॥ १२५९ ॥

इति संप्रदायगुणदोषाः ।

अथ शुद्धपद्धतिः—

संगीतज्ञैर्बुधैः सार्धं नायके प्रेक्षके स्थिते ।

प्रविश्य रङ्गभूमिं ते तिष्ठन्तः सांप्रदायिकाः ॥ १२६० ॥

वाद्यानां नादसाम्यं च कृत्वावस्थितमानसाः ।

मेलापकं वादयेयुः प्रबन्धं गजरं ततः ॥ १२६१ ॥

ततो जवनिकान्तर्धौ दधानं कुसुमाञ्जलिम् ।

पात्रं तिष्ठेदधिष्ठाय स्थानकं सौष्ठवान्वितम् ॥ १२६२ ॥

ततश्चोपसमारम्भेऽन्तर्धाने चापसारिते ।

सभाजनमनोहारि पात्रं रङ्गभुवं विशेत् ॥ १२६३ ॥

(क०) संप्रदायस्य गुणानाह—अनुवृत्तिर्मुखरिण इत्यादि ।

संप्रदायस्य दोषानाह—एतद्गुणविपर्यय इति ॥ १२५८, १२५९ ॥

इति संप्रदायगुणदोषाः ।

(सु०) संप्रदायगुणदोषान् लक्षयति—अनुवृत्तिरिति । मुखरिणोऽनुवृत्तिः, तस्य लयः, न्यूनपूरणम्, तारानुवृत्तिरित्येते चत्वारः संप्रदायगुणाः ; एतद्गुणविपर्यये दोषाः स्युः ॥ -१२५८, १२५९ ॥

इति संप्रदायगुणदोषाः ।

(क०) संप्रदायस्य शुद्धपद्धतिमाह—संगीतज्ञैर्बुधैः सार्धमित्यादि । मेलापकं वादयेयुरित्यादि । मेलापकादयो वाद्यप्रबन्धाः पूर्वोक्तलक्षणा

वाद्यमाने प्रबन्धे चोपशमादौ च वादकैः ।
 सुभङ्गि रङ्गपीठस्य मध्ये पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥ १२६४ ॥
 यतः स्वयं सुरज्येष्ठो मध्येरङ्गमधिष्ठितः ।
 ततः प्रहर्षसंपन्नं नृत्ताङ्गैरेव केवलैः ॥ १२६५ ॥
 वाद्येनोपशमेनात्र नृत्येत्पात्रं मनोन्वितम् ।
 पदमोता च कवितं मलपावत्सकावपि ॥ १२६६ ॥
 रिगोणी तुङ्गकेत्येभिः प्रबन्धैर्नियतक्रमैः ।
 स्वेच्छाकृतक्रमैर्यद्वा वाद्यमानैः समन्ततः ॥ १२६७ ॥
 समाङ्गैर्विषमाङ्गैर्वोभयैर्वा नृत्तमाचरेत् ।
 ततः शुद्धप्रबन्धैश्च गीयमानैर्निजेच्छया ॥ १२६८ ॥
 पात्रं विधाय त्रिविधं नर्तनं स्थानमाचरेत् ।
 गजरानन्तरं नास्ति यदोपशमवादनम् ॥ १२६९ ॥
 पात्रं तदा तदारम्भे प्रविशेदिति तद्विदः ।
 इति पद्धतिरुक्तेयं प्रोक्ता परिविडिर्जने ॥ १२७० ॥
 वादनं समहस्तस्य प्राक्प्रवेशात्परे जगुः ।
 समहस्तादिभिः पादैः सुवृत्तैः पृष्ठसौष्ठवैः १२७१ ॥
 स्थितेन समपादेन प्रवेशं ते प्रचक्षते ।
 केचिदाहुः केवलयोः प्रयोगं गीतवाद्ययोः ॥ १२७२ ॥
 एकैकशः प्रयोगोऽपि गीतादेः कैश्चिदिष्यते ।

इति शुद्धपद्धतिः ।

अनुसंधेयाः । समाङ्गैर्विषमाङ्गैर्वोभयैर्वा नृत्तमाचरेदिति । समाङ्गैश्चतुरश्रा-
 श्रितैः, विषमाङ्गैः, त्र्यश्रताश्रितैः, उभयैरुभयाश्रितैर्वाङ्गैर्नृत्तं कुर्यात् । शुद्ध-

प्रबन्धैः, एलादिभिः । निजेच्छया गीयमानैरिति । सूडकमं विहाय चेत्यर्थः ।
 त्रिविधं नर्तनमिति । समविषमोभयात्मकमित्यर्थः । अथवा नाट्यनृत्यनृत्तभेदेन
 त्रिविधं नर्तनं विधायेति । अयमर्थः—यदा रसाश्रयत्वेन गीतार्थाभिनयः
 क्रियते, तदा नाट्यम् । यदा भावाश्रयत्वेन गीतार्थोऽभिनीयते तदा, नृत्यम् ।
 यदा गात्रविक्षेपमात्रेण गीतमात्रमनुक्रियते, तदा नृत्तमिति । पात्रप्रवेशस्य
 पाक्षिकं कालमाह—गजरेति । गजरानन्तरमुपशमवादनं यदा नास्ति,
 तदा पात्रं, तदारम्भे गजरारम्भे प्रविशेदिति तद्विद् आहुः । यदा गजरा-
 नन्तरमुपशमवादनमस्ति, तदोपशमारम्भ एव पूर्वोक्तप्रकारेण पात्रप्रवेशः
 कर्तव्य इति । इयं पद्धतिलोकैः जनैः परिविडिरित्युक्ता । समहस्तादिभि-
 रिति । समहस्तादयः पाटा वाद्याध्यायोक्ता द्रष्टव्याः । केवलयोगीतवाद्ययोः
 प्रयोगमिति । गीतवाद्ययोः केवलत्वं समहस्तादिपाटराहित्येन द्रष्टव्यम् ।
 अत्र वाद्यशब्देन मुखवाद्यमुच्यते । तेन तत्प्रबन्धा यत्यादयोऽवगन्तव्याः ।
 अत्रायमर्थः—एलादयो गीतप्रबन्धाः, यत्यादयो वाद्यप्रबन्धाः स्वस्वोपरञ्जक-
 मुरजादिवादनरहिता अपि नर्तने प्रयोक्तव्या इति केषांचिन्मतम् । अपरेषां
 मतमाह—एकैकश इति । केवलं गीतप्रबन्धानां केवलं वाद्यप्रबन्धानां
 वा प्रयोग इत्यर्थः ॥ १२६०—१२७२- ॥

इति शुद्धपद्धतिः ।

(सु०) संप्रदायस्य शुद्धपद्धतिं लक्षयति—संगीतज्ञैरिति । यत्र संगीतज्ञैः
 साकं प्रेक्षमाणे सति, रङ्गभूमिं प्रविष्टे तु सांप्रदायिके वाद्यनादसाम्यं कृत्वा,
 अवस्थितमनाः सन्तः, मेलापकं पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं प्रबन्धं, ततो गजरं वाद-
 यत्सु सत्सु, यवनिकान्तरितं सकुसुमाञ्जलिकं पात्रं सौष्ठवाश्रितस्थानकमालम्ब्य,
 यवनिकापसरणानन्तरं रङ्गभुवं प्रविश्य, वादके प्रबन्धैर्वाद्यमाने, रङ्गपीठमध्ये
 पुष्पाञ्जलिं विकिरेत् । ततः नृत्ताङ्गैः मनोहरं नृत्येत् । ततः पद्मोता च
 कवितं, मलपावत्सकावपि, रिगोणीतुडुकाद्यैः नियतक्रमैर्वा स्वेच्छाकृतक्रमैर्वा

अथ गौण्डलीविधिः—

वाद्यप्रबन्धैः कठिनैस्त्यक्तमेलादिभिस्तथा ॥ १२७३ ॥
 गीतैः सालगसूडस्थैः प्रबन्धैर्यद् ध्रुवादिभिः ।
 लास्याङ्गैः केवलैरङ्गैः कोमलैश्चैव नृत्यति ॥ १२७४ ॥
 स्वयं गायति वाद्यं च त्रिवलीं वादयेत्स्वयम् ।
 तत्पात्रं गौण्डली केचिद्वादनं नात्र मन्वते ॥ १२७५ ॥
 त्रिवलीधारणं स्कन्धे ग्राम्यत्वं कुरुते स्त्रियाः ।
 अगायन्ती त्वशारीरा सैव स्यान्मूकगौण्डली ॥ १२७६ ॥
 गौण्डल्या मण्डलं प्रोक्तं तज्ज्ञैः कर्णाटदेशजम् ।
 तस्याश्च नर्तनं प्राहुर्गौण्डलीं लक्षणाश्रयात् ॥ १२७७ ॥

प्रबन्धैः समाङ्गैः विषमाङ्गैः, उभयैर्वा नृत्यं कुर्यात्; अन्ये प्रवेशात् प्राक्
 समहस्तस्य वादनं प्राहुः । तन्मते समपादस्थानेनैव पात्रप्रवेशः; अन्ये तु
 गीतवाद्यमात्रं प्राहुः ॥ १२६०-१२७२- ॥

इति शुद्धपद्धतिः ।

(क०) अथ गौण्डल्या विधिमाह— वाद्यप्रबन्धैरित्यादि । कठि-
 नैर्वाद्यप्रबन्धैर्दीप्तनर्तनप्रयोज्यैरोताकवितादिभिस्त्यक्तं वर्जितम् । एलादिभि-
 र्गीतैस्तथेति । वर्जितमित्यर्थः । सालगसूडस्थैर्ध्रुवादिभिः; प्रबन्धैः,
 लास्याङ्गैः; चार्यादिभिः । केवलैः कोमलैरिति । किञ्चिदप्यनुद्धतैः ।
 उक्तैर्ध्रुवादिभिरेव नान्यैरित्यर्थः । यत्पात्रमेतैरेव नृत्यति । स्वयं गायति
 स्वयं त्रिवलीं वाद्यं वादयेदिति । तूर्यत्रयमप्येकाश्रयं कर्तव्यमिति भावः ।
 तत्पात्रं गौण्डलीत्युच्यते । तस्याश्चेति । तस्या गौण्डल्या नर्तनं च लक्षणा-
 श्रयात्; लक्षणाया वृत्तेराश्रयात् गौण्डलीं प्राहुः । यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र

तत्रत्यां पद्धतिं प्राहुस्तद्विदो गौण्डलीविधिम् ।
 सा देशीपद्धतिस्तूक्ता तल्लक्ष्म ब्रूमहेऽधुना ॥ १२७८ ॥
 कर्णाटमण्डलैर्युक्तास्तत्र स्युः सांप्रदायिकाः ।
 पूर्ववत्समनादत्वमातोद्यानां विधीयते ॥ १२७९ ॥
 मेलापकं वादयेयुरेकताल्या समाहिताः ।
 येन केनापि तालेन गजरे वादिते सति ॥ १२८० ॥
 नि सारणैकताल्या वारब्धस्योपशमे सति ।
 पात्रं प्रविश्य रङ्गस्य मध्ये पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥ १२८१ ॥
 आविष्कुर्वत्सव्यवामपुरोङ्गाण्यथ नृत्यतः ।
 गजरूपशमेनैव ततः सर्वाङ्गनर्तनम् ॥ १२८२ ॥
 अङ्गुतालं निसारुं चैकतालीं श्रितया ततः ।
 रिगोण्या तालनियमरहिताभ्यामतः परः ॥ १२८३ ॥
 अवत्सकविताभ्यां च क्रमान्नर्तनमाचरेत् ।

गङ्गाशब्देन तटवद्गौण्डल्या नर्तनमाश्रयाश्रयिभावेन गौण्डलीत्युपचर्यत
 इत्यर्थः । तत्रत्यामिति । तत्र गौण्डल्यां भवां पद्धतिं गौण्डलीविधिं
 प्राहुः । सा तु ; गौण्डलीभवा पद्धतिस्तु देशीपद्धतिरुक्ता । अत्र तुशब्देन
 शुद्धपद्धतेरुपचारतो मार्गत्वं द्योतितं भवति । आरब्धस्योपशमे सतीति ।
 अस्य गजरूपोपशम उपशमारूपे खण्ड उपक्रान्ते सति । सव्यवाम-
 पुरोङ्गाण्याविष्कुर्वदिति । सव्याङ्गानि सव्यभागप्रवर्तितानि ; वामाङ्गानि
 वामभागप्रवर्तितानि ; द्विविधानि तानि विषमाङ्गाणीत्युच्यन्ते । पुरोङ्गाणि
 पुरोभागप्रवर्तितानि समाङ्गानीत्युच्यन्ते । आविष्कुर्वत्प्रकाशयत्यार्थक्येन
 दर्शयत् । सर्वाङ्गनर्तनमिति । सव्यवामपुरोङ्गाणां मिश्राणां नर्तनमित्यर्थः ।

नानाविधं पुनर्नृत्येद्रिगोण्योद्ववणात्मना ॥ १२८४ ॥
 निवारितेषु वाद्येषु दत्ते स्थानेऽथ वांशिकैः ।
 सह गायति संयुक्तैस्तैः सार्धमथ गौण्डली ॥ १२८५ ॥
 उच्चार्य स्थायिनं कुर्याद्रागालप्तिं चतुर्विधाम् ।
 अन्या वा गायनी मुख्या विविधालप्तिमाचरेत् ॥ १२८६ ॥
 मण्डकात्प्रतिमण्डाच्च तालेनान्येन संयुतम् ।
 सकलं ध्रुवकं गीत्वा जकया वाद्यमानया ॥ १२८७ ॥

उद्ववणात्मनेति । रिगोण्यामप्यादौ वैकल्पिकस्योद्ववणस्योक्तत्वादत्रापि
 रिगोण्यादौ ललितमुद्ववणं प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । तेन रिगोण्युद्ववणात्मा
 भवति । उद्ववणलक्षणमपि—

‘निजैर्या तद्विधोदेभिर्व्यापकैरक्षरैस्तथा ।
 पाटैर्वा रचिता किञ्चिद्विलम्बितलयाश्रया ॥
 देकारालंकृताद्यन्ता वदन्त्युद्ववणाममूम्’ ॥

इति पूर्वोक्तमनुसंधेयम् । उद्ववण इव चोद्ववणम् । अथवा प्रबन्धान्तरस्याङ्ग-
 तया तदादौ वाद्यमाना यतिरेवोद्ववणमित्युच्यते । यथोक्तं प्राक्—

‘आदौ वाद्यप्रबन्धस्य कस्याप्यङ्गतया यदा ।
 तद्विदो वादयन्त्येतां वदन्त्युद्ववणं तदा’ ॥ इति ।

तदात्मता वा ज्ञेया । अथ वांशिकैः स्थाने दत्त इति । स्थानं
 नास मन्द्रादिष्वेकतमम् । चतुर्विधां रागालप्तिमिति । स्वस्थानचतुष्टय-
 युक्तामित्यर्थः । विविधालप्तिमिति । भञ्जनीप्रतिग्रहणकादिनानामेदयुक्तां
 रूपकालप्तिं रागालप्तिं चेत्यर्थः । मण्डकात्प्रतिमण्डाच्चान्येन तालेनेति ।
 मण्डकप्रतिमण्डकव्यतिरिक्तेन देशीतालेष्वन्यतमेनेत्यर्थः । श्लक्ष्णं मृदु यथा

श्लक्ष्णं ध्रुवाख्यखण्डेन गीयमानेन संततम् ।

गायनैर्मेलकोपेतैर्मनोव्यक्तिमनोहरम् ॥ १२८८ ॥

नृत्तं किञ्चिद्विधाय शान्तयोगीतवाद्ययोः ।

विधाय विविधस्थायान्मुहुर्ध्रुवपदं ब्रजेत् ॥ १२८९ ॥

भवति तथा । वाद्यमानया जक्येति । जक्का नाम यतिरेवोच्यते । ‘यतिर्जक्का च सा’ इति प्रागुक्तत्वात् । तथा जक्या सह मेलापकोपेतैर्गायनैः संततं गीयमानेन ध्रुवाख्यखण्डेन ध्रुवकस्य गीतस्य मध्यखण्डेनोपलक्षितम् । मनोव्यक्तिमनोहरमिति । मनो नाम प्रागुक्तलक्षणं लास्याङ्गम् । तस्याभिव्यक्त्या मनोहरं नृत्तम् किञ्चिद्विधाय ; अल्पमेव कृत्वा । अथ ; अनन्तरम्, गीतवाद्ययोः ; शान्तयोः सतोः, विविधस्थायान् ; बहुप्रकारान् रागावयवान् विधाय । ध्रुवपदं मुहुर्ब्रजेदिति । नर्तकीकर्तृकत्वेन विधानान्मध्ये मध्ये विविधस्थायानां नर्तनं कृत्वा मुहुर्मुहुर्ध्रुवपदस्यापि नर्तनं कुर्यादित्यर्थः ॥ -१२७३-१२८९ ॥

(सु०) गौण्डल्या विधिं लक्षयति—वाद्यप्रबन्धैरिति । कठिनैः वाद्यप्रबन्धैः, एलादिभिः प्रबन्धैश्च त्यैकैः, गीतैः तत्तद्ध्रुवाश्रितैः, सालगसूडस्थप्रबन्धैः, केवललास्याङ्गैः, कोमलाङ्गैश्च यत् पात्रं नृत्यति, स्वयं गायति, त्रिवलीवाद्यं च वादयति, तद् गौण्डलीत्युच्यते । अत्र त्रिवलीवाद्यवादनं नास्तीति केचित् । यत्र स्कन्धे त्रिवलीं कृत्वा, अशारीरेण स्त्रियो गायन्ति, सा मूकगौण्डली । अत्र कर्णाटदेशमण्डनं गौण्डल्या कार्यम् । तत्पद्धतिः गौण्डलीविधिरित्युच्यते । यत्र कर्णाटमण्डलमण्डिताः सांप्रदायिकाः प्रथममेकताल्या मेलापकं वादयन्ति, ततः येन केनापि तालेन गजरे वाद्यमाने सति, निःसारुणा वा, एकताल्या वा उपशमे प्रारम्भमाणे सति, पात्रं रङ्गमध्यं प्रविश्य, तत्र पुष्पाञ्जलिं प्रक्षिप्य, नर्तनं कुर्यात् । ततः गजरोपशमेनैव सर्वाङ्गनर्तनं कार्यम् । अङ्गतालनिःसार्वेकतालीयुक्त्या रिगोण्या, ततः तालनियमत्रिहीनाभ्यामवत्सकविताभ्यां क्रमात्

कांश्चिद्गीतस्य तालेन गीततालाक्षरैः परान् ।
 नातिदीर्घान्नातिनीचान्माधुर्यप्रौढिपेशलान् ॥ १२९० ॥
 रक्तियुक्तान्विना तालं यदि वादौ विधाय तान् ।
 सुतालकलितप्रान्तान् ध्रुवखण्डे कलासयेत् ॥ १२९१ ॥
 कलासे वाद्यघातं च कुर्युः साम्येन वादकाः ।
 कलासेषु भवेत्पात्रं लीनं चित्रार्पितं यथा ॥ १२९२ ॥
 एवं कुर्वत्प्रक्रियायां कृतायां पूर्ववत्पुनः ।

नर्तनं कुर्यात् । ततः रिगोण्या उद्ववणात्मना नानाविधं नर्तनं कुर्यात् ।
 ततः गायनसंयुक्तैः वांशिकैः वाद्येषु वाद्यमानेषु स्थाने च दत्ते, गौण्डली
 स्थायिनमुच्चार्य चतुर्विधरागालप्तिं कुर्यात् । अन्या वा मुख्यगायनी रागालप्तिं
 कुर्यात् ॥ -१२७३-१२८९ ॥

(क०) मध्ये मध्ये विधेयान् स्थायान् विशेषाद्दर्शयति—कांश्चिदि-
 त्यादि । गीतस्य तालेनेति । गीते यस्तालः तन्मात्रायुक्तान् गीताक्षररहि-
 तानित्यर्थः । परान्; अन्यान्, गीततालाक्षरैः युक्तान् । पक्षान्तरमाह—
 यदि वेति । तान्; स्थायान्, आदौ; प्राग्भागे, तालं विना; ततः सुताल-
 कलितप्रान्तांश्चरमभागे शोभनतालयुक्तान्विधाय, ध्रुवखण्डे; कलासयेत्;
 नर्तनं समापयेदित्यर्थः । कलासे; कलासावसरे । वादकाश्च; मुरजादि-
 वादकाश्च, साम्येन; कालसाम्येनैककालमित्यर्थः । वाद्यघातं स्वस्ववद्यानां
 घातं ताडनं कुर्युः । एतेन तस्मिन् कलासे तालस्य घातकाले प्राप्तेऽपि
 तत्राघातः कर्तव्य इति विहितो भवति । तस्यापि घनवाद्यत्वेन वाद्यत्वा-
 विशेषात् । किं च, कलासेषु पात्रं चित्रार्पितं; यथा चित्रलिखितमिव
 लीनं निश्चलं भवेत् । एवं कुर्वदिति । उक्तप्रकारेण कलासं कुर्वत् ।
 पुनः प्रक्रियायां कृतायां सत्यामिति । मध्ये मध्ये स्थायेषु प्रयुक्तेषु

नृत्यं समाचरेत्पात्रं गीयमाने ध्रुवांशके ॥ १२९३ ॥

आभोगेनाथ नृत्येच्च वाद्यमानेन वादकैः ।

गौण्डल्योजोन्विता सा स्यात्त्यागे संनिहिते सति ॥ १२९४ ॥

नानाविधप्रौढचारीचालकं नृत्यमाचरेत् ।

अत्र प्रहरणं वाद्यमाभोगेऽप्येतदिष्यते ॥ १२९५ ॥

कृत्वाथ वाद्यसाम्येन त्यागं विश्रान्तिमाचरेत् ।

कृत्वा नृत्यं ध्रुवैर्नृत्यं ध्रुववन्मण्डकादिभिः ॥ १२९६ ॥

क्रमान्नृत्येद्विशेषस्तु तेषामेषोऽभिधीयते ।

सस्त्वित्यर्थः । ध्रुवांशके ध्रुवस्यांशभूते ध्रुवाख्ये खण्डे, गीयमाने सति नृत्यं समाचरेत् । अथ अनन्तरं वादकैः वाद्यमानेन आभोगेन ध्रुवान्त्य-खण्डेन नृत्येत् । त्यागे गीतसमाप्तौ संनिहिते सति सा गौण्डली नर्तकी, ओजोन्विता बलयुक्ता स्यात् । तदा तथाभूता सती, नानाविध-प्रौढचारीचालकम् ; चार्यश्च चालकाश्चेति द्वन्द्वः, प्रौढाश्च ते चारी-चालकाश्चेति कर्मधारयः । नानाविधाः प्रौढचारीचालका यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । तादृशं नृत्यमाचरेत् । अत्राभोगेऽप्येतत्प्रहरणं वाद्यमिष्यत इति । अत्रापिशब्देन ध्रुवखण्डान्तेऽपि प्रहरणं वाद्यप्रयोगो द्योत्यते । अथ वाद्यसाम्येन त्यागं कृत्वा विश्रान्तिमाचरेत् ॥ १२९०—१२९५-॥

(सु०) कांश्चिदिति । मण्डप्रतिमण्डादि तालयुक्तं सकलं ध्रुवकं गीत्वा, वाद्यमानया जक्रया श्लक्ष्णं गीयमानध्रुवखण्डयुक्तं मेलापकोपेतैः गायकैः ईषद्वय-क्तीकृतं नृत्यं किञ्चित् कृत्वा, गीतवाद्यशान्त्यनन्तरं नानास्थायान् कृत्वा, मुहुर्ध्रुवपदं गीत्वा, नर्तनं कुर्यात् ॥ १२९०—१२९५-॥

(क०) ध्रुवोक्तं मण्डादिष्वतिदिशति— ध्रुववन्मण्डकादिभिः क्रमा-

मण्डादेर्ध्रुवखण्डेन केवलं नर्तनं भवेत् ॥ १२९७ ॥

मण्डे तु मण्डतालेन प्रारम्भे नर्तनं मतम् ।

ततः स्यादेकतालैव मण्डनृत्तं क्रमात्क्रमात् ॥ १२९८ ॥

नर्तनं प्रतिमण्डादौ स्वतालेनैव कीर्तितम् ।

एषु सालगगीतेषु नृत्तं द्रुतलयाश्रयम् ॥ १२९९ ॥

विलम्बितो लयस्तूक्तस्ताण्डवे पण्डितैः सदा ।

रूपकैरेकताल्यन्तैरेवं सालगसूडगैः ॥ १३०० ॥

नर्तित्वा क्रियते त्यागो यत्रासौ गौण्डलीविधिः ।

इति गौण्डलीविधिः ।

कृत्येदिति । मण्डादिषु विशेषं वक्तुमाह—विशेषस्त्विति । मण्डादेर्ध्रुव-
खण्डेन केवलं नर्तनं भवेदिति । ध्रुवखण्डवत्स्थायप्रयोगो न कर्तव्य इत्यर्थः ।
अयं च निषेधो यत्र ध्रुवमारभ्य सूडक्रमेण नर्तनं क्रियते तत्रैव द्रष्टव्यः ।
यत्र तु मण्डादिष्वन्यतममारभ्य वा मण्डादेरेकैकस्य वा प्राधान्येन नर्तनं
क्रियते, तत्रारब्धे मण्डादौ स्वतन्त्रे वा मण्डादौ स्थायप्रयोगः कर्तव्य
एवेति संप्रदायोऽवगन्तव्यः । प्रतिमण्डादौ स्वतालेनैति मण्डाद्वैषम्योक्तिः ।
सालगगीतेषु द्रुतलयाश्रयं नृत्तमिति । एषु सालगगीतेषु उक्तस्य
नृत्तस्य लास्यप्रायत्वेन मृदुत्वादस्य विलम्बलययोगे सत्यत्यन्तमृदुत्वप्रतीत्या
सामाजिकानां प्रीतिं न जनयति । द्रुतलययोगे तु लास्यगतसौकुमार्यस्य
परभागाच्छोभा भवति ; तथा—ताण्डवे तु विलम्बितलय इति । ताण्डव-
स्योद्धतत्वेन तस्य द्रुतलययोगे सत्युद्धततमत्वप्रतीतेः पूर्वोक्त एव दोषः ।
विलम्बलययोगे तु पूर्ववत्परभागसंभवाद्दृश्यत्वं भवतीत्यभिप्रायः । यथा
लोके नीलवस्त्रे निक्षिप्तं मुक्ताफलं शुभ्रांशुके वा निहितमिन्द्रनीलं नितरां
शोभते तथेत्यर्थः । रूपकैरिति । एवमुक्तप्रकारेणैकताल्यन्तैः सालगसूडगै

भस्मादिश्वेतलिप्ताङ्गो विभ्रन्मुण्डं शिरः शिखाम् ॥ १३०१ ॥

भ्राजद्धरिकाजालजङ्घः शारीरपेशलः ।

पञ्चाङ्गकुशलस्तालकलालयविचक्षणः ॥ १३०२ ॥

रूपकैर्द्रुतादिभिः सप्तभिर्यत्र गीते नर्तित्वा त्यागः क्रियतेऽसौ गौण्डली-
विधिः ॥ -१२९६-१३००- ॥

इति गौण्डलीविधिः ।

(सु०) अतिदेशमाह—ध्रुववदिति । गीततालेन कांश्चित् गीततालाक्षरै-
र्नातिदीर्घान्, नातिनीचान्, माधुर्यप्रौढिपेशलान्, रक्तियुक्तान् कांश्चित् विधाय,
आदौ तालं विना, ततः सुतालकलितप्रान्तान् ध्रुवखण्डे कलासयेत्, नर्तनस्य
समाप्तिं कुर्यादित्यर्थः । कलासे वादका वाद्यघातं साम्येन कालसाम्येन कुर्युः ।
तदा पात्रं चित्रार्पितमिव तिष्ठेत् । एवमुक्तप्रकारेण ध्रुवांशके गीयमाने पात्रं नृत्यं
समाचरेत् । अथ वादकैः वाद्यमानेन आभोगेन नृत्येत् । गीतसमाप्तौ सत्यां
गौण्डली ओजोन्विता स्यात् । तदा नानाविधप्रौढचारीचालकं नृत्यमाचरेत् ।
अत्रापि ध्रुवखण्डान्तेऽपि प्रहरणमिष्यते । अथ वाद्यसाम्येन त्यागं कृत्वा
विश्रान्तिमाचरेत् । एवं ध्रुवेण नृत्यं कृत्वा, ध्रुववत् मण्ठकादिष्वपि कर्तव्यम् । तत्र
विशेषमाह—विशेषस्त्विति । मण्ठादेः ध्रुवखण्डेन केवलं नर्तनं भवेत् । मण्ठे
मण्ठतालेन प्रारम्भे नर्तनं कार्यम् । तत एकतालया क्रमात् प्रतिमण्ठादौ स्वतालेनैव
नर्तनं कार्यम्, एषु सालगगीतेषु द्रुतलयाश्रयं नृत्यमुक्तम् । ताण्डवे तु विलम्बि-
तलय उक्तः । एवमुक्तप्रकारेण एकताल्यन्तैः सालगसूडगै रूपकैः द्रुतादिभिः
यत्र गीते नर्तित्वा त्यागः क्रियतेऽसौ गौण्डलीविधिः ॥ -१२९६-१३००- ॥

इति गौण्डलीविधिः

(क०) अथ पेरणिनो लक्षणमाह—भस्मादीत्यादि । भस्मादिना
श्वेतवर्णकद्रव्येण लिप्ताङ्गो मुण्डं व्यपरोपितकेशं शिरः शिखां च विभ्रत् ।
भ्राजद्धरिकाजालजङ्घ इति । पेरणिनो नर्तनस्य चारीप्रधानत्वेन चारी-

सभाजनमनोहारी यो नृत्यति स पेरणी ।

घर्घरो विषमं भावाश्रयश्च कविचारकः ॥ १३०३ ॥

गीतं चेति समाचष्ट पञ्चाङ्गानि हरप्रियः ।

तत्र घर्घरिकावाद्ये वहनिर्घर्घरो मतः ॥ १३०४ ॥

पडिवाटश्चापडपः सिरिपाटोऽलगादिमः ।

पाटः सिरिहिराख्यश्च ततः खलुहुलाहयः ॥ १३०५ ॥

इति घर्घरभेदाः स्युः षडमी तद्विदां मताः ।

करणप्रयत्नेनैव वादनीया जङ्घयोर्बद्धा घनवाद्यभेदः किङ्किणी घर्घरिकेत्युच्यते । तस्या एकस्या एव नादव्यक्तेरभावान्नादपुष्ट्यै ता बहवो ग्राह्याः । अतो जाल-मित्युक्तम् । घर्घरिकाणां जालं भ्राजत्स्वाकारेण नादेन च शोभमानं घर्घरिकाजालं ययोस्ते भ्राजद्घर्घरिकाजाले, तादृशे जङ्घे यस्य स तथोक्तः । शारीरपेशल इति । सुशारीर इत्यर्थः । एतेन पेरणिनैवावश्यं गातव्यमित्युक्तं भवति । पञ्चाङ्गकुशल इति । घर्घरादीनि पञ्चाङ्गान्यनुपदमेव वक्ष्यन्ते । तेषु कुशलः ॥ -१३०१-१३०३- ॥

(सु०) अथ पेरणिनं लक्षयति—भस्मेति । भस्मादिश्वेतलिप्ताङ्गः, मुण्डं शिरः, शिखां च बिभ्रत् भ्राजत् घर्घरिकाजालजङ्घः, जङ्घयोर्बद्धा घनवाद्यभेदः किङ्किणी घर्घरिकेत्युच्यते । शारीरपेशलः; सुशारीरयुक्तः, पञ्चाङ्गकुशलः; वक्ष्यमाणेषु पञ्चाङ्गेषु समर्थः तालकलालयविचक्षणः यः सभ्यजनमनोहरं नृत्यति; स पेरणी । पेरणिनोऽङ्गान्याह—घर्घर इति । घर्घरः; विषमम्; भावाश्रयः; कविचारकः; गीतमिति पञ्चाङ्गानि हरप्रियः समाचष्ट ॥ -१३०१-१३०३- ॥

(क०) तत्र घर्घरं लक्षयति—घर्घरिकावाद्ये वहनिरिति । वहनि-

भूमिलग्राग्रयोरङ्घ्र्योः पर्यायाद्भूमिकुट्टनम् ॥ १३०६ ॥

पार्ष्णिद्वयेन पाष्ण्या वैकया स्यात्पडिवाटकः ।

इति पडिवाटः (१)

भवेच्चापडपः पादतलेनावनिकुट्टनम् ॥ १३०७ ॥

इत्यपडपः (२)

रभ्यासविशेषः । तस्य घर्घरस्य षड्भेदानाह—पडिवाट इत्यादि । अल
गादिमः पाटोऽलगापाट इत्येकः । पडिवाटादयः संज्ञा देशीप्रसिद्धत्वेन रूढा
द्रष्टव्याः ॥ -१३०४, १३०५- ॥

(सु०) तत्र घर्घरस्य लक्षणमाह—तत्रेति । घर्घरिकायाः वहनिः
अभ्यासविशेषः, घर्घर इत्युच्यते । तस्य भेदानाह—पडिवाट इति ।
पडिवाटः, अपडपः; सिरिपाटः; अलगपाटः; सिरिहिरः; खलुहुल इति ॥
॥ -१३०४-१३०५- ॥

(क०) भूमीति । एतेषां लक्षणानि ग्रन्थत एव सुबो-
धानि ॥ -१३०६-१३१३- ॥

इति पेरणिलक्षणम् ।

(सु०) पडिवाटस्य लक्षणमाह—भूमिलमेति । यत्र भूमिलग्राग्रयोः
पार्ष्णिद्वयेन वा, एकपाष्ण्या वा क्रमेण भूमिकुट्टनम्, सः पडिवाटः ॥
॥ १३०६, १३०६- ॥

इति पडिवाटः (१)

(सु०) अपडपं लक्षयति—भवेदिति । यत्र पादतलेन भूमिकुट्टनं,
सोऽपडपः ॥ -१३०७ ॥

इत्यपडपः (२)

तलेन भूमिलग्नेन पादस्य सरणं पुरः ।

तथापसरणं पश्चान्मुहुः सिरिपटो भवेत् ॥ १३०८ ॥

इति सिरिपटः (३)

द्वयोश्चरणयोर्व्योम्नि पर्यायेण प्रकम्पनम् ।

यत्कृतं कोमलं सोऽत्रालगपाटः प्रकीर्तितः ॥ १३०९ ॥

इत्यलगपाटः (४)

सत्येकस्मिन्समे पादेऽङ्घ्रिः पुरः प्रेरितो भवेत् ।

यस्तस्य जङ्घया कम्पः प्रोक्तः सिरिहिरो बुधैः ॥ १३१० ॥

यद्वा द्वयोः स्वभावेन तिष्ठतोः पादयोर्भुवि ।

जङ्घयोः कम्पनं प्रादुर्धीराः सिरिहिरं तदा ॥ १३११ ॥

इति सिरिहिरः (५)

(सु०) सिरिपटं लक्षयति—तलेनेति । यत्र भूमिलग्नेन पादतलेन मुहुः पुरः सरणं, तथा अपसरणं च क्रियते; स सिरिपटः ॥ १३०८ ॥

इति सिरिपटः (३)

(सु०) अलगपाटं लक्षयति—द्वयोरिति । यत्र द्वयोः चरणयोः आकाशे पर्यायेण कोमलं चलनं कृतं भवेत्; सोऽलगपाटः ॥ १३०९ ॥

इत्यलगपाटः (४)

(सु०) सिरिहिरं लक्षयति—सत्येति । यत्र एकस्मिन् पादे समे, अङ्घ्रिः पुरः प्रेरितो भवेत् । अन्यस्य न्यस्ते जङ्घयोः कम्पनं; स सिरिहिरः । मतान्तरमाह—यद्वेति । यदा द्वयोः पादयोः स्वभावेन भुवि तिष्ठतोः यत्र जङ्घयोः कम्पनं क्रियते; तदा सिरिहिरो भवति ॥ १३१०, १३११ ॥

इति सिरिहिरः (५)

भूलग्राग्रस्य वामाङ्घ्रेः पाष्ण्या यद्भूमिकुट्टनम् ।

भूलग्राग्रस्य चान्यस्य भ्रमः सव्यापसव्यतः ॥ १३१२ ॥

योऽसौ खलुहुलः प्रोक्तो घर्घरो नृत्तकोविदैः ।

दिशानया परेऽप्यूह्या घर्घराः शोभयान्विताः ॥ १३१३ ॥

सर्वे घर्घरभेदास्ते कार्यास्तालानुगामिनः ।

इति खलुहुलः (६)

अत्र चोत्प्लुतिपूर्वं स्यात्करणं विषमाभिधम् ॥ १३१४ ॥

विकृतार्थानुकारस्तु बुधैर्भावाश्रयो मतः ।

कविचारो भवेदत्रोत्तमनायकवर्णनम् ॥ १३१५ ॥

अत्र स्यात्सालगं गीतं यदुक्तं गौण्डलीविधौ ।

इति पेरणिलक्षणम् ।

(सु०) खलुहुलं लक्षयति—भूलग्राग्रेति । यत्र भूलग्राग्रस्य वामाङ्घ्रेः पाष्ण्या यद् भूमिकुट्टनम्; भूलग्राग्रस्य अन्यस्य दक्षिणपादस्य सव्यापसव्यतो भ्रमणं खलुहुलः । अनया दिशा अपरे घर्घरा अप्यूह्याः । ते सर्वे घर्घरभेदाः शोभया अन्विताः तालानुगामिनश्च कार्याः ॥ १३१२, १३१३- ॥

इति खलुहुलः (६)

विषमाख्यमङ्गमाह—अत्र चेति । उत्प्लुतिपूर्वं करणं पूर्वोक्तमञ्चितादिषट्त्रिंशद्भेदमिन्नम् भावाश्रयाख्यमङ्गं लक्षयति—विकृतार्थानुकार इति । पेरणिना सामाजिकानां हास्योत्पादनाय क्रियमाणं विकृतपदार्थानुकरणं यद्विद्यते स भावाश्रयः । कविचारं लक्षयति—उत्तमनायकवर्णनमिति । गीताख्यमङ्गमाह—अत्र स्यात्सालगं गीतमिति । सालगं गीतं द्रुतादिकम् ॥ -१३१४-१३१५- ॥

इति पेरणिलक्षणम् ।

(सु०) विषमाख्यमङ्गं लक्षयति—अत्रेति । उत्प्लुतिपूर्वं करणं विषम-

अथ पेरणीपद्धतिः—

गौण्डलीविधिवच्चात्र रङ्गस्थाः सांप्रदायिकाः ॥ १३१६ ॥

कुर्युर्गम्भीरमातोद्यध्वनिं धिधिधिधीति ते ।

ततो विलम्बितप्राये रिगोण्युट्टवणाश्रये ॥ १३१७ ॥

पादत्रये वाद्यमाने द्विर्द्विर्निःसारुतालतः ।

विशेद्विकृतवाग्वेषभूषो रङ्गेऽट्टबोडकः ॥ १३१८ ॥

तस्मिन्नृत्यति हास्यैकरसे विशति पेरणी ।

रिगोण्युपशमेनैष प्रविष्टो नृत्तमाचरेत् ॥ १३१९ ॥

प्रशान्ते वाद्यसंघाते ततस्तालधरैः समम् ।

वाद्यमाने सुनिपुणं ताले गारुगिसंज्ञके ॥ १३२० ॥

यद्वा सरस्वतीकण्ठाभरणे वादकैस्तथा ।

क्रियमाणे मर्दलादेर्मन्द्रं तालसमध्वनौ ॥ १३२१ ॥

मित्यभिधीयते । भावाश्रयं लक्षयति—विकृतेति । विकृतार्थानुकरणं भावा-
श्रयः । कविचारं लक्षयति—कविचार इति । उत्तमनायकवर्तेन कविचारः ।
गीताख्यं लक्षयति—अत्रेति । सालगं गीतमित्युच्यते । तच्च द्रुतादिकम्
॥ -१३१४, १३१९- ॥

इति पेरणिलक्षणम् ।

(क०) अथ पेरणिनः पद्धतिमाह—गौण्डलीविधिवच्चात्रेत्यादि ।

अत्रातिदेशेन वादकानां नादसाम्यकरणं गृह्यते । रिगोण्युट्टवणाश्रय इति ।

रिगोण्युट्टवणं पूर्वोक्तमनुसंधेयम् । अट्टबोडक इति सकलशिरोमुण्डिताभि-

धायी देशीशब्दः । संज्ञके ताल इति । “गारुगिस्तु चतुर्द्विता । विरामान्ता”

इति पूर्वोक्तं तलक्षणमनुसंधेयम् । यद्वेति पक्षान्तरम् । सरस्वतीकण्ठाभरण

पेरणी घर्घरान्कुर्यान्नाना चापडपादिकान् ।
 ततः कूटनिबद्धेन यद्वा वर्णसरात्मना ॥ १३२२ ॥
 कवितेनैष विषमं नृत्येन्निःसारतालतः ।
 ततः सालगसूडेन नृत्ते तत्र च दर्शयेत् ॥ १३२३ ॥
 रेखां च स्थापनां हृद्या वहनीर्गीतनर्तनम् ।
 विषमं च प्रहरणानुगमाभोगवादाने ॥ १३२४ ॥
 कविचारांस्तथा भावाश्रयान्पेरणिपद्धतौ ।

इति पेरणीपद्धतिः ।

इति । ‘द्वौ गुरु द्वौ लघुद्रुतौ । ताले सरस्वतीकण्ठाभरणे शार्ङ्गिसंमतौ’
 इति लक्षणमप्यनुसंधेयम् । अपडपादिकान् नाना कुर्यादि तिसंबन्धः । हृद्या
 वहनीरिति । हृदयंगमान् घर्घरिकावाद्यवादनप्रकारानित्यर्थः । प्रहरणं वाद्य-
 प्रबन्धानां विशेषः । तदनुगच्छत्यनुकरोतीति तथोक्तम् । विषमं पूर्वोक्त-
 मुत्प्लुतिकरणम् ॥ -१३१६-१३२४- ॥

इति पेरणीपद्धतिः ।

(सु०) अथ पेरणिनः पद्धतिं लक्षयति—गौण्डलीति । यत्र गौण्डली-
 विधाविव रङ्गस्थाः सांप्रदायिकाः गम्भीरमातोद्यध्वनिं कुर्युः । ततः धिधिधिधीति
 पादत्रये विलम्बितप्राये रिगोण्युड्वणाश्रये निःसरतालेन द्विर्द्वाद्यमाने सति,
 विशिष्टवाग्वेषभूषणे हास्यैकरसे नटे नृत्यति सति, रिगोण्युपशमानन्तरं पेरणी
 रङ्गं प्रविश्य नृत्येत् । ततो वाद्यसंघाते प्रशान्ते सति, अनन्तरं तालधरः
 पेरणी गारुगिताले वाद्यमाने सुनिपुणं कुर्यात् । यद्वा—सरस्वतीकण्ठाभरणे
 क्रियमाणे वादकैः क्रियमाणे मर्दलादेः तालसमे मन्द्रध्वनौ च सति अपडपादीन्
 घर्घरान् कूटनिबद्धेन वा वर्णसरात्मना वा कवितेन वा कृत्वा, एष पेरणी
 निःसारतालतः विषमं नृत्येत् । ततः सालगसूडेन नृत्ते रेखां स्थापनां च

तौर्यत्रये लक्ष्यलक्ष्मवेद्याचार्यः प्रकीर्तितः ॥ १३२५ ॥

वाग्मी सुरूपवेषोऽसौ सरसस्तुतिकोविदः ।

सभासु परिहासज्ञो भवेद्वादनवाद्यवित् ॥ १३२६ ॥

इत्याचार्यः ।

चतुर्धाभिनयाभिज्ञो नटो भाणादिभेदवित् ।

इति नटः ।

हृद्या वहनीः गीतनतर्ने विषमं च प्रहरणानुगमनम्, आभोगवादनं, कविचारान्, भावाश्रयांश्च दर्शयेत्; सा पेरणीपद्धतिः ॥ -१३१६-१३२४- ॥

इति पेरणीपद्धतिः ।

(क०) अथाचार्यं लक्षयति—तौर्यत्रय इत्यादि ॥-१३२५, २६॥

इत्याचार्यः ।

(सु०) आचार्यलक्षणमाह—तौर्यत्रय इति । तौर्यत्रये लक्ष्यलक्षणज्ञः, वाग्मी, शोभनरूपवेषभाक्, सरसः, स्तोत्रपटुः, सभासु परिहासवित्, मुखवाद्यज्ञः यः, स आचार्य इत्युच्यते ॥ -१३२५, १३२६ ॥

इत्याचार्यः ।

(क०) नटं लक्षयति—चतुर्थेत्यादि । भाणादिभेदविदिति । भाणो नाम नाटकादिषु रसाश्रयेषु दशरूपकेष्वेको रूपकभेदः । आदि-शब्देन प्रहसनादीनि रूपकाणि गृह्यन्ते ॥ १३२६- ॥

इति नटः ।

(सु०) नटलक्षणमाह—चतुर्थेति । चतुर्विधाभिनयवेत्ता, भाणादि-भेदवित्; भाणो नाम दशरूपकेष्वेको भेदः । अत्रादिशब्देन प्रहसनादीनां ग्रहणम् । एतादृशगुणयुक्तो नट इत्युच्यते ॥ १३२६- ॥

इति नटः ।

नर्तकः सूरिभिः प्रोक्तो मार्गनृत्ते कृतश्रमः ॥ १३२७ ॥

इति नर्तकः ।

सर्वभाषाविशेषज्ञो जनानां नर्मकर्मदः ।

पटुः परापवादिषु स्मृतो वैतालिको बुधैः ॥ १३२८ ॥

इति वैतालिकः ।

किङ्किणीवाद्यवेदी च वृत्तो विकटनर्तकैः ।

मर्मज्ञः सर्वरागेषु चतुरश्वारणो मतः ॥ १३२९ ॥

इति चारणः ।

(क०) नर्तकं लक्षयति—मार्गनृत्ते कृतश्रम इति । मार्गनृत्तं करणाङ्गहाराद्यात्मकं नृत्तम् । तत्र कृताभ्यासः ॥ -१३२७ ॥

इति नर्तकः ।

(सु०) अथ नर्तकं लक्षयति—नर्तक इति । मार्गनृत्ते कृतश्रमः, मार्गनृत्तं नाम करणाङ्गहारात्मकं नृत्तम् । तत्र कृत अभ्यासो येन स नर्तक इत्युच्यते ॥ -१३२७ ॥

इति नर्तकः ।

(क०) वैतालिकं लक्षयति—सर्वभाषेत्यादि ॥ -१३२८ ॥

इति वैतालिकः ।

(सु०) अथ वैतालिकं लक्षयति—सर्वभाषेति । सर्वभाषासु विशेषज्ञानसंपन्नः, सम्यजनानां नर्मकारी, परापवादिषु समर्थः, एतादृशगुणयुक्तो वैतालिक इत्युच्यते ॥ -१३२८ ॥

इति वैतालिकः ।

(क०) चारणं लक्षयति—किङ्किणीत्यादि ॥ १३२९ ॥

इति चारणः ।

भारस्य भूयसो वोढा प्रौढो भ्रमरिकादिषु ।

रज्जुसंचारचतुरश्छुरिकानर्तने कृती ॥ १३३० ॥

शस्त्रसंकटसंपातपटुः कोल्हाटिको मतः ।

इति कोल्हाटिकलक्षणम् ।

मध्यस्थाः सावधानाश्च वाग्मिनो न्यायवेदिनः ॥ १३३१ ॥

त्रुटितात्रुटिताभिज्ञा विनयानम्रकंधराः ।

अगर्वा रसभावज्ञास्तौर्यत्रितयकोविदाः ॥ १३३२ ॥

असद्वादनिषेद्धारश्चतुरा मन्सरच्छिदः ।

अमन्दरसनिष्पन्दिहृदयाः स्युः सभासदः ॥ १३३३ ॥

इति सभासदो लक्षणम् ।

(सु०) अथ चारणं लक्षयति—किङ्किणीवाद्यवेदीति । किङ्किणीवाद्यज्ञः, विकटनर्तकैः वृत्तः, सर्वरागेषु मर्मज्ञः, चतुरः यः, स चारण इत्युच्यते ॥ १३२९ ॥

इति चारणः ।

(क०) कोल्हाटिकं लक्षयति—भारस्येत्यादि ॥ १३३०, १३३०-॥

इति कोल्हाटिकलक्षणम् ।

(सु०) अथ कोल्हाटिकं लक्षयति—भारस्येति । बहुभारवोढा, भ्रमरिकादिषु प्रौढः, समर्थः; रज्जुसंचारे चतुरः, चणः; छुरिकानर्तने पटुः; शस्त्रसंकटपाते पटुः दक्षः; एवंविधगुणोपेतः कोल्हाटिक इत्युच्यते ॥ १३३०, १३३०- ॥

इति कोल्हाटिकलक्षणम् ।

(क०) सभासदो लक्षयति—मध्यस्था इत्यादि ॥ १३३१-३३॥

इति सभासदो लक्षणम् ।

शृङ्गारी भूरिदो मान्यो गात्रपात्रविवेचकः ।
 श्रीमान्गुणलवस्यापि ग्राहकः कौतुके रतः ॥ १३३४ ॥
 वाग्मी निर्मत्सरो नर्मनिर्माणनिपुणः सुधीः ।
 गम्भीरभावः कुशलः सकलासु कलासु च ॥ १९३५ ॥
 समस्तशास्त्रविज्ञानसंपन्नः कीर्तिलोलुपः ।
 प्रियवाक्परचित्तज्ञो मेधावी धारणान्वितः ॥ १३३६ ॥
 तूर्यत्रयविशेषज्ञः पारितोषिकदानवित् ।
 सर्वोपकरणोपेतो देशीमार्गविभागवित् ॥ १३३७ ॥
 हीनाधिकविवेकज्ञः प्राज्ञो मध्यस्थधीरधीः ।
 स्वाधीनपरिवारश्च भावको रसनिर्भरः ॥ १३३८ ॥
 सत्यवादी कुलीनश्च प्रसन्नवदनोत्तरः ।
 स्थिरमेमा कृतज्ञश्च करुणावरुणालयः ॥ १३३९ ॥
 धर्मिष्ठः पापभीरुश्च विद्वद्बन्धुः सभापतिः ।

इति सभापतिलक्षणम् ।

(सु०) अथ सभासदं लक्षयति—मध्यस्था इति । मध्यस्थाः; अव-
 हिताः, वाग्मिनः, न्यायवेदिनः, त्रुटितात्रुटिताभिज्ञाः, विनयेन आनम्रकन्धराः,
 गर्वरहिताः, रसभावज्ञाः, तौर्यत्रितयकोविदाः, असद्वादनिषेद्धारः, चतुराः, मत्सर-
 भिदाः, अमन्दरसनिष्यन्दिद्वयः सभासद इत्युच्यन्ते ॥ -१३३१-१३३३ ॥

इति सभासदो लक्षणम् ।

(क०) सभापतिं लक्षयति—शृङ्गारीत्यादि ॥ १३३४-१३३९-॥

इति सभापतिलक्षणम् ।

(सु०) अथ सभापतिं लक्षयति—शृङ्गारीति । शृङ्गारी, बहुदाता,

विचित्रा नृत्यशाला स्यात्पुष्पप्रकरशोभिता ॥ १९४० ॥
 नानावितानसंपन्ना रत्नस्तम्भविभूषिता ।
 तस्यां सिंहासनं रम्यमध्यासीनः सभापतिः ॥ १९४१ ॥
 वामतोऽन्तःपुराणि स्युः प्रधाना दक्षिणेन तम् ।
 पृष्ठभागे प्रधानानां कोणः श्रीकरणाधिपः ॥ १९४२ ॥
 तत्संनिधौ तु विद्वांसो लोकवेदविशारदाः ।
 रसिकाः कवयोऽप्यत्र चतुराः सर्वरीतिषु ॥ १९४३ ॥
 मान्याञ्ज्योतिर्विदो वैद्यान्विद्वन्मध्ये निवेशयेत् ।
 स्याद्वामेतरभागे तु मत्त्रिणां परिमण्डलम् ॥ १९४४ ॥
 तत्रैव सैन्यमान्यानामन्येषामुपवेशनम् ।
 विलासिनो विलासिन्यः परितोऽन्तःपुराणि च ॥ १९४५ ॥
 पुरतोऽपि नृपस्य स्युः पृष्ठभागे तु भूपतेः ।

माननीयः, गात्रपात्रविवेचकः, श्रीमान्, गुणलेशस्यापि गृहीता, कौतुकासक्तः,
 वाग्मी, मत्सरशून्यः, नर्मनिर्माणपटुः, सुधीः, गम्भीरभावयुक्तः, सकलकालासु
 समर्थः, समस्तशास्त्रविज्ञानसंपन्नः, कीर्तिषु लोलुपः, प्रियवादी, पराभिप्रायज्ञः,
 मेधावी बुद्धिमान्, धारणायुक्तः, तूर्यत्रयविशेषज्ञः, पारितोषिकदानवित्, सर्वोप-
 करणवान्, देशीमार्गविभागवित्, हीनाधिकविशेषज्ञः, प्राज्ञः, मध्यस्थेषु धीरः,
 स्वायत्तपरिवारः, भावकः, रसनिर्भरः, सत्यवादी, कुलीनः, प्रसन्नवदनः,
 स्थिरप्रीतिः, कारुण्यवान्, धर्मिष्ठः, पापभीरुः, विद्वद्वन्धुः, इत्येवंगुणोपेतः
 सभापतिरित्युच्यते ॥ १३३४-१३३९ ॥

इति सभापतिलक्षणम् ।

(क०) अथ सभास्थानं तत्र सामाजिकानां संनिवेशं चाह—
 विचित्रेत्यादि । एवमिति । उक्तप्रकारेण सभां सामाजिकसमूहं संनिवेश्य

चारुचामरधारिण्यो रूपयौवनसंभृताः ॥ १३४६ ॥

स्वकङ्कणझणत्कारनिर्वाणजनमानसाः ।

आसीना वामभागे स्युरग्रे वाग्गेयकारकाः ॥ १३४७ ॥

कथका बन्दिनश्चात्र विद्यावन्तः प्रियंवदाः ।

प्रशंसाकुशलाश्चान्ये चतुराः सर्वमातुषु ॥ १३४८ ॥

ततः परं च परितः परिवारोपवेशनम् ।

अधिष्ठितं सदः कार्यं दक्षैर्वेत्रधरैर्नरैः ॥ १३४९ ॥

अङ्गरक्षास्तु तिष्ठेयुः सर्वतः शस्त्रपाणयः ।

संनिवेश्य सभामेवं नेता संगीतमीक्षते ॥ १३५० ॥

इति सभासंनिवेशः ।

यथासंस्थानं स्थापयित्वा, नेता; नायक उक्तगुणः सभापतिः । संगीतम्;

आनन्दातिशयोत्पादसाधनं तूर्यत्रयं गीतवाद्यनृत्यानां मेलनमित्यर्थः । ईक्षते;

अवहितमना भूत्वा विलोकयेदिति नियमोऽनुसंधेयः ॥ -१३४०-१३५०॥

इति सभासंनिवेशः ।

(सु०) सभासंनिवेशं लक्षयति—विचित्रा इति । रत्नस्तम्भालङ्कृतायां, पुष्पशोभितायां, नानाविधविभावविलसितायां नृत्याशालायां सिंहासने सभापतिस्तिष्ठेत् । तद्वामे अन्तःपुराणि; तद्वक्षिणे प्रधानाः; प्रधानपृष्ठभागे कोशाद्यधिपाः; तत्संनिधौ लोकवेदसमर्था विद्वांसः; रसिकाः कवयः; तन्मध्ये ज्योतिर्विदः वैद्याश्च; तद्वक्षिणे मन्त्रिणः, तत्रैव सेनापतयश्च तिष्ठेयुः । अन्तःपुरस्य परितो विलासिन्यः; सभापतेः परितो विलासिनश्च उपविशेयुः । राज्ञः पृष्ठभागे चारुचामरधारिण्यः, रूपयौवनशालिन्यः स्वङ्कणझणत्कारतोषितमनसः उपविशेयुः । राज्ञो वामभागे वाग्गेयकारकाः, कथकाः, बन्दिनः, विद्यावन्तः, प्रियंवदाः, प्रशंसाकुशलाः, सर्वमातुषु चतुरश्च, अन्येऽपि

अथ नवरसलक्षणम्—

रसप्रधानमिच्छन्ति तौर्यत्रिकमिदं विदः ।

तत्सामान्यविशेषाभ्यामधुनाभिदधे रसम् ॥ १३५१ ॥

उपविशेयुः । ततः परं परितः परिवारा उपविशेयुः । सदसि दक्षाः वेत्रधारिणः, शस्त्रपाणयः, अङ्गरक्षकाश्च सर्वतः तिष्ठेयुः । एवं सभां संनिवेश्य नेता संगीतं पश्येत् ॥ -१३४०-१३५० ॥

इति सभासंनिवेशः ।

अथ नवरसलक्षणम्—

(क०) एवं संगीतस्वरूपनिरूपणानन्तरं रसनिरूपणसंगतिं दर्शयन् रसप्रकरणमारभते—रसप्रधानमित्यादि । विदः; विद्वांसः इदम्; तौर्यत्रयं संनिहितपूर्वकालमेवोक्तलक्षणत्वात् बुद्धिस्थितस्य तूर्यत्रयस्येदमा प्रत्यक्षविषयेण निर्देश उपपन्न एव । रसप्रधानमिच्छन्तीति । रसो नाम विभावैरित्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणो धीविशेष इच्छाविशेषो वा, स प्रधानं यस्य स तत्तथोक्तम् । तौर्यत्रिकस्य रसाविर्भावसाधनत्वेनाङ्गत्वम् । रसस्य तत्साधनत्वेनाङ्गित्वमित्यर्थः । यत एवं तत्तस्मात्कारणात् रसं तत्सामान्य-विशेषाभ्यामभिदधे इति । रसशब्दाभिधेयस्य स्वरूपनिरूपणं सामान्ये-नाभिधानं शृङ्गारादिशब्दानां स्वरूपनिरूपणं विशेषाभिधानम् ॥ १३५१ ॥

(सु०) अथ रसप्रकरणमारभते—रसप्रधानमिति । विदः; विद्वांसः, इदं तौर्यत्रिकं रसप्रधानमिच्छन्ति । तस्मात् सामान्यविशेषाभ्यामधुना रसस्य लक्षणमभिदधे इत्यन्वयः । अत्र रसस्य स्वरूपनिरूपणं सामान्येन; शृङ्गारादीनां तु विशेषेणेत्यवगन्तव्यम् । तत्र रसस्य सामान्यलक्षणमाह—विभावैरिति । नट-स्थितैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः स्वादुतया नीयमानः स्थायी रस इत्युच्यते । स नवविधः—शृङ्गारः, हास्यः, करुणः, रौद्रः, वीरः, भयानकः,

विभावैरनुभावैश्च नटस्थैर्व्यभिचारिभिः ।

जनितात्मपराभिन्नमित्राद्याश्रयतां विना ॥ १३५२ ॥

अवस्थादेशकालादिभेदसंभेदवर्जितम् ।

केवलं रतिहासादिस्थायिरूपं प्रगृह्णीती ॥ १३५३ ॥

बीभत्सः, अद्भुतः, शान्तश्चेति । शान्तस्य शमसाध्यत्वात् तस्य च नटेऽसंभवात्
अद्यावेव रस इति केचिदाहुः । तन्न मनोहरम् । न हि नटस्तावत् कंचन रसं
स्वदते; परं तु सभास्ताराः । तथाच सति शुद्धहृदयाः सभ्याः स्वविभाव-
विभावितं शान्तरसमनुभवतीति संजाघटत एव । स्थाप्यपि नवविधः—रतिः,
हासः, शोकः, क्रोधः, उत्साहः, भयम्, जुगुप्सा, विस्मयः, निर्वेद
इति ॥ १३५१-१३६१- ॥

(क०) तत्र सामान्यलक्षणमाह—विभावैरित्यादि । विभावा नाम
लोके स्थाय्यादिभावानां, 'दृष्टा ये जन्महेतवः' इत्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणाः ।
अनुभावा नाम, 'भावानां यानि कार्याणि' इत्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणाः ।
व्यभिचारिणोऽपि, 'स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः' इत्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणाः ।
नटस्थैरिति विभावादीनां विशेषणम् । तेन लौकिकरसो व्यावर्त्यते । जनितेति ।
उक्तैर्विभावादिभिः जनिता सामाजिकेषूत्पादिता; आत्मा अहमिति प्रत्यय-
विषयः; परः अन्यः, अन्यस्मिन्नप्ययममित्र इदं मित्रमिति, आदिशब्देना-
यमुदासीन इत्युदासीनो गृह्यते; एवमात्मादिराश्रयो विषयो यस्याः सा
आत्मपराभिन्नमित्राद्याश्रया, तस्या भावस्तत्तेति वक्ष्यमाणायाः संविदो धर्मः ।
तां विना । अवस्थेत्यादि । अवस्थाभेदा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः; देशभेदाः
पुरग्रामादयः; कालभेदा अहोरात्रादयः; आदिशब्देन ब्राह्मणादयो
वर्णभेदा गृहस्थत्वादय आश्रमभेदाः पाचकपाठकादयोऽन्येऽपि गृह्यन्ते ।
तैः संभेदः संपर्कः । तेन वर्जितम् । अत एव केवलं रतिहासादिस्थायि-

अतो निरन्तरायत्वात्परां विश्रान्तिमाश्रिता ।

प्रतिभानुभवस्मृत्याद्यन्यबोधविलक्षणा ॥ १३५४ ॥

ब्रह्मसंविद्विसदृशी नानारत्यादिसङ्गमात् ।

सुखरूपा स्वसंवेद्या संविदास्वादनाभिधा ॥ १३५५ ॥

रसः स्यादथवा स्थायी रसस्तद्गोचरीभवन् ।

रूपम् । रतिः शृङ्गाररसस्य स्थायिभावो वक्ष्यते । हासो हास्यरसस्य ; आदिशब्देन करुणस्य शोक इत्यादिकं द्रष्टव्यम् । एवंविधं स्थायिरूपं प्रगृह्णीती स्वीकुर्वती । अत इति । उक्तकारणात् ; निरन्तरायत्वात् ; विभ्ररहितत्वात् पराम् ; उत्कृष्टां विश्रान्तिं विस्रम्भमाश्रिता । प्रतिभेत्यादि । प्रतिभा नाम सूक्ष्मसूक्ष्मार्थग्राहकं भविष्यद्वस्तुविषयकं ज्ञानम् । अनुभवो नाम वर्तमानवस्तुविषयं ज्ञानम् ; स्मृतिर्नामातीतवस्तुविषयं ज्ञानम् ; आदिशब्देन संशयविपर्ययौ गृह्येते । प्रतिभादिष्वन्योऽन्यतमो बोधो ज्ञानं तद्विलक्षणा । प्रतिभादिबोधेष्वन्यतमस्यापि न सदृशीत्यर्थः । प्रतिभादिवैलक्षण्यं ब्रह्मसंविदोऽपि विद्यत इति तथा सादृश्यमाशङ्क्य तस्या अपि वैलक्षण्यं सहेतुकं दर्शयति—ब्रह्मसंविद्विसदृशीति । नानारत्यातिसङ्गमाद्बहुधाभूतरत्यादिस्थायिभावसंबन्धाद्धेतोः ब्रह्मसंविदो वैसासादृश्यमुक्त्वा, अंशान्तरै सच्चिदानन्दरूपैः तत्सादृश्यमाप्याह—सुखरूपेत्यादि । सुखरूपेत्यनेन आनन्दरूपता, स्वसंवेद्येत्यनेन चिद्रूपता, आस्वादनाभिधेत्यनेन सरूपता च दर्शितेत्यवगन्तव्यम् । एवंविधा संविद्रसः स्यादित्यन्वयः । कैश्चित्, “स्थायी भावो रसः स्मृतः” इत्युक्तत्वात् तन्मतमनुस्मृत्याह—अथवेति । तद्गोचरी भवन् ; तस्या उक्तरूपायाः संविदो गोचरीभवन् विषयत्वेन प्रतीयमानः स्थायी रत्यादिको भाव एव रसः स्यात् ॥ १३५२—१३५५ ॥

दध्यादिव्यञ्जनैश्चैव हरिद्रादिभिरौषधैः ॥ १३५६ ॥

मधुरादिरसोपेतैर्यद्वद् द्रव्यैर्गुडादिभिः ।

युक्तैः पाकविशेषेण षाड्वाख्यापरो रसः ॥ १३५७ ॥

उत्पाद्यते विभावाद्यैः प्रयोगेण तथा रसः ।

शृङ्गारहास्यौ करुणो रौद्रो वीरो भयानकः ॥ १३५८ ॥

बीभत्सश्चाद्भुतः शान्तो नवधेति रसो मतः ।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात् ॥ १३५९ ॥

अष्टावेव रसा नाटयेष्विति केचिदचूचुदन् ।

(क०) “ विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ” इत्यस्य भरत-
सूत्रस्यार्थमनुसंधाय लोकसिद्धभोजनरसदृष्टान्तपूर्वकमाह—दध्यादिव्यञ्जनै-
रित्यादिना । अत्र विभावा दध्यादिस्थानीयाः ; संचारिणः चिञ्चाहरिद्रा-
द्यौषधस्थानीयाः ; अनुभावाः गुडादिद्रव्यस्थानीया इति मन्तव्याः ।
पाकविशेषस्थानीयोऽपरोऽन्य उत्कृष्टश्च । मधुरादिभ्यः षड्भ्योऽन्यः तेषां
संसर्गरूपत्वात् । अत एव तेभ्य उत्कृष्टश्च । षाड्वाख्य इति । षड्भि-
र्मधुरादिभिः निर्वृत्तः षाडवः । षाडव इत्याख्या यस्य स तथोक्तः । अत्रापि
रत्यादिभ्योऽन्य उत्कृष्टश्च शृङ्गारादिको रसो द्रष्टव्यः ॥ १३५६—१३५७-॥

(क०) एवं सामान्येन रसमभिधाय तद्विशेषानुद्दिशति—शृङ्गार-
हास्यावित्यदि । अत्र कैश्चित् शान्तव्यतिरिक्ताः शृङ्गारादयोऽष्टावेव
नाट्यरसत्वेनोक्ताः । शान्तेन सह कथं नवधेत्युद्देश उपपन्न इति चोद्यं
परिजिहीर्षुरादौ तन्मतमनुभाषते—शान्तस्येत्यदि । शमो नाम सर्वेन्द्रि-
यव्यापारोपरमात्मकः शान्तस्य स्थायी । नटे च तदसंभवादिति । नट
ईषच्चलनयुक्ते तु तस्य शमस्य, आस्वाद्यमानत्वासंभवादित्यर्थः । अनेनाष्टा-
वेवेत्यत्रोपपत्तिर्दर्शिता भवति ॥ -१३५८, १३५९-॥

तदचोद्यं यतः किञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥ १३६० ॥
 सामाजिकास्तु लिङ्गते रसान् पात्रं नटो मतः ।
 ते शुद्धहृदयाः शान्तं स्वविभावविभावितम् ॥ १३६१ ॥
 एकाग्रचेतसः सन्तोऽनुभवन्तीति युज्यते ।
 रतिहासशुचः क्रोधोत्साहौ भयजुगुप्सने ॥ १३६२ ॥
 विस्मयश्चाथ निर्वेदः स्थायिभावा नवेत्यमी ।
 जुगुप्सां स्थायिभावं तु शान्ते केचिद्विभाषिरे ॥ १३६३ ॥

(क०) तद्दूषयति—तदचोद्यमिति । यतः कारणात् नटो रसं किञ्चिदपि न स्वदते । नटस्य स्वकार्याभिनयविहितत्वेनाल्पोऽपि रसस्यास्वादः तस्य नास्तीत्यर्थः । सामाजिकास्त्विति । तेषां कार्यान्तरानुसंधानाभावत्वे तूक्तरूपान् रसान् स्वदन्ते । अतः कारणात् नटः पात्रं रसस्याधारमात्रम् । अयमर्थः—यथा लोके पानकादिरसस्य चषकादिकमाधारत्वेन पात्रं, न तु तदास्वादज्ञातृत्वेन । एवं नटोऽपि रसास्वदको न भवति । अतः शान्त-रसस्य न नाट्यरसत्वनिषेध इति । त इत्यादि । ते; सामाजिकाः, शुद्धहृदयाः; कार्यान्तरेष्वनासक्तचित्ता इत्यर्थः । एकाग्रचेतसः; नाट्यदर्शन एवावहितमनस इत्यर्थः । एवंविधाः सन्तः, स्वविभावविभावितम्; स्वविभावा वक्ष्यमाणाः संसारभीरुतादयः, तैर्विभावितं निष्पादितं शान्त-मनुभवन्ति । इति युज्यत इति । शृङ्गारादिवत् सामाजिकास्वद्यमानत्वात् शान्तस्यापि नाट्यरसत्वमुपपन्नमित्यर्थः ॥ -१३६०, १३६१- ॥

(क०) अथ रसोपादानभूतान् स्थायिभावानुद्दिशति—रतिहासशुच इत्यादि । शान्तस्य स्थायिभावविकल्पं मतभेदेन दर्शयति—जुगुप्सामि-त्यादि । सर्वान्परे विदुरिति । सर्वान् निर्वेदजुगुप्सोत्साहशमान् । शान्ते निर्वेदस्य तावत्स्थायित्वं मयातीतेषु जन्मान्तरेषु मोक्षेद्योगो न कृत इति तत्त्व-

उत्साहमाहुरन्येऽन्ये शमं सर्वान्यरे जगुः ।
 उद्दिश्य स्थायिनः प्राप्ते समये व्यभिचारिणाम् ॥ १३६४ ॥
 अमङ्गलमपि ब्रूते पूर्वं निर्वेदमेव यत् ।
 मुनिर्मेनेऽस्य तन्नूनं स्थायिताव्यभिचारिते ॥ १३६५ ॥
 पूर्वापरान्वयो ह्यस्य मध्यस्थस्यानुषङ्गतः ।
 स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि ॥ १३६६ ॥
 इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतास्तु व्यभिचार्यसौ ।

बोधजितस्य भावविशेषस्यानुस्यूतत्वात् द्रष्टव्यम् । जुगुप्सायास्तु स्थायित्वमनु-
 भूयमानविषयहेयत्वदर्शनानुस्यूत्या द्रष्टव्यम् । उत्साहस्य तु स्थायित्वं साधन-
 चतुष्टयसंपत्त्यर्थं मानसप्रयत्नानुस्यूत्या द्रष्टव्यम् । शमस्यापि स्थायित्वं
 सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतेरभ्यासाद्द्रष्टव्यम् । एवं समवेतानामपि निर्वेदादीनां
 शान्तं प्रति स्थायित्वमनुसंधेयम् । उद्दिश्येत्यादि । स्थायिनो रत्यादि-
 भावानुद्दिश्य व्याभिचारिणां निर्वेदादीनां समयेऽवसरे । प्राप्त इति ।
 स्थायिप्रतिद्वन्द्वत्वेन व्यभिचारिणां बुद्ध्यपारूढतया संगतत्वादिति भावः ।
 अमङ्गलमित्यादि । यत् ; यस्मात् कारणात् मुनिः भरतर्षिः अमङ्गलमपि
 निर्वेदमेव पूर्वं ब्रूते, तत्तस्मात् कारणात् अस्य निर्वेदस्य स्थायिताव्यभि-
 चारिता मेने । नूनमिति मुनेरभिप्राय उत्प्रेक्ष्यते । एवं सति मध्यस्थस्य
 निर्वेदस्यानुषङ्गतो देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र संबन्धात् पूर्वापरान्वयो भवति ।
 हि प्रसिद्धौ । पूर्वैः स्थायिभिः परैः व्यभिचारिभिश्चान्वययोजना ॥
 ॥ -१३६२-१३६६- ॥

(क०) स्थायिसंचारितयोर्विभागमाह—स्थायी स्यादित्यादि ।
 एष निर्वेदो यदि विषयेषु तत्त्वज्ञानोद्भवो भवेत्, तदा स्थायी स्यात् ।

निर्वेदग्लानिशङ्कोऽप्यदैन्यासूयामदश्रमाः ॥ १३६७ ॥

चिन्ता धृतिः स्मृतिर्व्रीडामोहालस्यानि चापलम् ।

हर्षामर्षविषादाश्चापस्मारो जडता तथा ॥ १३६८ ॥

वितर्कसुप्तमौत्सुक्यमवहित्थं तथा मतिः ।

विबोधो व्याधिरुन्मादो गर्वावेगौ मृतिस्तथा ॥ १३६९ ॥

त्रासो निद्रा त्रयस्त्रिंशदिति स्तुर्व्यभिचारिणः ।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ॥ १३७० ॥

वैवर्ण्यमश्रु प्रलयोऽष्टौ भावाः सात्त्विका इति ।

असौ ; निर्वेदः, इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतास्तु ; इष्टवियोगकृतोऽनिष्टावासिकृतो वा भवति चेत्तदा ढयाभचारी स्यात् ॥ -१३६७ ॥

(क०) व्यभिचारिण उद्दिशति—निर्वेद इत्यादि ॥ -१३६७-१३६९- ॥

(सु०) व्यभिचारिणो लक्षयति—निर्वेदेति । निर्वेदः, ग्लानिः, शङ्का, औद्यम्, दैन्यम्, असूया, मदः, श्रमः, चिन्ता, धृतिः, स्मृतिः, व्रीडा, मोहः, आलस्यम्, चावलम्, हर्षः, अमर्षः, विषादः, अपस्मारः, जडता, वितर्कः, सुप्तिः, औत्सुक्यम्, अवहित्थम्, मतिः, विबोधः, व्याधिः, उन्मादः, गर्वः, आवेगः, मृतिः, त्रासः, निद्रेति त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाः ॥ -१३६७-१३६९- ॥

(क०) सात्त्विकानुद्दिशति—स्तम्भ इत्यादि ॥ -१३७०, १३७०- ॥

(सु०) अथ सात्त्विकभावान् लक्षयति—स्तम्भ इति । स्तम्भः, स्वेदः, रोमाञ्चः, स्वरभेदः, वेपथुः, वैवर्ण्यम्, अश्रु, प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकभावाः ॥ -१३७०, १३७०- ॥

विभावाद्यैरनुचितः स्थानत्वाद्विकृति गतैः ॥ १३७१ ॥
 शृङ्गारादिरसामासाः कृता हास्यस्य हेतवः ।
 फलं बन्धुवधो रौद्रे विभावः करुणे च सः ॥ १३७२ ॥
 जगदुस्तद्विदो रौद्रमतः करुणकारणम् ।
 रौद्रं भयानके हेतुमत एव प्रचक्षते ॥ १३७३ ॥
 शृङ्गाराद्विप्रलम्भाख्यात्करुणोत्पत्तिरिष्यते ।
 भयानकेऽद्भुते हेतुं वीरं धीरा वभाषिरे ॥ १३७४ ॥
 विदूषकस्य हासस्तु नायके हास्यकारणम् ।
 साम्याद्बुधिरमोहादिविभावाद्व्यभिचारिणाम् ॥ १३७५ ॥
 बीभत्से सति भीरूणामुत्पद्येत भयानकः ।
 अन्योन्यजन्यजनका भवन्त्येवमिमे रसाः ॥ १३७६ ॥
 श्यामः सितो धूसरश्च रक्तो गौरोऽसितस्तथा ।
 नीलः पीतस्ततः श्वेतो रसवर्णाः क्रमादिमे ॥ १३७७ ॥
 विष्णुमन्मथकीनाशरुद्रेन्द्राः कालसंज्ञकः ।
 महाकालः क्रमाद् ब्रह्मा बुधश्च रसदेवताः ॥ १३७८ ॥
 शृङ्गारे देवतामाहुरपरे मकरध्वजम् ।

(क०) रसानामन्योन्यजन्यजनकभावमाह—विभावाद्यैरित्यादि ॥
 ॥ -१३७१-१३७६ ॥

(सु०) रसानां परस्परजन्यजनकभावं लक्षयति—विभावाद्यैरिति
 ॥ -१३७१-१३७६ ॥

(क०) शृङ्गारादीनां क्रमेण वर्णान् देवतांश्चाह—श्याम इति । तत्र
 शृङ्गारः श्यामवर्णः, विष्णुदैवतः । हासः श्वेतवर्णः, मन्मथदैवतः । करुणो

वक्ष्ये विशेषलक्ष्माणि रसादेरधुना क्रमात् ॥ १३७९ ॥

विभावैर्वरकान्ताद्यैः स्वकाव्ये कविगुम्फितैः ।

साक्षात्कारमिवानीतैर्नटेन स्वप्रयोगतः ॥ १३८० ॥

नीतो रतिस्थायिभावः सदस्यरसनीयताम् ।

नटेन कान्तदृष्ट्याद्यैरनुभावैः प्रदर्शितैः ॥ १३८१ ॥

धूसरवर्णः, यमदैवतः । रौद्रो रक्तवर्णः, रुद्रदैवतः । वीरो गौरवर्णः, इन्द्र-
दैवतः । भयानकः कृष्णवर्णः, कालदैवतः । बीभत्सो नीलवर्णः, महा-
कालदैवतः । अद्भुतः पीतवर्णः, ब्रह्मदैवतः । शान्तः श्वेतवर्णः, बुधदैवत
इति क्रमो द्रष्टव्यः ॥ १३७७, १३७८- ॥

(सु०) शृङ्गारादिरसानां वर्णान् देवतांश्च लक्षयति—इयाम इति ।
श्यामः, सितः, धूसरः, रक्तः, गौरः, असितः, नीलः, पीतः, श्वेत इति
क्रमादेते रसवर्णा भवन्ति । विष्णुः, मन्मथः, कीनाशः, रुद्रः, इन्द्रः, कालः,
महाकालः, ब्रह्मा, बुध इति क्रमादेते रसदेवता भवन्ति । केचित् शृङ्गारे
मकरध्वज इति वदन्ति ॥ १३७७, १३७८- ॥

(क०) रसादेर्विशेषलक्षणानि वक्तुं प्रतिजानीते—वक्ष्य इत्यादि ।
रसादेरित्यत्र आदिशब्देन स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका गृह्यन्ते । एतेषां
समुदायविवक्षया रसादेरित्येकवचननिर्देशः । विशेषलक्ष्माणीति । समु-
दायिनां शृङ्गारादीनां प्रत्येकं लक्षणानीत्यर्थः । तत्र शृङ्गारं लक्षयति—
विभावैरित्यादि । वरकान्तद्यैरिति । वरश्च कान्ता च वरकान्ते आलम्ब-
नविभावौ । आद्यशब्देन चन्द्रचन्दनमन्दानिलादय उद्दीपनविभावा गृह्यन्ते ।
स्वकाव्य इति । स्वशब्देन कविरुच्यते । कविगुम्फैरिति । कविना
निबद्धैः, अनन्तरं नटेन स्वप्रयोगतः स्वकीयात् चतुर्विधाभिनयप्रयोगात्,
साक्षात्कारमानीतैरिव स्थितैः विभावैः । सदस्यरसनीयतां सदस्यैः सामाजिकैः

आवेशातिशयं नीतश्चित्रितो व्यभिचारिभिः ।

हर्षचिन्तादिभिः प्रोक्तः शृङ्गारः सूरिशार्ङ्गिणा ॥ १३८२ ॥

संभोगविप्रलम्भौ वावस्थे द्वे तस्य कीर्तिते ।

कान्तासंयोगविरहौ लक्षणे च तयोः क्रमात् ॥ १३८३ ॥

स्त्रीपुंसयोरुत्तमयोर्यूनोः पूर्णसुखोदया ।

प्रारम्भात्फलपर्यन्तव्यापिनी स्मरसंभृता ॥ १३८४ ॥

संविदोरैक्यसंपत्त्या क्रीडात्र स्थायिनी रतिः ।

रसनीयतामास्वाद्यमानतां नीतः प्रापितः । नटेन अनुकर्त्रा प्रदर्शितैः
कान्तादृष्ट्याद्यैः अनुभावैः आवेशातिशयं सामाजिकमनःस्वभिमानातिशयं
नीतः प्रापितः । हर्षचिन्ताद्यैः व्याभिचारिभिः चित्रितः शबलितः रति-
स्थायिभावः; रत्याख्यः स्थायिभावो यस्य सः । सूरिशार्ङ्गिणा शृङ्गारः
प्रोक्त इति संबन्धः । संभोगेत्यादि । तयोश्च कान्तासंयोगविरहौ
क्रमादुल्लेखे इति । कान्तासंयोगः संभोगशृङ्गारस्य लक्षणम् । कान्ताविरहो
विप्रलम्भशृङ्गारास्य लक्षणमिति क्रमः ॥ -१३७९-१३८३ ॥

(सु०) अथ शृङ्गारं लक्षयति—विभावैरिति । कविना निबद्धैः, नटेन
अभिनीतैः, विभावाद्यैः सदस्यैः रसनीयतां नीतः रतिस्थायिभावः, नटेन
प्रदर्शितैः कान्तादृष्ट्याद्यैः अनुभावैः आवेशातिशयं सदस्यानां मनःस्वभिमाना-
तिशयं नीतः, हर्षचिन्तादिभिः चित्रितः; रत्याख्यः स्थायिभावो शृङ्गारः । स
द्विविधः; संभोगशृङ्गारः, कान्ताविरहस्तु विप्रलम्भ इति ॥ -१३७९-१३८३ ॥

(क०) रतिं लक्षयति—स्त्रीपुंसयोरित्यादि । संविदोरैक्य-
संपत्त्येति । स्त्रीपुंससंबन्धिन्योः बुद्धयोरत्यन्तमेकरूपतया क्रीडा केलिः ।
अत्र स्थायिनी रतिरिति । अन्यत्र देवादिविषया संचारिणी रति-
रित्यर्थः ॥ १३८४, १३८४- ॥

लोके स्थाय्यादिभावानां दृष्टा ये जन्महेतवः ॥ १३८५ ॥

उपनीताः कविवरैर्नटैः साक्षात्कृता इव ।

रसान्प्रसुन्वते ते स्युर्विभावास्तद्विभावनात् ॥ १३८६ ॥

कान्तौ तीव्रस्मराक्रान्तौ दूतीसख्यादयो जनाः ।

तत्तद्योग्योऽप्यलंकारः किरीटकटकादिकः ॥ १३८७ ॥

समयोऽपि वसन्तादिर्विषयाश्चन्दनादयः ।

गीतादयश्च देशोऽपि रम्यहर्म्यवनादिकः ॥ १३८८ ॥

कान्तानुकरणं हंसयुग्मचित्रादिदर्शनम् ।

जलकेलीत्येवमाद्याः श्रुता यद्वा विलोकिताः ॥ १३८९ ॥

विभावत्वेन विख्याता रसे शृङ्गारनामनि ।

(सु०) रतिं लक्षयति—स्त्रीपुंसयोरिति । उत्तमयोः स्त्रीपुंसयोः पूर्णसुखो-
दया ; प्रारम्भात्फलपर्यन्तव्यापिनीस्मरसंभृता, संविदोः ऐक्यसंपत्त्या यत्र क्रीडा,
सा स्थायिनी रतिरित्युच्यते ॥ १३८४, १३८४- ॥

(क०) विभावानां सामान्यलक्षणमाह—लोक इत्यादि । स्थाय्या-
दीत्यत्र आदिशब्देन संचारिणो गृह्यन्ते । तद्विभावनादिति । तेषां
रसानां विभावनादुत्पादनात् । एतेन विभावशब्दस्य व्युत्पत्तिर्दर्शिता ॥
॥ -१३८५, १३८६ ॥

(सु०) विभावानां सामान्यलक्षणं लक्षयति —लोक इति । अत्रादिशब्देन
संचारिणो गृह्यन्ते । तेषाम् ; रसानाम् ॥ -१३८५, १३८६ ॥

(क०) तत्र शृङ्गारस्य विभावानाह—कान्तावित्यादि । कान्ता च
कान्तश्च कान्तौ । “पुमांस्त्रिया” इत्येकशेषः । अत्र तयोरालम्बनवि-
भावत्वं रत्यादीनामितरेषामुद्दीपनविभावत्वम् ॥ १३८७—१३८९- ॥

भावानां यानि कार्याणि नाट्यन्ते कुशलैर्नटैः ॥ १३९० ॥

अनुभावा हेतवस्ते स्वहेत्वनुभवे यतः ।

ते भावानाभिमुख्येन नयन्ति गमयन्ति हि ॥ १३९१ ॥

अतोऽभिनयशब्देनाप्युच्यन्ते कृत्रिमा नटैः ।

(सु०) शृङ्गारस्य विभावान् लक्षयति—कान्ताविति । कान्ता च कान्तश्चेति एकशेषसमासः । अत्र कान्तयोः स्त्रीपुंसयोः आलम्बनविभावत्वं, रत्यादीनामितरेषामुद्दीपनविभावत्वमिति ॥ १३८७-१३८९ ॥

(क०) अनुभावानां सामान्यलक्षणमाह—भावानामित्यादि । भावानां स्थायिनां संचारिणां च यानि कार्याणि कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतीनि कुशलैः नटैः नाट्यन्ते अनुक्रियन्ते, ते यतः कारणात् स्वहेत्वनुभवे स्वेषां हेतवः स्थायिनः संचारिणश्च तेषामनुभवोऽत्रानुमानम् । तत्र हेतवो लिङ्गानि । अतस्तेऽनुभावा इति सिंहावलोकनन्यायेन योजनीयम् । एतेन अनुभावयन्तीत्यनुभावा इति व्युत्पत्तिर्दर्शिता भवति । तेष्वभिनयशब्द-प्रवृत्तौ निमित्तं दर्शयति—ते भावानित्यादि । हि यस्मात्कारणात् तेऽनुभावाः भावान् पदार्थान् आभिमुख्येन । नयन्तीत्यस्य व्याख्यानं गमयन्तीति ; ज्ञापयन्तीत्यर्थः । अतः नटैः कृत्रिमा अनुकाररूपेण नट आरोपिता वर्तमानाः सन्तोऽभिनयशब्देनाप्युच्यन्ते । अनुकार्यनिष्ठत्वेनानुभावव्यपदेशः । कटाक्षादय एवानुकर्तृनिष्ठत्वेनाभिनया उच्यन्त इत्यर्थः ॥-१३९०, १३९१-॥

(सु०) अनुभावानां सामान्यलक्षणं लक्षयति—भावानामिति । भावानां स्थायिनां संचारिणां च यानि कार्याणि कटाक्षादीनि, कुशलैः नटैः नाट्यन्ते अनुक्रियन्ते, ते अनुभावाः । ते यतः स्वहेत्वनुभवे हेतवः स्युः ॥ -१३९०, १३९१- ॥

कान्ता दृष्टिः कटाक्षाख्यं तारकाकर्म शर्मकृत् ॥ १३९२ ॥

चतुरे च भुवौ चारुगोचरा मधुरा गिरः ।

रोमाञ्चमुखरागादिरचितः सात्त्विकोत्करः ॥ १३९३ ॥

अनुभावा भवन्त्येते शृङ्गाररसपोषिणः ।

आलस्यौघ्यजुगुप्साभ्योऽन्येऽत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ १३९४ ॥

आलस्यादित्रयं वर्ज्यं स्वविभावैकगोचरम् ।

एष संभोगशृङ्गारगतः परिकरो मतः ॥ १३९५ ॥

विप्रलम्भे नानुभावः कान्तदृष्ट्यादिरिष्यते ।

(क०) तत्र शृङ्गारानुभावानाह—कान्तादृष्टिरित्यादि । रोमाञ्च-
मुखरागादिरचित इत्यादि । तत्र मुखरागशब्देन वैवर्ण्यमुच्यते । आदि-
शब्देन स्वरभेदादयो ग्राह्याः ; रोमाञ्चमुखरागादिरूपेण रचित इत्यर्थः ।
लौकिकरसवत्स्वयमेव न जातः । अपि तु नटेन स्वस्मिन्नारोपित इत्यर्थः ।
सात्त्विकोत्कर इति । स्तम्भादयोऽष्टावपीत्यर्थः । स्तम्भादीनामनुभावत्वेऽपि
सात्त्विकव्यपदेशो मन आरब्धत्वादिति मन्तव्यम् । आलस्येत्यादि । अत्र ;
संभोगशृङ्गारे । आलस्यौघ्यजुगुप्साभ्योऽन्य इति । निर्वेदादय एकत्रिंश-
दपीत्यर्थः । जुगुप्साया बीभत्सशान्तौ प्रति स्थायित्वेऽपि रसान्तरं प्रति
संचारित्वात् तेषु परिगणनमविरुद्धम् । एवमेकत्र रसे स्थायिनोऽपि रत्यादे-
रन्यत्र संचारित्वं द्रष्टव्यम् । तथा आलस्यादित्रयमपि स्वविभावैकगोचर-
मेव संभोगशृङ्गारे वर्ज्यमित्याह—आलस्येत्यादि स्वविभावैकगोचरमिति ।
केवलैरेव वृत्त्यादिभिः वक्ष्यमाणैः स्वविभावैरुत्पन्नमित्यर्थः । एतेन विभा-
वान्तरगोचरं चेद् ग्राह्यमित्युक्तं भवति । विप्रलम्भ इति । विरहशृङ्गारे
कान्तादृष्ट्यादिरनुभावो नेष्यते । तस्य दुःखात्मकत्वादिति भावः ॥

॥ -१३९२-१३९५- ॥

चिन्तासूयाश्रमौत्सुक्यनिर्वेदग्लानिमृत्यवः ॥ १३९६ ॥

उन्मादव्याध्यपस्मारविबोधजडतास्तथा ।

दैन्यं निद्रा तथा स्वप्नसुप्तचिन्तादयश्च ये ॥ १३९७ ॥

तदीयैरनुभावैस्तु विप्रलम्भोऽभिनीयते ।

उन्मादादिदशां चातिकृष्टां नात्र प्रदर्शयेत् ॥ १३९८ ॥

न चात्र मरणं साक्षाद्दर्शयेत्तस्य सूचिकाम् ।

तदनन्तरजातां तु दर्शयेत्सुखिनीं दशाम् ॥ १३९९ ॥

^१वाचा वाभिनयं तस्य सूचयेत्कृत्रिमं वदेत् ।

(सु०) शृङ्गारस्यानुभावं लक्षयति—कान्तेति । यत्र कान्ताख्या दृष्टिः ; कटाक्षाख्यं तारकाकर्म ; चतुरे भ्रुवौ ; मधुरा गिरः ; पुलकमुखरागादिसूचितः सात्त्विकोत्कर इत्याद्याः शृङ्गारपोषका भवन्ति । आलस्यौघ्यजुगुप्सावर्जं व्यभिचारिणश्च शृङ्गारे भवन्ति । इति संभोगशृङ्गारपरिकरः ॥-१३९२-१३९९-॥

(क०) विप्रलम्भोचितान् संचारिण आह—चिन्तासूयेत्यादि । तदीयैरनुभावैरिति । चिन्तासूयादिसंबन्धिभिर्वक्ष्यमाणैरनुभावैः । वाचा वेत्यादि । तस्य ; मरणस्य, कृत्रिमम् अभिनयं वाचा सूचयेत् । वाग्रूपेण सूच्यभिनयेन वा वदेत् । आङ्गिकसात्त्विकाहार्यैर्मरणं नैवाभिनयेदित्यर्थः ॥ ॥ -१३९६-१३९९- ॥

(सु०) विप्रलम्भं लक्षयति—चिन्तेति । विप्रलम्भशृङ्गारे तु कान्ता-दृष्ट्याद्यनुभावो न भवति । शङ्कासूयाश्रमौत्सुक्यनिर्वेदग्लानिमरणोन्मादव्याध्यप-स्मारविबोधजाड्यदैन्यनिद्रास्वप्नसुषुप्तिभिः, चिन्ताद्यैश्च तदीयैरनुभावैर्विप्रल-म्भोऽभिनेयः । अत्र ; विप्रलम्भे, उन्मादादेः अतिकृष्टा द्वशा न प्रदर्शनीया ।

^१दशां वा भाविनिधनां सूचयेन्न त्विमां वदेत् । इति सुधाकरसंमतः पाठः ।

ननु दुःखात्मकः कस्माद्विप्रलम्भो रसो मतः ॥ १४०० ॥

मैवं रत्यनुसंधानं विप्रलम्भेऽपि दृश्यते ।

विप्रलम्भोद्भवा शङ्का संभोगे दुस्त्यजा ध्रुवम् ॥ १४०१ ॥

इतरेतरचित्रत्वाद्रसत्वं सुलभं तयोः ।

मरणं च साक्षान्न प्रदर्शनीयम् । भाविनीं दशां तत्र तत्र दर्शयेत् ॥ -१३९६-
१३९९- ॥

(क०) विप्रलम्भस्य रसत्वमाक्षिपति—न त्विति । दुःखात्मक इति हेतुगर्भितं विशेषणम् । दुःखात्मकत्वात् विप्रलम्भः कथं रस इत्याक्षेपः । परिहरति—मैवमिति । विप्रलम्भेऽपि रत्यनुसंधानं दृश्यत इत्यत्रापिशब्देन संभोगे रत्यनुसंधानं सिद्धमेवेत्युक्तं भवति । एवमनभ्युभगच्छन्तं प्रत्याह—विप्रलम्भोद्भवा शङ्का संभोगेऽपि ध्रुवं दुस्त्यजेति । अयमर्थः—संभोगसमयेऽपि भाविविरहभीरुत्वस्यावश्यंभावात्तस्यापि दुःखात्मकत्वसंभवात्संभोगसंमिन्नत्वाच्चित्रत्वम् । विप्रलम्भस्य दुःखात्मकत्वेऽपि भाविसमागमाशोत्पन्नसुखसंमिन्नत्वाच्चित्रत्वम् । अतः कारणतयोः संभोगविप्रलम्भयो रसत्वमास्वाद्यमानत्वं सुलभम् । अनेकरूपतया घोषयितुं शक्यमित्यर्थः ॥
॥ -१४००, १४०१- ॥

(सु०) अत्र विप्रलम्भे रसत्वमाक्षिपति—नन्विति । ननु दुःखात्मको विप्रलम्भः कथं तस्य शृङ्गारता इति चेन्न, विप्रलम्भे रत्यनुसंधानस्य दृष्टत्वात् रत्यनालिङ्गितस्यैव करुणत्वात् विप्रलम्भस्य शृङ्गारता युज्यत एव । कामसूत्रे च शृङ्गारस्य दशावस्थाः प्रतिपादिताः । ता यथा—अभिलाषः चिन्ता, अनुसृतिः, गुणकीर्तनम्, उद्वेगः, विलासः, उन्मादः, जाड्यम्, व्याधिः, मरणमिति । अत्र भोक्तैव प्रधानम्, भोग्या तूपसर्जनीभूता । अतः स्त्रियाः नरान्तरासक्तिः रसभजिका । पुंसस्तु स्वातन्त्र्यात् स्त्र्यन्तरासक्तिर्न रसभजिका ।

नैकरूपे चिरास्वाद्यः शर्करावद्भवेदसौ ॥ १४०२ ॥

संभोगेऽपि न निद्रास्ति नन्वन्योन्याभिलाषिणोः ।

विबोधस्त्वस्त्यसौ कस्माद्विप्रलम्भैकगोचरः ॥ १४०३ ॥

नैतन्निद्राविनाशो हि विबोधस्तामृते कुतः ।

रतिश्रमकृता निद्रा संभोगेऽप्यस्ति चेन्न तत् ॥ १४०४ ॥

शृङ्गारस्तु वाङ्मनेपथ्याङ्गचेष्टैभिस्त्रिविधः । रमादिव्यञ्जनकनटवेषो नैपथ्य-
मित्युज्यते ॥ -१४००-१४१५ ॥

इति शृङ्गारः

(क०) एवरूपे तस्मिन् दोषो नास्तीति सदृष्टान्तमाह—नैकरूप
इति । असौ रस एकरूपे सति शर्करावत् चिरास्वाद्यो न भवेत् । यथा
शर्करा अतिमधुरतया आम्रादिभिरनन्तरिता सती चिरमास्वाद्या न
भवति । एवं सुखात्मको हि संभोगो निर्वेदादिभिरनन्तरितश्चेत्सामाजिकै-
रास्वद्यो न भवति । एकरूपत्वे शीघ्रमेव तृप्तिजननात्पर्यवस्येत् । निर्वेदादि-
भिरनन्तरितत्वादनेकरूपत्वेऽप्याम्लाद्यन्तशर्करावत् चिरास्वाद्यो भवतीत्यर्थः ।
पूर्वं संभोगशृङ्गारे, ‘आलस्यौघ्यजुगुप्साभ्योऽन्येऽत्र स्युर्वभिचारिणः’
इति वचनात् निद्राविबोधौ भवत इत्यर्थादुक्तम् । तौ संभोगे न संभवत
इत्याक्षिपति—नन्विति । तत्र हेतुकथनम्—अन्योन्याभिलाषिणोरिति ।
यूनोः परस्परं निरन्तराभिलाषित्वादित्यर्थः । संभोगेऽपीत्यत्र अपिशब्दो
भिन्नक्रमः । संभोगे निद्रापि नास्तीति योजनीयम् । निद्रापूर्वकत्वे निय-
तस्वरूपलाभो विबोधः सुतरां नास्तीत्यपिशब्दार्थः । तमेवार्थं विस्पष्टमाह—
विबोधस्तु कस्मादस्तीति । अतः कारणादसौ विबोधो विप्रलम्भैकगोचरो
वक्तव्य इत्याक्षेपार्थः ॥ -१४०२, १४०३ ॥

(क०) परिहरति—नैतदिति । हि यस्मात्कारणात् विबोधो नाम

भवन्त्यपि न सोद्भावा रत्युत्कर्षविरोधिनी ।
 करुणे विप्रलम्भे च चिन्तादिव्यभिचारिणाम् ॥ १४०५ ॥
 साधारण्यात्तयोर्भेदो नास्ति चेत्तदसांप्रतम् ।
 शोको हि करुणे स्थायी विप्रलम्भे रतिर्मता ॥ १४०६ ॥
 स्थायिभेदाद्विभागोऽतस्तयोरुत्तमपूरुषे ।
 ननु नीचे तु माल्यादिविभावानामसंभवात् ॥ १४०७ ॥
 रत्यभावे विप्रलम्भः शृङ्गारो जायते कथम् ।
 अतः स्यात्करुणः स्पष्टस्तत्रेष्टविरहोद्भवः ॥ १४०८ ॥
 माल्याद्यसंभवानीचे संभोगासंभवेऽपि चेत् ।

निद्राविनाशः । तेजोऽभावस्तम इतिवन्निद्राया अभावो विबोध इत्यर्थः ।
 अतस्तामृते निद्रां विनापि संभोगे विबोधः कुत इति परिहारः । पुनः पूर्वपक्षी
 शङ्कते—रतिश्रमकृता निद्रा संभोगेऽप्यस्ति चेदिति । पुनः परिहरति—
 न तदिति । सा निद्रा भवन्त्यपि संभोगे रतिश्रमकृता विद्यमानापि
 नोद्भावा । तत्र हेतुमाह—रत्युत्कर्षविरोधिनीति । यतो रत्युत्कर्षविरोधो
 भवति, अतः कविभिर्निद्रा न वर्णनीयेत्यर्थः । इदानीं करुणविप्रलम्भयोरभेदं
 शङ्कते—करुण इत्यादि । तत्र हेतुमाह—चिन्तादिव्यभिचारिणां—
 साधारण्यादिति । तद्दूषयति—तदसांप्रतमिति । हि ; यस्मात्कारणात्
 करुणे शोकः स्थायी विप्रलम्भे रतिर्मता स्थायित्वेन संमता ।
 अतः कारणात् तयोः करुणविप्रलम्भयोः स्थायिभेदात् विभागः सिद्ध
 इत्यर्थः । इदानीं विषयविशेषे स्थायिभेदसंभवात् करुणविप्रलम्भयो-
 र्विभागमङ्गीकृत्य विषयान्तरे स्थायिभेदाभावेन तत्र तयोरभेदं शङ्कते—
 उत्तमपूरुष इत्यादि । उत्तमपूरुषे कुलघनादिना संपन्ने करुणविप्रलम्भभे-
 दाभावो न । तत्र तयोः विभागोऽस्त्वित्यर्थः । नीचे तु ; कुलघनहीने तु,

तन्न नीचरतिर्यस्मान्नारीमात्रविभावजा ॥ १४०९ ॥

वियोगेऽपि तथा माल्याद्यभावेन कथं रतिः ।

आशाबन्धश्लथीभूतचिन्तादिव्यभिचारिकः ॥ १४१० ॥

विरहः करुणाद्भिन्नः प्रियनैराश्यकारितम् ।

कामशास्त्रे च शृङ्गारे दशावस्थः प्रकीर्तितः ॥ १४११ ॥

माल्यादिविभावानाम् ; उद्दीपनविभावानामसंभवाद्धेतो रत्यभावे सति तन्निष्ठो विप्रलम्भः कथं शृङ्गारो जायते । शृङ्गार एव न भवतीत्यर्थः । अतः कारणात् तदानीं च विषय इष्टविरहोद्भवः करुणः स्पष्टः स्यादित्यभेद-प्रतिपादनम् । इदानीं संभोगप्रतिबन्धा विप्रलम्भस्य करुणाद्धेदं साधयति—माल्याद्यसंभवादित्यादि । चेत्, यदि नीचे माल्याद्यसंभवाद्धेतोः संभोग-संभवेऽपि प्रतिपाद्यते । तन्न । तत्प्रतिपादयितुं न शक्यमित्यर्थः । यस्मात्कारणात् नीचरतिः नारीमात्रविभावजा माल्याद्यनपेक्ष्यैव संभोग-प्रवर्तिता दृश्यत इत्यर्थः । वियोगेऽपीति । यथा संभोगे माल्याद्यभावेऽपि रतिरङ्गी कृता, तथा वियोगेऽपि माल्याद्यभावेऽपि रतिः कथं न कस्मान्नाङ्गी क्रियते । अवश्यमङ्गीकर्तव्येत्यर्थः । करुणविरहौ स्वरूपेणापि परस्पर-भिन्नावित्याह—आशाबन्धेत्यादि । आशाबन्धश्लथीभूतचिन्तादिव्यभिचारिक इति । आशाया बन्धः प्रियसङ्गमो भविष्यतीत्येवंरूपः, तेन श्लथी-भूताः चिन्तादयो व्यभिचारिणो यस्मिन्निति स तथोक्तः । एवंरूपो विरहः प्रियनैराश्यकारितात् ; प्रिय इष्टजने नैराश्यं निर्गता आशा यस्मात् स निराशः, तस्य भावस्तत्त्वम् । तेन कारितात् उत्पादितात् करुणाद्भिन्नः पृथग्भूतः ॥ १४०४—१४१०- ॥

(क०) अथ शृङ्गारे कविभिर्वर्णनीया दशावस्था दर्शयति—

अभिलापस्ततश्चिन्तानुस्मृतिर्गुणकीर्तनम् ।
 जद्वेगोऽथ विलापः स्यादुन्मादो व्याधिसंभवः ॥ १४१२ ॥
 जडता मरणं चेति दशावस्थाः प्रकीर्तिताः ।
 भोक्ता प्रधानो भोग्या तु कान्ता तदुपसर्जनम् ॥ १४१३ ॥
 अतो नरान्तरासक्तिस्तस्याः शृङ्गारभङ्गकृत् ।
 भोक्तुस्त्वपरतन्त्रत्वात्कान्तान्तरमभञ्जकम् ॥ १४१४ ॥
 वाङ्मेपथ्याङ्गचेष्टाभिः शृङ्गारस्त्रिविधो मतः ।
 रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमिष्यते ॥ १४१५ ॥

इति शृङ्गारः

वेषालंकारगमनगदितानां विकारिता ।
 एतेषां च परस्थानामनुकारो विलज्जता ॥ १४१६ ॥
 विषयेऽरुचिता दृष्ट्याप्यसंगतविभाषणम् ।

कामशास्त्र इत्यादि । कामशास्त्रे ; वात्स्यायनादौ । शृङ्गारे ; अपिला-
 पादयो दशावस्था उक्ताः स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यालम्बनत्वाविशेषेऽपि प्रधानोप-
 सर्जनभावकृतं वैषम्याह—भोक्तेत्यादि । शृङ्गारभङ्गकृदिति । कान्तायाः
 पुरुषान्तरासक्तौ रसाभासो भवतीत्यर्थः । कान्तान्तरमभञ्जकमिति ।
 पुरुषे स्वकान्तान्तरासक्तावपि रसाभासो न भवतीत्यर्थः । शृङ्गारस्य
 त्रैविध्यमाह—वाङ्मेपथ्येत्यादि । नेपथ्यस्वरूपमाह—रामादिव्यञ्जक
 इत्यादि ॥ -१४११-१४१५ ॥

इति शृङ्गारः

(क०) अथ हास्यं लक्षयितुं तस्य विभावादीन् दर्शयति—
 वेषालंकारेत्यादि । विकारितेति । स्वगतानां वेषादीनां स्वभावाद्

हासनीयस्य कक्षादिसंस्पर्शः कुहनावहः ॥ १४१७ ॥
 इत्यादयो विभावाः स्युरनुभावास्तु नेत्रयोः ।
 कपोलयोरोष्ठयोश्च स्पन्दो दृष्ट्योर्विकासनम् ॥ १४१८ ॥
 अत्यन्तमीलनं किञ्चित्कुञ्चनं पार्श्वपीडनम् ।
 प्रस्वेदमुखरागाद्या यस्याथ व्यभिचारिणः ॥ १४१९ ॥
 स्वप्नोऽवहित्यमालस्यनिद्रातन्द्रादयोऽपरे ।
 एते स्मितादिभेदेषु यथायोगं व्यवस्थिताः ॥ १४२० ॥
 स्थायिभावश्च हासः स्यादसौ हास्यः प्रकीर्तितः ।
 आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ॥ १४२१ ॥
 आत्मस्थो द्रष्टुस्तपन्नो विभावेक्षणमात्रतः ।
 हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावांश्चोपजायते ॥ १४२२ ॥
 योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ।
 उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ॥ १४२३ ॥
 ज्यवस्थः कथितस्तस्य षड्भेदाः सन्ति चापरे ।
 स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ॥ १४२४ ॥
 भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ।
 नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्तितम् ॥ १४२५ ॥

विकृतत्वं हास्यस्य विभावो भवति । एतेषां वेषादीनां परस्थानामविकृताना-
 मपि परस्वभावभूतानामनुकारोऽस्य हास्यस्य विभावो भवति । हासनीयस्य ;
 हासयितुमिष्टस्य जनस्य । कुहनावहः ; कुहनां कपटमावहतीति तथोक्तः ।
 एवंहासयामीति कपटेन परस्य कक्षादिसंस्पर्शश्च तद्भासकरणं भवति ।
 कक्षादीत्यादिशब्देन पार्श्वप्रदेशादि गृह्यते । इत्यादय इति । लोके हास्य-

ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ।

अदृश्यदशनो हास्यो मन्थरस्मितमुच्यते ॥ १४२६ ॥

वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ।

किंचिल्लक्षितदन्तश्च तदा हसितमिष्यते ॥ १४२७ ॥

कारणत्वेन येऽर्था दृष्टास्ते ग्राह्याः । यस्य अनुभावास्त्विति व्यवहितैरपि संबन्धः । अथ व्यभिचारिण इत्यत्र स्थायिभावश्च हासः स्यात् इत्यत्रापि यस्येत्यनुसंधेयम् । असौ हास्य इति । पूर्ववाक्येषु यस्येति यच्छब्देन योऽभिहितः सोऽसाविति परामृश्यते । विभावैक्षणमात्रत इति । आत्मस्थस्य हास्यस्य तावतैवोत्पत्तिदर्शनात् । परस्थो हास्यस्तु हसन्तमपरं विभावांश्च दृष्टोपजायते । त्र्यवस्थ इति । उत्तमो मध्यमो नीच इत्यर्थः । तेषामेव प्रत्येकं भेदद्वयमाह—स्मितं चेत्यादि ॥ १४१६-१४२५ ॥

(सु०) हास्यं लक्षयति—वेषेति । यत्र वेषालंकारगमनवचसां विकारित्वं, परस्थानां वेषादीनामनुकारश्च, विलज्जत्वम्, विषयतृष्णा, असंगत-भाषणमित्याद्या विभावा भवन्ति । नासिकयोः, कपोलयोः, ओष्ठयोश्च स्पन्दः ; दृष्टयोर्विकसनम् ; अत्यन्तमीलनं च ; ईषत्कुञ्चनम्, पार्श्वपीडनम्, प्रस्वेदमुख-रागादयश्चानुभावा भवन्ति । स्वप्रावहित्थालस्यनिद्रातन्द्रादयः, अन्ये च स्मितादिभेदव्यवस्थिता व्यभिचारिणो भवन्ति । हासश्च स्थायी भवति, तत्र हास्यः । स द्विविधः, आत्मस्थः, परस्थ इति । अन्यदीयविभावैक्षणमात्रज आत्मस्थः ; हसन्तमन्यं दृष्ट्वा यत्र विभावांश्चोपजायते, असौ परसंस्थः । असौ हास्यः उत्तममध्यमनीचभेदेन त्र्यवस्थो भवति । तस्य षड्भेदाः सन्ति । उत्तमे पुरुषे, स्मितं हसितं च भवति । मध्यमे पुरुषे, विहसितम्, उपहसितं च भवति । नीचे पुरुषे, अपहसितम्, अतिहसितं च भवतीति ॥ १४१६-१४२९ ॥

(क०) स्मितादीनां प्रत्येकं लक्षणमाह—ईषत्फुल्लेति । पूर्वाणीति ।

सशब्दं मधुरं कालागतं वदनरागवत् ।
 आकुञ्चिताक्षिगण्डं च विदुर्विहसितं बुधाः ॥ १४२८ ॥
 निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्वदृष्टिविलोकनः ।
 उत्फुल्लनासिको हास्यो नाम्नोपहसितं मतः ॥ १४२९ ॥
 अस्थानजः साधुदृष्टिराकम्पः कन्धमूर्धकः ।
 शार्ङ्गदेवेन गदितो हास्योऽपहसिताह्वयः ॥ १४३० ॥
 स्थूलकर्णः कटुध्वानो बाष्पपूरप्लुतेक्षणः ।
 करोपगूढपार्श्वश्च हास्योऽतिहसितं मतः ॥ १४३१ ॥
 पूर्वाणि स्वसमुत्थानि स्मितादियुगलत्रये ।
 पराणि त्वपरस्थानि हास्योऽतिहसितं मतः ॥ १४३२ ॥
 हास्यरौद्रावपि त्रेधा वाङ्मेपथ्याङ्गचेष्टितैः ।
 उपलक्षणमेतत्तु तेषां सर्वेषु संभवात् ॥ १४३३ ॥

इति हास्यः (२)

स्मितादियुगलत्रये पूर्वाणि स्मितविहसितापहसितानि स्वसमुत्थानि ।
 पराणि त्विति । हसितोपहसितातिहसितानि त्वपरस्थानि । तत्र हेतुमाह—
 पूर्वसंक्रान्तिजत्वं इति । परेषां हसितादीनां स्मितादिसंक्रान्त्या जातत्वा-
 त्परोत्थत्वं द्रष्टव्यम् । अयमर्थः—उत्तमपुरुषनिष्ठं स्मितं दृष्ट्वा उत्तम-
 पुरुषान्तरस्य हसितं जायते । तथा मध्यमपुरुषनिष्ठं विहसितं दृष्ट्वा
 मध्यमपुरुषान्तरस्योपहसितं जायते । तथा नीचपुरुषनिष्ठमपहसितं दृष्ट्वा
 नीचपुरुषान्तरस्यापहसितं जायते । एवं स्मितादियुगलत्रये परेषां परस्थत्वं
 पूर्वेषामात्मस्थत्वं द्रष्टव्यमिति । एतदुक्तं भवति—“आत्मस्थापेक्षया
 परस्याधिक्यं भवति” इति । हासस्य पुनस्त्रैविध्यमाह—हास्यरौद्राव-
 पीत्यादि । हास्यरौद्रावित्येतदुपलक्षणम् । यतस्तेषां सर्वेषु संभवादिति ।

इष्टबन्धुवियोगश्च श्रीनाशो वधबन्धने ।

व्यसनप्रभवोऽनर्थः सुतादिनिधनं तथा ॥ १४३४ ॥

देशभ्रंशादयश्चैते श्रुता यद्वा विलोकिताः ।

विभावाः संपताः पुंसामुत्तमानां पराश्रिताः ॥ १४३५ ॥

मध्यमाधमपुंसां तु ते स्युरात्मैक्यगोचराः ।

तेषां वाङ्मनेपथ्याङ्गचेष्टितानां त्रयाणां भेदानां सर्वेषु रसेषु संभवात्
विद्यमानत्वादिति ॥ १४२६-१४३३ ॥

इति हास्यः (१)

(सु०) स्मितादीनां षण्णां प्रत्येकं लक्षणमाह—ईषदिति । यत्र ईषद्वि-
कसितौ कपोलौ ; अनुल्बणौ कटाक्षौ ; दशनोऽदृश्यः, मन्थरो हास्यो भवति,
तद् स्मितम् । यत्र वक्त्रनेत्रकपोलानि विकसितानि भवन्ति ; दन्तांश्च ईषद्विक्षि-
तानि ; तद् हसितम् । एवमन्येऽपि ॥ १४२६-१४३३ ॥

इति हास्यः (२)

(क०) अथ करुणं लक्षयितुं तस्य विभावनाह—इष्टबन्धुवि-
योगश्चेत्यादि । श्रीनाशः ; श्रियः संपदो नाशः । व्यसनप्रभवोऽनर्थ
इति । द्यूतमद्यादिव्यसनैर्जतोऽनर्थः । उत्तमानां पुंसां स्वगताः पराश्रिताश्च
यत्र विभावा भवन्तीत्यन्वयः । आत्मैकगोचरा इति । मध्यमाधमपुंसां
तु पराश्रिता न विभावा इत्यर्थः ॥ १४३४-१४३५- ॥

(सु०) अथ करुणं लक्षयति—इष्टेति । यत्र इष्टबन्धुवियोगश्च, संपदो
नाशः, वधबन्धने, द्यूतमद्यादिव्यसनजातोऽनर्थः, तथा सुतादिनिधनम्, देश-
भ्रंशादयश्च श्रुताः ; अथवा विलोकिता वेत्याद्या विभावा भवन्ति । एते
उत्तमानां पुंसां स्वगताः पराश्रिता भवन्ति । मध्यमाधमपुंसां तु ते विभावा
आत्मैकगोचरा भवन्ति ॥ १४३४-१४३५- ॥

अश्रुपातो मुखे शोषो विलापः परिदेवनम् ॥ १४३६ ॥
 स्तम्भो विवर्णता स्रस्तगात्रता प्रलयस्तथा ।
 श्वासोच्छ्वासौ देहपातघातोरस्ताडनादयः ॥ १४३७ ॥
 एते यत्रानुभावास्युरथ ग्लानिः श्रमो भयम् ।
 मोहो विषादनिर्वेदौ चिन्तौत्सुक्ये च दीनता ॥ १४३८ ॥
 जडताव्याधिरुन्मादालस्यापस्मारमृत्यवः ।
 स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यस्वरभङ्गादयस्तथा ॥ १४३९ ॥
 यत्र संचारिणः स्थायी शोकः स करुणो मतः ।
 व्यवस्थात्रानुभावानां योग्यत्वादुत्तमादिवु ॥ १४४० ॥

(क०) अनुभावानाह—अश्रुपात इत्यादि । संचारिण आह—
 अथ ग्लनिरित्यादि । ननु स्तम्भादीनां सात्त्विकानामप्यनुभावलक्षण
 युक्तत्वेन तेषु परिगणनमस्तु ॥ -१४३६-१४३९- ॥

(सु०) अस्यानुभावं लक्षयति—अश्रुपात इति । यत्र अश्रुपातमुखशोष-
 विलापपरिदेवनस्तम्भविवर्णतास्रस्तगात्रताप्रलयश्वासोच्छ्वासदेहपातघातोरस्ताड-
 नादयः अनुभावा भवन्ति । यत्र ग्लानिश्रमभयमोहविषादनिर्वेदचिन्तौत्सुक्य-
 दैन्यजडव्याधिरुन्मादालस्यापस्मारमृत्यवः, तथा स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यस्वर-
 भङ्गादयो व्यभिचारिणो भवन्ति । यत्र शोकः स्थायी भवति; स करुण
 इत्यभिधीयते ॥ -१४३६-१४३९- ॥

(क०) संचारिषु कथं तेषां परिगणनमिति चेदुच्यते । सत्त्वप्राधा-
 न्येन प्रवृत्तानामपि स्तम्भादीनां—

“भावानां यानि कार्याणि नाट्यन्ते कुशलैर्नटैः ।

तेन भावा हेतवस्ते स्वहेतुनुभवे यतः ॥”

विलापो रोदनं शोच्यगुणस्तवपुरःसरम् ।

स्यादैवात्मपराणां यदुपालम्भेन रोदनम् ॥ १४४१ ॥

परिदेवनमित्युक्तं तदिदं शब्दकोविदैः ।

इति लक्षणयोगेन यथानुभावत्वमुपपन्नं तथा—“ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ” इत्यस्थिरत्वलक्षणयोगेन संचारित्वमुपपन्नमेवेति । एवमुक्ता ग्लान्यादयः संचारिणो यत्र भवन्ति । यत्र शोकः स्थायी भवति स करुणो मतः । व्यवस्थेत्यादि । अत्र करुण उत्तमादीनामुत्तममध्यमाधमानां पुंसां योग्यत्वात्तत्प्रकृत्युचितत्वेनानुभावानां पूर्वोक्तानामश्रुपातादीनां व्यवस्थानियमः कर्तव्यः ॥ -१४४० ॥

(सु०) अनुभावानां व्यवस्थामाह—व्यवस्थेति । उत्तमादिषु, उत्तम-मध्यमाधमपात्रेषु योग्यत्वात् ; तत्तत्प्रकृतिगुणोचितत्वेन पूर्वोक्तानुभावानां व्यवस्था कर्तव्या । विलापपरिदेवनयोः स्वरूपं लक्षयति—विलाप इति । विलापो नाम कृतस्य कर्मणोऽनुचितत्वधियानुतापः । परिदेवनं नामानुशोच-नोक्तिः । करुणस्य त्रैविध्यं लक्षयति—धर्मेति । धर्मोपघातजः, वित्तनाशजः, बन्धुनाशज इति । तत्र पूर्वज उत्तमेष्वेव । अपरौ त्वनियम इति । रुदितस्य त्रैविध्यं लक्षयति—त्रेधा इति । रुदितं त्रिविधम्, आनन्दार्तीर्ष्याभेदात् । उत्तमस्य आनन्दो हेतुः, अन्यस्य आर्तिर्हेतुः, अपरस्य ईर्ष्येति । तत्रानन्दजं लक्षयति—दुःखेति । दुःखस्मरणपूर्वकात् यत्र विकसितकपोलकम्, रोमाञ्चम-पाङ्गस्थबाष्पं यत्र भवति, तदानन्दजम् । आर्तिजं लक्षयति—उच्चैरिति । ईर्ष्याकृतं लक्षयति—शिर इति ॥ -१४४०-१४४७ ॥

इति करुणः

(क०) विलापनपरिदेवनयोः स्वरूपमाह—विलाप इत्यादि । शोच्यगुणस्तवपुरःसरं रोदनं विलापः स्यात् । दैवात्मपराणामुपालम्भेन

धर्मोपघातजो वित्तनाशजो बन्धुनाशजः ॥ १४४२ ॥

करुणस्त्रिविधस्तेषामुत्तमेष्वेव पूर्वजः ।

त्रेधा रुदितमानन्दार्तीर्ष्याहेतुकृतं भवेत् ॥ १४४३ ॥

दुःखस्मृतियुतानन्दाज्जातं फुल्लकपोलकम् ।

सरोमाञ्चमपाङ्गस्थवाष्पमानन्दजं मतम् ॥ १४४४ ॥

उच्चैः स्वरविलापं च सभ्रूपान्तविवर्तितम् ।

स्रुताश्रुधारमस्वस्थचेष्टाङ्गं चार्तिजं मतम् ॥ १४४५ ॥

यद्वोदनं विद्यते, तदिदं रोदनं शब्दकोविदैः परिदेवनमित्युक्तम् ॥ १४४१-१४४१- ॥

(क०) करुणस्य त्रैविध्यमाह—धर्मोपघातज इत्यादि । उत्तमेष्वेव ; उत्तममकृतिष्वेव भवतीति नियमः । तेन वित्तनाशजबन्धुनाशजयोरुत्तमादिष्वनियमो द्रष्टव्यः ॥ -१४४२-१४४२- ॥

(क०) रुदितस्य त्रैविध्यमाह—आनन्दार्तीर्ष्याहेतुकृतमिति । एकस्य रुदितस्यानन्दो हेतुः । अन्यस्यार्तिर्हेतुः । अपरस्येर्ष्या हेतुरित्यर्थः ॥ -१४४३ ॥

(क०) दुःखस्मृतियुतानन्दाज्जातमिति । दुःखस्मरणपूर्वको य आनन्दस्तस्माज्जातं रुदितं लक्षयति—फुल्लकपोलकमिति । केवलानन्दाज्जातं लक्षयति—सरोमाञ्चमित्यादि ॥ १४४४ ॥

(क०) केवलदुःखाज्जातं लक्षयति—उच्चैः स्वरविलापमित्यादि । सभ्रूपान्तविवर्तितम् ; भ्रूपान्तविवर्तिताभ्यां सहितम् । स्रुताश्रुधारम् ; स्रुता अश्रुधारा यस्मिन्निति तथोक्तम् । अस्वस्थचेष्टाङ्गम् ; स्वस्था चेष्टा न विद्यते येषां तान्यस्वस्थचेष्टानि तादृशान्यङ्गानि यस्मिन्निति तथोक्तम् ॥ १४४५ ॥

शिरःकल्पितनिश्वासं स्फुरदोष्ठकपोलकम् ।
 कटाक्षभ्रुकुटीवक्रं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवेत् ॥ १४४६ ॥
 धैर्याद्भुत्तममध्यानां नाश्रु स्वव्यसने स्रवेत् ।
 परस्थे तु स्रवेन्नारीनीचानां तूभयत्र तत् ॥ १४४७ ॥
 हन्तृप्रकृतयो रक्षोदैत्याद्यन्यायकारिणः ।
 युद्धं क्रोधोऽनृतं वाक्यं परदारादिधर्षणम् ॥ १४४८ ॥
 देशजातिकुलाचारविद्यानिन्दा परस्य च ।
 बधान्यदारयात्रादिप्रतिज्ञापरुषोक्तयः ॥ १४४९ ॥
 गृहादिभञ्जनं राज्यहरणं मत्सरस्तथा ।
 जिघांसाद्याश्च यत्र स्युर्विभावाः परिकीर्तिताः १४५० ॥

(क०) ईर्ष्याकृतं लक्षयति—शिरःकल्पितनिश्वासमित्यादि ।
 उत्तममध्यानां पुंसामश्रु स्वव्यसन आत्मदुःखे न स्रवेत् । परस्थे व्यसने
 तु स्रवेत् । नारीनीचानां तु तद्गुदितम् । उभयत्र ; स्वपरव्यसनयो-
 रित्यर्थः ॥ १४४६ १४४७ ॥

इति करुणः

(क०) अथ रौद्रं लक्षयितुं प्रथमं तद्विभावानाह—हन्तृप्रकृतय
 इत्यादि । हन्तृप्रकृतयः ; हन्तृत्वं प्रकृतियेषां ते ; हननस्वभावा इत्यर्थः ।
 ते च रक्षोदैत्याद्यन्यायकारिणः । आदिशब्देन चोरादयो गृह्यन्ते । क्रोध
 इति । अन्यकृतः क्रोधोऽन्यरौद्रस्य विभावो भवति । परदारादिधर्षणमिति ।
 अत्रादिशब्देन क्षेत्रविचाद्यपहरणं गृह्यते । अन्यदारयात्रादिप्रतिज्ञा परस्त्री-
 गमनप्रतिज्ञा । आदिशब्देन तदपहरणादिप्रतिज्ञा गृह्यते ॥ १४४८—
 १४५० ॥

भ्रुकुटीनेत्ररक्तत्वं कपोलस्फुरणं तथा ।

दन्तोष्ठपीडनं हस्तनिष्पेषोऽथान्यविग्रहे ॥ १४५१ ॥

तलाद्यैस्ताडनं छेदो मर्दः पाटनमोटने ।

शस्त्राणां ग्रहणं पातः प्रहारो रुधिरस्रुतिः ॥ १४५२ ॥

एतेऽनुभावास्तेषां तु कर्म यत्ताडनादिकम् ।

न तत्साक्षात्प्रयोक्तव्यं कीर्तनीयं परं नटैः ॥ १४५६ ॥

(मु०) अथ रौद्रस्य विभावानाह—हन्तृप्रकृतय इति । हन्तृप्रकृतयः हन-
नस्वभावा इत्यर्थः । अत्रादिशब्देन चोरादयो विवक्षिताः । अन्यकृतः क्रोधो-
ऽन्यस्य विभावो भवति । तत्र हेतुः—परदारेति । आदिशब्देन क्षेत्रवित्तादयो
गृह्यन्ते । तथा परस्य देशजातिकुलाचारविद्यानिन्दाः ; वधनिमित्तकान्यदार-
यात्रादिप्रतिज्ञायां परुषोक्तिः ; गृहादिभञ्जनम्, राज्यस्य हरणम्, तथा मत्सरश्च,
एवमादयो यत्र विभावा भवन्ति ॥ १४४८—१४५० ॥

(क०) रौद्रस्यानुभावानाह—भ्रुकुटीत्यादि । अथान्यविग्रह इति ।
पूर्वोक्ता भ्रुकुटीनेत्ररक्तत्वादयः स्वविग्रह आत्मनः शरीरे भवन्ति । वक्ष्य-
माणास्तलाद्यैस्ताडनादयोऽन्यविग्रहे परस्य रौद्रालम्बनविभावस्य विग्रहे
शरीरे स्वेन रौद्राधिष्ठानभूतेन कृता भवन्ति । तलाद्यैरिति । अत्र
तलशब्देन हस्तपादतलमुच्यते । आदिशब्देन मुष्ट्यादयो ग्राह्याः ।
तैस्ताडनं रौद्रानुभावः । छेदः ; नखादिभिः कृतः । मर्दः ; भीत्यादि-
संश्लेषेणाङ्गमर्दनम् । पाटनमोटने इति । पाटनं नाम स्वकराभ्यामन्यस्य
कराद्यवयवं गृहीत्वा तस्य द्विधीकरणम् । मोटनं नाम पूर्वं गृहीत्वा तदङ्गानां
भञ्जनम् । शस्त्राणां छुरिकादीनां ग्रहणम् । पातः ; गृहीतानां शस्त्राणां
पराङ्गं प्रति प्रवर्णीकरणम् । प्रहारः ; प्रवणैः शस्त्रैः कृता क्षतिः । रुधिर-
स्रुतिः ; प्रहारोत्पन्नस्य रुधिरस्य स्रावः । तेषां मध्ये यत् त्रोटनादिकं कर्म

उत्साहसम्यग्बोधौ चामर्षाविगौर्ग्रयचापलम् ।

स्वेदवेपथुरोमाश्र्वगद्गदस्वरतादयः ॥ १४५४ ॥

भावाः संचारिणः स्थायी क्रोधो रौद्राभिधो रसः ।

साक्षात्स्वेदोऽभिनेयो वा व्यजनग्रहणादिना ॥ १४५५ ॥

उत्साहस्त्वत्र संचारी न चास्माद्वीरसंकरः ।

विद्यते, तत्साक्षान्न प्रयोक्तव्यम् । किंतु नटैः परं केवलं कीर्तनीयम् ॥

॥ १४५१-१४५३ ॥

(सु०) अधानुभावानाह—भ्रुकुटीति । भ्रुकुट्यादयः पूर्वमुक्ताः । अत्र तलशब्देन हस्तपादतलं विवक्षितम् । छेदः नखादीनां कर्म । मर्दः भयादिना अङ्गमर्दः । पाटनं नाम स्वकराभ्यामन्यस्यावयवस्य द्वैधीकरणम् । मोटनम् ; अङ्गानां भञ्जनम् । छुरिकादीनां ग्रहणम् । पातः पराङ्गं प्रति शस्त्रादीनां प्रवणीकरणम् । प्रहारः क्षतिः । रुधिरस्रुतिः रुधिरस्य स्त्रावः, एवमादयोऽन्ये-
ऽप्यत्रानुभावत्वेन विवक्षिताः । तेषां मध्ये छुरिकादीनां कर्म न साक्षात्प्रयोक्त-
व्यमिति ॥ १४५१-१४५३ ॥

(क०) अथ संचारिण अह—उत्साहेत्यादि । यत्र क्रोधः स्थायी भवति, स रौद्राभिधो रसः । तत्र स्वेदः साक्षादेवाभिनेयः । ताडनादिवत्सूचनीय एव न भवतीत्यर्थः । वेति । अथवा स्वेदः साक्षादभिनेतुमशक्यश्चेत्तदा व्यजनग्रहणादिना सोऽभिनेयो भवति । ननूत्साहस्यात्राप्यनुप्रवेशाद्वीरेणास्य संकरः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—उत्साहस्त्वित्यादि । अत्र रौद्र उक्तः, उत्साहस्तु यतः संचारी न स्थायीत्यर्थः । अस्मात्कारणाद्वीरसंकरश्च न । वीररौद्ररसयोर्त्साहसद्भावस्याविशेषेऽपि वीरे स्थायित्वेन रौद्रे संचारित्वेनोत्साहस्य भिन्नस्य भिन्नरूपत्वाद्वीररौद्रयोर्न सांकर्यमित्यर्थः ॥ १४५४, १४५५- ॥

ननु चाव्यभिचारेण भावस्य स्थायिता मता ॥ १४५६ ॥

स्थायी तत्कथमुत्साहो वीरेऽप्येष भविष्यति ।

मैवं क्षणिकविद्योता विद्युद्वद्यभिचारिणः ॥ १४५७ ॥

स्थिराः स्युः स्थायिनस्तेन द्विरूपोऽयं रसद्वये ।

(सु०) अथ संचारिणं लक्षयति—उत्साह इति । यत्र क्रोधः स्थायी, स रौद्रो रसः । तत्र स्वेदः साक्षादभिनेयः । वेति पक्षान्तरे । अथवा स्वेदः साक्षादभिनेतुमशक्यश्चेत् व्यजनादिना अभिनेय इति । अत्र वीरस्य संकर-माशङ्कते—उत्साहस्त्विति ॥ १४५४, १४५५- ॥

(क०) एवं तर्हेकस्यैव भावस्य व्यभिचारित्वं स्थायित्वं च मिथो विरोधादुभयं न संगच्छत इति शङ्कते—ननु चेति । भावस्योत्साहादेर-व्यभिचारेण । व्यभिचारोऽत्रानैयत्यं विवक्षितम् । तदभावश्चाव्यभिचारः । एकैकरसप्रतिनियतत्वमित्यर्थः । तेनाव्यभिचारेण स्थायिता मता दृष्टा । तत्तस्मात्कारणादेष उत्साहो वीरस्थायी कथं भविष्यति । रौद्रानुप्रवेशाद्-व्यभिचारी भवन्नयमुत्साहो वीरनैयत्याभावात्तत्र स्थाय्येव न भवतीत्याक्षे-पार्थः ॥ -१४५६, १४५६- ॥

(क०) परिहरति—मैवमिति । व्यभिचारिणो भावा विद्युद्वत्; तडिदिव क्षणिकविद्योताः; क्षणकालप्रकाशा अस्थिरा यतो भवन्ति, अतस्तेषां व्यभिचारित्वं न त्वनैयत्येनेति भावः । स्थायिनः स्थिराः स्युरिति । स्थिरा अक्षणिका यतोऽत एव तेषां स्थायित्वं न त्वेकैकरसं प्रति नियतत्वेनेति भावः । तेन कारणेनायमुत्साहो रसद्वये वीररौद्रयोर्द्विरूपः । वीरे स्थायी रौद्रे व्यभिचारीति रसयोर्न सांकर्यमित्यर्थः ॥ -१४५७, १४५७- ॥

ननु स्थाय्यपि भावत्वान्निसर्गात्क्षणिको भवेत् ॥ १४५८ ॥

सत्यं किंतु स संस्काररूपेण स्थायितां गतः ।

तत्तिरस्कृतसंस्कारास्त्वन्ये तत्स्थैर्ययोगिनः ॥ १४५९ ॥

आविर्भावतिरोभावधर्माणश्चात्र यन्त्रिताः ।

(क०) भावानां स्थिरत्वमाक्षिपति—नन्विति । स्थाय्यपीति । भवतः स्थायित्वेनाभिमतो रत्यादिरपीत्यर्थः । भावत्वादिति । मनोविकारत्वात् । निसर्गात्क्षणिकः; स्वभावेन क्षणिकः । क्षणिकत्वं नाम त्रिक्षणावस्थायित्वम् । यथोक्तम्—“शब्दबुद्धिकर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्वम्” इति । भावमात्रस्य क्षणिकत्वाद्व्यभिचारित्वमेवेति भावः । अर्धाङ्गीकारेण परिहरति—सत्यमिति । स रसस्याविर्भावः संस्काररूपेण भावनाख्य-संस्कारात्मना न स्थायितां गतः स्थैर्यं प्राप्तः । अत्र क्षणिकत्वाङ्गीकारादर्धाङ्गीकारः । संस्कारस्य स्थायित्वोक्तेः परिहारः ॥ -१४५८, १४५९- ॥

(क०) एवं तर्हि संस्काररूपत्वाविशेषेण निर्वेदादयोऽपि कथं न स्थायिन इत्यत आह—तत्तिरस्कृतसंस्कारा इति । तेन स्थायिना प्रबलेन रत्यादिना तिरस्कृतसंस्कारा अभिभूतभावनाः । तेषां दुर्बलत्वाद्व्यवहित-संस्काराः सन्तः । अन्ये तु निर्वेदादयस्तु स्थैर्ययोगिनः स्थायिनो न भवन्ति । एतदुक्तं भवति—“संस्काररूपेणापि यः प्रबलः स स्थायी, यो दुर्बलः स व्यभिचारी” इति । तदेवाह—आविर्भावेत्यादि । अत्र स्थायिसंचारित्वविषय आविर्भावधर्मेण स्थायी, तिरोभावधर्मेण संचारीति यन्त्रिता नियन्त्रिता ज्ञेयाः ॥ -१४५९, १४५९- ॥

गुरौ प्रिये रिपौ भृत्ये भवेत्क्रोधश्चतुर्विधः ॥ १४६० ॥
 गुरावव्यक्तचेष्टः स्यात्क्रोधो विनययन्त्रितः ।
 अपाङ्गनिर्गताल्पास्रो भुक्कुटीकुटिलाननः ॥ १४६१ ॥
 स्फुरितोष्ठो मृगाक्षीणां कोपः प्रणयजः प्रिये ।
 दष्टोष्ठो हस्तनिष्पेषी विकटभुक्कुटीपुटः ॥ १४६२ ॥
 स्वभुजप्रेक्षणैः शत्रौ भवेत्क्रोधो निरर्गलः ।
 विकृतप्रेक्षणैरक्षिविस्तारैर्भूरिभर्त्सनैः ॥ १४६३ ॥
 भृत्ये कार्यवशात्कोपः कृत्रिमः क्रूरतोऽञ्जितः ।
 अविस्मयादसंमोहादविषादाच्च यः सताम् ॥ १४६४ ॥
 धर्माद्यर्थविशेषेषु कार्यतत्त्वविनिश्चयः ।
 नयश्च विनयः कीर्तिः पराक्रमणशक्तता ॥ १४६५ ॥
 प्रतापः प्रभुशक्तिश्च दुर्धर्षप्रौढसैन्यता ।
 मन्त्रशक्तिश्च संपन्नधनाभिजनमन्त्रिता ॥ १४६६ ॥
 इत्यादयो विभावाः स्युर्नटे काव्यसमन्विताः ।

(क०) अत्र स्थायिनः क्रोधस्य विषयभेदाच्चातुर्विध्यमाह—गुरा-
 वित्यादि । सुबोधमन्यत् ॥ -१४६०-१४६३- ॥

इति रौद्रः

(सु०) अथ स्थायिनश्चातुर्विध्यं लक्षयति—गुराविति । स्पष्टोऽर्थः ॥
 ॥ -१४६०-१४६३- ॥

इति रौद्रः

(क०) अथ वीरं लक्षयितुं तद्विभावानाह—अविस्मयादित्यादि ।
 सतां धर्माद्यर्थविशेषेष्विति । आदिशब्देनार्थकामौ गृह्येते । अर्थविशेषाः

सामादीनामुपायानां यथास्वं विनियोजने ॥ १४६७ ॥

विज्ञत्वं स्थैर्यधैर्यं च शौर्यं त्यागो यथोचितम् ।

भाषणं भावगम्भीरवाक्यस्येत्येवमादयः ॥ १४६८ ॥

सर्वे गर्वानुभावाश्चानुभावाः स्युरथ स्मृतिः ।

औद्यमावेगरोमाश्चावमर्शश्च धृतिर्मतिः ॥ १४६९ ॥

एवंप्रभृतयो भावा यत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।

उत्साहःस्थायिभावश्च धीरा वीरं तमूचिरे ॥ १४७० ॥

उत्तमप्रकृतिष्वेव पुरुषेष्वेष जायते ।

पुरुषार्थाः, तेषु । विस्मयो गर्वस्तदभावात्, संमोहश्चाज्ञानं तदभावात्, विषादो दुःखं तदभावाच्च हेतोर्त्यः कार्यतत्त्वविनिश्चयः, स वीरस्य विभावो भवति । एतेन विस्मयादियुक्तस्य कार्यतत्त्वविनिश्चयो न जायत इत्युक्तं भवति । इत्यादय इति । आदिशब्देन लोके वीरोत्पादकत्वेन येऽन्ये दृष्टास्ते ग्राह्याः । नटे काव्यसमन्विता इति । काव्यशब्देन वाचिकाभिनय उच्यते । तेन सह नटैरभिनीता इत्यर्थः ॥ -१४६४-१४६६- ॥

(सु०) वीरस्य विभावान् लक्षयति—अविस्मयादीति । गर्वाभावोऽविस्मयः, तस्मात् ; अज्ञानं संमोहः, तस्मात् ; दुःखाभावोऽविषादः, तस्मात् हेतोः सतां धर्मार्थकामेषु यः कार्यतत्त्वविनिश्चयः । नयः, विनयः, कीर्तिः, पराक्रमणशक्तता, प्रतापः, प्रभुशक्तिश्च, दुर्धर्षप्रौढसैन्यता, मन्त्रशक्तिश्च, संपन्नधनाभिजनमन्त्रिता इत्येवमादयो वीरस्य विभावा भवन्ति । अत्रादिशब्देन लोके वीरोत्पादकत्वेन येऽन्ये दृष्टास्ते ग्राह्या भवन्ति ॥ -१४६४-१४६६- ॥

(क०) वीरस्यानुभावानाह—सामादीनामित्यादि । सर्वे गर्वानुभावाश्चेति । व्यभिचारिभावस्य गर्वस्य येऽनुभावा वक्ष्यन्ते, ते सर्वेऽपि

सम्यग्विज्ञाय षड्गुण्यंप्रयोगो गीयते नयः ॥ १४७१ ॥

संधिश्र विग्रहो यानमासनं संश्रयस्तथा ।

द्वैधीभाव इति प्रोक्ता नीतिशास्त्रेषु षड्गुणाः ॥ १४७२ ॥

इन्द्रियाणां जयं प्राह विनयं शंकरप्रियः ।

वीरानुभावा भवन्तीत्यर्थः । व्यभिचारिण आह—अथ स्मृतिरित्यादि । यत्र चोत्साहः स्थायिभावो भवति धीरा विद्वांसस्तं वीरमूचिरे । उत्तमप्रकृतिष्वेवेति । मध्यमाधमपुरुषयोर्वीरो न जायत इत्यर्थः ॥-१४६७-१४७०-॥

(सु०) अथानुभावानाह—सामादीनामिति । सामादीनां चतुर्णामुपायानां विनियोगविषये, स्थैर्यधैर्ये च विज्ञत्वम्, यथोचितं शौर्यत्यागौ, भावगम्भीरं भाषणमित्येवमादयः सर्वे गर्वानुभावाः, गर्वस्य येऽनुभावाः, तेऽप्यत्र स्युः । व्यभिचारिण उद्दिशति—अथ स्मृतिरिति । औप्रयमावेगरोमाश्चावमर्शधृतिमतीत्येवमादयो भावा अत्र संचारिणो भवन्ति ॥ -१४६७-१४६९- ॥

(क०) वीरविभावत्वेनोक्तस्य नयस्य स्वरूपमाह—सम्यग्विज्ञायेत्यादि । षड्गुणा एव षड्गुण्यम् ॥ -१४७१ ॥

(क०) प्रसङ्गात् षड्गुणानाह—संधिश्रेत्यादि ॥ १४७२ ॥

(सु०) स्थायिनमाह—उत्साह इति । यत्र उत्साहः स्थायी भवति, तं पण्डिता वीरमित्याहुः । स च वीरोऽपि उत्तमप्रकृतिष्वेव जायते । न तु मध्यमाधमपुरुषयोः । वीरविभावितं नयं लक्षयति—सम्यगिति । षड्गुणा एव षड्गुण्यम् । गुणान् लक्षयति—संधिश्रेति । संधिः, विग्रहः, यानम्, आसनम्, तथा संश्रयः, द्वैधीभाव इत्येते नीतिशास्त्रोक्ताः षड्गुणा भवन्ति ॥ -१४७०-१४७२ ॥

(क०) विनयस्वरूपमाह—इन्द्रियाणामित्यादि ॥ १४७२- ॥

प्रतापः पौरुषोद्भूता प्रसिद्धिः शत्रुतापिनी ॥ १४७३ ॥
 कीर्तिः सुहृदुदासीनजनानन्दप्रदं यशः ।
 सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ॥ १४७४ ॥
 स्थैर्यं त्वचलचित्तत्वं धैर्यं गाम्भीर्यशालिता ।
 शौर्यं भवेदनुद्भूतभयं युद्धप्रवर्तनम् ॥ १४७५ ॥
 वीरः स्यादुचिते युद्धे रौद्रस्त्वनुचिते भवेत् ।

(सु०) विनयस्य स्वरूपमाह—इन्द्रियाणामिति । प्रतापस्य लक्षणमाह—प्रताप इत्यादि । कीर्तिं लक्षयति—कीर्तिरिति । स्थैर्यधैर्यं लक्षयति—स्थैर्यमिति । स्थैर्यं नाम चित्तस्याचालनत्वम् ; धैर्यं तु गाम्भीर्यमिति । शौर्यं लक्षयति—शौर्यमिति । अनुद्भूतभयं यथातथा युद्धे प्रवर्तनं शौर्यमित्युच्यते । वीरं लक्षयति—वीर इति । यत्र नायकप्रतिनायकौ समबलौ स्याताम् ; तत्र वीरो भवति ; यथा रामरावणयोः । यत्र विषमबलौ भवेताम् ; तत्र रौद्रो भवति ; यथा भीमदुःशासनयोरिति विवेकः । वीरस्य त्रैविध्यं लक्षयति—दानवीरेति । दानवीरः, धर्मवीरः, युद्धवीर इति । तत्र विभावानाह—वीर इति । अन्यत्सुगमम् ॥ १४७३-१४७७ ॥

इति वीरः

(क०) प्रतापस्य लक्षणमाह—प्रताप इत्यादि ॥ -१४७३ ॥

(क०) कीर्तिलक्षणमाह—कीर्तिरित्यादि । सामादीनामित्यत्रादिशब्देन ग्राह्यानाह—सामेत्यादि ॥ १४७४ ॥

(क०) स्थैर्यधैर्ययोर्लक्षणमाह—स्थैर्यं त्वचलचित्तत्वं धैर्यं गाम्भीर्यशालितेति । शौर्यस्य लक्षणमाह—शौर्यं भवेदिति । उचिते युद्धे वीरः स्यादिति । यत्र नायकप्रतिनायकौ तुल्यबलौ तदुचितं युद्धम् । यथा

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रिधा ॥ १४७६ ॥

वीरो दानादयस्तत्र विभावाः प्रतिनायके ।

नायके त्वनुभावाः स्युर्वीरस्येति विदां मतम् ॥ १४७७ ॥

रक्षःपिशाचभल्लूकप्रभृतेर्भीषणाकृतेः ।

दर्शनं श्रवणं शून्यागारारण्यप्रवेशयोः ॥ १४७८ ॥

विकृतस्य ध्वनेस्त्रासोद्वेगयोः परसंस्थोः ।

श्रवणं चानुसंधानं बन्धूनां वधबन्धयोः ॥ १४७९ ॥

एवमाद्या विभावाः स्युरथ नेत्रकराङ्घ्रिणः ।

मध्ये मध्ये स्तम्भकम्पौ रोमाञ्चनिचयस्तथा ॥ १४८० ॥

रामरावणयोस्तत्र वीर एव । रौद्रस्त्वनुचिते भवेदिति । यत्र त्वेकः प्रबलो-
ऽन्यो दुर्बलस्तदनुचितं युद्धम् । यथा भीमदुःशासनयोस्तत्र रौद्र एव ॥
॥ १४७५, १४७५- ॥

(क०) वीरस्य त्रैविध्यमाह—दानवीर इत्यादि । तत्र त्रिविधे
वीरे । प्रतिनायके दानादयो विभावा इति । प्रतिनायकेन कृतं दानं
नायकाश्रयस्य दानवीरस्य विभावः । प्रतिनायककृतो धर्मो नायकाश्रयस्य
धर्मवीरस्य विभावः । तथा प्रतिनायककृतं युद्धं नायकाश्रयस्य युद्धवीरस्य
विभावो भवतीत्यर्थः । नायके त्वनुभावाः स्युरिति । नायककृतानि
दानधर्मयुद्धानि तु वीरस्य नायकनिष्ठवीरस्यानुभावा भवेयुरिति विदां विदुषां
मतं संमतम् ॥ -१४७६, १४७७ ॥

इति वीरः

(क०) अथ भयानकं लक्षयितुं तद्विभावानाह—रक्षःपिशाच-
भल्लूकप्रभृतेरित्यादि । शून्यागारारण्यप्रवेशयोरित्यादीनां यथायोगं दर्शन-

शुष्कोष्ठतालुता कम्पहृदयत्वं विवर्णता ।
 मुखस्य स्वरभेदश्च गात्रसंसो विलक्षता ॥ १४८१ ॥
 कांदिशीकतया दृष्टेरनुभावा भवन्त्यमी ।
 अथ स्तम्भादयोऽप्यष्टौ दैन्यमावेगचापले ॥ १४८२ ॥
 शङ्कामोहावपि त्रासापस्मारमरणादयः ।
 यत्र संचारिणः स्थायि भयं स स्याद्भयानकः ॥ १४८३ ॥
 वास्तवं कृत्रिमं चेति भयं द्वेधा निगद्यते ।

श्रवणानुसंधानैः संबन्धः कर्तव्यः । अनुभावानाह—अथ नेत्रकराङ्घ्रिण
 इत्यादि । प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । मुखस्य विवर्णतेत्यन्वयः । संचारिण
 आह—अथ स्तम्भादय इत्यादि । यत्र भयं स्थायि भवति, स भयानकः
 स्यात् ॥ १४७८—१४८३ ॥

(सु०) भयानकस्य विभावादीनाह—रक्ष इति । यत्र शून्यागारारण्य-
 प्रवेशयोः विकृतध्वनेः परत्रासोद्वेगयोः श्रवणम् ; बन्धूनां वधबन्धयोः अनुसंधान-
 मित्येवमाद्या विभावाः । मध्ये मध्ये नेत्रयोः, करयोः, अङ्घ्रिणोश्च स्तम्भकम्पाः ;
 तथा रोमाञ्चनिचयः ; शुष्कोष्ठतालुत्वम् ; हृदयस्य कम्पत्वम् ; मुखस्य विवर्णत्वम् ;
 स्वरभेदश्च, गात्रसंसः ; दृष्टेः कांदिशीकतया विलक्षत्वमित्येवमादयोऽनुभावाः
 स्युः । स्तम्भाद्यष्टकम्, दैन्यावेगचापलशङ्कामोहात्रासापस्मारस्मरणादयश्च व्यभि-
 चारिणः । भयं च स्थायी भवति । तत्र भयानकम् ॥ १४७८—१४८३ ॥

(क०) तस्य भयस्य द्वैविध्यमाह—वास्तवमित्यादि ॥ १४८३-॥

(सु०) भयस्य द्वैविध्यं लक्षयति—वास्तवमिति । तच्च भयानकं
 वास्तवं कृत्रिमं चेति द्विविधं भवति । स्त्रीणां कृत्रिमम्, पुंसस्तु वास्तवम् । तत्र

स्त्रीणां च नीचप्रकृतेः पुंसः स्याद्वास्तवं भयम् ॥ १४८४ ॥
 मध्यमे चोत्तमे पुंसि कृत्रिमं तदुदाहृतम् ।
 स्वभावादभयौ तौ हि स्वामिनं च गुरुं प्रति ॥ १४८५ ॥
 भयं विनयबोधाय दर्शयेतामतात्त्विकम् ।
 नीचैः स्वभावबोधार्थं तत्कार्यं मृदुचेष्टितैः ॥ १४८६ ॥

मध्यमे उत्तमे च कृत्रिममपि भवति । गुरुसमीपे विनयबोधाय, कचिनीचत्व-
 बोधाय च तत्कल्पनात् ॥ १४८४-१४८३- ॥

इति भयानकः

(क०) वास्तवस्याश्रयमाह—स्त्रीणामित्यादि । कृत्रिमस्याश्रयमाह
 —मध्यमे चेत्यादि ॥ -१४८४, १४८४- ॥

(क०) मध्यमोत्तमाश्रयस्य भयस्य कृत्रिमत्वं प्रतिपादयति—
 स्वभावादभयावित्यादि । तौ मध्यमोत्तमौ । नीचैरिति । तदतात्त्विकं
 भयं नीचैः कर्तृभिर्मृदुचेष्टितैः करणैः स्वभावबोधार्थं नीचत्वप्रकाशनाय
 कदाचित्कार्यम् ॥ -१४८५-१४८६ ॥

(सु०) अथ बीभत्सस्य विभावानाह—स्वभावादिति । यत्र स्वभावात्
 इन्द्रियाणां दोषाद्वा, वस्तुनोऽत्यन्ताप्रियात्मकत्वम्, निषिद्धमतितृप्तेश्चरुचिरं
 मलमिश्रितत्वम्, अनिष्टफलदानेन मुहुरुद्वेगदायकत्वमित्येते विभावाः ; इत्कम्प-
 गात्रघ्ननमुखनासोष्ठहनुकुञ्चनष्ठीवनानियतपादन्यासनासादृक्पिधानानीत्येते अनु-
 भावाः । मोहः, आवेगः, अपस्मारः, मृत्युः, व्याधिश्चेत्येते व्यभिचारिणः ;
 जुगुप्सोपलक्षितबीभत्सः स्थायी भवति ; स बीभत्सः । स च त्रैविध्यं भवति—
 शुद्धः, अशुद्धः, अत्यन्तशुद्ध इति । आद्यो रुधिरादिलक्षितः शुद्धः ; मध्यो
 विष्टादिलक्षितोऽशुद्धः ; अन्त्यो शुद्धधर्मोद्भवोऽत्यन्तशुद्धः, स च हेयत्वेन संसार-
 गोचरो भवति ॥ -१४८५-१४८३- ॥

इति बीभत्सः

स्वहेतूतथः कृत्रिमश्च वित्रासितकमित्यपि ।
 भयानकस्त्रिधा तत्र प्रथमोऽन्वर्थनामकः ॥ १४८७ ॥
 कृत्रिमस्तूतमकृतो गुर्वादीन् प्रत्यवास्तवः ।
 विभीषिकार्थो बालादेर्वित्रासितकमिष्यते ॥ १४८८ ॥
 स्वभावाद्भातुदोषाद्वा वस्त्वत्यन्ताप्रियात्मकम् ।
 निषिद्धमतितृप्तेश्चरुचिरं मलमिश्रितम् ॥ १४८९ ॥
 अनिष्टफलदानेन मुहुर्द्वेगदायकम् ।
 स्याद्विभावोऽथानुभावा उत्कम्पो गात्रभ्रूननम् ॥ १४९० ॥
 संकोचनं च नासोष्ठहनूनां घ्रीवनं तथा ।
 पदन्यासोऽप्यनियतः पिधानं नासयोर्दृशोः ॥ १४९१ ॥
 अथ संचारिणो मोहावेगापस्मारमृत्यवः ।
 व्याधिश्च यत्र बीभत्सः स स्थायिन्या जुगुप्सया ॥ १४९२ ॥
 शुद्धोऽशुद्धोऽत्यन्तशुद्धो बीभत्सस्त्रिविधो मतः ।
 आद्यौ रुधिरविष्ठादिशुद्धाशुद्धविभावजौ ॥ १४९३ ॥

(क०) भयानकस्य त्रैविध्यमाह—स्वहेतूतथ इत्यादि । विभीषिकार्थ इति । बालादीन्प्रति भीषयितुं प्रयुक्तः ॥ १४८७—१४८८ ॥

(क०) अथ बीभत्सं लक्षयितुं तद्विभावानाह—स्वभावादित्यादि । अनुभावानाह—उत्कम्प इत्यादि । संचारिण आह—मोहेत्यादि । यत्रैते विभावादयो भवन्ति स स्थायिन्या जुगुप्सयोपलक्षितो बीभत्सो भवति ॥ १४८९—१४९२ ॥

(क०) तस्य त्रैविध्यमाह—शुद्धोऽशुद्ध इत्यादि । आद्यौ शुद्धा-शुद्धौ । रुधिरविष्ठादिशुद्धाशुद्धविभावजाविति । रुधिरादिः शुद्धो

शुद्धधर्मोद्भवोऽत्यन्तशुद्धः संसारगोचरः ।
 दुर्लभाभीष्टसंप्राप्तिः स्वेचराणां विलोकनम् ॥ १४९४ ॥
 विमानानां च मायानामिन्द्रजालस्य दर्शनम् ।
 प्रासादोपवनादेरप्यपूर्वस्यातिशायिनः ॥ १४९५ ॥
 दृष्ट्वा तु पुरुषं विद्याशिल्पाद्यतिशयान्वितम् ।
 एते यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु नेत्रयोः ॥ १४९६ ॥
 विस्तारणं निर्निमेषमीक्षणं पुलकोद्गमः ।
 साधुवादोल्लुकसने चानन्दाद्धारवस्तथा ॥ १४९७ ॥
 गद्गदं वचनं स्वेदवेषथू हर्षगोचरौ ।
 स्पर्शग्रहाश्रिताश्चानुभावाः संचारिणः त्वमी ॥ १४९८ ॥
 स्तम्भः स्वेदश्च रोमाञ्चः प्रलयो गद्गदं वचः ।
 आवेगसंभ्रमौ जाड्यमिति यत्रापि विस्मयः ॥ १४९९ ॥
 स्थायी तमद्भुतं प्राह श्रीमत्सोढलनन्दनः ।

विभावः । तस्माज्जातः शुद्धः । विष्ठादिरशुद्धो विभावः । तस्माज्जातो-
 ऽशुद्धः । शुद्धधर्मोद्भव इति । शुद्धधर्मो निवृत्तिधर्मः । तत उद्भूतः ।
 संसारगोचरः ; हेयत्वेन संसारो विषयो यस्य स तथोक्तः । सोऽत्यन्तशुद्धो
 बीभत्सः ॥ १४९३, १४९३- ॥

इति बीभत्सः

(क०) अथाद्भुतं लक्षयितुं तद्विभावानाह—दुर्लभाभीष्टसंप्राप्ति-
 रित्यादि । दुर्लभस्याभीष्टस्य वस्तुनः संप्राप्तिः । अनुभावानाह—नेत्र-
 योर्विस्तारणमित्यादि । साधुवादोल्लुकसने इति । साधुवादश्चोल्लु-
 कसनं च ॥ -१४९४-१४९९- ॥

माया मिथ्याप्रकटितं रूपादिपरिवर्तनम् ॥ १५०० ॥

असंभाव्यस्य सत्त्वस्य दर्शनं विविधौषधैः ।

हस्तलाघवतो मन्त्रैरिन्द्रजालं प्रकीर्तितम् ॥ १५०१ ॥

गात्रोद्धूननमाह्लादादत्रोल्लुकसनं मतम् ।

(सु०) अथाद्भुतस्य विभावानाह—दुर्लभेति । यत्र दुर्लभाभीष्टसंप्राप्तिः, खेचरणां विमानानां च विलोकनम्, मायानामिन्द्रजालस्य दर्शनम्, प्रासादोप-
वनादेरप्यपूर्वातिशायिनो दर्शनम्; विद्याशिल्पाद्यतिशयितस्य पुरुषस्य दर्शन-
मित्येते विभावाः; नेत्रयोः विस्तारणम्, पुलकोद्गमः, हाहारवः, गद्गदं वचनं
मुखे, हर्षगौचरौ स्वेदवेपथू, स्पर्शप्रहणमित्येते अनुभावाः; स्तम्भः; स्वेदः,
रोमाञ्चः, प्रलयः, गद्गदं वचः, आवेगसंभ्रमौ, जाड्यमित्येते संचारिणः;
विस्मयः स्थायी च भवति; तत्राद्भुतः ॥ -१४९४-१४९९- ॥

(क०) मायाया लक्षणमाह—मायेत्यादि ॥ -१५०० ॥

(सु०) मायां लक्षयति—मायेति । मिथ्याप्रकाशितरूपादिपरिवर्तनं
मायेत्युच्यते । इन्द्रजालं लक्षयति—असंभाव्येति । यत्र विविधैः औषधैः
हस्तलाघवेन मन्त्रैश्च असंभाव्यस्य सत्त्वस्य दर्शनं क्रियते, तदिन्द्रजालम् ।
गात्रोद्धूननमिति । आह्लादात् गात्रोद्धूननमुल्लुकसनं भवति । किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे
स्पर्शः, स्कन्धकपोलयोः भ्रूक्षेपणम् । अनुभावास्तु नूत्ना अभिनवाः स्पर्श-
प्रहाशिता भवन्ति । अद्भुतस्य द्वैविध्यं लक्षयति—आनन्दज इति । आनन्दजः,
दिव्य इति । तत्र मनोरथावास्या आनन्दजो भवति । दिव्यवस्तूद्भवेन दिव्यो
भवति ॥ -१५००-१५०३- ॥

इत्यद्भुतः

(क०) इन्द्रजालस्य लक्षणमाह—असंभाव्यस्येत्यादि ॥ १५०१ ॥

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे स्पर्शः स्कन्धकपोलयोः ॥ १५०२ ॥
 भ्रूक्षेपणं चानुभावा नूत्ना स्पर्शग्रहाश्रिताः ।
 आनन्दजस्तथा दिव्यो द्विविधोऽभिदधेऽद्भुतः ॥ १५०३ ॥
 आद्यो मनोरथावाप्तेर्दिव्यवस्तूद्भवोऽपरः ।
 संसारभीरुता दोषदर्शनं विषयेषु च ॥ १५०४ ॥
 योगिसङ्गो मुनीनां च श्रुताः शमदमक्षमाः ।
 अध्यात्मविषया गोष्ठी तापसास्तापसाश्रमाः ॥ १५०५ ॥
 भूरिनिर्झरझाङ्कारि वारि तीर्थानि तैर्थिकाः ।
 सरितः पुण्यपयसो नीवाराङ्कितसैकताः ॥ १५०६ ॥
 शैवं च वैष्णवं क्षेत्रं विजनानि वनानि च ।
 भक्ता भक्तिरसोन्मत्ताः शंकरस्य हरेरपि ॥ १५०७ ॥
 विष्णुभक्तिप्रभावाद्या विभावा यत्र संमताः ।

(क०) उल्लुकसनस्य स्वरूपमाह—गात्रोद्धूननमित्यादि । स्पर्श-
 ग्रहाश्रितानुभावानाह—किञ्चिदाकुञ्चिते इत्यादि । नूत्ना अभिनवा
 रसान्तरेवप्यातयामा इत्यर्थः ॥ १५०२, १५०२- ॥

(क०) अद्भुतस्य द्वैविध्यमाह—आनन्दज इत्यादि ॥ -१५०३,
 १५०३- ॥

इत्यद्भुतः

(क०) अथ शान्तरसस्य विभावानाह—संसारभीरुतेत्यादि ।
 श्रुता मुनीनां शमदमक्षमा यत्र विभावा इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ।
 भूरिभिर्झरझाङ्कारीति । भूरिश्चासौ निर्झरश्च तस्य झाङ्कारः । झाङ्कार

मन्दस्पन्दो बहिश्चित्तमानन्दाश्रुप्लुते दृशौ ॥ १५०८ ॥
 रोमाञ्चकञ्चुका मूर्तिर्मोक्षशास्त्रार्थचिन्तनम् ।
 ब्रह्मविद्योपदेशश्च संवादस्तत्त्वगोचरः ॥ १५०९ ॥
 नासाग्रानुगते नेत्रे ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम् ।
 इत्यादयोऽनुभावाः स्युरिमे तु व्यभिचारिणः ॥ १५१० ॥
 उन्मादः परमानन्दरसपानसमुद्भवः ।
 हर्षो धृतिः समीचीनो विबोधश्च स्मृतिर्मतिः ॥ १५११ ॥
 निर्वेदस्तत्त्वबोधोत्थः स्थायी शान्तो भवेदसौ ।

इत्यनुकरणम् । सोऽस्यास्तीति वारिणो विशेषणम् । भूरीति पृथक्पदं वा
 वारिविशेषणम् ॥ -१५०४-१५०७- ॥

(सु०) अथ शान्तस्य विभावानाह—संसारेति । यत्र संसारमीरुत्वम् ;
 विषयेषु दोषदर्शनम्, योगिसङ्गः, शमदमक्षमाः, आध्यात्मविषयगोष्ठीः, तापसाः,
 तापसाश्रमाः, भूरिनिर्झरझांकारि वारि, तीर्थानि, तैर्थिकाः, परिशुद्धजलानि,
 नीवाराङ्कितसैकताः सरितः, शैवं वैष्णवं च क्षेत्रम्, विजनानि काननानि, विष्णु-
 रुद्रभक्तियुक्ता जनाः, विष्णुभक्तिप्रभावाद्या विभावाः । अनुभावानाह—मन्देति ।
 यत्र मन्दस्पन्दो बहिश्चित्तम्, आनन्दाश्रुपूर्णं नयने, रोमाञ्चसंचयकञ्चुका तनुः,
 मोक्षशास्त्रार्थचिन्तनम्, ब्रह्मविद्योपदेशनम्, तत्त्वविषयकसंवादः, नासाग्रन्य-
 स्तनयनत्वम्, ज्ञानमुद्राप्रदर्शनमित्यादयोऽनुभावाः । व्यभिचारिण आह—
 उन्माद इति । यत्र परमानन्दपरीवाहपानज उन्मादः, हर्षः, धृतिः,
 समीचीनविबोधः, स्मृतिः, मतिः, निर्वेद इत्येते व्याभिचारिणः । यत्र तत्त्व-
 ज्ञानजो निर्वेदश्च स्थायी भवति ; स शान्तः । मतान्तरेण स्थाव्यन्तरमाह—
 अथवेति ॥ -१५०४-१५१२- ॥

(क०) अनुभावानाह—मन्दस्पन्द इत्यादि । व्यभिचारिण

रत्यादिभेदविधुरो विषयोपप्लवोज्झितः ॥ १५१२ ॥

परानन्दघनैकात्मनिर्भासः शान्त उच्यते ।

स्वतो विषयवैमुख्यं शमः स्थाय्यथवा भवेत् ॥ १५१३ ॥

नाट्यनिर्वाहको मध्ये मध्ये संचारिसंभवः ।

आह—उन्माद इत्यादि । रसान्तरोन्मादादस्य वैलक्षण्यमाह—पर-
मानन्दरसपानसमुद्भव इति । समोचीनो विबोध इति । विबोधस्य
समीचीनत्वमात्मविषयत्वम् । स्मृतिमत्योरप्यत्र तादृशत्वं मन्तव्यम् । यत्र
तत्त्वबोधोत्थो निर्वेदः स्थायी भवति, असौ शान्तो भवेत् ॥ -१५०८-
१५११- ॥

(क०) शान्तरसस्य स्वरूपमाह—रत्यादिभेदविधुर इत्यादि ।
तस्य बाह्यविषयालम्बनत्वाभावादृत्यादिभेदविधुरत्वं द्रष्टव्यम् । विषयोप-
प्लवोज्झित इति । विषयकृत उपप्लवः परिच्छिन्नत्वादिकं तेनोज्झितः ।
अत एव परानन्दघनैकात्मा; परमानन्देन घनो निबिडः, एकोऽभिन्न
आत्मा स्वरूपं यस्येति स तथोक्तः । निर्भासो ज्ञानम् ॥ -१५१२,
१५१२- ॥

(क०) मतान्तरेण स्थाय्यन्तरमाह—अथ वेति । शमस्य स्वरूप-
माह—स्वतो विषयवैमुख्यमिति । स्वत इति । तात्कालिकातितृप्त्यादि-
निमित्तान्तरराहित्येनेत्यर्थः । केवलशमस्याभिन्नरूपत्वादभिनयभेदाभावे कथं
नाट्यरसत्वमित्यत्राह—नाट्यनिर्वाहक इत्यादि ॥ -१५१३, १५१३- ॥

(सु०) शमस्य स्वरूपमाह—स्वत इति । शान्तोचितानभिमान-
लक्षयति—स्वभाव इति । यस्मादेवं तस्मात् शान्तो नामात्मनः प्रकृतिः
स्वभाव इति । शान्तस्य स्वभावमाह—विहायेति ॥ -१५१३, १५१३- ॥

स्वभावाभिनयाः पूर्वमाङ्गिका ये निरूपिताः ॥ १५१४ ॥

ते शान्तविषया यस्माच्छान्तः प्रकृतिरात्मनः ।

विहाय विषयौन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः ॥ १५१५ ॥

आत्मनः कथ्यते शान्तः स्वभावोऽसौ मतस्ततः ।

भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं केचित्त्रीन् मन्वते रसान् ॥ १५१६ ॥

श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः ।

(क०) शान्तोचितानभिनयानाह—स्वभावाभिनयाः पूर्वमित्यादि ।

यस्मादेवमतः शान्तो नामात्मनः प्रकृतिः स्वभावः ॥-१५१४-१५१४-॥

(क०) शान्तस्य स्वभावत्वं प्रतिपादयति—विहायेत्यादि ॥

॥ -१५१५-१५१५- ॥

इति शान्तः

(क०) मतान्तरेण रसान्तराणि शङ्कते—भक्तिमित्यादि । श्रद्धार्द्र-
ताभिलाषानिति । भक्तिरसे श्रद्धा स्थायिनी । स्नेहरस आर्द्रता स्थायिनी ।
लौल्यरसेऽभिलाषः स्थायीति यथासंख्यं द्रष्टव्यम् ॥ -१५१६-१५१६- ॥

(सु०) मतान्तरेण शङ्कामाह—भक्तिमिति । भक्तिम्, स्नेहम्, लौल्य-
मिति त्रीन् रसान् केचिद् भेदः । आहुश्च तेषां क्रमेण श्रद्धा, आर्द्रता, अभि-
लाषश्च स्थायीति । तद्द्रष्टव्यमिति—तदसदिति । हि यस्मात् भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ ।
तयोः स्थायित्वमाह—नृनार्योरिति । नृनार्योः स्त्रीपुंसयोः, परस्परविषयत्वे
भक्तिस्नेहयो रतिभेदत्वेनात्र शृङ्गार एव स्थायिनौ मतौ । अतो भक्तिस्नेहयोरपि
रतावन्तर्भावान्न पृथगसत्त्वमिति । लौल्यस्य हासेऽन्तर्भावमाह—अयुक्तेति ।
अयुक्तविषया असंभाव्यमानवस्तुविषया तृष्णा लौल्यमित्युच्यते । तद् हास्यकारणं
भवति । अतो रसा नवैवेति भरतमुनिना संप्रधारितम् ॥ -१५१६-१५१८- ॥

इति शान्तः

तदसद्रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ ॥ १५१७ ॥

व्यभिचारित्वमनयोर्नृनार्योः स्थायिनौ तु तौ ।

अयुक्तविषया तृष्णा लौल्यं तद्भास्यकारणम् ॥ १५१८ ॥

अतो रसा नवैवेति मुनिना संप्रधारितम् ।

(क०) तद्दूषयति—तदसदित्यादि । हि यस्मात्कारणान्नृगोचरौ केवलपुरुषविषयौ परस्परं पुरुषविषयावित्यर्थः । तादृशौ । भक्तिस्नेहौ रतिभेदाविति । तयोर्भावत्वमेवेत्यर्थः । भावत्वेऽपि स्थायित्वमिति यावत् । किं त्वनयोर्भक्तिस्नेहयो रतिभेदत्वेऽपि व्यभिचारित्वमेव । यथाह काव्य-प्रकाशकारः—“रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावः प्रोक्तः” (काव्य० प्र० ४-३५) इति । तर्हि भक्तिस्नेहयोः कुत्र स्थायित्वमित्याकाङ्क्षायामाह—नृनार्योरिति । ना च नारी च नृनार्यौ । तयोः परस्परविषयत्वे भक्तिस्नेहयो रतिभेदत्वेन शृङ्गार एव स्थायिनौ मतौ । यथा रामभद्रे सीताया भक्तिः । तस्यां च तस्य स्नेहश्च वर्ण्यते कविभिः ; अतः तौ तयोः स्थायिनावेव रतिभेदतया मन्तव्यौ । अतो भक्तिस्नेहयोरपि रतावन्तर्भावान्न पृथग्रसत्वमिति भावः ॥ -१५१७, १५१७- ॥

(क०) लौल्यस्यापि हासेऽन्तर्भावं वक्तुं तत्स्वरूपमाह—अयुक्त-विषयेत्यादि । अयुक्तविषया; असंभाव्यमानवस्तुविषया तृष्णा लौल्य-मित्युच्यते । तत्; लौल्यं हास्यकारणं हास्यस्य विभावो भवति । यथा सीताविषया रावणस्य तृष्णा कविभिर्वर्णिता सती श्रोतॄणां हास्यं जनयति । अतः तस्या न पृथग्रसत्वमिति भावः । निगमयति—अतो रसा नवैवेति । तत्राचार्यसंमतिमाह—इति मुनिना संप्रधारितमिति ॥ -१५१८, १५१८- ॥

रत्यादयः स्थायिनश्चेत्स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ॥ १५१९ ॥

स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ।

रसान्तरेष्वपि तदा यथायोगं भवन्ति ते ॥ १५२० ॥

यथा हि हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते ।

वीरे क्रोधो भयं शोके जुगुप्सा च मयानके ॥ १५२१ ॥

(क०) रत्यादीनां स्थायित्वे संचारित्वे च व्यवस्थापकं कारणभेदं दर्शयति—रत्यादय इत्यादि । रत्यादयो नवापि । भूयिष्ठविभावजाश्चेदिति । भूयिष्ठाश्च ते विभावाश्च आलम्बनोद्दीपनरूपाः । तैर्जाताश्चेत्स्थायिनः स्युः । दृढसंस्कारवत्तया स्थिरा भवन्ति । त एव रत्यादयः स्तोकैरल्पैर्विभावैरुत्पन्नाश्चेत् । अभिभूतसंस्कारवत्तया व्यभिचारिणो भवन्ति । क्षणिका भवन्तीत्यर्थः । रसान्तरेष्वित्यादि । ते रत्यादयः । तदा अल्प-विभावजत्वेन व्यभिचारित्वे । रसान्तरेषु रत्यादीनां स्थायित्वे प्रतिनियतेभ्यः शृङ्गारादिभ्योऽन्येषु । यथायोगं योगमनतिक्रम्येत्यर्थः । यस्मिन् रसे रत्यादिषु यः संचारी भवितुं योग्यः, स एव तत्र वर्णनीय इत्यर्थः ॥
॥ -१५१९, १५२० ॥

(सु०) रत्यादीनां स्थायित्वे संचारित्वे च व्यवस्थापकमाह—रत्यादय इति । भूयिष्ठाः विभावा आलम्बनोद्दीपनरूपाः, तैर्जाताश्चेत् स्थायिनो भवन्ति । त एव रत्यादयः स्तोकः अल्पैः विभावैर्जाताश्चेत् व्यभिचारिणो भवन्ति । ते रत्यादयः रसान्तरेष्वपि यथायोगं भवन्ति । उक्तमर्थं विवृणोति—यथा हीति । अन्यत्सुगमम् ॥ -१५१९-१५२२ ॥

इति नवरसलक्षणम्

(क०) यथायोगशब्देनोक्तमर्थं विवृणोति—यथा हीत्यादि उत्साह-विस्मयो सर्वरसेषु व्यभिचारिणविति । उत्साहस्य वीर एव स्थायित्वम् ।

उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ ।

शमः सर्वरसेष्वस्ति स्थैर्याच्चव्यभिचार्यसौ ॥ १५२२ ॥

अथ व्यभिचारिणां निर्वेदादीनां हि लक्षणम् ।

आक्रोशनमधिक्षेपो व्याधिक्रोधौ च ताडनम् ॥ १५२३ ॥

दारिद्र्यमिष्टविरहः परवृद्धेश्च दर्शनम् ।

नीचेष्विति विभावाः स्युरुत्तमे स्वपमाननम् ॥ १५२४ ॥

तत्त्वबोधश्च यत्र स्यादनुभावास्तु रोदनम् ।

इतरेष्वष्टसु योग्यतया व्यभिचारित्वम् । तथा विस्मयस्याद्भुत एव स्थायित्वमितरेषु व्यभिचारित्वमिति सर्वशब्दार्थः संकोचनीयः । शमः सर्वरसेष्वस्तीति । अयमर्थः—लोके शृङ्गारादिष्वष्टसु मध्ये यं कंचन रसमनुभवत एव पुंसो जन्मान्तरसुकृतविशेषवशाच्छम उत्पद्यत इति तत्तद्रससंबन्धाच्छमस्य सर्वरसेष्वस्तिस्त्वमिति । ततः शान्ते शमः स्थायी भवतु । अन्यत्र व्यभिचारी भवत्वित्याशङ्कायामाह—स्थैर्याच्चव्यभिचार्यसाविति । असौ शमस्तु स्वतो विषयवैमुख्यात्मकः सन्नतपन्नः स्थैर्यात्पुनर्विषयाभिलाषाभावेन वासनायाः स्थिरत्वात्कदाचिदव्यभिचार्येव । शान्ते नित्यं स्थाय्येवेत्यर्थः । यस्तु प्रथममुत्पन्नोऽपि पुनरपि मनसो विषयाभिमुखतया निवर्तते, स तूक्तलक्षणः शम एव न भवति । किं तु शमाभास एव । अत्र स्वरूपसत एव रत्यादेः स्थायित्वं संचारित्वं च विचार्यते, न त्वाभासस्येति सर्वमवदातम् ॥ १५२१, १५२२ ॥

इति नवरसलक्षणम्

(क०) पूर्वं रसलक्षणे रसं प्रति निमित्तकारणत्वेन विभावा उक्ताः । रसस्य कार्यत्वेनानुभावा अप्युक्ताः । रसोपादानकारणत्वेन स्थायि-

निश्वासोच्छ्वसिते दीनमुखता संप्रधारणम् ॥ १५२५ ॥
इत्यादयः स निर्वेदो भावः सूरिभिरिष्यते ।

इति निर्वेदः

व्याधिर्वान्तिर्विरेकश्चोपवासो नियमस्तपः ॥ १५२६ ॥
मनस्तापोस्तिपानातिव्यायामसुरतानि च ।
निद्राछेदोऽध्वगमनं क्षुत्पिपासादयस्तथा ॥ १५२७ ॥

नोऽपि लक्षिताः । संचारिणस्तु रससहकारितया नाममात्रेणोद्दिष्टाः ; न तु प्रत्येकं लक्षिता इतीदानीं निर्वेदादीनां विशेषलक्षणानि वक्तुमाह—अथेति । निर्वेदादीनां भावानां रसवन्मनोविकारविशेषरूपतया तत्तद्विभावानुभावकथा नपूर्वकं लक्षयति—‘आक्रोशनमधिक्लेपः’ इत्यारभ्य ‘स्रस्तगात्रताक्षिनि-पीलनम्’ (१६४२) इत्यन्तेन ग्रन्थसंदर्भेण ॥ १५२३, १५२४- ॥

(सु०) अथ व्यभिचारिणो लक्षयति—अथेति । तत्र निर्वेदं लक्षयति—आक्रोशनमिति । यत्र आक्रोशनम्, अधिक्लेपः ; व्याधिः, क्रोधः, ताडनम्, दारिद्र्यम्, इष्टवियोगः, परकीयवृद्धिदर्शनमित्येते नीचेषु विभावाः । उत्तमे तु अवमाननतत्त्वबोधौ विभावौ, रोदनम्, निःश्वासोच्छ्वसिते, दीनमुखत्वम्, संप्रधारणमित्याद्या अनुभावाश्च भवन्ति, स निर्वेदः ॥ १५२३-१५२५- ॥

इति निर्वेदः (१)

(क०) निर्वेदानुभावेषु—संप्रधारणमिति । इत्यादय इत्यत्रादि-शब्देन लोकसिद्धा अन्येऽप्यनुभावा ग्राह्याः ॥ -१५२५, १५२५- ॥

इति निर्वेदः

(सु०) ग्लानिं लक्षयति—व्याधिरिति । यत्र व्याधिः, वान्तिः, विरेकः, उपवासः, नियमः, तपः, मनस्तापः, अतिपानातिव्यायामसुरतानि, निद्राछेदः,

विभावाः स्युरथ स्रस्ताधरनेत्रकपोलता ।

मन्दाबुत्क्षेपनिक्षेपौ पादयोस्तनुगात्रता ॥ १५२८ ॥

विवर्णशिथिलाङ्गत्वं कम्पानुत्साहतादयः ।

यत्र भावेऽनुभावाः स्युः सा ग्लानिरभिधीयते ॥ १५२९ ॥

इति ग्लानिः

चौर्यराजापराधादेरकार्याद्ग्रहणं नृणाम् ।

अन्येषु तत्सहायेषु विभावश्चेदथात्मनः ॥ १५३० ॥

अन्येनादर्शने यत्र पार्श्वयोर्मुहुरीक्षणम् ।

कण्ठोष्ठमुखशोषश्च जिह्वायाः परिलेहनम् ॥ १५३१ ॥

वेषथुर्मुखवैवर्ण्यं गुरुविह्वलजिह्वता ।

उन्मुखेक्षणमित्यादिरनुभावगणो यदा ॥ १५३२ ॥

नीचेषूत्तममध्येषु नरेषु मृदुचेष्टितैः ।

अध्वगमनम्, क्षुत्पिपासादयश्च विभावा स्युः । तथा स्रस्ताधरनेत्रकपोलता, पादोत्क्षेपविक्षेपौ, विवर्णशिथिलङ्गत्वम्, कम्पः, अनुत्साह इत्याद्या अनुभावा भवन्ति, स ग्लानिः ॥ -१५२६-१५२९ ॥

इति ग्लानिः (२)

(क०) शङ्कालक्षणे—चौर्येत्यादि । चौर्यराजापराधादेरकार्याद्धेतोः नृणां चौर्यादिकर्तृणां ग्रहणं तत्सहायेष्वन्येषूत्पद्यमानायाः शङ्काया विभावश्चेत्तदा । तन्निष्ठानुभावानाह—अथात्मन इत्यादि । यदैवमादिरनुभावगणो भवति, तदानीं तेष्वसंदेहरूपा शङ्का भवेदित्यन्वयः । सोत्तमानामिति । सा शङ्कोत्तमानां पुंसां स्त्रीणामपि भीरुत्वाद्भीरुस्वभावतया । भयकृदिति । भयानकस्य विभावो भवतीत्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १५३०-१५३३ ॥

सोत्तमानामपि स्त्रीणां भीरुत्वाद्भयकृद्भवेत् ॥ १५३३ ॥
 प्रियविप्रियजा शङ्का शृङ्गारे शार्ङ्गिणोदिता ।
 चौर्यराजापराधादिप्रभवा तु भयानके ॥ १५३४ ॥
 परस्था स्वसमुत्था च द्वेधा शङ्का निगद्यते ।
 नृषु भीरुस्वभावेषु तरलालोकनादिभिः ॥ १५३५ ॥
 सापराधत्वशङ्का यान्येषां सा परसंस्थिता ।
 स्वसमुत्था परे ज्ञास्यन्त्यपराधं ममेत्यसौ ॥ १५३६ ॥
 स्वशङ्कायां परज्ञानशङ्का या स्वसमुत्थिता ।
 सहभावोऽवहित्येन शङ्काया दृश्यते रसे ॥ १५३७ ॥

इति शङ्का

नृपापराधोऽसद्वेषकीर्तनं चोपधारणम् ।
 विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥ १५३८ ॥

(सु०) शंकां लक्षयति—प्रियेति । यत्र चौर्यराजापराधादिकार्येण ग्रहणं विभावः, परैः तस्या दर्शने यत्नः, पार्श्वद्वये मुहुर्वीक्षणम्, कण्ठोष्ठमुखशोषणम्, जिह्वापरिलेहनम्, वेपथुः, मुखवैवर्ण्यम्, गुरुविह्वलजिह्वता, उन्मुखेक्षण-मित्याद्या अनुभावा भवन्ति । सा शङ्का । नीचे अनर्थभावा शङ्का उत्तमानां स्त्रीणामपि सा भवत्येव । शृङ्गारे प्रियविप्रियशङ्का । भयानके चौर्यराजापराधजा । शङ्का द्विविधा । परस्था स्वसमुत्था चेति । भीरुस्वभावेषु मानुषेषु तरलोद्दीक्षणादिना सापराधत्वशङ्काया परेषां जाता शङ्का परस्था । ममापराधमन्ये ज्ञास्यन्तीति या स्वसमुत्थिता शङ्का सा द्वितीया ॥ १५३०-१५३७ ॥

इति शङ्का (३)

(सु०) औघ्र्यं लक्षयति—नृपेति । यत्र राजापराधः, असद्वेषकीर्तनम्,

एते यत्रानुभावास्तदौघ्यं निर्दयतात्मकम् ।

इत्यौघ्यम् (४)

चिन्तौत्सुक्यमनस्तापादौर्गत्याच्च विभावतः ॥ १५३९ ॥

अनुभावात्तु शिरसो व्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ।

देहोपस्करणत्यागादैन्यं भावं विभावयेत् ॥ १५४० ॥

इति तैन्यम् (५)

नानापराधो विद्वेषः परस्यैश्वर्यसंपदाम् ।

सौभाग्यमेधाविद्यादेर्दर्शनं च विभावकम् ॥ १५४१ ॥

अनुभावास्त्वमर्षादिदोषोक्तिर्गुणनिहवः ।

गुणस्य दोषीकरणमप्रेक्षणमधोमुखम् ॥ १५४२ ॥

अवज्ञाभ्रुकुटीत्याद्या यत्रासूयाममूं विदुः ।

इत्यसूया (६)

चोरधारणमित्येते विभावाः । बन्धः, वधः, ताडनम्, भर्त्सनमित्येते अनुभावा भवन्ति, तदौघ्यम् ॥ १५३८, १५३८- ॥

इत्यौघ्यम् (४)

(सु०) दैन्यं लक्षयति—चिन्तेति । यत्र चिन्तौत्सुक्यमनस्तापदौर्गत्यानि विभावाः, शिरसो व्यावर्तनगात्रगौरवदेहोपस्करणत्यागा इत्येते अनुभावा भवन्ति, तदैन्यम् ॥ -१५३९, १५४० ॥

इति दैव्यम् (५)

(सु०) असूयां लक्षयति—नानापराध इति । यत्र नानापराधः, विद्वेषः परैश्वर्यसंपत्सौभाग्यविद्यामेधादिदर्शनं च विभावः । अमर्षादिदोषेणोक्तगुणानां निहवः, गुणस्य दोषीकरणम्, अप्रेक्षणम्, अवज्ञाभ्रुकुटी इत्याद्या अनुभावा भवन्ति, सा असूया ॥ १५४१-१५४२- ॥

इत्यसूया (६)

मद्यपानं विभावोऽथानुभावाः पञ्च येन च ॥ १५४३ ॥
 शयनं हसनं गानं रोदनं परुषोक्तयः ।
 उत्तमे पुरुषे स्वापो हासगाने तु मध्यमे ॥ १५४४ ॥ •
 रोदनं परुषोक्तिश्च भवतः पुरुषेऽधमे ।
 स स्यान्मदः स च त्रेधा तरुणो मध्यमोऽधमः ॥ १५४५ ॥
 तरुणोऽल्पोऽधमस्त्वत्र प्रवृद्धोऽधमसंश्रयात् ।
 सर्वेषां तरुणः प्रोक्तो मध्यमो मध्यनीचयोः ॥ १५४६ ॥
 पुमांसोऽधमसत्त्वा ये तेषामेवाधमो मदः ।
 अन्यक्तासंगतैर्वाक्यै रोमाञ्चनिचयैस्तनोः ॥ १५४७ ॥
 सुकुमारस्खलद्रुत्याभिनयेत्तरुणं मदम् ।
 स्रस्तव्याकुलविक्षिप्तौ भुजौ स्वलितघूर्णिते ॥ १५४८ ॥
 नेत्रे गतिश्च कुटिलानुभावा मध्यमे मदे ।
 गतिभङ्गः स्मृतेर्नाशो ह्रिका छर्दिः कफक्षुतिः ॥ १५४९ ॥
 गुर्वी चिह्ना ष्ठीवनं चानुभावाः स्युर्मदेऽधमे ।
 रङ्गे विधाय पानं तु नाटयेन्मदवर्धनम् ॥ १५५० ॥
 पीत्वा रङ्गप्रवेशे तु मदक्षैण्याय बुद्धिमान् ।
 हर्षशोकभयोपायान्युगपदर्शयेद्ब्रह्मन् ॥ १५५१ ॥

इति मदः (७)

(सु०) मदं लक्षयति—मद्यपानमिति । यत्र मद्यपानं विभावः, शयनं, हसनं, गानं, रोदनं, परुषोक्तिरित्येते उत्तमपुरुषेऽनुभावाः; स्वापः, हासः, गानं च मध्यमपुरुषेऽनुभावाः; रोदनं, परुषोक्तिश्च अधमे पुरुषेऽनुभावौ भवतः, स मदः । सोऽपि त्रिविधः । तरुणः, मध्यमः, अधम इति । तरुणोऽल्पः अधमस्त्वत्र अधमसंश्रयो प्रवृद्धः । सर्वेषां तरुणः प्रोक्तः । मध्यनीचयोः मध्यमः ।

अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।

गात्रसंवाहनैरास्यसंकोचैरङ्गमोटनैः ॥ १५५२ ॥

• विश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादक्षेपैः श्रमो यतः ।

इति श्रमः (८)

विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यं भ्रंशनं तथा ॥ १५५३ ॥

इष्टार्थापहृतिश्चाथ श्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ।

संतापः स्मरणं ध्यानं कार्यं देहानुपस्कृतिः ॥ १५५४ ॥

अधृतिश्चानुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्तिता ।

वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्ये वोपजायते ॥ १५५५ ॥

इति चिन्ता (९)

अधमसत्त्वा ये पुमांसः, तेषामेवाधमो मदः । अव्यक्तासङ्गतैः वाक्यैः, तनोः रोमाञ्चनिचयैः, सुकुमारेण स्वलद्गतिरित्याद्या तरुणे मदेऽनुभावा भवन्ति । स्रस्तौ व्याकुलौ, विक्षिप्तौ, स्वलितौ, घूर्णितौ भुजौ, कुटिले नेत्रे, कुटिला गतिश्चेत्याद्या मध्यममदेऽनुभावा भवन्ति । गतिभङ्गः, स्मृतिनाशः, छर्दिः, जिह्वाघ्नीवनमित्याद्या अधमे मदेऽनुभावा भवन्ति । मदवर्धनं मधु पीत्वा रङ्गेऽभिनयेत् । ततो रङ्गं प्रविश्य मदक्षयाय हर्षशोकभयोपायान् युगपत्प्रदर्शयेत् ॥ -१५४३-१५५१ ॥

इति मदः (७)

(सु०) श्रमं लक्षयति—अध्वेति । यत्र अध्वव्यायामसेवादिकं विभावः । गात्रसंवाहनं, मुखसंकोचनम्, अङ्गमोटनं, निःश्वासः, जृम्भा, पादोत्क्षेप इत्येते अनुभावाः, स श्रमः ॥ १५५२, १५५२- ॥

इति श्रमः (८)

(सु०) चिन्तां लक्षयति—विभावा इति । यत्र दारिद्र्यम्, ऐश्वर्य-भ्रंशनम्, इष्टार्थापहरणम्, निःश्वासोच्छ्वासावित्येते विभावाः ; संतापः, स्मरणं,

विवेकः श्रुतिसंपत्तिर्गुरुभक्तिस्तपस्विता ।
 एते विषयभावेन करणत्वेन च स्थिताः ॥ १५५६ ॥
 इष्टाधिकानामिष्टानां लाभस्तु विषयत्वतः ।
 क्रीडाकरणभावेन विभावा यत्र संमताः ॥ १५५७ ॥
 प्राप्तभाग्योपभोगस्य त्वप्राप्तातीतभोगयोः ।
 जीर्णे नष्टे चाविषादो न तु शोचनमित्यपि ॥ १५५८ ॥
 अनुभावद्वयं यत्र धृतिं तां ब्रुवते बुधाः ।

इति धृतिः (१०)

पश्चिमप्रहरे रात्रेः स्वास्थ्यं निद्रालक्ष्यस्तथा ॥ १५५९ ॥
 ध्यानं च मुहुरभ्यासः सदृशः श्रुतिदर्शने ।
 एते यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु कम्पितम् ॥ १५६० ॥
 उद्वाहितं च शीर्षस्यासदृशस्यावलोकनम् ।

ध्यानं, काश्यं, देहानुपस्कृतिः, अधृतिरित्याद्या अनुभावाः ; सा चिन्ता । अस्याः
 चिन्तायाः वितर्कः पूर्वक्षणे उत्तरक्षणे वा उपजायते ॥ -१५५३-१५५५ ॥

इति चिन्ता (९)

(सु०) धृतिं लक्षयति—विवेक इति । यत्र विवेकः श्रुतिसंपत्तिः, गुरु-
 भक्तिः, तपस्वित्वमित्येते विषयत्वेन, करणत्वेन च वर्तन्ते । इष्टलाभस्तु विष-
 यत्वेन क्रीडाकरणत्वेन च विभावा भवन्ति । प्राप्तभाग्योपभोगस्य अप्राप्तातीतभो-
 गयोः अविषादेन स्थितिरित्याद्याः अनुभावाः ; सा धृतिः ॥ १५५६-१५५८- ॥

इति धृतिः (१०)

(सु०) स्मृतिं लक्षयति—यत्र, रात्रेः पश्चिमप्रहरे स्वास्थ्यं यथातथा
 निद्रालक्ष्यः, तथा ध्यानम्, मुहूर्मुहुरभ्यासश्च, सदृशः श्रुतिदर्शनं च इत्येते
 विभावाः । कम्पितमुद्वाहितं च शिरः, तादृशावलोकनम्, भ्रूनमनं, स्मरणं

भ्रूततिश्च स्मृतिः सा स्यात्सुखदुःखप्रदायिनाम् ॥ १५६१ ॥
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते ।

इति स्मृतिः (११)

गुरुव्यतिक्रमोऽवज्ञा कृते त्यागेऽनुतापिता ॥ १५६२ ॥
प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहो विभावैरेभिरुद्धता ।
मुखावनमनं गूढवचनं च विचिन्तनम् ॥ १५६३ ॥
वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शो नखानां कर्तनं मुहुः ।
भुवि लेखनामित्याद्यैर्व्रीडाभावोऽनुभाव्यते ॥ १५६४ ॥
व्रीडानुतापशुचिभिर्दृष्टा कार्ये कृते सति ।

इति व्रीडा (१२)

देवजोपद्रवादेहपीडेष्टविरहादिकम् ॥ १५६५ ॥
मर्मप्रहारोऽप्यस्थाने घोरचोरादिजं भयम् ।

चानुभावः, सा स्मृतिः । अथवा सुखदुःखप्रदायिनां चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरिति ॥ -१५५९-१५६१- ॥

इति स्मृतिः (११)

(सु०) व्रीडां लक्षयति—गुर्विति । यत्र, गुरुव्यतिक्रमणम्, अवज्ञात्या-
गानन्तरमनुतापः, प्रतिज्ञातार्थनिर्वहणमित्येते विभावाः; मुखावनतिः, गूढ-
वचनम्, विचिन्तनं च, वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शनम्, मुहुर्नखकर्तनम्, भुवि लेखन-
मित्याद्या अनुभावाः; सा व्रीडा ॥ -१५६२-१५६४- ॥

इति व्रीडा (१२)

(सु०) मोहं लक्षयति—देवजेति । यत्र, दैवतोपह्वः, देहपीडा, इष्ट-
विरहादिकम्, मर्मप्रहरणम्, अस्थाने घोरचोरादिजा भीतिः; तत्प्रतीकार-

तत्प्रतीकारशून्यस्य वैरानुस्मरणादयः ॥ १५६६ ॥

विभावाः सन्ति यत्रापि पतनं देहघूर्णनम् ।

हृदयस्यानवस्थानमिन्द्रियाणामचेष्टता ॥ १५६७ ॥

इत्यादयोऽनुभावास्तं मोहमाहुर्मनीषिणः ।

पश्यतो भीतिहेतुं तत्प्रतीकारमपश्यतः ॥ १५६८ ॥

कार्यानिश्चयिनी चित्तवृत्तिर्मोहोऽभिधीयते ।

इति मोहः (१३)

अतितृप्तिः स्वभावश्च गर्भव्याधिश्रमादयः ॥ १५६९ ॥

विभावा अनुभावास्तु निद्रातन्द्रासनाशनात् ।

ऋते सर्वक्रियाद्वेषो यत्रालस्यं तदुच्यते ॥ १५७० ॥

इत्यालस्यम् (१४)

अमर्षप्रातिकूल्येष्वारागद्वेषाश्च मत्सरः ।

इति यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु भर्त्सनम् ॥ १५७१ ॥

वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने ।

शून्यस्य वैरस्मरणादिरित्येते विभावाः; पतनं, देहघूर्णनं, हृदयानवस्थितिः, इन्द्रियाणां निश्चेष्टत्वमित्याद्या अनुभावा भवन्ति; स मोहः ॥-१५६९-१५६८-॥

इति मोहः (१३)

(सु०) आलस्यं लक्षयति—अतितृप्तिरिति । यत्र, अतितृप्तिस्वभाव-गर्भव्याधिश्रमाद्याः विभावाः, निद्रातन्द्रासर्वक्रियाद्वेषादयोऽनुभावाश्च भवन्ति; तदालस्यम् ॥ -१५६९, १५६- ॥

इत्यालस्यम् (१४)

(सु०) चापलं लक्षयति—अमर्षेति । यत्र, अमर्षः, प्रातिकूल्यं,

तच्चापलमनालोच्याकार्यकारित्वमिष्यते ॥ १५७२ ॥

इति चापलम् (१५)

देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः प्रियसंगमः ।

मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोरथधनागमः ॥ १५७३ ॥

समुत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते ।

नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥ १५७४ ॥

अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत् ।

इति हर्षः (१६)

विद्याधनबलैश्वर्याधिकैर्मध्येसभं नृभिः ॥ १५७५ ॥

अधिक्षेपादमर्षः स्यात्प्रतीकारस्पृहात्मकः ।

नृणामुत्साहिनामेव स स्यात्तस्यानुभावकः ॥ १५७६ ॥

स्वेदोऽधोमुखता मूर्धकम्पो निर्लक्षचित्ता ।

रागद्वेषमत्सराश्च विभावा भवन्ति ; भर्त्सनवाक्पाक्यप्रहारताडनवधबन्धनान्यनु-
भावाश्च भवन्ति ; तच्चापलम् ॥ १५७१, १५७२ ॥

इति चापलम् (१५)

(सु०) हर्षं लक्षयति—देवेति । यत्र, देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादसंपत्तिः,
प्रियसङ्गमः, मनोरथप्राप्तिः, अप्राप्यधनप्राप्तिः, पुत्रादिना हर्षोत्पत्तिश्च विभावाः ;
नयनमुखप्रसादः, प्रियवचनम्, पुलकोत्पत्तिः, अश्रुस्वेदादिकं चानुभावाश्च
भवन्ति ; स हर्षः ॥ १५७३-१५७४- ॥

इति हर्षः (१६)

(सु०) अमर्षं लक्षयति—विद्येति । यत्र, विद्याधनैश्वर्याधिकैः अधि-
क्षेपादमर्षो भवति । स तु प्रतीकारस्पृहात्मकः, उत्साहिनां नृणामेव विभावको

उपायान्वेषणं चित्तोत्साहस्तस्यानुभावकाः १५७७ ॥

इत्यमर्षः (१७)

सत्युपायेऽपि कार्यस्यासिद्धिर्दुर्दैवकारिता ।

नृपापराधश्चौर्यादिग्रहणं च विभावकाः ॥ १५७८ ॥

सहायान्वेषणोपायचिन्तने विमनस्कता ।

उत्तमे मध्यमे चानुभावाश्चोत्साहसंश्रयाः ॥ १५७९ ॥

अधमे धावनं ध्यानं मुखशोषविलोकने ।

निद्रा निःश्वसितं सूक्लेहनं चानुभावकाः ॥ १५८० ॥

सन्ति यत्र विषादोऽसौ भावो भावविदां मतः ।

इति विषादः (१८)

देवैर्नागैस्तथा यक्षैः पिशाचैर्ब्रह्मराक्षसैः ॥ १५८१ ॥

भूताद्यैश्च ग्रहैरुग्रैरावेशस्तत्स्मृतिस्तथा ।

अशुचेश्विरसंस्थानं शून्यागारस्य सेवनम् ॥ १५८२ ॥

भवति । स्वेदः, अधोमुखता, मूर्धकम्पः, निर्लक्षचित्तता, उपायान्वेषणम्, चित्तोत्साहनमित्येते अनुभावा भवन्ति ; सोऽमर्षः ॥ -१५७९-१५७७ ॥

इत्यमर्षः (१७)

(सु०) विषादं लक्षयति—सत्युपायेति । यत्र, उपाये सत्यपि कार्य-सिद्धिः, नृपापराध इत्याद्या विभावाः । सहायान्वेषणम्, उपायचिन्तनमित्याद्या उत्तममध्यमयोरनुभावः ; धावनं मुखशोषणं ध्यानं विलोकनं निद्रा निःश्वसितं सूक्लेहनं चेत्येते अनुभावा अधमे भवन्ति ; स विषादः ॥ १५७८-१५८० ॥

इति विषादः (१८)

(सु०) अपस्मारं लक्षयति—देवैरिति । यत्र, देवनागयक्षपिशाचब्रह्म-

धातुवैषम्यमित्याद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।

स्पन्दनं कम्पनिःश्वासौ धावनं पतनं भुवि ॥ १५८३ ॥

जिह्वाया लेहनं स्वेदः स्तम्भो वक्त्रं च फेनिलम् ।

निःसंज्ञतेत्यादिभिश्चापस्मारमुपलक्षयेत् ॥ १५८४ ॥

इत्यपस्मारः (१९)

कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा ।

तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥ १५८५ ॥

अनुभावास्तु चैवास्याः प्रतिवादावभाषणे ।

इष्टानिष्टपरिज्ञानं चानिमेषेक्षणादयः ॥ १५८६ ॥

सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ।

इति जडता (२०)

यत्र विप्रतिपत्तिः स्यात्संशयोऽपि विमर्शनम् ॥ १५८७ ॥

राक्षसभूताशुप्रमहावेशः, तत्स्मृतिः, शून्यागारस्य सेवनम्, धातूनामिन्द्रियाणां वैषम्यमित्याद्या विभावाः; स्पन्दनं, कम्पनिःश्वासौ, धावनम्, भुवि पतनम्, जिह्वाया लेहनम्, स्वेदः, स्तम्भः, फेनिलं वक्त्रं च, निःसंज्ञतेत्याद्या अनुभावाः; सोऽपस्मारः ॥ -१५८१-१५८४ ॥

इत्यपस्मारः (१९)

(सु०) जडतां लक्षयति—कार्याविवेक इति । पश्यतः, शृण्वतोऽपि कार्याविवेकता, जाड्यम्, प्रियानिष्टदर्शनश्रवणादयो विभावा यत्र भवन्ति; इष्टानिष्टपरिज्ञाननिर्मेषप्रेक्षणाद्या अनुभावाः; सा जडता । सापि मोहात् पूर्वं परतो वा स्यादिति ॥ १५८५-१५८६- ॥

इति जडता (२०)

(सु०) वितर्कं लक्षयति—यत्रेति । यत्र, विप्रतिपत्तिविमर्शनसाधक-

पक्षयोरुभयोरुक्ते माने साधकबाधके ।

विभावाः स्युरिमे चानुभावाः शीर्षस्य कम्पनम् ॥ १५८८ ॥

भ्रूक्षेपश्चतुरो हस्तस्तं वितर्कं प्रचक्षते ।

यो वितर्कान्वितस्थायी सोऽवहित्येन युज्यते ॥ १५८९ ॥

इति वितर्कः (२१)

निद्राविभावजं सुप्तं सुप्तावस्थात्मकं मतम् ।

तस्यानुभावा निभृतं गात्रं नेत्रनिमीलितम् ॥ १५९० ॥

स्वप्नप्रलापनं श्वासोच्छ्वासौ बाह्याक्षलीनता ।

इति सुप्तम् (२२)

संजातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ॥ १५९१ ॥

निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ।

अनुभावितमारुघातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ॥ १५९२ ॥

इत्यौत्सुक्यम् (२३)

बाधके माने विभावौ ; शीर्षकम्पनभ्रूक्षेपाद्या अनुभावा भवन्ति ; स वितर्कः । यत्र चतुरहस्तेन भ्रूक्षेपं दर्शयति, तं वितर्कं प्रचक्षते । यो वितर्कान्वितस्थायी, सोऽवहित्येन युज्यते ॥ -१५८७-१५८९ ॥

इति वितर्कः (२१)

(सु०) सुप्तं लक्षयति—निद्रेति । निद्रा विभावसंभवा, स्वप्नावस्था सुप्तमित्युच्यते । तत्रानुभावाः निभृतगात्रनेत्रनिमीलनश्वासोच्छ्वासादयोऽनुभावा इति ॥ १५९०, १५९०- ॥

इति निद्रा (२२)

(सु०) औत्सुक्यं लक्षयति—संजातेति । यत्र, निद्रातन्द्राप्राप्त्र-

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते ।
 तद्विभाव्यं भयव्रीडाधाष्ट्यर्कौटिल्यगौरवैः ॥ १५९३ ॥
 गर्वादगणनेनापि तस्येते स्वनुभावकाः ।
 प्रियादिगोचरकथाभङ्गो धैर्यं च कृत्रिमम् ॥ १५९४ ॥
 अन्यथाकथनं तद्वदन्यथा वेक्षणादयः ।

इत्यवहित्थम् (२४)

अपूर्वप्रतिभानं स्यान्मतिस्तां तु विभावयेन् ॥ १५९५ ॥
 अन्वयव्यतिरेकोत्थैः प्रत्ययैः शास्त्रचिन्तनैः ।
 ऊहापोहैश्च विविधैरथ तामनुभावयेत् ॥ १५९६ ॥
 संदंशचतुराद्यैश्च करैरुत्क्षेपणैर्भुवोः ।
 नानाशास्त्रार्थविषयैः शिष्याणामुपदेशनैः ॥ १५९७ ॥
 तर्कारूपा प्रत्ययाबूहापोहौ विधिनिषेधयोः ।

इति मतिः (२५)

गौरवं चिन्ताचानुभावाः ; तदिष्टवैकल्यसंभूतप्रियसंस्मरणात्मकमौत्सुक्यमित्यु-
 च्यते ॥ -१५९१, १५९२ ॥

इत्यौत्सुक्यम् (२३)

(सु०) अवहित्थं लक्षयति—अनुभावेति । यत्र, भयव्रीडादादृष्ट्यर्कौटिल्य-
 गौरवाणि, गर्वादगणं च विभावाः ; प्रियादिविषयककथाभङ्गः, धैर्यं च, कृत्रिमम्,
 अन्यथोक्तिः, अन्यथाप्रेक्षणादिकं च अनुभावा भवन्ति ; तदवहित्थम् ॥
 ॥ १५९३-१५९४- ॥

इत्यवहित्थम् (२४)

(सु०) मतिं लक्षयति—अपूर्वेति । अपूर्वप्रतिभानात्मिका मतिः । तत्र
 चान्वयव्यतिरेकजाः प्रत्ययाः शास्त्रचिन्तनानि, ऊहापोहौ च विभावाः ; संदंश-

स्वमान्तनिद्राछेदाभ्यामाहारपरिणामतः ॥ १५९८ ॥
 शब्दस्पर्शादिभिः स्वप्नैः स्मृतैर्वा जाग्रति स्थितैः ।
 विभाव्यतेऽथ जृम्भाक्षिमर्दनैः शयनोद्गमैः ॥ १५९९ ॥
 अङ्गुलित्रोटनैरङ्गवलनैर्योऽनुभाव्यते ।
 भुजविक्षेपणैः श्वासैर्विबोधप्रतिबोधनम् ॥ १६०० ॥
 सम्यग्बोधोऽथवा लोकात्तद्विभावानुभावधीः ।

इति बोधः (विबोधः) (२६)

एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ॥ १६०१ ॥
 वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ।
 इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ॥ १६०२ ॥
 स्तम्भाङ्गसंसविक्षिप्तगात्रसंकुचिताननैः ।
 उत्क्रोशकम्पस्तनितैश्चाभिनेयो ज्वरः पुनः ॥ १६०३ ॥

चतुरादिहस्ताः शूलताक्षेपाः, नानाशास्त्रस्थनिश्चया शिष्योपदेशाः, विधि-
 निषेधयोः ऊहापोहयोः अनुभावा भवन्ति; सा मतिः ॥-१५९९-१५९७-॥

इति मतिः (२५)

(सु०) बोधं लक्षयति—स्वप्नान्तेति । यत्र, स्वप्नान्तरनिद्राच्छेदाहार-
 परिणामाः स्वप्नगता वा जाग्रद्गता वा शब्दस्पर्शादयो विभावाः । जृम्भाक्षि-
 मर्दनाङ्गुलित्रोटनाङ्गचलनानि भूविक्षेपः श्वासश्चानुभावा भवन्ति; स बोधः ॥
 ॥ -१५९८-१६००- ॥

इति बोधः (२६)

(मु०) व्याधिं लक्षयति—एकैकश इति । त्रयाणां वातपित्तकफानाम्,
 एकैकशः द्वन्द्वशो वा ये ज्वरादिव्याधयः, तत्संभवो भावः व्याधिरित्युच्यते ।
 संकुचिताननैः उत्क्रोशकम्पस्तिमितैः, विक्षिप्तगात्रैः ज्वरोऽभिनेयः । काम-

कामजोऽप्यस्ति स द्वेधा शीतदाहप्रवर्तनात् ।
 हनुचालेन सर्वाङ्गकम्पेन मुखशोपतः ॥ १६०४ ॥
 परिदेवनरोमाश्चमुखसंकोचनादिभिः ।
 शीतज्वरोऽभिनेयोऽथ दाहकोऽम्बुपिपासया ॥ १६०५ ॥
 कराङ्गगात्रविक्षेपाद् भूमिशय्याभिलाषतः ।
 शीतानुलेपनाकाङ्क्षाविकृष्टपरिदेवनैः ॥ १६०६ ॥

इति व्याधिः (२७)

उत्तमानां विप्रलम्भे भवेत्प्रियवियोगतः ।
 नीचानां विभवभ्रंशात्सर्वेषां संनिपाततः ॥ १६०७ ॥
 अभिघातात्तथोन्मादस्तमेभिरनुभावयेत् ।
 विना निमित्तं हसितं रुदितं पठितं तथा ॥ १६०८ ॥
 नृत्तं गीतं च शयनोपवेशोत्थानधावनम् ।
 असंबद्धप्रलपनं चोद्धृत्तिर्धूलिभस्मनोः ॥ १६०९ ॥
 कपालचीरनिर्माल्याद्यलंकरणमित्यपि ।
 उन्मादः पृथगुक्तोऽयं व्याधिष्वन्तर्भवन्नपि ॥ १६१० ॥

जोऽप्यस्ति; ज्वरो द्विविधः, शीतज्वरः, दाहज्वर इति । हनुचालनसर्वाङ्ग-
 कम्पनमुखकोपनपरिदेवनरोमाश्चमुखसंकोचनादिभिः प्रथमोऽभिनेयः । जलपि-
 पासया कराङ्गगात्रविक्षेपैः भूमिशयनाभिमाषणेन शीतानुलेपनाकाङ्क्षाजनित-
 पारिरोदनेन द्वितीयोऽभिनेयः ॥ -१६०१-१६०९ ॥

इति व्याधिः (२७)

(सु०) उन्मादं लक्षयति — उत्तमानामिति । उत्तमानां विप्रलम्भशृङ्गारे
 प्रियवियोगविभाव्यः, नीचानां तु विभवभ्रंशविभाव्यः । अनैमित्तिकहसितरुदित-

अयं हि विप्रलम्भादौ वैचित्र्यं कुरुतेतमाम् ।

अपस्मारोऽप्येवमेव बीभत्से च भयानके ॥ १६११ ॥

इत्युन्मादः (२८)

कुलरूपबलैश्वर्यविद्याद्रविणयौवनैः ।

नीचानां जायते गर्वः प्राधान्येन मुहुर्मुहुः ॥ १६१२ ॥

विशुद्धदुत्तमानां तु बाहुल्याच्चेप योपिताम् ।

उद्ग्रीवावेक्षणावज्ञासूयानुत्तरदानतः ॥ १६१३ ॥

अभाषणादमर्षाच्च पारुष्याद्विभ्रमादपि ।

अङ्गनेत्रविकाराच्चाधिक्षेपातिक्रमाद्गुरोः ॥ १६१४ ॥

तस्याभिनयनं कार्यमित्याह करणाग्रणीः ।

वागङ्गसात्त्विकाहार्यक्रियाव्यत्यासनं भवेत् ॥ १६१५ ॥

विभ्रमो योपितां हर्षानुरागमदगर्वजः ।

इति गर्वः (२९)

नृत्तगीतशयनोपवेशोत्थानधावनासंवन्यप्रलापधूलिभस्मोद्भूलनकपालनिर्माल्याद्य -
लंकरणान्यनुभावा अत्र भवन्ति । उन्मादः व्याधावन्तर्भूतोऽपि विप्रलम्भादि-
रसेषु वैचित्र्यकारित्वात् पृथगुक्त इति ॥ १६०७-१६११ ॥

इत्युन्मादः (२८)

(सु०) गर्वं लक्षयति—कुलरूपेति । कुलरूपबलैश्वर्यधनविद्यायौवनैः

नीचानां मुहुर्मुहुः गर्वो जायते । उत्तमानां तु विशुद्धन् क्षणिको भवति । स्त्रीणां
तु बहुलरूपतया जायते । उद्ग्रीवालोकनम्, अवज्ञा, अस्या, अनुत्तरदानम्,
अभाषणम्, अमर्षः, पारुष्यम्, विभ्रमः, अङ्गविकारः, नेत्रविकारः, गुर्व-
धिक्षेपातिक्रमावित्येतैरयमभिनेयः ॥ -१६१२-१६१५- ॥

इति गर्वः (२९)

अधीराणां जातमात्रे शोकेऽनन्तरमुद्भवेत् ॥ १६१६ ॥
 आवेगः प्रबलोऽयं तु धीरैर्धैर्यान्निरूप्यते ।
 असौ प्रतिविभावं च पृथक्चित्रानुभावभाक् ॥ १६१७ ॥
 अतो विभावरूपानां हेतूनां भेदतोऽष्टधा ।
 उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरभ्रमणानि च ॥ १६१८ ॥
 प्रियाप्रियश्रुतिवैरिव्यसनं चेति हेतवः ।
 विद्युदुल्कानिपाताभ्यां निर्घाताद्भूभिकम्पनात् ॥ १६१९ ॥
 सूर्यचन्द्रोपरागाभ्यामावेगः केतुदर्शनात् ।
 उत्पातजोऽस्यानुभावो वैवर्ण्यं स्रस्तगात्रता ॥ १६२० ॥
 विषादविस्मयगतानुभावाश्चेह संमताः ।
 वातजे त्वत्र वस्त्रेण पिधानं नेत्रमर्दनम् ॥ १६२१ ॥
 त्वरितागमनं चानुभावाः स्युर्वर्षजे पुनः ।
 सर्वाङ्गपीडनं गेहाद्याश्रयः शीघ्रभावनम् ॥ १६२२ ॥
 अग्निजे धूतिरङ्गानां धूमाकुलितनेत्रता ।
 चार्यातिक्रान्तया चापक्रान्तया चरणं भवेत् ॥ १६२३ ॥
 कुञ्जराणां निरवधिभ्रमणाद्यस्तु जायते ।
 सरणापसृती तत्र त्वरिते भयवेपथुः ॥ १६२४ ॥

(सु०) आवेगं लक्षयति — अधीराणामिति । यत्र शोकजननमात्रेण
 अधीराणामावेगो जायते । उत्तमास्तु जातमप्यावेगं धैर्यान्निरुन्धते । विभाव-
 रूपहेतुभेदेन सोऽष्टविधः । उत्पातजः, वातजः, वर्षजः, अग्निजः, कुञ्जर-
 भ्रमणजः, प्रियश्रवणजः, अप्रियश्रवणजः, वैरिव्यसनज इति । उत्पातजो
 विद्युन्निपातेन, निर्घातेन भूकम्पनेन, सूर्यचन्द्रोपरागाभ्यां केतुदर्शनेन चावेगः ।
 अत्र च वैवर्ण्यं स्रस्तगात्रत्वम्, विषादविस्मयगतभावाश्च अनुभावा भवन्ति ।

विस्मयो वीक्षणं पश्चात्प्रियश्रवणजे पुनः ।
 वस्त्राभरणदानं चाभ्युत्थानं परिरम्भणम् ॥ १६२५ ॥
 कथायामश्रुरोमाश्चाश्चाप्रियश्रुतिजे त्वमी ।
 विलापः पतनं भूमौ चलनं परिवर्तनम् ॥ १६२६ ॥
 परिभावनमित्याद्या वैरिव्यसनजे त्वमी ।
 सहसापसृतिः शस्त्रचर्मवर्मादिधारणम् ॥ १६२७ ॥
 गजानां तुरगाणां चारोहणं संप्रधारणम् ।
 पृथगित्यनुभावाः स्युरावेगे संभ्रमात्मके ॥ १६२८ ॥

इत्यावेगः (३०)

मरणं द्विविधं प्रोक्तं व्याधिजं चापघातजम् ।
 दोषवैषम्यजैर्गण्डज्वराद्यैर्व्याधिजं भवेत् १६२९ ॥
 वातपित्तकफा दुष्टा दोषत्वेनेह संमताः ।
 शस्त्रादिविपतोयेभ्यः श्वापदात्तुरगाद्गजात् ॥ १६३० ॥
 अग्न्युच्चपतनादिभ्यो जातं स्यादभिघातजम् ।
 निश्चेष्टप्रसृतैरङ्गैर्मीलनेन च नेत्रयोः ॥ १६३१ ॥

वातजे वस्त्रेण छादनं, नयनमर्दनं, शीघ्रगमनमित्येते अनुभावा भवन्ति ।
 वर्षजे तु सर्वाङ्गपीडनं, शीघ्रधारणम्, गृहाद्याश्रयश्चानुभावाः । अग्निजे अङ्ग-
 धूननं धूमव्याकुलनेत्रता, क्रान्तापक्रान्ताख्यचारीद्वयचटुलचरणत्वं चानु-
 भावाः । वैरिव्यसनजे शस्त्रवर्मादिधारणं गजतुरगाद्यारोहणमित्याद्या अनु-
 भावाः ॥ १६१६-१६२८ ॥

इत्यावेगः (३०)

(सु०) मरणं लक्षयति—मरणमिति । मरणं द्विविधम्, व्याधिजमपघा-
 तजमिति । दोषवैषम्यजज्वराद्यैः व्याधिजं भवति । वातपित्तकफोष्णाः दोषा

द्विकोर्ध्वश्वासवमनजनतापरिवारणैः ।

अव्यक्ताक्षरभाषाद्यैर्व्याधिजस्यानुभावनम् ॥ १६३२ ॥

शस्त्रजे सहसा भूमौ पतनं च विकम्पनम् ।

स्फुरणादि प्रयोक्तव्यमथाहिविषपानजे ॥ १६३३ ॥

अनुभावा भवन्त्यष्टौ विषवेगात्क्रमादिभे ।

काष्ण्यवेपथुदाहाश्च हिकाफेनश्च पञ्चमः ॥ १६३४ ॥

स्कन्धभङ्गश्च जडता मरणं चेति संमताः ।

अभिघातान्तरोद्भूतेऽनुभावाः शस्त्रजातवत् ॥ १६३५ ॥

व्याध्यादेरनिवर्त्यत्वान्निश्चिते मरणे सति ।

अत्र प्राङ्निधनाच्चित्तृप्तिर्मरणमिष्यते ॥ १६३६ ॥

इति मरणम् (मृतिः) (३१)

गात्रोत्कम्पी चमत्कारः सहसा त्रास उच्यते ।

तस्योत्पाताद्घोरनादश्रुतेर्भीषणदर्शनात् ॥ १६३७ ॥

उत्पत्तिरनुभावास्तु गात्रसंकोचकम्पने ।

स्तम्भो गद्गदशब्दश्च रोमाञ्चाः स्रस्तगात्रता ॥ १६३८ ॥

इत्युच्यन्ते । शस्त्राहिविषतोयश्वापदतुरङ्गजाग्न्युत्पतनसंभूतमग्निजमित्युच्यते । निश्चेष्टप्रसृताङ्गत्वं नेत्रनिमीलनम् उच्छ्वसनं वमनमित्याद्या व्याधिजे अनुभावाः । शस्त्रजापघातजे त्वरितं भूपतनं विकम्पनं स्फुरणादिकं चानुभावाः । विषपानजे कार्श्यं वेपथुः दाहः हिका फेनः स्कन्धभङ्गः जाड्यं मरणमित्यष्टौ अनुभावाः । अन्यत्स्पष्टम् ॥ १६२९-१६३६ ॥

इति मरणम् (३१)

(सु०) त्रासं लक्षयति—गात्रोत्कम्पीति । घोरनादश्रवणात् भीषणदर्शनात् उत्पाताच्च त्रास उत्पद्यते । अत्र गात्रसंकोचनकम्पने स्तम्भः,

निमीलनं लोचनयोः प्रलयश्चेति कीर्तिताः ।

पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत् ॥ १६३९ ॥

इति त्रासः (३२)

निद्रेन्द्रियाणां प्रथमा निवृत्तिः स्वस्वगोचरात् ।

अत्याहारः स्वभावश्च चिन्तालस्ये मदः क्लमः ॥ १६४० ॥

व्याख्यानादिप्रयासेन वैलक्षण्यं च हेतवः ।

निद्रायामनुभावाः स्युर्जृम्भावदनगौरवम् ॥ १६४१ ॥

शरीरलोलनं नेत्रघूर्णनं गात्रमोटनम् ।

निःश्वासोच्छ्वसिते स्रस्तगात्रताक्षिनिमीलनम् ॥ १६४२ ॥

इति निद्रा (३३)

त्रयस्त्रिंशद्विचित्रत्वकारित्वात्स्थायिनं रसम् ।

कुर्वन्तीति मया प्रोक्ताः सन्ति त्वन्ये सहस्रः ॥ १६४३ ॥

गद्गदस्वरत्वम्, रोमाञ्चः, स्रस्ताङ्गत्वं, नेत्रनिमीलनं, प्रलय इत्येते अनुभावाः ।

पूर्वापरविचारोत्थभीतिरपि त्रास एव ॥ १६३७-१६३९ ॥

इति त्रासः (३२)

(सु०) निद्रां लक्षयति—निद्रेन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणां प्रथमं स्वस्वविषयेभ्यो निवृत्तिः निद्रेत्युच्यते । अत्याहारस्वभावचिन्तालस्थमद-
क्लमादिना स च जायते । जृम्भावदनगौरवशरीरलोलनगात्रमोटननिःश्वासोच्छ्वास-
स्रस्तगात्रतानेत्रनिमीलनान्यनुभावाः^१ ॥ १६४०-१६४२ ॥

इति निद्रा (३३)

(क०) व्यभिचारिभिः क्रियमाणं रसोपकारमाह—त्रयस्त्रिंशदि-

^१ इतः परं मुष्ठाकरव्याख्या श्रुतिता ।

अन्तर्भावोऽस्ति केषांचिदभिलाषस्य वा रतौ ।

अवहित्ये तु दम्भस्य ग्लानौ क्षुत्तृष्णयोर्यथा ॥ १६४४ ॥

उद्वेगस्य तु निर्वेदेऽन्येषामप्येवमूह्यताम् ।

इति त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाः ।

अथ सात्त्विकलक्षणम् —

उक्तै रत्यादिभिर्भावैः संविद्विक्रियते यदा ॥ १६४५ ॥

प्राणेऽध्यस्यति सात्मानं देहं प्राणस्तनोति सः ।

तदा स्तम्भादयो देहे विकाराः प्रभवन्त्यमी ॥ १६४६ ॥

त्यादि । रसं स्थायिनं कुर्वन्तीति । अत्र हेतुः—विचित्र कारित्वादिति । यस्य कस्यापि रसस्य सहकारित्वेनोत्पन्ना निर्वेदादयो भावा एकरूपं तं स्वानुप्रवेशान्नानारूपं कृत्वा पश्चात्तस्मिन्नेवान्तर्भूताः सन्तः कल्लोलाः ललित-निधिमिव तमेव रसं स्थायित्वेन पुष्पन्तीति व्यभिचारिकृतो रसोपकारो द्रष्टव्यः । मनोवृत्तीनामनन्तत्वादियन्त एवेति निर्धारणं कुत इत्यत आह—सन्ति त्वन्य इति । ॥ १६४३ ॥

(क०) तर्हि ते कुतो न कथिता इत्यत्राह—अन्तर्भाव इति । तमेवान्तर्भावं दिङ्मात्रेण दर्शयति—अभिलाषस्येत्यादि । अन्येषामप्येवमूह्यतामिति । अन्येषामनुक्तानां भावान्तराणामप्येवमुक्तप्रकारेण यथायोगं निर्वेदादिष्वन्तर्भाव ऊह्यतां बुद्ध्या परिकल्प्यताम् ॥ १६५७ — १६५८ ॥

इति त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाः ।

(क०) अथ सात्त्विकभावाल्लक्षयितुमाह—अथेत्यादिना । उक्तै-रित्यादि । रत्यादिभिर्भावैः स्थायिभावैः संविद्विषयानभिमुखं ज्ञानं यदा

एवं सति स्वाद्यमानरत्यादिस्वैर्विभावकैः ।

विभाविता देहसंस्थैः स्तम्भाद्यैरनुभाविताः ॥ १६४७ ॥

अध्यस्तसंविदि प्राणे प्रकाशन्तेऽन्तरे भवाः ।

एते स्युः सात्त्विका भावाः सत्त्वप्राणप्रकाशनात् ॥ १६४८ ॥

विक्रियते विषयविशेषाभिमुखीक्रियते । सा विक्रियमाणा संविदप्राणे शरीरान्तश्चरे जीवननिमित्ते वायुविशेष आत्मानं स्वसंविदाकारमित्यर्थः । अध्यस्यति आरोपयति । स प्राणो देहं स्थूलदेहम् । आत्मानं तनोति ; अध्यस्तसंविदाकारं करोति । देह आत्मबुद्धिं जनयतीत्यर्थः । अत्रात्मानमिति पूर्ववाक्यस्थं पदमावृत्त्यास्मिन्वाक्ये योजनीयम् । अन्यथात्र विधेयाभावादसंगतिः स्यात् । तनोते करोत्यर्थाश्रयणत्वं एवं व्याख्यानम् । विस्तारार्थत्वे त्वर्थावृत्तिर्नि करणीया । स प्राणो देहं तनोतीति योजना । देहं तनोति विस्तारयति प्राणाकारेण वृद्धिं करोति । देह आत्मबुद्धिं जनयतीति स एव फलितोऽर्थोऽवगन्तव्यः । तदा स्तम्भादय इति । यदैवैवं परम्परया देहे चात्माध्यासो भवति तदा स्तम्भादयोऽर्भा देहे विकाराः प्रभवन्तीति सात्त्विकोत्पत्तौ सामग्री दर्शिता । देहे विकार इत्यनेन बाह्यानां स्तम्भादीनां रत्याद्यनुभावत्वमपि दर्शितं भवति । आन्तराणां तु स्तम्भादीनां सात्त्विकत्वमेवेत्यवगन्तव्यम् ॥ १६४५, १६४६ ॥

(क०) एव सतीत्यादि । एवं सत्युक्तप्रकारेण देहे स्तम्भादिषु विकारेषूपपन्नेषु । स्वाद्यमानरत्यादिस्वैरिति । स्वाद्यमानाश्च ते रत्यादयश्च तेषां स्वैः संबन्धिभिः । रत्यादीनां प्रतिनियतैरित्यर्थः । विभावकैर्ललोद्यानादिभिर्विभाविता उत्पादिताः । देहसंस्थैः स्तम्भाद्यैर्विकारैरनुभाविता

सांख्योक्तो वा गुणः सत्त्वं साधुत्वं वा तदुच्यते ।
 निर्मलप्राणदेहत्वं साधुत्वमिह संमतम् ॥ १६४९ ॥
 तत्र सत्त्वे भवा भावाः सात्त्विकाः संमताः सताम् ।
 चत्वारि क्षमादिभूतानि प्राधान्येनावलम्बते ॥ १६५० ॥
 कदाचित्स्वप्रधानः सन्देहे प्राणश्चरत्ययम् ।
 यदाध्यास्ते धरां स्तम्भं भावं भावयते तदा ॥ १६५१ ॥
 प्राणाज्जलस्थादश्रूणि तेजःस्थात्तु विवर्णता ।
 स्वेदश्चाकाशनिष्ठात्तु प्रलयो जायते ततः ॥ १६५२ ॥
 स्वतन्त्रोऽसौ क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक् ।
 रोमाञ्चं वेपथुमथ स्वरभेदं च भावयेत् ॥ १६५३ ॥

अनुभाव्यत्वं प्रापिताः । प्रकाशिता इत्यर्थः । अध्यस्तसंविदीति ।
 अध्यस्ता संविद्यस्मिन्निति तथोक्तस्तस्मिन् । प्राणे प्रकाशन्त इति ।
 प्राणमाश्रित्य प्रतिभासन्त इत्यर्थः । अन्तरे भवा इति । उक्तप्रकारेणान्तरे-
 ऽन्तरात्मनि भवाः संभूताः । एते भावाः सत्त्वप्राणप्रकाशनात्सत्त्वाख्ये
 प्राणे प्रकाशनात्सात्त्विकाः स्युः ॥ १६४७, १६४८ ॥

(क०) मतान्तराश्रयणेन सत्त्वशब्दस्यार्थान्तरं दर्शयति—सांख्योक्तो
 वेत्यादि । तत्रेति । त्रिषु पक्षेषु । चत्वारितीत्यादि । अयं प्राणो वायुरूपश्चत्वारि
 क्षमादिभूतानि पृथिव्यप्तेजआकाशानि पर्यायेण । कदाचित्स्वप्रधानः स्वात्मा
 वायुरेव प्रधानः सन् देहे चरतीति संबन्धः ॥ १६४९, १६५०- ॥

(क०) तत्र प्राणस्य पृथिव्याद्यवलम्बने स्तम्भादिभावोद्भावनमाह
 —यदाध्यास्त इत्यादि । जलस्थादश्रूणीति । जायन्त इत्यध्याहार्यम् ।
 तेजस्थात्प्राणाद्विवर्णता स्वेदश्च जायत इति संबन्धः । आकाशनिष्ठात्प्राणात्

बाह्याः स्तम्भादयो देहे नृणां देहात्ममानिनाम् ।

सुलभा दुर्लभास्त्वेते सतामनभिमानिनाम् ॥ १६५४ ॥

हर्षाद्रागाद्भयाद्दुःखाद्विषादाद्विस्मयाद्गुषः ।

विक्षेपाच्च भवेत्स्तम्भोऽनुभावा जाड्यशून्यते ॥ १६५५ ॥

नि.संज्ञस्तब्धगात्रत्वे निश्चेष्टत्वाप्रकम्पने ।

इति स्तम्भः (१)

प्रलयो जायते । ततोऽनन्तरमसौ प्राणो वायुः स्वतन्त्रः पृथिव्याद्यवलम्ब्य स्वप्राधान्येन वर्तमानः । क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभागिति । मन्दः प्राणवायू रोमाञ्चं भावयेत् । मध्यो वायुर्वेपथुं भावयेत् । अथ तीव्रो वायुः स्वरभेदं च भावयेदिति क्रमो द्रष्टव्यः । बाह्या इत्यादि । उक्तप्रकारेण स्तम्भादयः सात्त्विका आभ्यन्तरा एव । तद्विकारत्वेनानुभावा बाह्याः स्तम्भादयः । देहात्ममानिनां देहमेवात्मानं मन्यन्त इति तथोक्ताः । पामरा इत्यर्थः । तेषां नृणां देहे सुलभाः । विभावसद्भावमात्रेण शीघ्रं प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः । एते बाह्याः स्तम्भादयोऽनभिमानिनां सतां देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तात्मदर्शिनां देहे तु दुर्लभाः । विभावसद्भावमात्रालोद्भवन्तीत्यर्थः ॥ -१६५१-१६५४ ॥

(क०) अथ सात्त्विकभेदान् स्तम्भादीन् प्रत्येकं प्रातिस्थिकैर्विभावानुभावैर्लक्षयति—हर्षाद्रागादित्यादि । अत्र स्तम्भादीनां सात्त्विकानां लक्षणेषु तत्तदनुभावत्वेन स्तब्धगात्रता स्वेदोऽपीत्यादिभिः स्तम्भादय एवोक्ता दृश्यन्ते । तत्रैवं विवेचनीयम् । पूर्वं सात्त्विकशब्दवाच्यत्वेनोक्तं अन्तरे भवा ये स्तम्भादयो भावास्त एवात्र लक्ष्यन्ते, ये देहसंस्था बाह्या स्तम्भादयस्ते तु तदनुभावत्वेन लक्षणतयोक्ता इति ॥ १६५५, १६५५- ॥

इति स्तम्भः (१)

मनस्तापो रुजा हर्षो लज्जा क्रोधो भयं श्रमः ॥ १६५६ ॥
 पीडाघातातपौ मोहव्यायामौ च विभावकाः ।
 व्यजनग्रहणं स्वेदोऽप्यरालो भालमार्जकः ॥ १६५७ ॥
 इत्येतेऽभिनया यत्र तं स्वेदं जगदुबुधाः ।

इति स्वेदः (२)

आलिङ्गनाच्छुरितके शीतहर्षभयक्रोधः ॥ १६५८ ॥
 विभावयन्ति रोमाञ्चं व्यक्तस्याभिनयास्त्वमी ।
 गात्रस्पर्शोल्लुकुसने मुहुः कण्टकिता तनुः ॥ १६५९ ॥

इति रोमाञ्चः (३)

औम्यरोगजराक्रोधभयहर्षमदादयः ।
 विभावा विस्वरो भिन्नो गद्गदश्च ध्वनिर्भवेत् ॥ १६६० ॥
 अनुभावस्तदा भावः स्वरभेदोऽभिधीयते ।
 स्थानभ्रष्टो विस्वरः स्याद्विच्छिन्नो भिन्नसंज्ञकः ॥ १६६१ ॥
 अव्यवस्थिततानोच्चनीचभावस्तु गद्गदः ।

इति स्वरभेदः (४)

आलिङ्गनाच्छुरितके हर्षो रोषो भयं जरा ॥ १६६२ ॥
 विभावाः शीतरोगौ च यत्रैते त्वनुभावकाः ।
 वेपनं स्फुरणं कम्पो वेपथुं कथयन्ति तम् ॥ १६६३ ॥
 वेपनाद्याः कम्पभेदाः पूर्वात्सातिशयः परः ।

इति वेपथुः (५)

रोगमोहभयक्रोधशीततापश्रमैर्भवेत् ॥ १६६४ ॥

वैवर्ण्यमस्याभिनयो नाडीपीडनयोगतः ।

सिन्दुराद्येन वा वर्णान्तरसंचारणं मुखे ॥ १६६५ ॥

इति वैवर्ण्यम् (६)

हर्षामर्षाञ्जनाद्भूमाद्भयाच्छोकाच्च जृम्भणात् ।

अनिमेषेक्षणाच्छीताद्रोगाद्भावोऽश्रु जायते ॥ १६६६ ॥

तं चानुभावयेदश्रुस्रवणैर्नेत्रमार्जनैः ।

इत्याश्रु (७)

मदमूर्च्छाभिघातेभ्यो निद्रामोहश्रमादिभिः ॥ १६६७ ॥

प्रलयः स्यादभिनयेन्महीनिपतनेन तम् ।

इति प्रलयः (८)

इत्युक्तास्त्रिविधा भावाः स्थायिनो व्यभिचारिणः ॥ १६६८ ॥

सात्त्विकाश्च रसेषु स्युः सर्वे सर्वेषु सात्त्विकाः ।

एकः कार्यो रसः स्थायी रसानां नाटके सदा ॥ १६६९ ॥

रसास्तदनुयायित्वादन्ये तु व्यभिचारिणः ।

(क०) भावलक्षणं नियमयति—इत्युक्तास्त्रिविधा भावा इति ।

त्रिविधेष्वपि भावेषु सात्त्विकानां विशेषमाह—रसेषु स्युः सर्वे सर्वेषु सात्त्विका इति । सर्वे सात्त्विकाः स्तम्भादयोऽष्टावपि सर्वेषु रसेषु शृङ्गारा-
दिनवस्वपि साधारण्येन भवन्तीत्यर्थः ॥ -१६६८, १६६८॥

(क०) नाटकादिनिर्माणे कवेर्नियममाह—एकः कार्य इत्यादि ।

नाटक इत्युपलक्षणम् । नाटकादिषु रूपकेष्वित्यर्थः । रसानामिति निर्धारणे षष्ठी । शृङ्गारादीनां नवानां रसानां मध्य एको रसो नाटकादिषु यत्र यस्य प्राधान्यं भरतादिभिरुक्तम् “एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृङ्गार

विरोधिनो रसास्तेषु संदर्भ्यः पृथगाश्रयः ॥ १६७० ॥

गुम्भश्चित्रो रसानां स्यान्नाट्ये कुसुमगुम्भवत् ।

स्थायी तु सूत्रस्थानीयो रसो रसविदां मतः ॥ १६७१ ॥

सूरिश्रीशार्ङ्गदेवेन नाट्यवेदाम्बुधेरिदम् ।

समस्तमुद्धृतं सारं धीरैरावृप्ति सेव्यताम् ॥ १६७२ ॥

एव वा ” इत्यादिना स रसः । सदा प्रबन्धस्यादिमध्यावसानेष्वित्यर्थः । कार्यः कर्तव्यः । अन्ये रसास्तु तदनुयायित्वात्स्थायिरसानुसारित्वाद्व्यभिचारिणः । कर्तव्या इति शेषः । तथा चोक्तं भरतमुनिना—

“ सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।

स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥ ”

इति ॥ -१६६९, १६६९- ॥

(क०) विरोधिन इत्यादि । यथा शृङ्गारस्य बीभत्सः । वीरस्य भयानकः । रौद्रस्य करुणः । अद्भुतस्य हास्यः । शृङ्गारादीनामष्टनामपि शान्तः । तथा बीभत्सस्य शृङ्गारः । भयानकस्य वीरः । करुणस्य रौद्रः । हास्यस्याद्भुतः । शान्तस्य शृङ्गारादयोऽष्टाविति परस्परविरोधिनो रसा ज्ञेयाः । तेषु संचारिषु ये विरोधिनो रसा विद्यन्ते तेषु विरोधिषु विषये पृथगाश्रयो भिन्नाश्रयः संदर्भः कार्य इति । अयमर्थः—शृङ्गारबीभत्सादीनामेकाश्रयत्वे विरोधो दुर्निवार एव । भिन्नाश्रयत्वे तु विरोधो नास्तीति । गुम्भ इत्यादि । एवं भिन्नाश्रयत्वेन विरोधिना संदर्भे क्रियमाणे सति नाट्ये नाटकादौ रूपके । रसानां गुम्भो मालाकुसुमगुम्भवच्चित्रः स्यान्नावर्णगन्धवद्भिः पुष्पैर्निर्मिता मालेव नानाविकारात्मकै रसैरद्भुतो भवति । स्थायी तिष्ठति । संचारिरसगुम्भे स्थायी रसस्तेषामाधारत्वात्सूत्रस्थानीयो मतः ॥ १६७०, १६७१ ॥

ग्रन्थे मदीये यदि कश्चिदस्ति
 गुणस्ततस्तस्य परिग्रहाय ।
 नाभ्यर्थये वः सुधियः परेषां
 गुणोऽणुरप्यद्रिसमो भवत्सु ॥ १६७३ ॥
 सावद्यता वा निरवद्यतास्तु
 ग्रन्थे मयात्र ग्रथिते तथा किम् ।
 आराधने वः प्रवणा मतिर्मे
 सन्तो गुणः कं ननु नातिशेते ॥ १६७४ ॥
 युष्मत्क्षोदक्षमं वस्तु किमत्रास्ति जगत्त्रये ।
 किं तु मत्प्रेमतः सन्तः पुरस्कुरुत मे कृतिम् ॥ १६७५ ॥
 यद्वा पुराणं पन्थानं मुनीनामहमन्वगाम् ।
 स्निह्यन्ति च निसर्गेण सन्तः सन्मार्गगामिनि ॥ १६७६ ॥
 आरिराधयिषोः साधून् किं प्रज्ञाविभवेन मे ।
 राममानन्दयन्ति स्म तिर्यञ्चोऽपि कपीश्वराः ॥ १६७७ ॥
 न विद्यादर्पतो ग्रन्थप्रवृत्तिर्मम किं त्विदम् ।
 विद्वन्मानसवासाय गन्तुं पाथेयमास्थितम् ॥ १६७८ ॥

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढलदेव-
 नन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते संगीतरत्नाकरे
 सप्तमो नर्तनाध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

(क०) ग्रन्थमुपसंहरन् ग्रन्थकारः स्वकीयग्रन्थस्य प्रचयगमनाय सह-
 दयान् विपश्चितः सविनयं प्रार्थयते—सूरिश्रीशार्ङ्गदेवेनेत्यादिना । तदिदं
 निगदव्याख्यातम् ॥ १६७२—१६७८ ॥

सुधिया कल्लिनाथेन रत्नाकरकलानिधौ ।

विवृतं रसभावादि विद्वद्धिस्तत्परीक्ष्यताम् ॥ १ ॥

शैवादिस्थिरभक्त्यवाप्तविभवः कर्ता ततः संसृते-

राहर्ता करणान्यनुप्रतिकलं तन्मातृकाशोभिनाम् ।

अज्ञानामथ तत्त्वगोचरधिया भावार्थमभ्यानय-

न्नुत्ताध्यायविवेचनं व्यतनुत श्रीकल्लिनाथः सुधीः ॥ २ ॥

सप्ताध्याय्युदधिं श्रिया विलसितं संगीतरत्नाकरं

सम्यग्लक्षणलक्ष्यविस्तृतधिया मन्येन निर्मथ्य ताम् ।

तत्रार्थोश्च जिवृक्षुदृष्ट्यभिमुखान्कुर्वन्तमात्मोदया-

द्विद्वद्भावनया कलानिधिमिमं श्रीकल्लिनाथो व्यधात् ॥ ३ ॥

नदी तद्रूपतामेति प्रविष्टाम्बुनिधिं यथा ।

ज्ञानलेशो मयाप्येवं सर्वज्ञेषु निवेदितः ॥ ४ ॥

यथाकाशो महान्भूमीरेणूनामवकाशदः ।

तथा मज्ज्ञानलेशानां सर्वज्ञा यूयमाश्रयाः ॥ ५ ॥

एवं रत्नाकरोन्नीतं शुक्तिमुक्ताफलं मया ।

सर्वज्ञाः स्वगुणैरेतद्भूषयन्तु कृपान्विताः ॥ ६ ॥

एवं समृद्धसंगीतरत्नाकरकलानिधौ ।

सुधास्वादेन सुधियामानन्दश्चिरमेधते ॥ ७ ॥

इति श्रीमदभिनवभरताचार्यरायव्यकारतोडरमल्लश्रीलक्ष्मणाचार्यनन्दन-

चतुरकल्लिनाथविरचिते संगीतरत्नाकरकलानिधौ

नर्तनाध्यायः सप्तमः समाप्तः ॥

APPENDIX I

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

| अ | पुटसंख्या | अज्ञानां मोटने चाथ | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| अंशाः स्युरिति चत्वारः | ३४३ | अज्ञानामुचिते देशे | २५२ |
| अंशेनैवोपजीवन्ती | १० | अज्ञानतरं चेच्छलितं | २१० |
| अंसकूर्परयोः किञ्चित् | ६८ | अज्ञानतरं तदालातं | २०६ |
| अकम्पं सरलोत्क्षिप्तं | ८९ | अज्ञान्यत्र शिरो हस्तौ | १५ |
| अगर्वा रसभावज्ञा | ३९३ | अङ्गुलित्रोटनैरङ्ग० | ४५९ |
| अगायन्ती त्वशारीरा | ३७७ | अङ्गुलीः करयोः पृष्ठ० | ५५ |
| अग्निजे धूतिरज्ञानां | ४६२ | अङ्गुलीपृष्ठभागेन | ३०२ |
| अग्न्युच्चपतनादिभ्यः | ४६३ | अङ्गुलीभ्यां कमात्कुर्वन् | ३५ |
| अग्रगः पाष्णिगः पादः | ९२ | अङ्गुल्यो धृतमाणिक्य० | ३६९ |
| अग्रगोऽग्रे द्रुतं सर्पन् | ९५ | अङ्गुल्यो न्यक्षिताः स स्यात् | ९३ |
| अग्रतोऽधस्तलश्चेति | १८२ | अङ्गुष्ठः कुक्षितो यत्र | ३७ |
| अग्रे प्रसार्यते चारी | २९४ | अङ्गुष्ठमध्यमन्योन्य० | ४५ |
| अग्रे यदोर्ध्वगौ हस्तौ | ३२८ | अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ | ४८, ३२१ |
| अङ्कुरो भूतवाक्यार्थम् | १५ | अङ्गुष्ठस्याप्यमी भेदाः | १७९ |
| अङ्गनेत्रविकाराच्च | ४६१ | अङ्गुष्ठग्रेण लम्भाग्रा | ४० |
| अङ्गरक्षास्तु तिष्ठेयुः | ३९६ | अङ्गुष्ठाङ्गुलयो यस्मिन् | ४२ |
| अङ्गहाराः प्रयोक्तव्याः | २७४ | अङ्गुष्ठो वृश्चिकाङ्ग्रेष्वेत | २१९ |
| अङ्गहारान्नमप्येते | २७५ | अङ्घ्रिं कुक्षितमुत्क्षिप्य | ३०८ |
| अङ्गहारान् प्रवक्ष्यामि | २५२ | अङ्घ्रिक्रिया प्रधानं स्यात् | २८९ |
| अङ्गहारेषु सर्वेषु | २५८ | अङ्घ्रिचारविपर्यासात् | २८८ |
| अङ्गादीनि पुरोक्तानि | ३६५ | अङ्घ्रिणैकेन चेदन्यं | ३११ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| अङ्घ्रिमूकटीजानु० | २०६ | अतीव कुञ्चितौ लभौ | १५४ |
| अङ्घ्रिरन्यस्तथैव स्यात् | २११ | अतो न तत्पृथग्वाच्यं | १२६ |
| अङ्घ्रिदधद्वितः पार्श्वं | २०९ | अतो नरान्तरासक्तिः | ४१५ |
| अङ्घ्री संघट्टयेद्यत्र | ३०५ | अतो निरन्तरायत्वात् | ३९९ |
| अङ्घ्रेः समस्य वामस्य | ३३४ | अतोऽन्तरालसंधाने | २०७ |
| अङ्घ्रेरुत्क्षेपनिक्षेपौ | २३९ | अतोऽभिनयशब्देन | ४०८ |
| अङ्घ्रयोक्तपुल्य निपतेत् | ३०२ | अतो रसा नवैवेति | ४४२ |
| अचञ्चला विकसिता | १३७ | अतो रसोपयोगित्वात् | १८० |
| अक्षितं चैकचरण० | २४० | अतो विभावरूपानां | ४६२ |
| अक्षितं समपादेन | २४२ | अतो वृत्तीर्विजानीयात् | ३४४ |
| अक्षितं स्वस्तिकाङ्घ्रिभ्यां | २४३ | अत्यन्तमीलनं किञ्चित् | ४१६ |
| अक्षितः स भवेत्पादः | ९२ | अत्याहारः स्वभावश्च | ४६५ |
| अक्षिता प्रसृता लोला | ९८ | अत्युच्चस्वर्षीनत्व० | ३६७ |
| अक्षितेऽपसरस्यङ्घ्रौ | २३० | अत्र चोत्प्लुतिपूर्वं स्यात् | ३८८ |
| अक्षितो मण्डलगतिः | ९९ | अत्र प्रहरणं वाद्यं | ३८२ |
| अञ्जलिश्च कपोताख्यः | २६ | अत्र पाङ्निघनाच्चित्त० | ४६४ |
| अङ्गुतालं निसाहं च | ३७८ | अत्र स्थाने नितम्बस्य | २७१ |
| अङ्गितोक्ता चतुर्भेदा | ३५२ | अत्र स्यात्सालगं गीतं | ३८८ |
| अतः स्यात्करुणः स्पष्टः | ४१३ | अत्रारालौ पताकौ वा | ५३ |
| अतिक्रान्तं दण्डपादं | ३४८ | अत्रैकभ्रूसमुत्क्षेपात् | १४० |
| अतिक्रान्तं वामतोऽथ | २६५ | अथ देशीस्थानकानां | ३१९ |
| अतिक्रान्तस्ततो वामः | ३५४ | अथ देश्यनुसारेण | २४० |
| अतिक्रान्तस्तु वामाङ्घ्रिः | ३५९ | अथर्वणादारभटी | ३४१ |
| अतिक्रान्तगतं पादं | २९४ | अथ लक्षणमेतेषां | १९५ |
| अतिक्रान्ता भ्रमरिके | ३५९ | अथ वक्षः स्वस्तिकं तु | २६८ |
| अतिक्रान्ताप्यपक्रान्ता | २९० | अथवा रेचितौ प्रोक्तौ | ६५ |
| अतितृप्तिः स्वभावश्च | ४५३ | अथ व्यभिचारिणां नि० | ४४४ |
| अतिप्रगल्भमेतस्मात् | ३६६ | अथ संचारिणो मोह० | ४३५ |
| अतिप्रयत्नसाध्येऽर्थे | ५५ | अथ स्तम्भादयोऽप्यष्टौ | ४३३ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

४७७

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|-------------------------|-----------|
| अथ स्थानानि वक्ष्यामः | ३१९ | अधोमुखो महीशेषी | १०० |
| अथापि चेति वदता | ,, | अधोमुखौ कटिक्षेत्रे | ७३ |
| अदूरालोकिनी म्लान० | १४३ | अध्यर्धिका चाषगतिः | २७९ |
| अदृश्यदशनो हास्यः | ४१७ | अध्यस्तसंविदि प्राणे | ४६७ |
| अद्भुते च प्राकृतं तु | १४६ | अध्यात्मविषयागोष्ठी | ४३८ |
| अयेहसांप्रतार्थेषु | ४६ | अध्वन्यायामसेवायैः | ४५० |
| अधःक्षिप्तास्तथोत्क्षिप्ताः | १७९ | अनन्ताः सन्ति संदर्भान् | १५० |
| अधः स्त्रीणां केशबन्धे | ३८ | अनन्तान्यङ्गहारेषु | १९३ |
| अधमप्रकृतिप्राणि० | २३४ | अनयोः करयोः केश० | ६८ |
| अधमे त्वभिनेये स्युः | ८४ | अनयोर्भ्रमणं प्राहुः | ७५ |
| अधमे धावनं ध्यानं | ४५५ | अनवस्थिततारा च | १४८ |
| अधरे दंशनं दन्तैः | १७१ | अनादिवेदमूलेन | २९० |
| अधरो दशना जिह्वा | १६ | अनाभुमांसमेतच्च | १९९ |
| अधस्तलत्वमप्यन्ये | ५५ | अनामिकाकनीयस्य | ४० |
| अधस्तले पार्श्वयुक्ते | ४३ | अनाविष्टेषु भावेषु | १८१ |
| अधस्तलौ चेदाविद्ध० | ६३ | अनाश्वासे विस्मये च | १८ |
| अधस्थदर्शनं यत्तद् | १५७ | अनिमेषेक्षणाच्छीतात् | ४७१ |
| अधिक्षेपादमर्षः स्यात् | ४५४ | अनिष्टफलदानेन | ४३५ |
| अधिष्ठितं सदः कार्यं | ३९६ | अनिष्टे गन्धवाग्धोषे | ३५ |
| अधीराणां जातमात्रे | ४६२ | अनिष्टेऽसूयिते तेजः | १४६ |
| अधृतिश्चानुभावाः स्युः | ४५० | अनुकम्पाविधाने स्यात् | २३५ |
| अधोगतोच्छ्रितचल० | ३३ | अनुभावद्वयं यत्र | ४५१ |
| अधोभागचरी किञ्चिद् | १४९ | अनुभावपिधानार्थः | ४५८ |
| अधोमुखं तु भुमं तत् | १७६ | अनुभावस्तदा भावः | ४७० |
| अधोमुखः शिरः प्रान्ते | ३४ | अनुभावात् शिरसः | ४४८ |
| अधोमुखचलाङ्गुल्यौ | ३५ | अनुभावा भवन्त्यष्टौ | ४६४ |
| अधोमुखनिष्ठौ तौ | १९७ | अनुभावा भवन्त्येते | ४०९ |
| अधोमुखाङ्गुली हस्तौ | २३१ | अनुभावा रसवशात् | ४७ |
| अधोमुखोत्प्लुतोऽप्रे च | २४३ | अनुभावा हेतवस्ते | ४० |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| अनुभावास्तु चैवास्याः | ४५६ | अन्ये पञ्चविधेऽप्याहुः | ३२५ |
| अनुभावास्त्वमर्षादि० | ४४८ | अन्ये पताकसूच्यास्थौ | २०७ |
| अनुभावितमाख्यातं | ४५७ | अन्ये पताकाङ्कुष्ठस्थ | ४५ |
| अनुवृत्तिमुखरिणः | ३७४ | अन्येऽवहित्यहस्तेन | २३३ |
| अनेनाभिनये त्याग० | १९९ | अन्येषु तत्सहायेषु | ४४६ |
| अन्तःस्थिताङ्गुलिः कार्यः | ५३ | अन्यैरुक्ता व्यवस्थेयं | ८४ |
| अन्तरं चतुरैः स्थानं | ३३१ | अन्योन्यकार्यविषयौ | ४० |
| अन्तर्जानुः स्वस्तिकत्वं | २८३ | अन्योन्यजन्यजनकाः | ४०४ |
| अन्तर्नतेन गात्रेण | २१९ | अन्योन्यसंमुखौ सन्तौ | ७७ |
| अन्तर्बहिश्च दृश्यन्ते | ५२ | अन्योन्यस्कन्धदेशस्थौ | ५५ |
| अन्तर्भावोऽस्ति केषांचित् | ४६६ | अन्योन्यस्यान्तरैर्यत्र | ५२ |
| अन्तर्भूतं वदन् भट्टः | १८२ | अन्योन्याभिमुखत्वे वा | ५५ |
| अन्ते दधन्नाषगतं | ३५४ | अन्योन्याभिमुखौ लक्ष्म | ५६ |
| अन्ते रचितया ज्ञेयं | ३५३ | अन्योऽप्येवं कराम्यासात् | ७६ |
| अन्तेऽवहित्यकं स्थानं | २०३ | अन्योरुक्षेत्रपर्यन्तं | २९१ |
| अन्यतोऽलातकाक्षिप्ते | २६२ | अन्योरुमूलक्षेत्रान्तं | २९५ |
| अन्यथाकथनं तद्वत् | ४५८ | अन्वयव्यतिरेकोत्थैः | ४५८ |
| अन्यदुद्गाहितं यत्र | २०५ | अन्वर्थो भवति श्यामः | १८१ |
| अन्याङ्गौ वृश्चिके प्राञ्चौ | २३२ | अपक्रान्तं व्यसितस्य | २६४ |
| अन्याङ्गिपृष्ठाभिमुखी | २८९ | अपक्रान्तो वामपादः | ३५९ |
| अन्याङ्घ्रिताङ्घ्रिजङ्घा च | २९२ | अपक्षेपा च डमरी | २८१ |
| अन्या वा गायत्री मुख्या | ३७९ | अपरेऽभ्युपजग्मुस्तं | ५९ |
| अन्ये करिकरस्थाने | २०० | अपविद्धं प्रथमतः | २६६ |
| अन्ये त्वन्वर्थनामानः | १६५ | अपविद्धं समनखः | १९२ |
| अन्ये त्वाचक्षतेऽन्योन्य० | ८० | अपविद्धश्च विष्कम्भ० | २५६ |
| अन्ये त्वाहुस्तोप्रस्थः | ६२ | अपविद्धोऽथाप्रदेश० | १०१ |
| अन्येनादर्शने यत्र | ४४६ | अपविद्धोरुद्धुताख्ये | २६० |
| अन्येऽन्यानृचुरुद्धुत्त० | १६६ | अपस्मारोऽप्येवमेव | ४६१ |
| अन्येऽन्वर्थं रिक्तपूर्णं | १२६ | अपाङ्गनिर्गताल्पाक्षः | ४२८ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| अपि ब्रह्मपरानन्द० | ५ | अर्चयित्वा शुभे लभे | ३६४ |
| अपि संधट्टिता खुत्ता | २८१ | अर्धचन्द्रः करो नाटये | २९८ |
| अपूर्वप्रतिभानं स्यात् | ४५८ | अर्धत्र्यश्रौ यदा पादौ | २८७ |
| अपेत्योपसृजेद्वामं | २३७ | अर्धमण्डलिका तिर्यक् | २८१ |
| अप्ररूढवचःप्रोक्ते | २०४ | अर्धमतल्लिकरणं | २६९ |
| आभाषणादमर्षाच्च | ४६१ | अर्धरेचितकादूर्ध्वं | २७० |
| अभिधातात्तथोन्मादः | ४६० | अर्धव्याकोशिते किंचित् | १४४ |
| अभिधातान्तरोद्भूते | ४६४ | अर्धसूचि ततो दण्ड० | २७३ |
| अभिलापस्ततश्चिन्ता | ४१५ | अर्धसूत्र्यथ विक्षिप्त० | २५९ |
| अभिनेयवशादेषां | २६ | अर्धस्वस्तिकसंज्ञं च | २७३ |
| अभ्यन्तरेऽङ्घ्रेरन्यस्य | २८६ | अलकस्यापनयने | ३५ |
| अभ्यन्यजङ्घं वलिता | २८९ | अलकोत्पीडने मुष्टिः | ३९ |
| अभ्यस्तादन्य एवाति० | ३६३ | अलक्तकादिना पाद० | ३७ |
| अभ्यासांस्त्रिषु बाष्पन्ति | २६२ | अलक्तकादिनिष्पेषे | ५० |
| अभ्येत्यायेत्यमन्याङ्गं | २३२ | अलगं करणं कृत्वा | २४६ |
| अमङ्गलमपि ब्रूते | ४०२ | अलगं त्रीणि कूर्मोर्ध्व० | २४० |
| अमन्दरसनिष्यन्दि० | ३९३ | अलपद्मः शिरोदेशे | २२७ |
| अमर्षप्रातिकूल्येर्ध्या० | ४५३ | अलपद्मः स एव स्यात् | ४३ |
| अमर्षे चाभिलाषेर्ध्या० | ३२६ | अलपद्मकरं न्यस्येत् | २३७ |
| अयं मृदुनि निःसारे | ४६ | अलपद्माकृतिं कृत्वा० | २०४ |
| अयं हि विप्रलम्भादौ | ४६१ | अलपद्मावुल्बणौ च | २७ |
| अयमाचमने कार्यः | ४७ | अलपद्मौ कटीपार्श्व० | २१२ |
| अयुक्तविषया तृष्णा | ४४२ | अलपद्मौ निकुटयेते | २१६ |
| अरालः प्रोक्षताग्रोऽन्यः | ६२ | अलातं ललितं चेति | ३४८ |
| अरालखटकौ हस्तौ | २३८ | अलातकः परावृत्ताः | २५६ |
| अरालमुष्टिशिखर० | २५ | अलातां विदधच्चारी | २३९ |
| अरालस्य यदात्यन्त० | ४१ | अलाताङ्घ्रौ पृष्ठगते | ३१० |
| अरालाङ्गुष्ठतर्जन्यौ | ५० | अलातो वामचरणः | ३५५ |
| अरालौ कटिपार्श्वस्थौ | ८१ | अल्पो हस्तप्रचारः स्यात् | ८५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| अवज्ञा भ्रुकुटीत्वाद्या | ४४८ | अस्य कूर्मक इत्यस्यां | ५२ |
| अवज्ञा वेदनासूया० | १६६ | अस्य तालान्तरालेषु | २१४ |
| अवत्सकविताभ्यां च | ३७८ | अस्य व्यावर्तितस्थाने | ४३ |
| अवष्टभ्य कराभ्यां चेत् | २५१ | अस्याङ्गुष्ठो मध्यमाया | ४५ |
| अवस्था देशकालादि० | ३९८ | अस्यैव चेचरणयोः | ३३० |
| अवहित्यं तदेव स्यात् | ३२७ | अत्रे तन्मार्जने च स्यात् | ३५ |
| अवहित्ये तु दम्भस्य | ४६६ | | |
| अविस्मयादसंमोहात् | ४२८ | आ | |
| अवोचत्तदतिक्रान्तं | ३५४ | आकम्पितं तदेव स्यात् | २० |
| अव्यक्ताक्षरभाषाद्यैः | ४६४ | आकम्पितोद्वाहिते च | १७ |
| अव्यक्तसंगतैर्वाक्यैः | ४४९ | आकुञ्चस्कूर्परौ स्कन्ध० | ५६ |
| अव्यवस्थिततानोच्च० | ४७० | आकुञ्चयेत्तदा चारी | ३०८ |
| अशुचेश्चिरसंस्थानं | ४५५ | आकुञ्चितः पुरो वामः | ३३५ |
| अश्रुपातो मुखे शोषः | ४२० | आकुञ्चितपुटामन्द० | १३६ |
| अश्रुस्वेदादयश्चानु० | ४५४ | आकुञ्चितस्य पादस्य | ३११ |
| अश्लिष्टमध्यमा पृष्ठे | ३६ | अकुञ्चिता कुञ्चिता स्यात् | ९८ |
| अश्लिष्टस्वस्तिकौ सन्तौ | ७७ | आकुञ्चिताक्षिगण्डं च | ४१८ |
| अश्लिष्टहंसपक्षाभ्यां | ६१ | आकुञ्चिताङ्गमाविद्ध० | ३३९ |
| अष्टावेव रसा नाटये० | ४०० | आकुञ्चितोऽङ्घ्रिरुत्क्षिप्य | ३०३ |
| असकृद्वा सकृत्पार्ष्णिः | ९४ | आकुञ्चितोऽन्तर्निम्नोऽसौ | १३२ |
| असद्वादनविषेद्धारः | ३९३ | आकुञ्चितौ कुञ्चितौ स्तः | १५३ |
| असंबद्धप्रलपनं | ४६० | आकृष्टश्वसना नासा | १६१ |
| असंभाव्यस्य सत्त्वस्य | ४३७ | आकोकरा दुरालोके | १४७ |
| असंयुता मता हस्ताः | २६ | आकोकरा विशोका च | १३६ |
| असूयायां निगूढार्थे | १४५ | आक्रोशनमधिक्षेपः | ४४४ |
| असूयायां प्रयोगः स्यात् | १९७ | आक्षिप्तं करिहस्तं स्यात् | २७१ |
| असौप्रति विभावं च | ४६२ | आक्षिप्तकं नितम्बं च | २७२ |
| अस्थानजः साश्रुदृष्टिः | ४१८ | आक्षिप्तकः परिच्छिन्नः | २५६ |
| अस्पष्टालोकिनी मीलत् | १४१ | आक्षिप्तच्छिन्नकरणे | २६४ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

४८१

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| आक्षिप्तस्वस्तिकं कृत्वा | २६३ | आमूलात्सद्वितीया भूः | १५२ |
| आक्षिप्तां वामतश्चारीं | २३४ | आयताख्यावद्विधाश्च० | ३१९ |
| आक्षिप्तामप्यपक्कान्तां | २०५ | आयतानन्तरं कार्या | ३२६ |
| आक्षिप्ता यत्र चारी स्यात् | २१७ | आयतौ प्रसृतौ स्यातां | १५३ |
| आक्षिप्तैर्मण्डलभ्रान्त्या | ३५३ | आरादुत्साहिनी ये स्युः | ३४२ |
| आक्षिप्तोरोमण्डले च | २६५ | आराधने वः प्रवणा | ४७३ |
| आक्षिप्य परिवर्तेन | २१५ | आरिराधयिषोः साधून् | ४७३ |
| आधूर्णमानतारा स्यात् | १४९ | आलापे च प्रयोक्तव्यम् | १९ |
| आज्जिकं भुवनं यस्य | १ | आलस्यादित्रयं वर्ज्यं | ४०९ |
| आज्जिको वाचिकस्तद्वत् | ८ | आलस्यौघ्यजुगुप्साभ्यः | ॥ |
| आज्जिकाभिनयैरेव | ११ | आलिङ्गनाच्छुरितके | ४७० |
| आज्जिकोक्तप्रकारेण | १२ | आलिङ्गने च प्रत्यक्षे | ४७ |
| आचार्याणां तु सर्वेषां | ३१ | आलीढं स्थानकं यत्र | २१५ |
| आत्मनः कथ्यते शान्तः | ४४१ | आलीढकृतसंधान० | ३२४ |
| आत्मसंभावनाख्यान० | २०४ | आलीढप्रत्यालीढे च | ३१९ |
| आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् | ४१६ | आलीढाङ्गविपर्यासात् | ३२४ |
| आत्मस्थो द्रष्टुं पञ्चः | ॥ | आलीढाच्छुरितौ पार्श्व० | २५६ |
| आद्यो मनोरथावासेः | ४३८ | आवर्तिता नताक्षिप्ता० | १२८ |
| आद्यौ कथिरविष्टादि० | ४३५ | आवाहने स्वचित्तस्थ० | २० |
| आधृतं तु सकृत्तिर्यक् | १९ | आविद्धः कुञ्चितो नम्रः | ९९ |
| आनन्त्यादभिनेयानां | ८१ | आविद्धभ्रामितभुजौ | ७४ |
| आनन्दजस्तथा दिव्यः | ४३८ | आविद्धवक्त्रतां नीत्वा | २०४ |
| आनीय परिवृत्तेन | २३१ | आविद्धवक्त्रौ सूच्याख्यौ | २७ |
| आनीयाविद्धवक्त्रौ चेत् | २०३ | आविद्धां विदधच्चारीं | २३७ |
| आपिबन्तीव दृश्यं या | १३६ | आविद्धापादामन्योरु० | २९६ |
| आभाषणे च कर्तव्ये | ३२६ | आविद्धोऽभ्यन्तराक्षिप्तः | १०३ |
| आभिमुख्ये मुखक्षेत्रम् | ३३ | आविर्भावतिरोभाव० | ४२७ |
| आभोगेनाथ नृत्येच्च | ३८२ | आविष्कुर्वत्सव्यवाम० | ३७८ |
| आमुखं च प्रहसनं | ३४३ | आवृत्तयः कटीच्छन्नं | २०५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| आवेगः प्रबलोऽयं तु | ४६२ | इति मेदद्वयं प्राहुः | ९ |
| आवेगसंभ्रमौ जाडयं | ४३६ | इति यत्र विभावाः स्युः | ४५३ |
| आवेशातिशयं नीतः | ४०६ | इति संघविशेषेण | २५५ |
| आवेष्टितप्रक्रियया | १८५ | इति सप्तापरे प्रोक्ताः | ९२ |
| आवेष्टितोद्वेष्टिते च | १८३ | इति स्थानानि षट्पुंसां | ३१९ |
| आव्रजन् जनसंघे स्यात् | ३८ | इत्यष्टोत्तरमुद्दिष्टं | १९३ |
| आशाबन्धश्चयीभूतः | ४१४ | इत्यष्टौ करणानि स्युः | २६६ |
| आशीर्वादादिषु प्रोक्तः | ३८ | इत्यादयः स निर्वेदः | ४४५ |
| आश्रितं चैकवचनं | ७० | इत्यादयोऽनुभावाः स्युः | ४३९ |
| आश्रित्य कैशिकीं वृत्तिं | १० | इत्यादयोऽनुभावास्तं | ४५३ |
| आश्लेषे शिशिरे चांसौ | ९५ | इत्यादयो विभावाः स्युः | ४१६, ४२८ |
| आश्लिष्टौ मणिबन्धस्थः | १९७ | इत्युक्तास्त्रिविधा भावाः | ४७१ |
| आसीना वामभागे स्युः | ३९६ | इत्युक्तौ पञ्चधा स्कन्धौ | ९५ |
| आस्यं क्षेप्यं हि शकटः | २८४ | इत्युक्तः पञ्चधा तत्र | १२७ |
| आस्योत्क्षिप्ततयोद्धतः | १६८ | इत्येतेऽभिनया यत्र | ४७० |
| आहार्यं चन्द्रतारादि | १ | इन्द्रियाणां जयं प्राह | ४३० |
| आहार्यो हारकेयूरः | ९ | इमं तु नाख्यतत्त्वज्ञाः | २०७ |
| आहुः पृथक्प्रयोगेऽपि | २७४ | इष्टबन्धुवियोगश्च | ४१९ |
| आहुरन्ध्रे त्वदृश्यौ तौ | १५४ | इष्टाधिकानामिष्टानां | ४५१ |
| आह्वाने च बहिश्चान्तः | ४१ | इष्टानिष्टवियोगासिः | ४०२ |
| | | इष्टानिष्टपरिज्ञानं | ४५६ |
| | | इष्टार्थापहृतिश्चाथ | ४५० |
| इतरेतरचित्रत्वात् | ४११ | इह तत्प्रभवो भावः | ४५९ |
| इतस्ततश्च चरणौ | ३०३ | | |
| इति पद्धतिरुक्तं | ३७५ | | ई |
| इतिकर्तव्यता तस्य | ९ | ईर्ष्याक्रोधकृतो जल्पः | ३२४ |
| इतिकर्तव्यता त्वन्या | ७० | ईषच्च पृष्ठतो यान्ती | ४५ |
| इति धर्षरमेदाः स्युः | ३८५ | ईषत्कुञ्चितपक्ष्माग्रात् | १३९ |
| इति पञ्चविधा जङ्घा | १२८ | ईषत्प्रसृतजङ्घं यत् | ३४० |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां | ४१७ | उत्क्षेपे विस्मये हर्षे | १५१ |
| ईषद् दृश्योर्ध्वदशनः | १६८ | उत्क्षेपो जानुपर्यन्तम् | ३११ |
| ईषद्वाप्ये च नयने | ३३६ | उत्तमः संप्रदायोऽसौ | ३७३ |
| ईषद्वक्स्तु नम्रोऽसौ | १०३ | उत्तमप्रकृतिष्वेव | ४२९ |
| | | उत्तमानां मध्यमानां | ४१६ |
| उ | | उत्तमानां विप्रलम्भे | ४६० |
| उक्तप्रायं सुखार्थं तु | १७३ | उत्तमे पुरुषे स्वापः | ४४९ |
| उक्तै रत्यादिभिर्भावैः | ४६६ | उत्तमे मध्यमे चानु० | ४५५ |
| उक्तौ तत्र द्विवचनं | ६९ | उत्तमेष्वाभिनेयेषु | ८४ |
| उचितभ्रमरीं प्राह | २५० | उत्तमे संनिष्ठाः स्युः | ,, |
| उचितौ विच्युतौ कार्यौ | ३३ | उत्तरेणाधराघाताद् | १५४ |
| उच्चार्य स्थायिनं कुर्यात् | ३७९ | उत्तानस्तुरगादेः | ४१ |
| उच्चैः स्वरविलापं च | ४२२ | उत्तानिताङ्गलिद्वन्द्वः | ३४ |
| उच्यते मण्डलगतिः | १०१ | उत्तानोऽघस्तलः पार्श्व० | १८२ |
| उच्छ्रितौ हर्षगर्वादौ | ९५ | उत्तानोऽधोमुखः पार्श्व० | १८२ |
| उच्छ्वासः कुसुमाघ्राणे | १६५ | उत्तानोऽधोमुखत्वाभ्यां | ६६ |
| उत्कटस्थैव जान्वैकं | ३३८ | उत्तानोऽधो व्रजत्येकः | ६० |
| उत्कटासनमास्थाय | २५१ | उत्तानो रेचितश्चैकः | २१५ |
| उत्कम्पोत्फुल्लतारा स्यात् | १४९ | उत्तानो वामपार्श्वस्थः | २२० |
| उत्क्रोशकम्पस्तनितैः | ४५९ | उत्तानौ केचिदन्ये तु | ७१ |
| उक्षिप्तबाहुशिखरं | २२ | उत्तानौ पातयेदूर्वोः | १९७ |
| उत्क्षिप्ता पतितोत्क्षिप्त० | १७८ | उत्थापकामिधो भेदः | ३४३ |
| उत्क्षिप्ता मुहुर्मुखेपात् | १७९ | उत्पातिरनुभावास्तु | ४६४ |
| उत्क्षिप्ता संमतान्वर्था | १५१ | उत्पाटने धारणे च | ३३ |
| उत्क्षिप्तेतरभागोऽसौ | ९३ | उत्पातजोऽस्यानुभावः | ४६२ |
| उत्क्षिप्य कुञ्चितं पादं | २९३ | उत्पातवातवर्षाभि० | ,, |
| उत्क्षिप्य कुञ्चितः पादः | २२७ | उत्पाद्यते विभावाद्यैः | ४०० |
| उत्क्षिप्य कुञ्चितौ पादौ | ३०३ | उत्प्लुत्य भ्रमरीं कुर्यात् | २२९ |
| उत्क्षिप्य पात्यमानेऽङ्घ्रौ | २२५ | उत्प्लुत्य मध्यमावर्त्य | २४६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| उत्प्लुत्य युगपयत्र | २०१ | उद्धृतको द्विविधः | २७३ |
| उत्प्लुत्याश्रितवद्यत्र | २४३ | उद्धृतश्चैव वामस्तु | ३५७ |
| उत्प्लुत्यान्यतमां सूचीं | २४७ | उद्धृतमध्ये रसूच्याख्यं | २७३ |
| उत्फुल्लनासिको हास्यः | ४१८ | उद्धृतस्यान्यपादस्य | ३०६ |
| उत्सारित इति प्राहुः | ९९ | उद्धृतेन निकुटेन | ॥ |
| उत्साहः स्थायिभावश्च | ४२९ | उद्धृतो दक्षिणोऽलातः | ३५८ |
| उत्साहमाहुरन्येऽन्ये | ४०२ | उद्धृतो विद्युद्भ्रान्तश्च | ३५१ |
| उत्साहविस्मयो सर्वः | ४४४ | उद्वेगस्य तु निर्वेदे | ४६६ |
| उत्साहसम्यग्बोधौ च | ४२५ | उद्वेगापसृतौ पादौ | २०९ |
| उत्साहस्त्वत्र संचारी | ॥ | उद्वेगोऽथ विलापः स्यात् | ४१५ |
| उदास्ते तद्वतिस्थित्योः | ३२८ | उद्वेष्टनं वेष्टयित्वा | ३११ |
| उदातिस्तु समुद्धृतम् | १५६ | उद्वेष्टनमथोत्क्षेपः | २८२ |
| उद्ग्रीवावेक्षणावज्ञः | ४६१ | उद्वेष्टेनापवेष्टेन | २२० |
| उद्धृष्टं भुवि न्यस्येत् | २९१ | उद्धृष्टक्रियापूर्वं | १९८ |
| उद्धृष्टश्चेति मुनेः | ९२ | उद्धृष्टक्रियापूर्वं | २०० |
| उद्धृष्टस्ततो बद्धः | ३५१ | उद्धृष्टक्रियां वक्षः | ७८ |
| उद्धृष्टाख्यं मत्तलि | २६६ | उद्धृष्टापवेष्टाभ्याम् | २२४ |
| उद्धृष्टे निकुट्याख्यम् | २६७ | उद्धृष्टेन निष्कास्य | २०१ |
| उद्धृष्टोऽङ्घ्रिः पार्श्वं तत् | २३७ | उद्धृष्टेन व्याख्यातं | १८५ |
| उद्धात्यकावलगिते | ३४३ | उद्धृष्टे समं चार्या | २६७ |
| उद्दिश्य स्थायिनः प्राप्ते | ४०२ | उद्धृष्टो भवेत्पृष्ठः | १०२ |
| उद्धृतः कुञ्चिताकारः | ३३४ | उद्धृष्ट्य दक्षिणं हस्तं | २०४ |
| उद्धृत्य समपादायाः | २८५ | उद्धृतं करिहस्तं च | २७२ |
| उद्धृता नूनमङ्गीनां | ३७० | उद्धृतं चेति संचख्युः | ८९ |
| उद्धामितपुटोत्फुल्लः | १४६ | उद्धृतो दोलितोऽन्यस्तु | ६९ |
| उद्धाहितं च शीर्षस्य | ४५१ | उद्धृतोर्ध्वानता ग्रीवाः | ९९ |
| उद्धाहितं नतं चेति | ३१९ | उन्मादः परमानन्दः | ४३९ |
| उद्धाहितं पञ्चधेति | ८७ | उन्मादः पृथगुक्तोऽयं | ४६० |
| उद्धृतकश्च संभ्रान्तः | २५६ | उन्मादकं श्रिया जुष्टं | ३६६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|----------------------------------|-----------|
| उन्मादव्याध्यपरस्मार० | ४१० | उल्लसद्रीतनृताढ्या | ३४२ |
| उन्मादादिदशां चाति० | ,, | उल्लोलः स्याच्चरणयोः | ३१२ |
| उन्मुखेक्षणमित्यादि० | ४४६ | उल्लोकितं तदूर्ध्वस्थ० | १५८ |
| उन्मेषितौ तु विश्लेषात् | १५४ | उल्लोलितालोकिते च | १५६ |
| उपधाय भुजामेकां | ३३९ | उष्णौ दीर्घौ सशब्दौ च | १६३ |
| उपनीताः कविवरैः | ४०७ | | |
| उपर्युत्तनितोऽर्धेन्दौ | ३६ | ऊ | |
| उपर्युपरि विन्यस्तौ | ५८ | ऊरं ताडयति प्रोक्ता | ३०१ |
| उपलक्षणमेतत्तु | ४१८ | ऊरुद्वयं च हस्तानां | १९० |
| उपवक्षस्थलं हंस० | ७२ | ऊरुद्वयस्य बलनं | २८८ |
| उपविष्टस्थानकानि | ३१९ | ऊरुपृष्ठस्थितैकाङ्घ्रेः | २४२ |
| उपसृत्यापसर्पेतां | २८५ | ऊरुवेणी तलोद्भूता | २८० |
| उपाङ्गानि द्वादशेति | १६ | ऊरुस्थस्वस्तिकाकारौ | ३०२ |
| उपाध्यायं नृतकन्याः | ३६४ | ऊरु जङ्घे षडित्याहुः | १६ |
| उपायान्वेषणं चित्त० | ४५५ | ऊरुद्वतं च करणम् | २६२, २६७ |
| उपेतं करणैरल्पैः | १४ | ऊरुद्वतं तदीर्घ्यायां | २३८ |
| उरः पार्श्वेन विन्यस्य | ३१२ | ऊरुद्वतमथाक्षिप्तं | २५९ |
| उरः समुन्नतं सन्नं | ३२१ | ऊरुद्वत्ता तदा चारी | २८९ |
| उरो यत्र तदन्वर्थ० | २२५ | ऊरुद्वत्तेत्यथ ब्रूमः | २७९ |
| उरोमण्डलकं छिन्नं | २६६ | ऊरुद्वतोऽङ्घ्रितश्चारी० | ३५० |
| उरोमण्डलकं यत्र | २६९ | ऊरु यत्र निषण्णौ तत् | ३२३ |
| उरोमण्डलादूर्ध्वं | २७० | ऊरु विस्तारितौ बाहु | ३३७ |
| उरोमण्डलमावर्तं | १९२ | ऊर्णनाभः स चौर्येण | ४९ |
| उरोमण्डलसङ्गं च २६१, २६३, २६४, | २६८, २७३ | ऊर्णनाभश्च संदंशः | २६ |
| उरोमण्डलिनावेवं | ३१ | ऊर्ध्वं गच्छन् कटिक्षेत्रात् | ३३ |
| उरोमण्डलिनौ स्याताम् | २७ | ऊर्ध्वं गच्छन्नुच्छित्तेषु | ,, |
| उरोवर्तनिकात्वेन | ७५ | ऊर्ध्वं तादक्परावृत्त्या | २१५ |
| उल्लसत्कान्तिबलये | ३६९ | ऊर्ध्वं नीतोद्वाहिता स्यात् | १२९ |
| | | ऊर्ध्वं पार्श्वेऽग्रतो वा स्यात् | ५३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| ऊर्ध्वं व्यावर्तितोनाथ | २०८ | ऋते सर्वक्रियाद्वेषः | ४५३ |
| ऊर्ध्वगोऽधोगतः पार्श्व० | १८३ | | |
| ऊर्ध्वगौ पृष्ठतो नम्र० | ८० | ए | |
| ऊर्ध्वजानुरलाता च | २८० | एकं वर्तनयारालं | ७६ |
| ऊर्ध्वजानुस्तथा सूची | ३५६ | एकः कार्यो रसः स्थायी | ४७१ |
| ऊर्ध्वजानोः परं चारी | २२१ | एकः प्रसारितः किंचित् | ३३६ |
| ऊर्ध्वप्रसारिता यत्र | ४३ | एकः समस्थितः पादः | ३२० |
| ऊर्ध्वमण्डलिनौ कृत्वा | १९७ | एकः समोऽङ्घ्रिरन्यथेत् | ३३२, ३३४ |
| ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ | २७, २२८ | एकः समोऽङ्घ्रिरन्यस्तु | ३२८ |
| ऊर्ध्वमूर्ध्वाङ्गुलितलः | २१८ | एक उद्वेष्टितेनाधः | २१५ |
| ऊर्ध्ववक्त्रं शिरो ज्ञेयम् | २३ | एकतोऽङ्गुलिसंघाते | ३६ |
| ऊर्ध्ववक्त्राधोमुखी च | ४४ | एकत्रोरःस्थितोत्ताने | ७६ |
| ऊर्ध्वश्वासे च कर्तव्या | १६१ | एकत्वे तर्जनी चोर्ध्वा | ४३ |
| ऊर्ध्वस्थोऽधोमुखस्तिर्यक् | ९९ | एकपञ्चाशदावष्ट | ३२० |
| ऊर्ध्वा कनीयसी यत्र | ४५ | एकपादाश्रितं तत्स्यात् | २४२ |
| ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ पताकाख्यौ | ५८ | एकपादे स्थितः स्थाने | ३०१ |
| ऊर्ध्वालङ्गं तत्पतित्वा | २४४ | एकपार्श्वगतं च स्यात् | ३१९ |
| ऊर्ध्वाश्च मुकुलः स स्यात् | ४९ | एकस्य मणिबन्धेऽन्य० | ५३ |
| ऊर्ध्वास्त्रेताग्रिसंस्थान० | ४२ | एकाग्रचेतसः सन्तः | ४०१ |
| ऊर्ध्वास्थौ पद्मकोशौ च | ६२ | एकाङ्गुलमधःसस्तं | १७४ |
| ऊहापोहैश्च विविधैः | ४५८ | एकाङ्घ्रिजा त्वेकपाद० | २४५ |
| ऊहापोहौ च लीलयां | ४५ | एकादश स्युः करणा० | २७१ |
| | | एकादशाभिरभ्यासात् | २६४ |
| ऋ | | एकेन चतुरश्रेण | ६५ |
| ऋग्यजुः सामवेदेभ्यः | ४ | एकैकं करणं कार्यं | २५७ |
| ऋग्वेदाद्भारती जाता | ३४१ | एकैकशः प्रयोगोऽपि | ३७५ |
| ऋजुः समः पुस्तकस्य | १३२ | एकैकशो द्वन्द्वशो वा | ४५९ |
| ऋज्वी श्रमे पिपासायां | १७२ | एकैत्र ललितोत्तिक्षप्ता | १५१ |
| ऋज्वी सकानुगा वक्ता | १७२ | एकोऽङ्घ्रिः कुञ्चितोऽन्यस्तु | ३३३ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------------------|------------------------------------|
| एकोच्चौ कथितौ स्कन्धौ | ९५ एतेषां च परस्थानां ४१५ |
| एकोच्चौ कर्णलग्नौ च | ९५ एतेषां विनियोगश्च ३४८ |
| एकोऽन्योऽधोमुखो यत्र | २१९ एते स्मितादिभेदेषु ४१६ |
| एको हस्तो द्वितीयस्तु | २३८ एते स्युः सात्त्विका भावाः ४६७ |
| एडक्काक्रीडिता चारी | २३४ एवं कुर्वत्प्रक्रियायां ३८१ |
| एणप्लुतं ततस्तिर्यक् | २४१ एवं चारीप्रधानत्वे २९७ |
| एतच्च विप्रदत्ताशीः | ३२२ एवं दशविधः प्रोक्तः १६२ |
| एतच्च वैष्णवं स्थानं | ३२१ एवं परंपराप्राप्तं ३ |
| एतत्पुष्पाञ्जलिक्षेपे | १९३ एवं पुनः पुनर्यत्र २३७ |
| एतत्पौरस्त्यनिर्देशे | २० एवंप्रभतयो भावाः ४२९ |
| एतदुत्पत्तनौत्सुक्य० | २०७ एवं भ्रान्त्वा क्रमाद्यत्र ३५२ |
| एतदैरावणादीनां | २९६ एवं सति स्वाद्यमान० ४६७ |
| एतद्दक्षिणतो वाम० | २०६ एवमाद्या विभावाः स्युः ४३२ |
| एतस्यास्तु विपर्यासात् | २४८ एवमन्योऽन्यनियमात् २७७ |
| एतद्रौद्रगतं योज्यं | २३२ एवमुच्छ्वासनिःश्वासौ १६२ |
| एतद्विस्मयसूयायां | २१४ एष संभोगश्चकार० ४०९ |
| एतन्निषेधराभस्य० | २०१ एष स्पर्शं चपेटे च ३२ |
| एतन्मण्डनमन्यद्वा | ३६९ एष शैलशिलोत्पाटे ५६ |
| एतन्मध्यमदे योज्यं | २३६ एषामाद्यानि चत्वारि ३२४ |
| एतानभिनयेऽप्याहुः | २७ एषु सालगगीतेषु ३८३ |
| एतानि दर्शनाभ्याहुः | १५७ |
| एतेऽनुभावास्तेषां तु | ४२४ . ओ |
| एते न्यायाः प्रयोक्तव्याः | ३४७ ओतावत्सरिगोणीनां १२४ |
| एते पाष्ण्यादिभेदाः स्युः | १७८ ओष्ठयोः संपुटस्तिर्यक् १६६ |
| एतेऽभिनयहस्ताः स्युः | २६ |
| एते यत्र विभावाः स्युः | ४३६, ४५१ औ |
| एते यत्रानुभावाः स्युः | ४२० औग्यमावेगरोमाश्च० ४२९ |
| एते यत्रानुभावास्तत् | ४४८ औग्यरोगजराक्रोध० ४७० |
| एते विषयभावेन | ४५१ औचित्याच्च्युतयुक्तं तु ४६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| औदार्यधैर्यागम्भीर्य० | १३८ | कव्यामर्घस्तदा त्वर्घ० | २०९ |
| औदार्यस्थैर्यधैर्याणां | ५ | कण्टकोद्धरणे सूक्ष्म० | ५० |
| औदासीन्याधदच्युतिस्तु | २८७ | कण्ठोष्ठमुखशोषश्च | ४४६ |
| क | | कथका बन्दिनश्चात्र | ३९३ |
| कक्षवर्तनिकेत्येतौ | ७४ | कथायामश्रुरोमाश्वाः | ४६३ |
| कटाक्षभुकुटीवकं | ४२३ | कदचित्स्वप्रधानः सन् | ४६८ |
| कटाक्षिणी साभिलाषा | १४० | कनिष्ठाङ्गुलिभागे चेत् | २१८ |
| कटिभ्रान्तं व्यसितं च | १९२ | कनिष्ठाङ्गुलिभागेन | २८७ |
| कटिस्थं दक्षिणं हस्तं | २३५ | कनिष्ठाङ्गुलिभूरन्यः | ३२८ |
| कटीच्छिन्नं च करणा० | २६३ | कपालचीरनिर्माल्य० | ४६० |
| कटीच्छिन्नं च करणं | ,, | कपालचूर्णनं कृत्वा | २४६ |
| कटीच्छिन्नं च करणैः | २६१, २६४ | कपित्थः स्यात्तदा कार्यः | ४० |
| कटीच्छिन्नं चतुर्थं चेत् | २७४ | कपित्थौ शिखरौ मुष्टौ | ७७ |
| कटीच्छिन्नं च षडिति | २६५ | कपोतोऽसौ करौ यत्र | ५२ |
| कटीच्छिन्नं च सप्तेति | २६२, २६४ | कपोलयोरोष्ठयोश्च | ४१६ |
| कटीच्छिन्नं पञ्चमं च | २६७ | कपोलांसललाटानां | ६८ |
| कटीच्छिन्नं परिच्छिन्नः | २६२ | कपोलानुगतौ पूर्णौ | १५९ |
| कटीच्छिन्नं सप्तदश | २७० | कपोलौ षड्विधानुक्तौ | ,, |
| कटीच्छिन्नं सप्तमं तु | २६५ | कम्पनात्कम्पिता भीतौ | १३१ |
| कटीच्छिन्नं स्मृतं षष्ठं | २७० | कम्पितं स्फुरितं प्राहुः | १७५ |
| कटीच्छिन्नमिति प्रोक्तः | २६१ | कम्पितः सुरते शास्त्र० | १६५ |
| कटीच्छिन्ना च वैशाखं | २१२ | कम्पितेत्यपराः पञ्च | १२९ |
| कटी जानुसमा यत्र | ३२१ | कम्पितोद्वाहिता च्छिन्ना | ९० |
| कटी जानुसमौ व्योम्नि | ३२३ | कम्पितो बलितः स्तब्ध० | १२७ |
| कटीतटे ततः पादौ | ३५२ | करं कृत्वा नते पार्श्वे | २३४ |
| कटीनितम्बगो हस्तः | ३२५ | करं चरणमाक्षिप्य | २२४ |
| कटी पञ्चविधेत्युत्पुक्ता | ९० | करं शिरःकपोलान्तः | ३४६ |
| कव्यामन्योऽर्घचन्द्रश्च | २०५ | करकर्माणि नृत्तज्ञैः | १८९ |
| | | करणं दर्पसरणं | २४५ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

४८९

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|---------------------------------|
| करणं नृत्तकरणं | १९१ करोति यत्र तत्प्राहुः ३५९ |
| करणन्यूनताधिक्यं | २५५ करोपगूढपार्श्वश्च ४१८ |
| करणत्रातसंदर्भ० | २५६ करोऽपरो रेचितश्च २२४ |
| करणानि तदा प्राञ्चि | २४८ करौ कृत्वोज्झितालीढः २५८ |
| करणानि त्रयाणां तु | २६२ करौ च रेचितौ विष्णु० २३६ |
| करणान्यष्टसंख्यानि | २६५ करौ हि स्वस्तिकीभूय ३१ |
| करणाभ्यां मातृका स्यात् | २५५ कर्णपूरे तालपत्रे ४८ |
| करणेनाभिनेतव्या | २२५ कर्णयोर्हार्दवबहुलं ३६१ |
| करणैः करणातीतः | १९० कर्णाटमण्डलैर्युक्ताः ३७८ |
| करणैः पञ्चदशभिः | २७३ कर्तव्यः करणे प्रायः २४० |
| करणैः स्थिरहस्तः स्यात् | २५८ कर्तव्यः शास्त्रपातस्तु ३४३ |
| करणैः स्यात्त्रिभिः खण्डैः | २७८ कर्तव्यो मुखसंदंशः ५० |
| करणैरङ्गहारः स्यात् | २६० कर्तव्यौ स्वस्तिकौ हस्तौ ३१ |
| करणैरङ्गहारैश्च | १३, १५ कर्मभिस्तारकामेदाः १५५ |
| कर्मज्ञान्तरेणैवं | २०५ कर्माणि पाणिक्षेत्राणि १६ |
| कराङ्गगात्रविशेषात् | ४६० कलासे वाद्यघातं च ३८१ |
| कराङ्ग्री रेचितौ यत्र | २०० कलासेषु भवेत्पात्रं ३८१ |
| करावरालयोः स्थाने | ५५ कलितं कुन्तलैर्भालं ३६९ |
| करावूरुकटिग्यस्तौ | ३३६ कविचारास्तथा भाव० ३९० |
| करिहस्तं कटीच्छिन्नं | २५९, २६०, कविचारो भवेदत्र ३८८ |
| २६३, २६६, २६७, २७१ | कवितेनैव विषमं ३९० |
| करिहस्तं च करणं | २६१ कवितेऽपि प्रयोग्यास्ते १२५ |
| करिहस्तं चार्धसूचि | २६४ कस्तूरिकादिवस्तूनां ४१ |
| करिहस्तकटीच्छिन्ने | २७२ कस्तूरिकाचन्दनाद्यैः ३६४ |
| करिहस्ताकृतिस्त्वेकः | ७० कस्तूरीपत्रभङ्गाङ्कौ ३६९ |
| करिहस्तोऽलपद्यत्वं | २०२ कस्त्वं कोऽहं क संबन्धः ३८ |
| करिहस्तौ करौ पादौ | २१६ कस्य त्वमिति नास्तीति ४३ |
| करुणस्त्रिविधस्तेषां | ४२२ कांदिशीकतया दृष्टेः ४३३ |
| करुणे विप्रलम्भे च | ४१३ कांश्चिद्गीतस्य तालेन ३८१ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| कांस्यतालधरास्त्वाष्टौ | ३७३ | किंचिच्चेत्कुक्षितानि स्युः | १४५ |
| काङ्गूलेऽनामिका वक्रा | ४२ | किंचिच्छलेषः समं तच्च | १७१ |
| कान्तादृष्टिः कटाक्षाख्यं | ४०९ | किंचित्कुञ्चत्पुटा किंचित् | १४९ |
| कन्तातुकरणं हंस० | ४०७ | किंचित्कुञ्चत्पुटा गूढ० | १४५ |
| कान्तायाः सुकुमाराङ्ग० | २२ | किंचित्कुञ्चत्पुटापाङ्गा | १४७ |
| कान्तासंयोगविरहौ | ४०६ | किंचित्तिर्यगधो मूर्धः | ३६३ |
| कान्ता हास्या च कृष्णा | १३५ | किंचित्प्रसार्य चोत्क्षिप्य | २९० |
| कान्तौ तीव्रस्मराकान्तौ | ४०७ | किंचिदन्तः समाविष्ट० | १३६ |
| कामजोऽप्यस्ति स द्वेधा | ४६० | किंचिदाकुक्षिते नेत्रे | ४३८ |
| कामशास्त्रे च शृङ्गारे | ४१४ | किंचिदायामिवक्त्रं च | १७६ |
| कामशिक्षितभावं च | ३६६ | किंचिदुत्प्लुत्य चरणौ | २८६ |
| कामवस्थासु सर्वासु | ३२८ | किंचिल्लक्षितदन्तश्च | ४१७ |
| कायस्थितिर्मनोनेत्र० | ३६४ | किं तु मत्प्रेमतः सन्तः | ४७३ |
| कारं कारं करस्तद्वत् | २९७ | किं त्वेतत्करणद्वन्द्वं | १८५ |
| कार्यं दौर्गमिदं स्थानम् | ३२७ | कीर्तिः सुहृदुदासीन० | ४३१ |
| कार्यं व्याधौ विषादे च | ८८ | कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्य० | ५ |
| कार्यः पुष्पाञ्जलौ चैष० | ५४ | कुट्टनं खण्डनं छिन्नं | १६९ |
| कार्यः शिरोमुखोरस्थः | ५२ | कुचकक्षादिदेशस्थः | ४९ |
| कार्यः सुव्यक्तलक्ष्माणः | ८५ | कुचादौ कामसूत्रज्ञाः | ॥ |
| कार्यानिश्चयिनी चित्त० | ४५३ | कुञ्चन्मध्यं तिरश्चीनम् | १८० |
| कार्याविवेको जडता | ४५६ | कुञ्चन्मूलाः करेऽङ्गुल्यः | १७८ |
| कार्यावौत्सुक्यनिर्वेद० | १६३ | कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य | २९२ |
| कार्ये तालानुसंधाने | २०७ | कुञ्चितः प्रसरत्यङ्घ्रिः | २३६ |
| कार्यौ स्वस्तिकौ सिंह० | ५० | कुञ्चितः स्यादतिश्रान्त० | ९३ |
| काष्ठव्यवेषथुदाहाश्च | ४६४ | कुञ्चितश्चरणो यत्र | ३१२ |
| काव्यं गीतं तथा नृत्तं | ३४४ | कुञ्चिताङ्गुलिहृत्क्षिप्त० | ९३ |
| काव्यबद्धं विभावादि | ७ | कुञ्चिते चरणे चार्था | २०८ |
| किङ्किणीवाद्यवेदी च | ३९२ | कुञ्चिते स्वस्तिकीकृत्य | ३०२ |
| किंचिच्चेत्तलमध्यस्थः | ५० | कुञ्चितोत्क्षिप्तपादस्य | २९२ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|---|
| कुञ्चितौ कम्पितौ पूर्णौ | १५९ कृत्वान्ते चतुरश्रः स्यात् २१४ |
| कुञ्जराणां निरवधि० | ४६२ कृत्वा पादान्तरतल० २९४ |
| कुन्तनिस्त्रिशदण्डादि० | ३९ कृत्वा पार्श्वं गते स्वं स्वं २८८ |
| कुमुदोत्पलकुन्तेषु | ५५ कृत्वा पार्श्विणः स्वपार्श्वे क्षमा० २९२ |
| कुरुते पक्षिणः प्राहुः | ३५१ कृत्वा मृगप्लुतां चारीं २२९ |
| कुरुते यत्र सा चारी | २८७ कृत्वालातां पुरोऽङ्घ्रिं चेत् २३५ |
| कुर्यान्मुहुर्मुहुस्तत्तु | २०९ कृत्वा वक्षस्येककालं १९७ |
| कुर्युर्गम्भीरमातोद्य० | ३८९ कृत्वा समनखं छिन्नं २६१ |
| कुर्वन्तीति मया प्रोक्ताः | ४६५ कृत्वोत्तुल्य भ्रमरकं २९६ |
| कुर्वन्वा भ्रमरीं हस्तौ | २१४ केचिदाहुः केवलयोः ३७५ |
| कुलरूपबलैर्धर्य० | ४६१ केऽप्युचुस्तत्तु निःशङ्कः ५१ |
| कुसस्त्वत्रासने चेदं | ३३८ केवलं रतिहासादि० ३९८ |
| कुसुमावचये मुक्ता० | ४१ केवला सद्वितीया वा १५२ |
| कूर्परस्वस्तिकयुतौ | ७९ केशादिग्रहजे हर्षे २२ |
| कूर्मासनं नागबन्धं | ३१९ कैतवेऽक्षप्रेरणे च ४५ |
| कूर्मासनं यथालगे | २४३ कैशिके स्याद्भारतवत् ३४७ |
| कृतालगे निपत्योर्व्याम् | २४४ कैशिक्यां यन्मतं नर्म० ३४४ |
| कृतेऽङ्घ्र्योर्धूर्णतो यत्र | २८६ कोमलं सविलासं च ३६० |
| कृतो वक्षस्यरालोऽन्यः | २०७ क्रमात्कृत्वा यत्र वामम् ६२ |
| कृतो हस्तस्तथान्याङ्गं | २३२ क्रमात्कृत्वोद्दिष्टेन २२३ |
| कृतौ सिंहाभिनयने | ,, क्रमात्सूची भ्रमरकः ३५६ |
| कृत्रिमस्तूतानकृतः | ४३५ क्रमादङ्गद्वयेऽप्येवं २११ |
| कृत्वा चारीमतिक्रान्तां | २२३ क्रमादङ्गान्तरेणैवं ७२ |
| कृत्वा चारीमपक्रान्तां | २०१ क्रमादाकुञ्चिताङ्घ्रिभ्यां ३०४ |
| कृत्वा च्छिन्नां कटीमेकां | २०५ क्रमाद् दृष्टादिवैचित्र्यात् १०५ |
| कृत्वाथ वायसाम्येन | ३८२ क्रमानृत्येद्विशेषस्तु ३८२ |
| कृत्वानीतावधो यत्र | ५७ क्रमेण तत्र तज्ज्ञेयं ३५१ |
| कृत्वा नूपुरविक्षिप्ता० | २६१ क्रमेण दक्षिणः पादः ३५२ |
| कृत्वा नृत्तं ध्रुवेणैवं | ३८२ क्रमेण शकटास्यश्च ३५१ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| क्रमेणानन्तरं वामं | ३५२ | गगने सागरादौ च | ५४ |
| क्रियमाणे मर्दलादेः | ३८९ | गङ्गावतरणं गङ्गा | २३९ |
| क्रियाविशेषः क्रियते | १८३ | गजदन्तश्चावहित्थः | २६ |
| क्रियाविष्टः करोऽन्वर्थं | २२४ | गजरानन्तरं नास्ति | ३७५ |
| क्रीडाकरणभावेन | ४५१ | गजरोपशमस्यान्ते | १२४ |
| | | गजरोपशमेनैव | ३७८ |
| क्ष | | गजविक्रीडितं गण्ड० | १९३ |
| क्षणं भूत्वा प्रचलितौ | ६८ | गजानां तुरगाणां च | ४६३ |
| क्षामं खल्लं तथा पूर्णं | १२६ | गजारोहे तु विवृतं | १३४ |
| क्षामं स्यान्नमनाञ्जुम्भा | " | गण्डादि क्षेत्रसंस्थस्तु | ४६ |
| क्षामौ त्ववनतौ ह्येयौ | १५९ | गण्डौ विकसितौ फुल्लौ | १५९ |
| क्षितैकं हंसपक्षं च | १९९ | गतागतं च वलितं | ३१९ |
| क्षीरोदकं दुकूलादि | ३६९ | गतावान्दोलितोऽन्वर्थः | १०४ |
| क्षुद्रेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् | ३५ | गतिभङ्गः स्मृतेर्नाशः | ४४९ |
| क्षेत्रेऽत्र केचिदिच्छन्ति | २२५ | गतिस्थितिप्रयोगाणां | १९३ |
| ख | | गत्युन्मुखी च यत्रैकं | ३२८ |
| खटकाख्यश्च तद्विक्रः | २२७ | गद्वदं वचनं स्वेद० | ४३६ |
| खटकाख्यस्तदन्वर्थं | २०६ | गम्भीरभावः कुशलः | ३९४ |
| खटकामुखमन्यं वा | ६२ | गर्वगाम्भीर्यमौने स्यात् | ३२६ |
| खटकामुखयोः पाण्योः | ५५ | गर्वादगणनेनापि | ४५८ |
| खटकामुखहस्तौ चेत् | ७७ | गर्वेण स्वाङ्गवीक्षायां | १९ |
| खटकास्योऽपरो वक्ष० | २०८, २२७ | गात्रमुद्धतचारीकं | २३५ |
| खड्गादिभ्रामणे चास्य | १०१ | गात्रविक्षेपमात्रं तु | १२ |
| खण्डनं तु मुहुर्दन्त० | १७० | गात्रसंवाहनैरास्थ० | ४५० |
| खण्डसूचि ततो बाह्यं | ३१९ | गात्रस्पर्शोल्लुकुसने | ४७० |
| खेदे च संकुचरिक्चित् | ५३ | गात्रोत्कम्पी चमत्कारः | ४६४ |
| ग | | गात्रोद्धूतनमाह्लादात् | ४३७ |
| गगने चेतदा चारी | ३१० | गायनैर्मेलकोपेतैः | ३८० |
| | | गीतं चेति समाचष्ट | ३८५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| गीतादयश्च देशोऽपि | ४०७ | गौरता श्यामता वेति | ३६७ |
| गीतादितालमाने च | ५१ | ग्रन्थे मदीये यदि | ४७३ |
| गीतादिसाम्यनिपुणाः | ३७३ | ग्रहणे दीर्घनालानां | ४८ |
| गीतादेरागतः स्थायः | ३६३ | ग्रन्थिर्विलुलितः पृष्ठे | ३६९ |
| गीतवाद्यध्वनिं चाङ्गैः | ३६७ | ग्रीवा त्वमिमुखीभूय | ९७ |
| गीतवाद्यानुगमनं | ३६५ | ग्रीवाया विधुतभ्रान्तिः | २७५ |
| गीतैः सालगसूडस्थैः | ३७७ | | |
| गुणदोषा मण्डनं च | १६ | घ | |
| गुणदोषौ परीक्षेत | ३६८ | घट्टितः क्षितिघाती स्यात् | ९४ |
| गुणनिक्षेपणे मुक्ता० | ५० | घर्षरो विषमं भाव० | ३८५ |
| गुणस्य दोषीकरण० | ४४८ | घ्नमुदुर्घटितोत्सेधः | ९४ |
| गुम्भीश्चत्रो रसानां स्यात् | ४७२ | | |
| गुरावव्यक्तचेष्टः स्यात् | ४२८ | च | |
| गुरुव्यतिक्रमोऽवज्ञा | ४५२ | चकितद्विपुटा स्तब्ध० | १३७ |
| गुरौ प्रिये रिपौ मृत्ये | ४२८ | चक्रवापगदादेश्च | ४० |
| गुर्वी जिह्वा छीवनं च | ४४९ | चक्रभ्रमरिका खण्ड० | २४९ |
| गुल्फक्षेत्रेऽन्यपादस्य | २९० | चक्रवर्तनिकेत्येतौ | ७३ |
| गुल्फयोः स्वस्तिकं कृत्वा | २०९ | चतुःषष्टित्वमेतेषां | ३० |
| गुल्फावङ्कुष्ठसंलिष्टौ | १७८ | चतुःषष्टित्वमेवं वा | ११ |
| गुल्फौ च संहतं तत्स्यात् | ३३० | चतुरं भ्रमरं चाथ | २७३ |
| गूढावलोकिनी शीघ्रं | १४४ | चतुरश्रं पार्श्वविद्धं | ३१९ |
| गृध्रावलीनकं द्वे च | २७३ | चतुरश्रं भवेदङ्गं | १९५ |
| गृहादिभजनं राज्य० | ४२३ | चतुरश्रं समाश्रित्य | २९८ |
| गृहीत्वापस्ततौ कृत्वा | ३४६ | चतुरश्रः करः पाणिः | २०६ |
| गोपनप्रायवाक्यार्थ० | २३३ | चतुरश्रः स्थितः कृत्वा | २०३ |
| गौण्डलीविधिवचात्र | ३८९ | चतुरश्रकरः स्थित्वा | २०२ |
| गौण्डल्याश्च विधिः सम्यक् | १६ | चतुरश्राविति प्रोक्तः | ५९ |
| गौण्डल्या मण्डलं प्रोक्तं | ३७७ | चतुरश्रीकृत्य पाण्योः | ६० |
| गौण्डल्योजोन्विता सा स्यात् | ३८२ | चतुरश्रीमभजन्तौ | ७९ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|--------------------------------------|
| चतुरश्रेण मानेन | २५६ चरणौ यत्र तामाहुः ३०२ |
| चतुरश्रौ करौ कृत्वा | १९८ चरणौ यत्र सा चारी ३०० |
| चतुरश्रौ करौ वक्षः | १९९ चरेत्पादान्तरान्मन्दं २३० |
| चतुरश्रौ तथोद्धृतौ | २६ चलत्तारा मनावकुञ्चन् १४३ |
| चतुरा रुचिरे स्पर्शे | १५३ चलनं कम्पनं प्रोक्तम् १५६ |
| चतुरे च भ्रुवौ चारु० | ४०९ चलपादमनत्युच्चम् ३२१ |
| चतुरो वा तदाक्षिप्तं | २१८ चलितं श्लिष्टविश्लिष्टं १७५ |
| चतुर्दिक्कं तदाख्यातं | ३५२ चातुर्यवचने त्वेतौ ४५ |
| चतुर्दिक्षु द्रुनं भ्रान्तवा | ३५९ चारं चारं यथा चार्या २९७ |
| चतुर्धामिनयस्तत्र | ८ चारी च करणं खण्डः २७७ |
| चतुर्धामिनयाभिज्ञः | ३९ चारी चयविशेषः प्राङ् ३४७ |
| चतुर्धामिनयोपेतं | ७ चारी चाषगतिस्तत्स्यात् २२० |
| चतुर्धा मुखरागोऽत्र | १८१ चारी चेज्जनिता मुष्टिः २३४ |
| चतुर्भिः खण्डको ज्ञेयः | २५५ चारी चेदक्षिणाङ्घ्रेः स्यात् २१३ |
| चतुर्भिर्वा क्रमात्ताले | २७८ चारी चेदण्डपादा स्यात् २१३ |
| चतुर्विधेति विज्ञेया | ३४१ चारीणां न्यूनताधिक्यं ३४८ |
| चतुस्तालाद्यन्तरेण | २९० चारी नाम्नात्र चरणं ॥ |
| चतुस्तालान्तरौ पादौ | ३२३ चारी नूपुरपादोऽथ २२८ |
| चत्वारि क्षमादिभूतानि | ४६८ चारी लङ्घितजङ्घाख्या २८१ |
| चत्वारो मधुरध्वानाः | ३७३ चारी सा जनिता यस्यां २८८ |
| चन्दनैर्धूसरं गात्रं | ३६९ चारी स्यात्करणे ङीषि २७६ |
| चन्द्रलेखाकृतिर्भाति | ३६ चारुचामरधारिण्यः ३६९ |
| चरणं पातयेद्यस्यां | २९३ चार्यः शुद्धश्च देशीस्थाः १६ |
| चरणः स्वस्तिकाकार० | ३०५ चार्यः स्थानेन ताम्योऽतः ३१८ |
| चरणानुचराण्याहुः | २९७ चार्यलाता नितम्बश्च २०६ |
| चरणान्तरपार्श्वं स्यात् | २८३ चार्यातिक्रान्तया चाप० ४६२ |
| चरणैश्चापगतिभिः | ३५४ चार्यातिक्रान्तया पादं २१५ |
| चरणोऽग्रे सरयेकः | ३०६ चार्याध्यधिक्या पादे १९५ |
| चरणौ दण्डपादा सा । | ३०९ चार्याविद्धाश्रितपदे २०३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| चार्यौ बद्धास्थितावर्ते | २२० | जडताव्याधिरुन्माद० | ४२० |
| चार्वधिष्ठानववृत्तं | ३६८ | जनितः शकटास्यश्च | ३५४ |
| चालिः सा शैष्यसांमुख्य० | ३६१ | जनितः सप्त पूर्वोक्त० | ३५१ |
| चालिश्चालिवडश्चाथ | ३६० | जनितात्मपरा मित्र० | ३९८ |
| चित्तवृत्त्यर्पिका काचित् | ९ | जपाध्ययनसंलाप० | १७० |
| चित्तस्यान्यपरत्वेन | १६४ | जयशब्दे प्रयोक्तव्यौ | ६० |
| चिन्ताधृतिः स्मृतिव्रीडा | ४०३ | जलकेलीत्येवमाद्याः | ४०७ |
| चिन्तावितर्कयोस्तोषे | ३२७ | जहार नारदादीनां | ५ |
| चिन्तासूयाश्रमौत्सुक्य० | ४१० | जातौ मिथः संमुखस्थ० | ६० |
| चिन्तौत्सुक्यान्मनस्तापात् | ४४८ | जानुनी भुषणानीति | १६ |
| चिबुकग्रहणे चैव | ४२ | जानुभ्यां भूमिसंस्थाभ्यां | ३३८ |
| चिरविस्मृतवस्तूनां | ४५२ | जानु लप्रोरुजङ्घं तु | १३३ |
| चिरान्मनन्दं निपीतस्तु | १६४ | जानुसंधिसमत्वेन | ३३४ |
| चौर्यराजापराधादि | ४४७ | जान्वन्तां वोरुपर्यन्तां | २९३ |
| चौर्यराजापराधादेः | ४४६ | जिघांसाद्याश्च यत्र स्युः | ४२३ |
| | | जिह्वाया लेहनं स्वेदः | ४५६ |
| छ | | जिह्वेति षड्विधा तत्र | १७२ |
| छिन्नं स्याद्वाढसंश्लेषः | १७० | जिह्वोष्ठदन्तक्रियया | १७३ |
| छिन्नमूर्द्धुत्तसंज्ञं | २६४ | जीर्णे नष्टे चाविषादः | ४५१ |
| छिन्ना तिर्यङ्मुखे पार्श्वे | ९१ | जीवितं मन्मथस्योक्तं | ३६६ |
| | | जुगुप्सां स्थायिभावं तु | ४०१ |
| ज | | जुगुप्साशोकसंतप्ते | ८६ |
| जगदुस्तद्विदो रौद्रं | ४०४ | जुगुप्सिता विस्मितेति | १३५ |
| जङ्घयोः कम्पनं प्राहुः | ३८७ | ज्वालासूर्ध्वगतास्वस्थ० | ३२ |
| जङ्घां तदा नागबन्धं | ३३५ | | |
| जङ्घामध्यमवष्टभ्य | २५१ | ज्ञ | |
| जङ्घालङ्घनिकालाता | २८१ | ज्ञानविज्ञानगर्वे सा | १४८ |
| जठरक्षेत्रगः पृष्ठे | ५३ | ज्ञानेऽभ्युपगमे रोषे | २० |
| जडता मरणं चेति | ४१५ | ज्ञेयमाद्य द्वयाभ्यासात् | २७४ |

| ह | पुटसंख्या | ततश्च भरतः सार्धं | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| हमयाकुञ्चितस्याहध्रेः | ३०९ | ततश्चोपशमारम्भे | ३७४ |
| होलः पुष्पपुटोत्सङ्गः | २६ | ततस्तद्वद् द्वितीयाङ्गं | २१२ |
| होलो भवेदसौ व्याधौ | ५४ | ततो जवनिकान्तधौ | ३७४ |
| होलापादाख्यचारीकाद् | २२९ | ततोद्धृतपुटाल्यन्तः | १३८ |
| होलापादाङ्घ्रिगमनाः | २३१ | ततोऽपकान्तचारीकः | २०८ |
| होलापादा दण्डपादा | २८० | ततो विलम्बितप्राये | ३८९ |
| होलापादा यदा चारी | २२४ | तत्कटी सममादिष्टं | २०५ |
| होलापादां भजंश्चारी | २३५ | तत्कार्यं कोपलज्जादि | २३ |
| होलौ हस्तौ तदा प्रोक्तं | २२१ | तत्कुचक्षेत्रसंविष्टः | १९३ |
| होलौ हस्तौ संनतं तद् | २२९ | तत्कोपासूययोर्योग्यम् | २०२ |
| त | | तत्तत्प्रयोगानुगयोः | २३१ |
| तं चानुभावयेदश्रु | ४७१ | तत्तद्योग्योऽप्यलंकारः | ४०७ |
| तं ततोऽद्वितजङ्गं च | २९३ | तत्तद्वेशजुषो भूषा | १३४ |
| त एव प्रविचाराः स्युः | ३४५ | तत्तिरस्कृतसंस्काराः | ४२७ |
| तन्नापलमनालोच्य | ४५४ | तत्स्वबोधश्च यत्र स्यात् | ४४४ |
| तज्जराभिमुखं शोभाः | ३६६ | तत्पद्धतिरथाचार्यः | १६ |
| तण्डुना खगणाग्रण्या | ३ | तत्पात्रं गौण्डली केचित् | ३७७ |
| तण्डूकमुद्धतप्रायः | १२ | तत्पार्श्वे दक्षिणं न्यस्येत् | २१४ |
| ततः कूटनिबद्धेन | ३९० | तत्प्रकाशनसंचारः | २१९ |
| ततः परं च परितः | ३९६ | तत्प्रतीकारशून्यस्य | ४५३ |
| ततः प्रहर्षसंपन्नं | ३७५ | तत्प्रधाना सात्वती स्यात् | ३४२ |
| ततः शुद्धप्रबन्धश्च | ३७५ | तत्र घर्षरिकावाधे | ३८५ |
| ततः सप्त स्थितावर्तः | ३५७ | तत्रत्यां पद्धतिं प्राहुः | ३७८ |
| ततः सालगसूडेन | ३९० | तत्र त्वग्रग उत्तानः | १८२ |
| ततः स्यादेकताल्यैव | ३८३ | तत्र शाखेति विख्याता | १५ |
| ततः स्यादर्पसरणं | २४१ | तत्र सत्त्वे भवे भावाः | ४६८ |
| ततः स्वयं सुरज्येष्ठः | ३७५ | तत्रानीय निधीयेते | १९८ |
| | | तत्रैकपादनिष्पाद्या | २७८ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

४९७

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|---------------------------------|
| तत्रैव सैन्यमान्यानां | ३९५ तदेव जलशय्याख्य० २४५ |
| तत्संनिधौ तु विद्वांसः | ३९५ तदेव वलनं केचित् ३११ |
| तत्संपत्त्युचिता चारी | २७७ तदेवार्धनिकुट्टं स्यात् २०४ |
| तत्सामान्यविशेषाभ्यां | ३९७ तदेव स्तब्धबाहुः सन् २१८ |
| तत्स्यात्कुट्टमितं मानः | २२ तदैवारातां प्राप्य ७६ |
| तत्स्वास्तिकं प्रयोक्तव्यं | २०१ तद्वीतपरिवर्तेशु २०० |
| तथान्यं पादमुद्धृत्य | २९६ तद्विक्रं करमाधाय २०७ |
| तथापसरणं पश्चात् | ३८७ तद्विभवोऽल्पपद्मो वा २०८ |
| तथा युद्धनियुद्धस्थ० | २०७ तद्वृत्तत्वेन कर्तव्यं २६६ |
| तथा संधाय शस्त्राणि | ३२४ तद्वेदानधुना धीमान् ३४७ |
| तथैव वामपाण्यद्वि | २०४ तद्योज्यं भीमसेनादेः २२२ |
| तदप्रयुक्तताकोऽङ्गं | २१८ तद्योग्यां लौकिकीं शोभां १० |
| तदग्रयोरन्तरालं | ३२१ तद्वदङ्गान्तरं कृत्वा २३७ |
| तदचोद्यं यतः किञ्चिद् | ४०१ तद्विभावाः प्रियानिष्ट० ४५६ |
| तदनन्तरजातां तु | ४१० तद्विभाव्यं भयव्रीडा ४५८ |
| तदन्तर्लण्डेऽन्यत्रापि | १२५ तदुमध्योन्नतिस्थूल० ३६७ |
| तदर्थं मध्यमो न्यूनः | ३७३ तद्वत्तं स्थानकं खेद० ३४० |
| तदर्थरेचितं योज्यं | २०९ तन्न नीचरतिर्यस्मात् ४१४ |
| तदसद्रतिभेदौ हि | ४४२ तन्निद्रामदमूर्च्छासु २४ |
| तदा करक्रिया तत्तत् | १९६ तन्निद्रया त्वपसृतं ८९ |
| तदा खेचरसंचार० | २३० तन्नृत्तं मार्गशब्देन ११ |
| तदाद्यभरतेनोक्तं | १५ तन्न्यते शार्ङ्गदेवेन २ |
| तदा मृगप्लुता ज्ञेया | २९२ तथा द्वारवती गोप्यः ३ |
| तदा ललाटतिलकम् | २१४ तयोरेकं ततो न्यस्येत् २११ |
| तदा वलितमाख्यातं | ३२८ तरुणोऽल्पोऽधमस्तत्र ४४९ |
| तदावेष्टितमाख्यातं | १८४ तर्काख्यौ प्रत्ययावृह० ४५८ |
| तदा स्तम्भादयो देहे | ४६६ तर्जनीमूलसंलग्नः ३२ |
| तदीयैरनुभावैस्तु | ४१० तर्जने प्रतिषेधे च ३२६ |
| तदुक्तं कृतिभिः कान्तं | ३५९ तर्जन्यादिष्वङ्गुलीषु ३७ |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----|--------------------------------|
| तर्जन्याद्यङ्गुलीनां यद् | १८४ | तादृगेव किरिटस्थ ३५ |
| तलपुष्पपुटं तस्यात् | १९६ | तानि द्वेधा स्त्रनिष्ठानि १५५ |
| तलपुष्पपुटं पूर्वं | २५८ | ताभिस्तु शिक्षिता नार्यः ३ |
| तलपुष्पपुटं लीनं | १९२ | ताम्बूलग्रहणादौ स्यात् ५५ |
| तलमध्यस्थितैलमैः | ३९ | ताम्बूलवीटिकावृन्तः ४१ |
| तलमन्तर्भ्रमस्याङ्ग्रेः | ३१० | ताघ्नचूडस्तदा हस्तः ५१ |
| तलसंघट्टितोद्भूतः | १९३ | तारकायाः कलाभिज्ञाः १३६ |
| तलसंघट्टितमथो | २६९ | तारके कम्पिते यस्याः १४१ |
| तलसंमुखमावक्षः | १८४ | तारयोर्मण्डलभ्रान्तिः १५५ |
| तलसंस्फोटितं पार्श्वः | १९३ | ताराहारावली स्थूलः ३६९ |
| तलाद्यैस्ताडनं छेदः | ४२४ | तालत्रयान्तरोरिक्षप्तं २९५ |
| तलान्तरौ तदा स्याताम् | ६२ | तालमात्रं पुरः कृत्वा २८५ |
| तलेन भूमिलमेन | ३८७ | तालानुवृत्तिरित्येते ३७४ |
| तल्लतावृत्तिकं योऽयं | २१७ | तावेव तालवृन्ताख्यौ ६० |
| तस्मिन्नृत्यति हास्यैकः | ३८९ | तिरिपभ्रमरी तिर्यक् २४९ |
| तस्मिन् पार्श्वे करोऽप्येष | २३० | तिर्यक्कुक्षितजानुः स्यात् ३३२ |
| तस्य शाखाङ्कुरो नृतं | १५ | तिर्यक् च ते लोहडी स्यात् २४४ |
| तस्यानुभावा निवृतं | ४५७ | तिर्यक्प्रसारितैकाङ्घ्रि ३०४ |
| तस्याभिनयनं कार्यं | ४६१ | तिर्यक्प्रसारितो यत्र ३३३ |
| तस्यां सिंहासनं रम्यं | ३९५ | तिर्यक् प्रसारितौ स्याताम् ॥ |
| तस्याश्च नर्तनं प्राहुः | ३७७ | तिर्यक्स्वस्तिकसंज्ञं च २४१ |
| तस्योत्पाताद्धोरनादः | ४६४ | तिर्यगेकेन पादेन २४७ |
| तां कुञ्जवामनादीनां | ९१ | तिर्यङ्नतोन्नतं स्कन्धः १९ |
| तां कृत्वा विषमेर्भागैः | २६९ | तिर्यङ्नतोन्नतिं प्राप्तं २४ |
| तां तिर्यक् कुक्षितां चारी | ३०३ | तिर्यङ्मुखा मराला च २८० |
| ताडनं तोलनं छेदः | १८९ | तिष्ठेत्प्रतिदिशं प्रोक्तं २५१ |
| ताडितश्चरणः स स्यात् | ९४ | तिष्ठेद्भुजङ्घ्रिणान्येन २४७ |
| ताडितो घटितोत्सेधः | ९२ | तीक्ष्णाग्रीकृत्य तामाह ३१२ |
| ताण्डवं लास्यमित्येतत् | १३ | तीव्रो मदोऽधमोऽत्र स्यात् १४९ |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----|--------------------------------|
| तर्जन्याद्यङ्गुलीनां यद् | १८४ | तादगेव किरीटस्य ३५ |
| तलपुष्पपुटं तस्यात् | १९६ | तानि द्वेधा स्वनिष्ठानि १५५ |
| तलपुष्पपुटं पूर्वं | २५८ | ताभिस्तु शिक्षिता नार्यः ३ |
| तलपुष्पपुटं लीनं | १९२ | ताम्बूलग्रहणादौ स्यात् ५५ |
| तलमध्यस्थितैर्लग्नैः | ३९ | ताम्बूलवीटिकावृन्तः ४१ |
| तलमन्तर्भ्रमस्याङ्ग्रेः | ३१० | ताम्रचूडस्तदा हस्तः ५१ |
| तलसंघटितोद्भूतः | १९३ | तारकायाः कलाभिज्ञाः १३६ |
| तलसंघटितमथो | २६९ | तारके कम्पिते यस्याः १४१ |
| तलसंमुखमावक्षः | १८४ | तारयोर्मण्डलभ्रान्तिः १५५ |
| तलसंस्फोटितं पार्श्वः | १९३ | ताराहारावली स्थूलः ३६९ |
| तलाद्यैस्ताडनं छेदः | ४२४ | तालत्रयान्तरोरिक्षसं २९५ |
| तलान्तरौ तदा स्याताम् | ६२ | तालमात्रं पुरः कृत्वा २८५ |
| तलेन भूमिलमेन | ३८७ | तालानुवृत्तिरित्येते ३७४ |
| तल्लताश्विक्चं योऽयं | २१७ | तावेव तालवृन्ताख्यौ ६० |
| तस्मिन्नृत्यति ह्यास्यैकः | ३८९ | तिरिपन्नमरी तिर्यक् २४९ |
| तस्मिन् पार्श्वे करोऽप्येष | २३० | तिर्यक्कुञ्चितजानुः स्यात् ३३२ |
| तस्य शाखाङ्गुरो नृतं | १५ | तिर्यक् च ते लोहडी स्यात् २४४ |
| तस्यानुभावा निश्चितं | ४५७ | तिर्यक्प्रसारितैकाङ्घ्रि ३०४ |
| तस्याभिनयनं कार्यं | ४६१ | तिर्यक्प्रसारितो यत्र ३३३ |
| तस्यां सिंहासनं रम्यं | ३९५ | तिर्यक् प्रसारितौ स्याताम् ॥ |
| तस्याश्च नर्तनं प्राहुः | ३७७ | तिर्यक्स्वस्तिकसंज्ञं च २४१ |
| तस्योत्पाताद्धोरनादः | ४६४ | तिर्यगेकेन पादेन २४७ |
| तां कुब्जवामनादीनां | ९१ | तिर्यङ्नतोन्नतं स्कन्धः १९ |
| तां कृत्वा विषमैर्भागैः | २६९ | तिर्यङ्नतोन्नतिं प्राप्तं २४ |
| तां तिर्यक् कुञ्चितां चारीं | ३०३ | तिर्यङ्मुखा मराला च २८० |
| ताडनं तोलनं छेदः | १८९ | तिष्ठेत्प्रतिदिशं प्रोक्तं २५१ |
| ताडितश्चरणः स स्यात् | ९४ | तिष्ठेद्भुजङ्घ्रिणान्येन २४७ |
| ताडितो घटितोत्सेधः | ९२ | तीक्ष्णाग्रीकृत्य तामाह ३१२ |
| ताण्डवं लास्यमित्येतत् | १३ | तीव्रो मदोऽधमोऽत्र स्यात् १४९ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|------------------------------|--------------------------------------|
| तुच्छायुक्तानृतत्वोक्ति० | ४३ त्रुटितात्रुटिताभिज्ञा ३९३ |
| तूर्यत्रयविशेषज्ञः | ३९४ त्रेधा रुदितमानन्द० ४२२ |
| तृणस्य चाङ्गुलैर्दन्त० | १७१ त्र्यवस्थः कथितस्तस्य ४१६ |
| तेजः शोभाविलासाख्यान् | १३८ त्र्यश्रः स एव किञ्चिच्चेत् ३२१ |
| तेन देवानभिनयेत् | २२१ त्र्यश्रपक्षस्थयोः स्थानं ३२३ |
| ते भावानाभिमुख्येन | ४०८ त्र्यश्रा नतोन्नता चेति ९६ |
| ते रेखामनतिक्रम्य | ११० त्र्यश्रा पार्श्वगता खेदे ९८ |
| ते शान्तविषया यस्मात् | ४४१ त्र्यश्रौ द्वावपि तद्विधात् ३२४ |
| ते शुद्धहृदयाः शान्तं | ४०१ त्वरितप्रश्नवाक्ये च २० |
| तेषां लक्षणसिद्धयर्थं | ३४५ त्वरितागमनं चानु० ४६२ |
| तेषामीषद्विकारेऽपि | ३२ |
| तौ पताकाकृती पार्श्व० | ७४ द |
| तौ पार्श्वभिर्मुखाग्रौ तु | ७१ दक्षिणः करिहस्तः स्यात् २०० |
| तौर्यत्रये लक्ष्यलक्ष्म० | ३९१ दक्षिणः शकटास्यः स्यात् ३५२ |
| त्रयास्त्रिंशद्विचित्रत्व० | ४६५ दक्षिणः शकटास्यत्वं ३४९ |
| त्रयोविंशतिरुक्तानि | ३२० दक्षिणः सूच्यपक्रान्तः ३५५ |
| त्रस्ता च मदिरेत्येता | १३६ दक्षिणश्चतुरोऽङ्घ्रिस्तु २१४ |
| त्रासो निद्रा त्रयस्त्रिंशत् | ४०३ दक्षिणश्चरणः सूची ३५६ |
| त्रिकं च वलितं कृत्वा | २१२ दक्षिणश्चरणश्चाग्रे ३२४ |
| त्रिकं बद्धाभिधां चारीं | २२२ दक्षिणश्चरणो जानु० ३३५ |
| त्रिपताकः करः कर्णे | २३० दक्षिणस्त्वपस्यल्य स्वे २८५ |
| त्रिपताकस्य हस्तस्य | ३७ दक्षिणाङ्गेन जनितं २७१ |
| त्रिपताकाकृतिं केचित् | ६८ दक्षिणाङ्गेनैव कृत्वा २६४ |
| त्रिपताकाविमौ कैश्चित् | ७३ दक्षिणाङ्घ्रावपक्रान्तां ३५९ |
| त्रिपताकोऽथवा यत्र | ६९ दक्षिणाङ्घ्रेः पार्श्वदेशे २८५ |
| त्रिपताकौ वटीशीर्षे | ७१ दक्षिणेऽङ्घ्रौ समं पादौ ॥ |
| त्रिपताकौ करौ किञ्चित् | ६८ दक्षिणेनाङ्घ्रिणा स्थित्वा २४८ |
| त्रिवलीधारणं स्कन्धे | ३७७ दक्षिणो जनितोऽङ्घ्रिः स्यात् ३५७ |
| त्रिविक्रमाकारधारी | २४९ दक्षिणो जनितो भूत्वा ३५५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| दक्षिणो जनितो वामः | ३४९, ३५० | दष्टं निष्कर्षणं चेति | १६९ |
| दक्षिणो दण्डपादः स्यात् | ३५७ | दष्टोष्ठो हस्तनिष्पेषी | ४२८ |
| दक्षिणो दण्डपादोऽथ | ३५५ | दानवीरो घर्मवीरः | ४३२ |
| दक्षिणो भ्रमरो वामः | ३४९ | दारिद्र्यमिष्टविरहः | ४४४ |
| दक्षिणो विच्यवो भूत्वा | ३५८ | दिक्चतुष्के क्रमातिष्ठेत् | २५० |
| दण्डपक्षं च करणं | २६८ | दिक्स्वस्तिकं कटीच्छिन्नं | २६८ |
| दण्डपादं व्यसितं च | २५९ | दिक्स्वस्तिकं ततश्चाङ्गे० | २६० |
| दण्डपादाख्यया चार्या | २२५ | दिगन्तरमुखे कृत्वा | २७२ |
| दण्डपादोऽथ सूची स्यात् | ३५७ | दिशानया परेऽप्यूहाः | ३८८ |
| दण्डप्रणामाश्रितं च | २४० | दीप्ता संकुचितापाङ्गा | १३७ |
| दण्डप्रणामाश्रितं तद् | २४३ | दीर्घोच्छ्वासे च जृम्भायाम् | ८९ |
| दण्डरेचितकं चक्र० | २६९ | दुःखस्मृतियुतानन्दात् | ४२२ |
| दण्डरेचितकादूर्ध्व | २७० | दुःखान्विते सरोगे च | १६३ |
| दण्डवन्न्यस्यते यत्र | २२८ | दुःखार्तिशोकनिर्वेद० | ५ |
| दण्डिकालम्बिनी कन्या | ३६५ | दुर्लभाभीष्टसंप्राप्तिः | ४३६ |
| दधत्यपाङ्गौ विच्छायौ | १४३ | दूरसंनतपृष्ठं च | २१६ |
| दधाते सर्पशिरसौ | ५६ | दूरस्थोच्चा मनावक्त्रा | ३७ |
| दधानोऽधोगतोऽथाग्र० | ३७ | दृश्यं दृष्ट्वा समुद्रिमा | १४१ |
| दध्यादिमङ्गलद्रव्य० | ३४ | दृश्यात्पलायमाने च | १३८ |
| दध्यादिव्यञ्जनैश्चैव | ४०० | दृश्यादपसृते तारे | १४३ |
| दन्तकर्माणि वक्ष्यामः | १६९ | दृश्योद्वेगादपाङ्गौ च | १३९ |
| दन्तपङ्क्तिः प्रभाजाल० | ३६९ | दृष्टयस्ता विरिद्धोऽपि | १५० |
| दन्तपङ्क्तयोः स्थितिदूरे | १७० | दृष्टयोऽष्टाशु रत्यादि | १४२ |
| दन्तोष्ठं लिहती जिह्वा | १७३ | दृष्टिः किञ्चिद्भ्रमत्तारा | १४९ |
| दन्तोष्ठपीठं हस्त० | ४२४ | दृष्टिः स्यान्मलिना स्त्रीणां | १४३ |
| दर्शनं श्रवणं शून्य० | ४३२ | दृष्टिभ्रूत्पुटताराश्च | १६ |
| दर्शने तुङ्गवस्तूनां | २३ | दृष्टिर्विकासितापाङ्गा | १४९ |
| दशभिः करणैरेभिः | २५८ | दृष्ट्वा तु पुरुषं विद्या० | ४३६ |
| दशां वा भाविनिघनां | ४१० | देवजोपद्रवाद्देह० | ४५२ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| देवतागुरुविप्राणां | ५२ | द्वैधीभाव इति प्रोक्ता | ४३० |
| देवभर्तृगुरुस्वामि० | ४५४ | द्वौ मुख्यगायनौ सार्ध० | ३७३ |
| देवेभ्यस्तोयदानेऽसौ | ४४ | | |
| देवैर्नागैस्तथा यक्षैः | ४५५ | ध | |
| देशजातिकुलाचार० | ४२३ | धनुर्वज्रादिशस्त्राणां | ३२३ |
| देशीप्रसिद्धाः सन्त्यन्याः | २८० | धनुर्वदङ्गहारः स्यात् | ३६३ |
| देशभ्रंशादयश्चैते | ४१९ | धरण्यां चरणग्रेण | ३०५ |
| देहं भ्रामयते तिर्यक् | २४९ | धरण्यां पार्ष्णिभागेन | २९५ |
| देहः स्वाभाविकोऽङ्गुष्ठौ | ३३० | धर्माद्यर्थविशेषेषु | ४२८ |
| देहः स्वाभाविको यत्र | २०२ | धर्मिष्ठः पापभीरुश्च | ३९४ |
| देहदक्षिणभागस्थं | ५५ | धर्मोपघातजो वित्त० | ४२२ |
| देहस्य वामपार्श्वस्थौ | ५३ | धसकः स्यात्सुललितं | ३६२ |
| देहोपस्करणत्यागात् | ४४८ | धसकश्चाङ्गहारः स्यात् | ३६० |
| देन्यं निद्रा तथा स्वप्न० | ४१० | धातुवैषम्यमित्याद्यैः | ४५६ |
| दोषवैषम्यजैर्गण्ड० | ४६३ | धान्यपुष्पफलादीनां | ५४ |
| दौर्बल्योत्सुकधनिःश्वासः | ५७ | धारास्वधोगताः पक्षि० | ३२ |
| धूताक्षपातनादौ स्यात् | ४१ | धावने प्राङ्मुखाङ्गुष्ठः | ३९ |
| द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये ते | ६ | धृतं विधुतमाधूतम् | १७ |
| द्वृतं गतागते पार्श्वे | ९० | धूननं श्लेषविश्लेषौ | १८९ |
| द्वृतगत्या तदेव स्यात् | १९ | धैर्यादुत्तममध्यानां | ४२३ |
| द्वृतापसारितं वामं | २१४ | ध्यानं च मुहुरभ्यासः | ४५१ |
| द्वयोश्चरणयोर्व्योम्नि | ३८७ | | |
| द्वात्रिंशते तथाप्युक्ताः | २५६ | न | |
| द्वात्रिंशन्मर्दलधराः | ३७३ | न किञ्चिद् दृश्यते लोके | ५ |
| द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा | २५५ | नखक्षते मृगाक्षीणां | १६६ |
| द्वावावजधरावडौ | ३७२ | नगराणामगाराणां | ६ |
| द्वितीयं तु लताहस्तं | २१२ | न चात्र करिहस्तत्वं | ७० |
| द्विस्त्रिः कार्योऽन्वपार्श्वात् | ३८ | न चात्र मरणं साक्षात् | ४१० |
| द्विस्त्रिर्वा विप्रकीर्णाग्रः | ४२ | न चात्रैकः करिहस्त० | ७० |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| नटेन कान्तदृष्टयाद्यैः | ४०५ | नलिनीपद्मकोशौ तौ | ७७ |
| नताङ्ग्रेऽभ्युत्थाभीक्ष्णं | ३०९ | नलिनीपद्मकोशौ स्तः | ,, |
| नतावनम्रालंकारः | ९८ | नवभिः करणैर्युक्तं | २५९ |
| न ते श्रीशार्ङ्गिणा प्रोक्ताः | २५२ | नव भ्रमरकाख्येण | २७२ |
| न तत्साक्षात्प्रयोक्तव्यं | ४२४ | न विद्यादर्पतोग्रन्थ० | ४७३ |
| नतोन्नतौ पद्मकोशौ | ६७ | नागबन्धं कपालाद्यं | २४१ |
| ननु चाव्यभिचारेण | ४२६ | नागबन्धं तदेव स्यात् | २४६ |
| ननु दुःखात्मकः कस्मात् | ४११ | नागापसर्पितमथो | १९३ |
| ननु नीचे तु माल्यादि | ४१३ | नाटकस्थितवाक्यार्थ० | १४ |
| ननु स्थाय्यपि भावत्वात् | ४२७ | नाटयं तन्नाटकेष्वेव | ,, |
| नन्यावर्तस्थपादाभ्यां | ३०१ | नाटयं नृत्तयं तथा नृत्तं | ३ |
| नन्यावर्तस्थयोरङ्घ्र्योः | ३०० | नाट्यधर्म्या अपि प्राज्ञा | १० |
| नन्यावर्तस्थितौ पादौ | ,, | नाट्यनिर्वाहको मध्ये | ४४० |
| नन्वन्यद्वस्तवत्कस्मात् | ६९ | नाट्यवेदं ददौ पूर्वं | ३ |
| नन्यावर्तस्य चेदङ्घ्र्योः | ३३१ | नाट्यशब्दो रसे मुख्यः | ७ |
| नभस्यूरू चरणयोः | ३२३ | नाट्यादि त्रितयस्यातः | ७ |
| नभोभवानां प्राधान्यं | ३४८ | नातिदीर्घास्त्रातिनीचात् | ३८१ |
| नमज्जानुर्वता जङ्घा | १२९ | नातिद्वृतं नातिमन्दं | ३६० |
| नमनोन्नमनं तज्ज्ञैः | २७१ | नात्रोपयोगिनौ सूची | १५ |
| नमनोन्नमनोपेता | २७५ | नानापराधो विद्वेषः | ४४८ |
| नमस्कारे त्वसौ कार्यः | ३४ | नानावितानसंपन्ना | ३९५ |
| नयश्च विनयः कीर्तिः | ४२८ | नानाविधं पुनर्नृत्येत् | ३७९ |
| नये वदनदेशस्थः | ४५ | नानाविधप्रौढचारी० | ३८२ |
| नरो नार्योऽथवा कुर्युः | ३२६ | नानाशास्त्रार्थविषयैः | ४५८ |
| नर्तकः सूरिभिः प्रोक्तः | ३९२ | नाभ्यर्थये वः सुधियः | ४७३ |
| नर्तनं नाट्यमित्युक्तं | ७ | नायके त्वनुभावाः स्युः | ४३२ |
| नर्तनं प्रतिमण्ठादौ | ३८३ | नासाग्रमेवानुगता | १३७ |
| नर्तित्वा क्रियते त्यागः | ,, | नासाग्रानुगते नेत्रे | ४३९ |
| नर्मस्फोटो नर्मगर्भः | ३४४ | नास्तीत्यर्थेऽपि संयुज्य | ८१ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|--------------------------------|-----------|
| नाहं न त्वं न मे कृत्यं | ४१ | नितम्बकेशबन्धादि | २०९ |
| निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते | ३४३ | नितम्बनमनाज्जानु | १३३ |
| निःश्वासः स्यात्प्रवृद्धाख्यः | १६३ | नितम्बनिकटं याति | ३०९ |
| निःश्वासोच्छ्वसिते दीन० | ४४५ | नितम्बवत्केशदेशात् | ६७ |
| निःश्वासोच्छ्वसिते स्रस्त० | ४६५ | नितम्बविष्णुकान्ताख्य० | २६८ |
| निःसंज्ञतेत्यादिभिश्च | ४५६ | नितम्बाख्यौ विधीयेते | २३१ |
| निःसंज्ञस्तब्धगात्रत्वे | ४६९ | नितम्बाभिमुखी पार्श्विः | २९५ |
| निःसारणैकताया वा | ३७८ | नितम्बोरिमण्डलयोः | २६८ |
| निःसृता च परावृत्ता | १२९ | नितम्बौ पल्लवौ केश० | २७ |
| निकुक्षकमयुक्तेषु | ३२ | निद्रया तन्द्रया गात्र० | ४५७ |
| निकुक्षाकुक्षिताभ्यासात् | १३२ | निद्रागदप्रहावेश० | २३ |
| निकुक्षितं घूर्णितं स्यात् | १९२ | निद्राच्छेदोऽध्वगमनं | ४४५ |
| निकुक्षितांसशीर्षश्च | ४१८ | निद्रा निःश्वसितं सूक्त० | ४५५ |
| निकुक्षितार्धसूच्याख्य० | २७१ | निद्रायामनुभावाः स्युः | ४६५ |
| निकुट्टकं पार्श्वपूर्वं | २७० | निद्राविभावजं सुप्तं | ४५७ |
| निकुट्टकमुरः पूर्वं | २६८ | निद्रेन्द्रियाणां प्रथमा | ४६५ |
| निकुट्टकाख्यं करणं | २६५, २६७ | निपातयेत्तदां चारी | २९३ |
| निकुट्टकाभिधादूर्ध्वं | २७४ | निपीड्य मध्यमां तिष्ठ० | ३९ |
| निकुट्टकोरुद्धताख्य० | २५८, २६० | निमीलनं लोचनयोः | ४६५ |
| निकुट्टनाम्निमथोऽङ्घ्रिभ्यां | ३०६ | निमेषिणी स्तब्धतारा | १४७ |
| निकुट्टयेतां धरणीम् | २८५ | निमेषिणी स्मिताकारा | १४० |
| निकुट्टयेद्भुवं तेन | ३०७ | निम्नं खल्लं क्षुधार्ते स्यात् | १२६ |
| निकुट्टार्धनिकुट्टे च | १९२, २५९ | निम्नं शिथिलमामुमं | ८८ |
| निकुट्टिका लताक्षेप० | २८१ | नियुद्धे चाङ्गहारेषु | २८९ |
| निवृष्टश्चरणो यत्र | २८७ | निरन्तरावूर्ध्वकृतौ | ३५२ |
| नितम्बं करणं कृत्वा | २७२ | निरन्तरौ समनखौ | २८२ |
| निताबं करिहस्तं च | २५८ | निरूपणे च तत्त्वस्य | ५० |
| नितम्बं करिहस्तं स्यात् | २६७ | निर्जने निगृहीते च | ३३६ |
| नितम्बं सूचिसंज्ञं च | २६३ | निर्भुमं निम्नपृष्ठत्वात् | ८८ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| निर्मलप्राणदेहत्वं | ४६८ | नीचेध्विति विभावाः स्युः | ४४४ |
| निर्वर्णना क्रियाकात्स्न्यं० | १५७ | नीचैः स्वभावबोधार्थ | ४३४ |
| निर्वेदग्लानिशङ्कौघ्य० | ४०३ | नीतो रतिस्थायिभावः | ४०५ |
| निर्वेदस्तत्त्वबोधोत्थः | ४३९ | नीत्वोपरि स्वपार्श्वेन | २९१ |
| निर्वेदादिषु भावेषु | १६१ | नीलः पीतस्ततः श्वेतः | ४०४ |
| निर्वेदे वेदितव्यासा | १४६ | नीलमुत्पलमित्यत्र | ३१ |
| निर्वेदौत्सुक्यचिन्तादौ | १७६ | नूपुरं भ्रमरं चाथ | २६३ |
| निवर्तितोऽन्तर्गतया | १२८ | नूपुरं भ्रमरं छिन्नं | १९२ |
| निवारितेषु वाधेषु | ३७९ | नूपुरश्वरणेऽन्यस्य | २९४ |
| निवृत्तेत्युच्यते सा स्यात् | ९७ | नूपुराख्यं विवृत्तं च | २७० |
| निवेशमेडकाक्रीड० | १९३ | नूपुराक्षिप्तकच्छिन्नं | २६१ |
| निश्चलं मीलितमुखं | १७४ | नूपुरात्करणादूर्ध्व | २७३ |
| निश्चला दृष्टिरद्वुत्त० | १४२ | नृणांमुत्साहिनामेव | ४५४ |
| निश्चेष्टप्रसृतैरङ्गैः | ४६३ | नृत्तं किञ्चिद्विधायार्थ | ३८० |
| निषण्णोः समो वामः | २८८ | नृत्तं गीतं च शयन० | ४६० |
| निषिद्धमतिवृत्तेश्च | ४३५ | नृत्तं त्वत्र नरेन्द्राणां | ६ |
| निष्कम्पा धूसरा शून्या | १४२ | नृत्तं समाचरेत्पात्रं | ३८२ |
| निष्कर्षणं तु निष्कासः | १७१ | नृत्तज्ञैर्गदितौ हास्ये | ९६ |
| निष्क्रम्यते यदा प्रोक्तं | २३० | नृत्तस्य तत्र विषमं | १४ |
| निष्क्रामन्मणिबन्धस्थ० | १०२ | नृत्तहस्ता मतास्त्रिंशत् | २७ |
| निष्क्रामयन् भजेचारीम् | २०२ | नृत्तहस्तौ क्रमेणापि | ८० |
| निष्पत्तौ निरपेक्षार्था | १८३ | नृत्ताभिनयने तच्च | २०३ |
| निहृदितं चांसकूटं | १९७ | नृत्ते नाट्ये गतौ चैताः | २९६ |
| निहृदितं परावृत्तम् | १७ | नृत्तेनामलरूपेण | ३६८ |
| नीचाग्रावृत्ताग्रौ वा | ६१ | नृत्यत्युत्तममाचष्ट | ३६७ |
| नीचानां जप्यते गर्वः | ४६१ | नृपापराधश्चौर्यादि | ४५५ |
| नीचानां विभवभ्रंशात् | ४६० | नृपापराधोऽसद्वेष० | ४४७ |
| नीचेऽपहसितं चाति० | ४१६ | नृषु भीरुस्वभावेषु | ४४७ |
| नाचेष्टुत्तममध्येषु | ४४६ | नेत्रक्षेत्रगतां निभ्रत् | ३५ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

५०५

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------------|---------------------------------|
| नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः | ८३ पञ्चविंशतिसंख्यानि २६८ |
| नेत्रवक्त्रप्रसादश्च | ४५४ पञ्चाङ्गकुशलस्तालः ३८४ |
| नेत्रे गतिश्च कुटिलः | ४४९ पटुः परापवादिषु ३९२ |
| नैकरूपे चिरास्वाद्यः | ४१२ पडिवाटश्चापडपः ३८५ |
| नैकशेषो न च द्वन्द्वः | ७० पणवैर्दुर्दुराद्यैश्च २७४ |
| नैतन्निद्राविनाशोद्दि | ४१२ पतनोत्पतनाविष्टः २०४ |
| नैवेद्यैर्विविधैर्वस्त्रैः | ३६४ पताकं तु शनैर्धर्वन् ३३ |
| नैसर्गिके च संलापे | ३२७ पताकः संहृताकारः ३२ |
| न्यक्षितांसं नितम्बं तु | ९० पताकस्त्रिपताकोऽर्धः २५ |
| न्यस्य स्तम्बीकृतोऽन्योऽङ्घ्रिः | २९२ पताकहस्ततलयोः ५१ |
| न्यस्येते यत्र तद्धीराः | २३९ पताकस्य तदा हस्तं ४७ |
| न्यस्येत्पाष्ण्यां स्वपार्श्वे चेत् | २९३ पताकस्वस्तिकं कृत्वा ६१ |
| न्यायाः सप्रविचाराश्च | १६ पताकायां भवेदूर्ध्वा ४४ |
| न्यायेष्वेषु प्रयुजीत | ३४७ पताको निम्नमध्यो यः ११ |
| | पताको मध्यमामूल ८० |
| | पताकौ डोलितौ तिर्यक् ६८ |
| | पताकौ तिर्यगूर्ध्वौ द्वाक् ७३ |
| पक्षप्रथोतकं चार्धं | २०० पताकौ प्रथमं कार्यौ ६४ |
| पक्षप्रथोतकौ पश्चात् | २०३ पताकौ यदि निष्क्रम्य ६६ |
| पक्षप्रथोतकौ दण्डः | २७ पताकौ रेचयित्वा चेत् २३५ |
| पक्षयोरुभयारुके | ४५७ पतिताग्रं चोद्धृताग्रं १८० |
| पक्षवक्षितको नृते | २९८ पतिता स्यादधो याता १५१ |
| पक्षवक्षितको वार्धः | २२७ पतितोर्ध्वपुटा दृष्टिः १४३ |
| पक्षवक्षितकौ चोर्ध्व | २०८ पतितोर्ध्वपुटा सास्त्रा १३७ |
| पक्षस्थौ चरणौ त्र्यश्रौ | ३२३ पदन्यासोऽप्यनियमः ४३५ |
| पक्षस्थितोऽसौ चरणः | ३२१ पदमोता च कवितं ३७५ |
| पक्षमाग्रभ्रूपुटैर्गुक्ता | १४५ पद्मकोशकरस्थाने ६७ |
| पश्चालान्तरं तिर्यक् | २८८ पद्मकोशस्थ यत्र स्युः ४९ |
| पश्चधा मणिबन्धः स्यात् | १३१ पदकोशौ पृथक्प्राप्तौ ७७ |
| पश्चविंशतिरेव स्यात् | २६८ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|------------------------------------|
| परस्था स्वसमुत्था च | ४४७ परिवर्तेत यत्राद्यः २४७ |
| परस्थे तु स्रवेच्चासी० | ४२३ परिवृत्तं दण्डपादं १९३ |
| पराङ्मुखः संमुखश्च | १८२ परिवृत्तविधिश्चायं २७२ |
| पराङ्मुखस्तु खेदे स्यात् | ३६ परिवृत्तिप्रकारेण २६९ |
| पराङ्मुखः स्यादाह्वाने | ३४ परिवृत्त्य च तिर्यक् चेत् २५१ |
| पराङ्मुखीकृतं शीर्षं | २२ परोक्षे प्रचुरः स स्यात् ८५ |
| पराङ्मुखेन पार्श्वेन | ९१ पर्यन्तवलनादुक्तः १६९ |
| पराङ्मुखौ नाभितटे | २११ पर्यायशो निपततः २८६ |
| पराङ्मुखौ हंसपक्षौ | ६१ पर्यायेण शनैस्तिर्यक् १८ |
| पराणि त्वपरस्थानि | ४१८ पल्लवौ शीर्षदेशस्थौ ७९ |
| परागन्दघनैकात्म० | ४४० पश्चादुत्तानिततलः २९९ |
| परावृत्तस्तत्कपाल० | २४६ पश्चाद्गता परावृत्ता १३० |
| परावृत्तानुकरणे | २२ पश्चात्प्रीत्वाश्रितं पादं २९३ |
| परावृत्ताह्वयं सूचि | ३१९ पश्चान्यस्य पुरस्तात् ३०७ |
| परावृत्ते षड्भक्तानि | २७१ पश्चिमप्रहरे रात्रेः ४५१ |
| परावृत्ते समे स्यातां | ३३२ पश्यतो भीतिहेतुं तत् ४५३ |
| परिक्रमेऽज्ञादादीनां | २१८ पाटः सिरिहिराख्यश्च ३८५ |
| परिग्रहो निग्रहश्च | १८९ पाठ्यं चाभिनयान् गीतं ४ |
| परिचिताक्षेपकं च | ३४४ पाणिराक्षिप्यते चाङ्घ्रिः २०७ |
| परितः शिरसः शस्त्रं | ३४६ पाणिस्तु दक्षिणस्तत्र २४० |
| परितो भ्रमणं पूर्णं | २७५ पाण्योः स्वस्तिकयोरूर्ध्व० २१९ |
| परिदेवनमित्युक्तं | ४२१ पातस्तु कक्षे कार्यः १५६ |
| परिदेवनरोमाञ्च० | ४६० पात्रं तदा तदारम्भे ३७५ |
| परिभावनमित्याद्या | ४६३ पात्रं तिष्ठेदधिष्ठाय ३७४ |
| परिभ्रमति यत्र त्रिः | २५० पात्रं प्रविश्य रज्जस्य ३७८ |
| परिमण्डलिताकार० | २१ पात्रं विधाय त्रिविधं ३७५ |
| परिवर्तनतो वाम० | १९६ पात्रं स्यान्नर्तनाधारः ३६५ |
| परिवर्तितमित्येतत् | १८३ पादः प्रसारितो वक्रः २९५ |
| परिवर्तेत चेन्मत्स्य० | २४६ पादं कुञ्चितमुद्गल्य २९३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| पादत्रये वाद्यमाने | ३८९ | पार्श्वयोरग्रतः पृष्ठे | २०० |
| पादद्वयेन करणं | २७८ | पार्श्वव्यत्ययतो यद्वा | ६२ |
| पादमाक्षितचारीः | २१२ | पार्श्वस्थदर्शनं प्रोक्तं | १५८ |
| पादमाक्षितया चार्या | २२१ | पार्श्वान्तरं ततो जङ्घां | २९५ |
| पादयोः करयोः कट्या | २७५ | पार्श्वान्तरात्रिजं पार्श्वम् | ४३ |
| पादयोः स्वस्तिकेऽस्यैकः | ३१२ | पार्श्वभिमुखमन्वर्थं | २५ |
| पादश्चाषगतिर्द्विः स्यात् | ३५० | पार्श्वभिमुखमित्यन्यान् | १८ |
| पादावक्षितसूच्यौ च | १९९ | पार्श्वभ्यां यत्र तामाहुः | ३०२ |
| पादाविति षडुक्तानि | १५ | पार्श्वेन भ्रमरीं कृत्वा | २०५ |
| पादाबुल्लोलयेत्प्रोक्तं | २५१ | पार्श्वे विनिक्षिपेच्चारीम् | २९१ |
| पादेनैकेन तद्विक्रं | २१२ | पार्श्वोन्मुखी तु वलिता | ९७ |
| पादोहकटिबाहुनां | ३६० | पार्णिणः पादस्य चेदग्र० | २८९ |
| पार्वती त्वनुशास्ति स्म | ३ | पार्णिगुल्फौ तथाङ्गुल्य० | १६ |
| पार्श्वं तद्विपरीतं तु | ९० | पार्णिजङ्घोरुसंलग्न० | ३३३ |
| पार्श्वकान्तं तदा यद्वा | २२२ | पार्णिदेशे द्वितीयाङ्घ्रेः | २२२ |
| पार्श्वकान्तत्वमागल्य | ३५९ | पार्णिद्वयेन पाष्ण्यांवे० | ३८६ |
| पार्श्वकान्तस्ततो वामः | ३५६ | पार्णिपार्श्वगते पार्णिः | ३३१ |
| पार्श्वकान्तस्तथा वामः | ३५५ | पार्णिपार्श्वगते स्थाने | ३०१ |
| पार्श्वकान्तस्तु वामाङ्घ्रिः | ३५८ | पार्णिरङ्गुप्रसंखिष्टा | ३३१ |
| पार्श्वकान्ता भवेच्चारी | २२२ | पार्णिरित्यष्टधा पाद० | १७८ |
| पार्श्वकान्तोऽथ वामाङ्घ्रिः | ३५६ | पार्णिबिद्धस्थितौ पादौ | ३०१ |
| पार्श्वकान्तोऽथवा सूची | ३५७ | पार्णिस्तदोदिता चारी | ३०१ |
| पार्श्वकान्तो दक्षिणः स्यात् | ३५७, ३५९ | पाष्णेऽन्तर्बहिः क्षेपात् | १२८ |
| पार्श्वकान्तो दक्षिणोऽङ्घ्रिः | ३५८ | पाष्ण्याङ्गुप्रयोरन्तः | २७५ |
| पार्श्वक्षेत्राङ्गाम्यमाणे | २०८ | पाष्ण्यां चेत्पातयेद्भूमौ | २९१ |
| पार्श्वज्ञानु तदा ज्ञेयं | २२६ | पाष्ण्यां धरामत्रष्टभ्य | ९४ |
| पार्श्वदेशोऽथितौ पार्श्व० | ६७ | पाष्ण्यां पाष्ण्यन्तरक्षेत्रे | २९५ |
| पार्श्वद्वयं पुरस्ताच्च | १९० | पिष्टकुट्टं चाषगतं | ३४८ |
| पार्श्वमण्डलिनावुक्तौ | ७४ | पीडाघातातपौ मोह० | ४७० |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----|-----------------------------------|
| पीत्वा रङ्गप्रवेशे तु | ४४९ | पृथगित्यनुभावाः स्युः ४६३ |
| पीनोरुजघनं पीन० | ३६६ | पृथग्गतागतौ यौ तौ ७६ |
| पुटौ विस्फुरितौ स्तब्धौ | १४८ | पृथग्दक्षिणवामौ चेत् ८१ |
| पुनरङ्गविपर्यासात् | २६५ | पृष्ठं तु जठरोक्ताभिः १२६ |
| पुनरङ्गान्तरेणैव | २११ | पृष्ठतः फलकस्यापि ३४६ |
| पुनर्दिक्स्वस्तिकमथ | २६० | पृष्ठतः श्रेणिसंस्पर्शि २४४ |
| पुमांसोऽधमसत्त्वा ये | ४४९ | पृष्ठतो दर्शनं यत्तद् १५८ |
| पुरः प्रसारितस्तिर्यक् | ३३४ | पृष्ठतो भ्रामितं पादं २२३ |
| पुरः प्रसारिता जङ्घा | १३० | पृष्ठतोऽङ्गपरावृत्त्या ३२९ |
| पुरः प्रसारितौ यस्यां | ३०० | पृष्ठतोऽपसरनपाण्यां ९५ |
| पुरः सरणमङ्घ्रिभ्यां | ३०६ | पृष्ठतो वलितं स्पृष्ट्वा २९४ |
| पुरतः पृष्ठतस्तिर्यक् | ३०७ | पृष्ठप्रसारितोऽङ्घ्रिश्चेत् २९२ |
| पुरतः पृष्ठतो बाह्व्री | २९८ | पृष्ठभागे प्रधानानां ३९५ |
| पुरतोऽपि नृपस्य स्युः | ३९५ | पृष्ठानुसारीत्युदितः ९९ |
| पुराव्यर्धपुरादी च | २८१ | पृष्ठेऽङ्घ्रिः प्रस्ततो भूमि० २२६ |
| पुरो गगनभागे चेत् | ३०८ | पेरणी वर्धराङ्कुर्यात् ३९० |
| पुरोमुखौ समस्कन्ध० | ५९ | प्रकम्पितं कम्पितं स्यात् ८८ |
| पुष्पाणां ग्रथने सत्य० | ५५ | प्रकृतिस्थं समं प्राहुः ८७ |
| पूर्णं स्थूलं व्यधिते स्यात् | १२६ | प्रकृतिस्थस्य संलपे ३२० |
| पूर्वरङ्गस्य चाङ्गेषु | २७४ | प्रकृष्टभाषणे गर्ब० ८८ |
| पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यान् | २५२ | प्रकोष्ठौ न्यस्तसद्गल ३६९ |
| पूर्वरङ्गे स्त्रीभिरेव | ३२६ | प्रचारं भरतो मेने १८२ |
| पूर्ववत्समनादत्वम् | ३७८ | प्रचारयोग्यतामात्रात् २८२ |
| पूर्वाणि स्वसमुत्थानि | ४१८ | प्रणामे गुरुसंभाषे ५२ |
| पूर्वापरविचारोत्थं | ४६५ | प्रतापः पौरुषोद्भूता ४३१ |
| पूर्वापरान्वयोऽह्यस्य | ४०२ | प्रतापः प्रभुशक्तिश्च ४२८ |
| पूर्वोक्तः करिहस्तोऽन्यः | २१० | प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः ४५२ |
| पृथक्पथे चान्यनेत्रात् | १४७ | प्रतिभानुभवस्मृत्या० ३९९ |
| पृथक्समुच्चतं वक्षः | ३२१ | प्रतिषेधे च तस्योक्तः १८ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| प्रतिष्ठापयिता नृत्त० | ३७० | प्रयोज्यं सूत्रधारेण | २०५ |
| प्रतीपं गच्छतो जङ्घा | १३० | प्रयोज्यमाञ्जनेयादि | २१५ |
| प्रत्यङ्गानि पुनर्प्रीवा | १६ | प्रयोज्यौ तौ नृसिंहस्य | ६५ |
| प्रत्यङ्गैश्च कराः कार्या | ८३ | प्रलयः स्यादभिनयेत् | ४७१ |
| प्रथमं गजदन्तं तु | ५८ | प्रविचारः सात्त्वतवत् | ३४६ |
| प्रदक्षिणं करद्वन्द्वं | ३८ | प्रविचारा न शोभन्ते | ३४७ |
| प्रदक्षिणं भ्रमन् कार्यः | ३८ | प्रविश्य रङ्गभूमिं ते | ३७४ |
| प्रदर्शनार्थमित्युक्ताः | १५० | प्रविष्टो हृदयं यद्वा | ३७० |
| प्रदर्शनार्थमुक्त्यं | ८१ | प्रवृद्धः सन् सशब्देन | १६३ |
| प्रधानं यो यदा यत्र | २९७ | प्रवेशः पुरयोरन्तः | १५६ |
| प्रधानं सौष्ठवं पादौ | ३२२ | प्रवेशनं तु बीभत्से | " |
| प्रपदे यत्र सा चारी | ३०२ | प्रशंसाकुशलाश्चान्ये | ३९६ |
| प्रभेदान् करणस्यास्य | १९१ | प्रशान्ते वाद्यसंघाते | ३८९ |
| प्रभोदनृत्तविषयं | २१४ | प्रसन्नं वदनं वक्षः | ३२५ |
| प्रयुक्तं नाट्यतत्त्वज्ञैः | २०१ | प्रसन्नाः स्निग्धशृङ्गाशः | १३९ |
| प्रयुज्यमाना वाग्वृत्तिः | ३४१ | प्रसन्नो निर्मलो हास्ये | १८१ |
| प्रयोक्तव्यः कुशो मध्ये | ३६ | प्रसर्पितमपक्रान्तं | १९३ |
| प्रयोक्तव्यमिति प्राहुः | २५८ | प्रसाधनानङ्गीकारे | ५५ |
| प्रयोक्तव्यमिदं स्थानं | ३२७ | प्रसारितं तृभयतः | ९० |
| प्रयोक्तव्योऽप्रसदंशः | ५० | प्रसारितकनिष्ठस्य | ५१ |
| प्रयोगमपरे प्राहुः | २१४ | प्रसारिता ऋजुत्ववा | १७९ |
| प्रयोगमस्य च प्राहुः | २२३ | प्रसारितोत्तानतलौ | ६५ |
| प्रयोगमाह निःशङ्कः | २१४ | प्रसार्य स्कन्धयोः स्कन्ध० | ७९ |
| प्रयोगमाहुराचार्याः | २१५ | प्रसार्योद्वाहितमुरः | २८४ |
| प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा | ३ | प्रसिद्धेरुपपत्त्यर्थं | ३१ |
| प्रयोगस्तस्य शीतार्त० | ३३९ | प्रसृप्ते प्रसृतो दीर्घः | १६५ |
| प्रयोगस्त्वन्त्ययोस्तज्ज्ञैः | ३२५ | प्रसूनस्तबकादाने | ३२७ |
| प्रयोगातिशयश्चेति | ३४३ | प्रसृतश्चरणो यत्र | २९४ |
| प्रयोज्यं तन्मुनिःप्राह | ३२० | प्रसृतौ कुञ्चितौ स्याताम् | १५३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| प्रस्वेदमुखरागाद्या | ४१६ | फले बिल्वकपित्थादौ | ४२ |
| प्रहारपातनं चात्र | ३४७ | फलेऽल्पे च मिते प्राप्ते | ४२ |
| प्रहारे भोजने पाने | १०३ | फुल्लगल्लाविशतारा | १४० |
| प्राग्वत्सकृत्सकृद्भ्रान्त्वा | २५० | | |
| प्राङ्मुखः संमुखः पार्श्वः | ५० | ब | |
| प्राङ्मुखः सशिरः कम्पः | ५२ | बद्धया ते स्थितिर्यत्र | १९८ |
| प्राङ्मुखौ हंसपक्षाख्यौ | ६० | बद्धां विधाय चारीं चेत् | २९१ |
| प्राणाञ्जलस्यादश्रूणि | ४६८ | बद्धापक्रान्तयोश्चार्थोः | २३१ |
| प्राणेऽध्यस्यति सात्मानं | ४६६ | बध्नीयाद्यत्र तत्प्रोक्तं | २४३ |
| प्राधान्येन विधीयन्ते | २०७ | बलिकर्मणि देवानां | ४९ |
| प्राधान्ये हस्तकानां तु | २९७ | बहिः क्षिप्ताङ्गुलिद्वन्द्वे | ३४ |
| प्राप्तभात्योपभोग्यस्य | ४५१ | बहिः पुनः पुनः क्षिप्तः | ३८ |
| प्राप्ते कालेऽप्यसंलापः | १४३ | बहिः प्रसारितं घटः | ६४ |
| प्रायशो नर्तनारम्भे | १९५ | बहिर्गता मता जङ्घा | १३१ |
| प्रारम्भात्फलपर्यन्तः | ४०६ | बहिर्गता मिथोयुक्ता | १७८ |
| प्रासादोपवनादेः | ४३६ | बहिर्विक्षेपतः क्षिप्ता | १२९ |
| प्राहुः प्रयोगमेतस्य | २३९ | बहुशब्धिन्नगुम्फानि | २६२ |
| प्रियवाक्परचित्तज्ञः | ३९४ | बहुशो ह्यनमूर्ध्वाधः | २० |
| प्रियविप्रियजा शङ्का | ४४७ | बालं मनोविहीनत्वात् | ३६६ |
| प्रियादिगोचरकथा | ४५८ | बाहुर्मण्डलवद्व्या | १०० |
| प्रियाप्रियश्रुतिर्वैरिः | ४६२ | बाहूनां करणेनाथ | १०५ |
| प्रेङ्खोलितं संनतं च | १९३ | बाहूभ्यावर्तितेनोर्ध्वं | ६६ |
| प्रेरणे कुट्टने स्थाने | ९३ | बाह्यापार्श्वेन लम्बोऽङ्घ्रिः | ३३० |
| | | बाह्यभ्रमरकं यत्र | ३५४ |
| फ | | बाह्यभ्रमरकं विद्यात् | ३५६ |
| फलं बन्धुवधो रौद्रे | ४०४ | बाह्याः स्तम्भादयो देहे | ४६९ |
| फलकं वामहस्तेन | ३४६ | बाह्यान्तश्छत्रतिरिपः | २४१ |
| फलकभ्रमणं कृत्वा | ,, | बिम्बोक्तस्त्वष्टलाभेन | २२ |
| फलकस्याप्युपशिरः | ,, | बिम्बोक्तादिषु कान्तानां | २४ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| बीभत्सश्चाद्भुतः शान्तः | ४०० | भवेदारभटी वृत्ती | ३४२ |
| बीभत्सा चाद्भुतेत्यष्टौ | १३५ | भवेद्विहसितं चोप० | ४१६ |
| बीभत्सा स्यान्मिलल्लोल० | १३९ | भस्मादिधेतलिप्ताङ्गः | ३८४ |
| बीभत्से सति भीरूणां | ४०४ | भारतः सात्त्वतो वार्ष० | ३४५ |
| बुद्धाय ताण्डवं तण्डोः | ३ | भारस्य भूयसो वोढा | ३९३ |
| बुधैरभिदधाते तौ | ६० | भालस्थलमुरोदेशात् | ७३ |
| ब्रह्मणोक्तं प्रयोकव्यं | ६ | भालस्वेदापनयने | ३८ |
| ब्रह्मविद्योपदेशश्च | ४३९ | भावलक्षणमिल्यस्मिन् | १७ |
| ब्रह्मसंविद्विसदृशी | ३९९ | भावाः संचारिणः स्थायी | ४२५ |
| ब्रुवन्तः केचिदाचार्याः | ३२ | भावानां यानि कार्याणि | ४०८ |
| ब्रूमो यत्रैकदेशेन | ६९ | भाषणं भावगम्भीर० | ४२९ |
| | | भिन्नशब्दै विजातीयौ | ६९ |
| भ | | भुजङ्गवस्तपूर्वं च | २६९ |
| भक्ता भक्तिरसोन्मत्ताः | ४३८ | भुजङ्गवासितं हस्त० | २६७ |
| भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं | ४४१ | भुजङ्गवासितश्वासौ | ३५५ |
| भङ्गत्वा वा स्वस्तिकं पाद० | २८८ | भुजङ्गवासितां चारी | २०६, ३५८ |
| भट्टाभिनवगुप्तस्य | ३१६ | भुजङ्गवासिताक्षिप्ता | २८० |
| भट्टाभिनवगुप्तादि० | २७२ | भुजङ्गवासिता चारी | २१३ |
| भट्टाभिनवगुप्तायैः | ३० | भुजङ्गवासितादूर्ध्वं | २६२, २६५ |
| भजेतां त्रिपताकौ चेत् | २३९ | भुजङ्गवासितालात० | १९२ |
| भयं विनयबोधाय | ४३४ | भुजङ्गवासिता सा स्यात् | २९५ |
| भयानकस्त्रिधा तत्र | ४३५ | भुजङ्गवासितोन्मत्त० | २६० |
| भयानकेऽद्भुते हेतुं | ४०४ | भुजङ्गवासितो वामः | ३५७, ३५८ |
| भरताभिमतश्चार्यः | २८० | भुजङ्गमगतौ सः स्यात् | ४३ |
| भरविस्फारिताकार० | १४२ | भुजङ्गविक्षेपणैः श्वासैः | ४५९ |
| भवन्त्यपि न सोद्भाष्या | ४१३ | भुजङ्गाश्रितकं दण्ड० | १९२ |
| भवेच्चापडपः पाद० | ३८६ | भुजङ्गविक्षेपणैः श्वासैः | ४५९ |
| भवेत्तूणशराकर्वे | १०२ | भुजाग्रयोः कूर्परयोः | ६३ |
| भवेदष्टभिरालीढः | २६३ | भुजास्फोटे च मल्लानां | ४४ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| भुवं गतौ यदा पादौ | ३३५ | भ्रमरास्कान्दितावर्त० | ३४८ |
| भुवि लेखनमित्याद्यैः | ४५२ | भ्रमरी क्रियतेऽन्वर्थ | २२९ |
| भूताद्यैश्च ग्रहैरुग्रैः | ४५५ | भ्राजद्धर्घरिकाजाल० | ३८४ |
| भूचोद्धतौ स्थितौ त्र्यश्रौ | ६० | भ्रान्त्वा प्रसारणं चात्र० | ६४ |
| भूमिपृष्ठया बहिर्वीतौ | ३०२ | भ्रान्त्वा सव्यापसव्येन | ३५८ |
| भूमिलम्बबद्धिः पार्श्वार्धं | १३० | भ्रामयेचेच्छिरः क्षेत्रे | २२३ |
| भूमिलम्बाग्रयोरङ्घ्रयोः | ३८६ | भ्रामयित्वा दक्षिणाङ्घ्रि० | २५१ |
| भूमिच्छिष्टाखिलतलौ | २८७ | भ्रामयित्वा भुवि न्यस्येत् | ३०८ |
| भूमेरूर्ध्वनिषण्णौ चेत् | ३२३ | भ्रामितः सम इत्यत्र | १३१ |
| भूयुक्तैश्चरणैः सूची | ३५३ | भ्रामितो भ्रमणात्खङ्ग० | १३२ |
| भूरिनिर्झरझांकारि | ४३८ | भ्रुकुटी कुटिलां दृष्टिं | १४१ |
| भूलमजानुगुल्फौ तौ | ३३३ | भ्रुकुटी चतुरा चेति | १५० |
| भूलमाकुलिपृष्ठोऽङ्घ्रिः | ३३१ | भ्रुकुटीनेत्ररक्तत्वं | ४२४ |
| भूलम्बाग्रस्थ चान्यस्य | ३८८ | भ्रूक्षेपणं चानुभावा | ४३८ |
| भूलम्बाग्रस्थ वामाङ्घ्रेः | ३८८ | भ्रूक्षेपश्चतुरो हस्तः | ४५७ |
| भूस्थापसरणे सः स्यात् | ९३ | भ्रूनतिश्च स्मृतिः सा स्यात् | ४५२ |
| मृत्ये कार्यवशात्कोपः | ४२८ | भ्रूर्लीला हेलयोश्चैषा | १५१ |
| मेदास्तस्येति चत्वारः | ३४५ | भ्रूस्थपार्णिः समुत्क्षिप्त० | ९२ |
| भोक्ता प्रधानो भोग्या तु | ४१५ | | |
| भोक्तुस्त्वपरतन्त्रत्वात् | ४१५ | म | |
| भौमाकाशिकचारीणां | ३४८ | मज्जत्तारा मन्दचारा | १४५ |
| भौमान्याकाशिकानीति | ३४८ | मण्डकात्प्रतिमण्डाच्च | ३७९ |
| भौमी चाकाशिकीत्येषा | २७९ | मण्डादेर्ध्रुवखण्डेन | ३८३ |
| भ्रमणं वलनं पातः | १५५ | मण्डे तु मण्डतालेन | ३८३ |
| भ्रमरं नूपुराख्यं च | २६४ | मण्डलभ्रमणं तत्तु | ३५२ |
| भ्रमरं वामपार्श्वार्ध० | २६१ | मण्डभ्रान्तिविततौ | ७३ |
| भ्रमरं वाममङ्गं च | २७१ | मण्डलस्थानकं तत्तु | २३३ |
| भ्रमरं वृश्चिकाद्यं च | २६८ | मण्डलस्थानके कृत्वा | २०४ |
| भ्रमरस्य तलस्थे चेत् | ५१ | मण्डलस्वस्तिकं तत्स्यत् | १९८ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

५१३

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|--------------------------------|-----------|
| मण्डलस्वस्तिकं वक्षः | १९२ | मध्ये मध्ये स्तम्भकम्पौ | ४३२ |
| मण्डलस्वस्तिकादूर्ध्व | २६६ | मनस्तत्प्रभवा हर्ष० | ३४२ |
| मण्डलीकृतबाहू तौ | ४७ | मनस्तापोऽतिपानाति० | ४४५ |
| मण्डले स्थानके स्थित्वा | २०९ | मनस्तापो रुजा हर्षः | ४७० |
| मत्तल्लिगण्डसूच्याख्ये | २६६ | मनोरथाप्तिरप्राप्य | ४५४ |
| मत्तल्लि च नितम्बाख्यं | २७० | मन्त्रशक्तिश्च संपन्न० | ४२८ |
| मत्तल्लि चार्धमत्तल्लि | १९२ | मन्दस्पन्दो बहिःक्षितं | ४३९ |
| मत्तल्लिरर्धमत्तल्लिः | ३५१ | मन्दा तु मन्दनिःश्वास० | १६१ |
| मत्तवद्यत्र तामाहुः | ३०३ | मन्दावतुक्षेपनिक्षेपौ | ४४६ |
| मत्ताक्रीडस्तथा विद्युत् | २५६ | मन्मथोन्मथिता दृष्टिः | १४७ |
| मत्ताक्रीडाभिधानः स्यात् | २६४ | मयूराद्यं सर्पितं च | २६९ |
| मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु | ८३ | मरणं द्विविधं प्रोक्तं | ४६३ |
| मदसूच्छाभिघातेभ्यः | ४७१ | मर्दितं मथितं क्षिप्तं | ४६ |
| मदस्खलितमत्तल्लि० | २६२ | मर्मज्ञः सर्वरागेषु | ३९२ |
| मदस्खलितसंभ्रान्त० | १९३ | मर्मप्रहारोऽप्यस्थाने | ४५० |
| मदिरा त्रिविधा प्रोक्ता | १४९ | महत्त्वाद्दुःखनिष्क्रान्तः | १६२ |
| मदे प्रयोगमर्हन्ती | १४९ | महाकालः क्रमाद्ब्रह्मा | ४०४ |
| मदे विपदि निर्वेदे | ३३६ | महीगतं नतं जानु | १३३ |
| मद्यपानं विभावोऽथ | ४४९ | मातृकोत्करसंपाद्यं | २५३ |
| मधुरा कुक्षितापाङ्गा | १४७ | मार्कण्डेयपुराणोक्ता | ३६८ |
| मधुरादिरसोपेतैः | ४०० | मार्गदेशीगताश्चर्यः | २८२ |
| मध्यनिर्गमनोद्युक्तौ | १४१ | मात्स्यायसंभवात्रीचे | ४१२ |
| मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ | ६४ | मायामिथ्याप्रकटितं | ४३७ |
| मध्यमां तर्जनीस्थाने | ३७ | मान्यान् ज्योतिर्विदो वैद्यान् | ३९५ |
| मध्यमाधमपुंसां तु | ४१९ | माने च सत्यवचने | ८८ |
| मध्यमानां विद्वज्ज्ञानां | ३२२ | मायेन्द्रजालबहुला | ३४३ |
| मध्यमासंगताङ्गुष्ठौ | ६४ | मायेन्द्रजालैरथवा | ३४७ |
| मध्यमे चोत्तमे पुंसि | ४३४ | मिथः पराङ्मुखौ कृत्वा | ७७ |
| मध्यस्थाः सावधानाश्च | ३९३ | मिथः श्लिष्टकनिष्ठौ च | ३२९ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| मिथोऽभिगामिपक्षमात्र० | १४३ | मूर्च्छायां चाथ कर्तव्यौ | ९३ |
| मिथोमुखावस्थाप्य | २३१ | मृगशीर्षस्तदा हस्तः | ४६ |
| मिथोमुखौ निधीयेते | २३३ | मृदङ्गैर्गोमुखैर्मम्भा० | २७४ |
| मिथोयुक्तौ वियुक्तौ च | १७८ | मेलापकं वादयेयुः | ३७४, ३७८ |
| मुकुलस्य कपित्थेन | ५७ | मैवं क्षणिकविद्योता | ४२६ |
| मुकुला चार्धमुकुला | १३५ | मैवं रत्यनुसंधानं | ४११ |
| मुकुला दृष्टिरानन्दे | १४४ | मोद्यायितं प्रियकथा | २२ |
| मुखचुम्बे तु कान्तानां | ४९ | मोद्यायिते कुट्टमिते | २२, १५२ |
| मुखरागश्च करयोः | १६ | मोहो विषादनिर्वेदौ | ४२० |
| मुखस्य स्वरभेदश्च | ४३३ | म्लानाधरस्तनाभोग० | ३६६ |
| मुखान्तर्निहितः प्राण० | १६७ | | |
| मुखावनमनं गूढ० | ४५२ | य | |
| मुख्यगायनिके चाष्टौ | ३७३ | यः स्थाणू रोदसीरङ्गे | १९० |
| मुग्धं मध्यं प्रगल्भं च | ३६५ | यतः पादस्ततो हस्तः | २९७ |
| मुग्धस्त्रीव्रीडिते चास्य | १९८ | यत्कृतं कोमलं सोऽत्र | ३८७ |
| मुग्धादर्लक्षणं प्रोक्तं | ३६५ | यत्तदुद्धतं प्रोक्तं | ३४० |
| मुनिर्मेनेऽस्य तन्नूनं | ४०२ | यत्तु क्रमेण निर्याणम् | १८५ |
| मुष्टिकस्वस्तिकावन्यौ | २७ | यत्नेऽप्यसिद्धयुन्मेषा | १४९ |
| मुष्टिकस्वस्तिकौ मूर्ध्नि | ८० | यत्पयायिण रचितं | २७५ |
| मुष्टिर्वक्षःस्थितो हस्तः | २२६ | यत्पात्रं गात्रविक्षेपैः | ३६७ |
| मुष्टिर्वक्षसि हस्तेऽन्यः | २८९ | यत्र कृत्वाङ्गितां चारीं | २१९ |
| मुष्टिर्विकास्य प्रकृतिं | ४९ | यत्र चारीमतिक्रान्तां | २९० |
| मुहुः पातादधःक्षिप्ता | १७९ | यत्र डोलाकरो वामः | २१० |
| मुहुः संयोजयेदुक्ता | ३०४ | यत्र तं प्राहुराचार्याः | २७२ |
| मुहुः संछिष्टविच्छिष्ट० | १६० | यत्र तत्कुञ्चितं पादे | २२१ |
| मुहुरावर्तिता प्रोक्ता | १२९ | यत्र तच्छकटास्यं स्यात् | २३८ |
| मुहुरुद्धर्तितः स स्यात् | १२८ | यत्र तच्छाङ्गदेवेन | २२७ |
| मुष्टेरुर्ध्वकृतोऽङ्गुष्ठः | ३४ | यत्र तत्प्राङ्गतं ज्ञेयं | ३१२ |
| मुहुश्चलस्थिरा पार्श्व० | १४४ | यत्र तत्समपादं स्यात् | ३२२ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| यत्र तत्समपादाख्यं | ३३० | यत्राश्वारोहणारम्भे | ३२७ |
| यत्र तत्सर्पितं मत्त० | २३० | यत्रैको मुखरी श्रेष्ठः | ३७२ |
| यत्र तत्स्यादुपसृतं | २३४ | यत्रैतन्मुक्तजानु स्यात् | ३३८ |
| यत्र तद्दण्डपादाख्यं | ३५५ | यत्रोक्तं नतपृष्ठं तत् | २४६ |
| यत्र तद् भ्रमरं योज्यं | २१२ | यत्रोत्तानं पादतलं | २९५ |
| यत्र तद्वामविद्धाख्यं | ३५७ | यत्रोन्मत्तं तु तदूर्ध्वे | २०३ |
| यत्र तद्विनिवृत्तं स्यात् | २२२ | यत्रोरामण्डलं तत्तु | २२० |
| यत्र तन्मण्डलं प्रोक्तं | ३५६ | यत्रोर्ध्वजानुश्वारी स्यात् | २११ |
| यत्र धृत्वा पूर्वकायम् | २८४ | यत्रोर्ध्वविरले शेषे | ४८ |
| यत्र प्रसारितानीतं | २३५ | यथा घटपटौ स्याताम् | ६९ |
| यत्र भावेऽनुभावाः स्युः | ४४६ | यथा तथोचितः कार्यः | १८१ |
| यत्र विप्रतिपत्तिः स्यात् | ४५६ | यथा हि करिहस्तेन | ३० |
| यत्र वक्षसि निर्भुम्भे | २३३ | यथा हि हासः शृङ्गारे | ४४३ |
| यत्र संचारिणः स्थायि | ४३३ | यथोचितं विधातव्यं | ३६९ |
| यत्र संचारिणः स्थायी | ४२० | यदधः सकृदानीतम् | १९ |
| यत्र सत्रासगत्यादौ | २८५ | यदाङ्गुलीपञ्चकेन | ४९ |
| यत्र सा भ्रमरी चारी | २९४ | यदा तदा क्रियारम्भ० | २३४ |
| यत्र हस्तौ प्रयोगार्हौ | २२३ | यदा तदा महापक्षि० | २२६ |
| यत्राकुञ्च्य तिरश्चीनं | ३०३ | यदा तदोत्कटं योग० | ३३७ |
| यत्राङ्गुलिस्तिलकयेत् | २२३ | यदाध्यास्ते घरां स्तम्भं | ४६८ |
| यत्राङ्गुलीपञ्चकेन | ४९ | यदा निमीलिते नेत्रे | ३३७ |
| यत्राङ्गुलिप्रलम्बाश्च | ४९ | यदा पादतलद्वन्द्वं | ३१० |
| यत्राङ्घ्रिभ्यां कराभ्यां च | २०१ | यदा स्यातां तदोद्धतौ | ६० |
| यत्राङ्घ्री वृश्चिकीभूतौ | २७७ | यदि किञ्चिन्नमन्मूलं | ४७ |
| यत्राङ्घ्री संहतस्थाने | ३०५ | यदि पादतलाग्रेण | ९४ |
| यत्रान्ते मण्डलभ्रान्तिः | ३५३ | यदोत्कटासनं चोर्ध्व० | २४७ |
| यत्रापविद्धं तद्गमे | २०२ | यदोपविश्य वामोरोः | ३३५ |
| यत्रायतं तदाख्यातं | ३२५ | यद्यनन्तरमेतत्स्यात् | १९६ |
| यत्रार्धमीलितौ सार्ध० | १४४ | यद्गतागतविभ्रान्ति० | १३६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| यद्वा द्वयोः स्वभावेन | ३८७ | युगपत्करयोर्यत्र | २०९ |
| यद्वापसर्पतः प्रोक्ता | ३०१ | युगपद्भदितं तज्ज्ञैः | ३३३ |
| यद्वापसर्पतः सा स्यात् | २८७ | युज्यतेऽन्यस्तु संसर्पे | ३०३ |
| यद्वा पुराणं पन्थानं | ४७३ | युद्धं क्रोधोऽनृतं वाक्यं | ४२३ |
| यद्वा रेचितयोर्लक्ष्म | ६५ | युद्धादौ प्रेरणेऽश्वानां | ३२३ |
| यद्वा वृश्चिकहस्तः स्यात् | २२३ | युद्धे परात्मशस्त्राणां | ३४५ |
| यद्वा सरस्वतीकण्ठा० | ३८९ | युष्मत्क्षोदक्षमं वस्तु | ४७३ |
| यद्वा द्वारो द्वरस्यायं | २५२ | येन केनापि तालेन | ३७४ |
| यस्तस्य जङ्घया कम्पः | ३८७ | ये वक्षःस्वस्तिकं नात्र | २६८ |
| यस्तिरश्वा तलेनोर्वी | ९४ | योगिसङ्घो मुनीनां च | ४३८ |
| यस्तीक्ष्णकूर्परं वक्त्री० | १०३ | योगे ध्याने च स प्रोक्तः | १६४ |
| यस्यां परावृत्ततला० | २९९ | योगे ध्याने भवेदेतत् | ३३७ |
| यस्यां पुरोऽङ्घ्रिमुत्तिष्ठत्य | ३०८ | यो बहिर्निघ्नतां नीतः | १३१ |
| यस्यां सोत्कुञ्चिता चारी | ३०३ | यो वितर्कान्वितस्थायी | ४५७ |
| यस्याः संभ्रान्तवद्भाति | १४६ | योऽसौ खलुहलः प्रोक्तः | ३८८ |
| यस्याङ्गुल्यः करतले | ४३ | योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः | ४१६ |
| यस्यासौ कम्पितो ज्ञेयः | १२७ | यौवनं तुर्यमप्यस्ति | ३६६ |
| यस्योत्तिष्ठता भवेत्पाणि० | ९३ | | |
| याः प्रकृष्टा विचित्राश्च | ३४५ | | २ |
| या तु कविदविश्रान्तम् | १४८ | रक्षः पिशाचभल्लूक० | ४३२ |
| यातौ स्वपार्थे वक्षस्तः | ७५ | रक्तियुक्तान्विना तालं | ३८१ |
| यात्रायां देवयात्रायां | ६ | रक्तोऽरुणः स्यात्करुणे | १८१ |
| या त्वर्धपतितोर्ध्वस्थ० | १४० | रङ्गं तदेवतास्ताल० | ३६४ |
| या दृष्टिः पतितापाङ्गा | १४७ | रङ्गावतारणारम्भे | ३२६ |
| युक्तिः संप्रदायाच्च | ३० | रङ्गे विधाय पानं तु | ४४९ |
| युक्तैः पाकविशेषेण | ४०० | रचितं चित्रकं भाले | ३६९ |
| युक्तेषु वृत्तहस्तेषु | ३२ | रज्जुसंचारचतुरः | ३९३ |
| युगपत्कटिबाह्वनां | ३६१ | रज्जुकः स्यादुपाध्यायः | ३७० |
| युगपत्करणे कृत्वा | ७५ | रतिश्रमकृता निद्रा | ४१२ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------------------------------|
| रतिहासशुचः क्रोध० | ४०१ रेचयज्ञप्रतः पृष्ठे २२४ |
| रत्यभावे विप्रलम्भः | ४१३ रेचयित्वान्यचरणं २०१ |
| रत्यादिभेदविधुरः | ४४० रेचितं नृत्तहस्तं च २८७ |
| रत्यादयः स्थायिनश्चेत् | ४४३ रेचितं वृश्चिकादूर्ध्व २६९ |
| रथचक्रा परावृत्त० | २८० रेचितः पाणिरिकः स्यात् २३६ |
| रथाङ्गे जनसंघाते | ४३ रेचितस्वस्तिकौ केचित् ६४ |
| रसः स्यादथवा स्थायी | ३९९ रेचिता विधुतभ्रान्ता ९७ |
| रसदृष्टिर्भवेद्भाव० | १३९ रेचितो दक्षिणो हस्तः २१० |
| रसप्रधानमिच्छन्ति | ३९७ रेचितोऽन्यो लताहस्तः २१३ |
| रसभावान्तरे नेत्रम् | १८१ रेचितोऽर्धनिकुट्टश्च २५६ |
| रसान्तरेष्वपि तदा | ४४३ रेचितौ चरणौ यत्र २९९ |
| रसान् प्रसुन्वते ते स्युः | ४०७ रेचितौ चेद्विवृतं स्यात् २२१ |
| रसास्तदनुयायित्वात् | ४७१ रेच्यन्ते यदि लक्ष्यज्ञैः ११० |
| रसिकाः कवयोऽप्यत्र | ३९५ रोगमोहभयक्रोध० ४७० |
| रसेष्वष्टसु शृङ्गार० | १३९ रोगशीतार्तनिश्चेष्ट० ८६ |
| राममानन्दयन्ति स्म | ४७३ रोदनं पुरुषोक्तिश्च ४४९ |
| रामादिव्यञ्जको वेषः | ४१५ रोमाञ्चं वेपथुमथ ४६८ |
| रिगोणी तुङ्गकेत्येभिः | ३७५ रोमन्थे केवलावर्ते १७५ |
| रिगोण्युपशमेनैव | ३८९ रोमाञ्चकञ्चुका मूर्तिः ४३९ |
| रिगोण्या तालनियम० | ३७८ रोमाञ्चमुखरागादि ४०९ |
| रुक्चिन्तामोहमूर्च्छासु | २१ रोमाञ्चाद्यनुभावैस्तु ४७ |
| रुक्षा भुक्नुटिभीमोग्रा | १३७ रोषेर्ध्वयोश्च नारीणां १६७ |
| रूपनिर्वर्णनायुक्तम् | १५७ रोषेर्ष्यासूचकं चेति ३४४ |
| रूपकैरेकताल्यन्तैः | ३८३ रौद्रं भयानके हेतुं ४०४ |
| रूपवान् वृत्ततत्त्वज्ञः | ३७० |
| रेखां च स्थापनां ह्या | ३९० ल |
| रेचकं कुरुते हस्तौ | ६६ लक्षणानि क्रमात्तासां २८२ |
| रेचकस्यानुकारेण | २८७ लक्षणानि विभावादेः ८ |
| रेचकानथ वक्ष्याम | २७५ लक्ष्यलक्षणतत्त्वज्ञः १८३ |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----|--------------------------------|
| लम्बास्त्रेताम्रिसंस्थानात् | ४६ | लास्याङ्गैः केवलैरङ्गैः ३७७ |
| लङ्घ्यतेऽन्याङ्घ्रिणा यत्र | ३०४ | लिङ्गिव्रतिविमानस्थ० ३२२ |
| लज्जादुःखप्रणामेषु | २३ | लीनं तत्करणं योज्यं १९७ |
| लज्जाभरोद्भवै माने | २१ | लीनं समनखं कृत्वा २५८ |
| लतास्थौ करिहस्तश्च | २७ | लीनाधरस्तनाभोग० ३६५ |
| लतास्थौ हि मुनिर्वक्ति | २९ | लीलाविलासलावण्य० ३२७ |
| लतापूर्वं कटीच्छन्नं | २७३ | लीलासूक्ष्मसमुद्राहि १७६ |
| लतारेचितकौ हस्तौ | २२५ | लोकधर्मा नाख्यधर्मा ९ |
| लतावृक्षिकमाक्षिप्त० | १९२ | लोकवृत्तानुसारात्ते ८३ |
| लतावृक्षिकमाक्षौ स्यात् | २७० | लोके स्थाप्यादिभावानां ४०७ |
| लताहस्तौ समनखं | २०२ | लोचने मन्थराकार० ३३७ |
| लम्बमानौ पताकौ तु | ५४ | लोलितं चेति विज्ञेयं १८ |
| ललाटकण्ठस्कन्धोरो० | १९० | लोलितं शीर्षमुभयोः २३६ |
| ललाटतिलकं पार्श्व० | १९२ | लोलितं षड्विंशतिर्या २६९ |
| ललाटप्राप्तिपर्यन्तं | ७३ | लोहडी कर्तरीलोह० २४१ |
| ललाटवक्षः क्षेत्रस्थौ | २३३ | |
| ललितं चालनं तिर्यक् | ३६२ | व |
| ललितं वलितं दण्ड० | १९२ | वक्रं तिर्यङ्गतं तत्तु १७४ |
| ललितं संचरेदुक्तं | ३५९ | वक्रनेत्रकपोलैश्चेत् ४१७ |
| ललिताख्यं च वैशाख० | २७० | वक्षःक्षेत्रस्थयोः पाण्योः २१४ |
| ललिताङ्गक्रियासाध्याः | २९६ | वक्षःक्षेत्रात्करे सूची २१० |
| ललितावपरे प्राहुः | ७९ | वक्षःक्षेत्राद्विनिर्गत्य० १०१ |
| ललिता वलिता मूर्तिः | ३१२ | वक्षःक्षेत्रे समं हस्तौ १९८ |
| लाघवात्तत्प्रबोधार्थं | १५० | वक्षः प्राप्यापरं ताह्य १९९ |
| लावण्यकान्तिमाधुर्य० | ३६७ | वक्षःस्थः स्वस्तिकौ पादौ २०० |
| लास्यं तु सुकुमाराङ्गं | १३ | वक्षःस्थलात्करस्यापि १८५ |
| लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या | ३ | वक्षःस्था मध्यमेषु स्युः ८४ |
| लास्याङ्गानि ततो रेखा | १३ | वक्षःस्वस्तिकमुन्मत० २६९ |
| लास्याङ्गानि दशैतानि | ३६० | वक्षसोऽभिमुखौ सन्तौ ५७ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| वक्षस्वेवं द्वितीयाङ्गं | २१५ | वाग्मी निर्मत्सरो नर्म० | ३९४ |
| वक्ष्ये विशेषलक्ष्माणि | ४०५ | वाग्मी सुरूपवेवोऽसौ | ३९१ |
| वक्षोदेशोऽपवेष्टेन | २३३ | वाङ्मेपथ्याङ्गचेष्टाभिः | ४१५ |
| वणिजां सचिवादीनां | ६२ | वाङ्मनःकायजा चेष्टा | ३४० |
| वदतां स्वस्तिकाद्येषु | ३१ | वाचा वाभिनयं तस्य | ४१० |
| वदत्युत्प्लुतिपूर्वाणि | २४० | वाचा विरचितः काव्य० | ८ |
| वदन्ति चिन्तादौर्बल्य० | २३३ | वातजे त्वत्र वस्त्रेण | ४६२ |
| वधान्यदारयानादि | ४२३ | वातपित्तकफा दुष्टाः | ४६३ |
| वपुः स्वाभाविकं पादौ | ३३० | वातपित्तकपानां स्युः | ४५९ |
| वर्तनाश्चतुरैरूह्याः | १०५ | वादनं समहस्तस्य | ३७५ |
| वर्तना सा भवेत्सूची | १५ | वाद्यप्रबन्धनिर्माता | ३७० |
| वर्तिताबलपद्मौ चेत् | ७९ | वाद्यप्रबन्धैः कठिनैः | ३७७ |
| वर्धमानश्चेति हस्ताः स्युः | २६ | वाद्यमाने प्रबन्धे च | ३७५ |
| वर्धमानस्तदा हस्तः | ५८ | वाद्यमाने सुनिपुणं | ३८९ |
| वर्धमानासारिताद्यैः | १३ | वाद्यानां नादसाम्यं च | ३७४ |
| वर्धमानासारितेषु | २७४ | वाद्येनोपशमेनात्र | ३७५ |
| वर्धमाने स्थितौ स्थाने | २९९ | वामः क्रमेण सूची स्यात् | ३५८ |
| वर्धमाने तु चरणैः | ३२९ | वामः समो भवेद्यत्र | ३३५ |
| वलनं त्र्यश्रगमनं | १५५ | वामः स्वाभाविकोऽन्यस्तु | ९३ |
| वलनं स्थापनं रेखां | ३६५ | वामतोऽन्तःपुराणि स्युः | ३९५ |
| वलितोऽन्तर्गते जानु० | १२७ | वामश्च सूची भ्रमरः | ३५७ |
| वसित्वा वसनं शुभ्रं | ३६४ | वामपादस्त्वपक्रान्तः | ३५६ |
| वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शः | ४५२ | वामपाङ्गौ स च त्र्यश्रः | २८५ |
| वस्त्राभरणदानं च | ४६३ | वामश्चाषगतिर्यत्र | ३५० |
| वांशिकौ रसिकौ व्यक्त० | ३७३ | वामश्चेत्सटको वक्षः | २३० |
| वाक्पारुष्यं प्रहारश्च | ४५३ | वामस्तालान्तरस्यश्च | ३२५ |
| वाक्यार्थाभिनयस्तत्र | २०७ | वामस्तु शकटास्योऽन्यः | ३५१ |
| वागङ्गसात्विकाहार्य० | ४६१ | वामस्त्वलातको वाङ्घ्री | ३५४ |
| वागङ्गाभिनयानां या | ३४२ | वामाङ्गेनार्धसूचि स्यात् | २६५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| वामाङ्घ्रिः शकटास्यः स्यात् | ३५० | विक्षिप्तालातकाक्षिप्त० | २६१ |
| वामान्ते स्पन्दितो यत्र | ३४९ | विक्षेपवलने प्राहुः | ६३ |
| वामार्तभ्रमादाहुः | २४९ | विक्षेपाच्च भवेत्स्तम्भः | ४६९ |
| वामावर्तो भवेद्यत्र | २४८ | विघ्नेशं भारतीं देवीं | ३६४ |
| वामेतरः करः किञ्चित् | २१८ | विचारे च विचारज्ञाः | २१ |
| वामे दक्षिणतः पादे | १२९ | विचित्रमङ्घ्रिजङ्घोर० | २७६ |
| वामेन पितृकार्ये स्यात् | १३० | विचित्रा नृत्यशाला स्यात् | ३९५ |
| वामो डोलाकरः प्रोक्तं | २०८ | विच्युतः स्वस्तिकस्तद्वत् | ५९ |
| वामोऽङ्कितोऽङ्घ्यार्धिकस्तु | ३५१ | विच्युतः स्वास्तिकस्त्रीभिः | ५४ |
| वामोऽतिक्रान्ततां नीत्वा | ३५९ | विच्युतौ चेतदाकाश० | २१७ |
| वामोऽथ स्पन्दितो भूत्वा | ३५१ | विज्ञत्वं स्थैर्यं धैर्यं च | ४२९ |
| वामोऽपक्रान्ततां नीतः | ३५७ | वितर्कसुममौत्सुक्यम् | ४०३ |
| वामोऽलपल्लवो गण्ड० | २२५ | वितर्कितोदिता दृष्टिः | १४६ |
| वामोऽलातो दक्षिणस्तु | ३५४ | वितर्किताभितप्ता च | १३६ |
| वामो यत्र निषण्णोरुः | ३२४ | वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे | ४५० |
| वामो बाध्यार्धिकीभूय | ३५० | वितस्तिमात्रमथवा | ३३० |
| वारणे नैवमित्युक्तौ | १७७ | विदूषकस्य हासस्तु | ४०४ |
| वास्तवं कृत्रिमं चेति | ४३३ | विद्धा प्राकृतमुल्लोलः | २८२ |
| विकासितपुटद्वन्द्व | १४८ | विद्यन्तेऽन्येऽपि भूयांसः | २५२ |
| विकासिस्त्रिधा मधुरा | १३९ | विद्याधनबलैश्वर्य० | ४५४ |
| विकृणिता संकुचिता | १६१ | विद्युदुल्का निपाताभ्यां | ४६२ |
| विकृतप्रेक्षणैरक्षि० | ४२८ | विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं | १९२ |
| विकृतस्य ध्वनेस्वास० | ४३२ | विद्युद्भ्रान्ता दण्डपादे | २२४ |
| विकृतार्थानुकारस्तु | ३८८ | विद्युद्भ्रान्ता पुरः क्षेपा | २८१ |
| विकृष्टाल्यन्तमुत्फुल्ल० | १६१ | विद्युद्भ्रान्ताभिधादूर्ध्व | २६८ |
| विक्षिप्तमक्षितं गण्ड० | २७३ | विद्युद्बहुतमानां तु | ४६१ |
| विक्षिप्तमभिनेतव्यः | २२४ | विद्वन्मानसवासाय | ४७३ |
| विक्षिप्ताक्षिप्तकं तत्स्यात् | २०७ | विघातुमुचिता गात्र० | ३४५ |
| विक्षिप्ताक्षिप्तकमथो | २७२ | विधाय जनितां चारीं | २३३ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

५२१

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| विधाय तिर्थं स्कन्धाभ्यां | २५१ | विभावाः स्फुरथ हस्त० | ४४६ |
| विधाय भ्रमरीं चारीं | २१२ | विभावाः स्फुरथो बन्धः | ४४७ |
| विधाय विविधस्थायात् | ३८० | विभावाः स्युरिमे चानु० | ४५७ |
| विधाय स्वस्तिकौ कुर्यात् | १९८ | विभाविता देहसंस्थैः | ४६७ |
| विधायक्षिप्तया चार्या | ,, | विभावैरनुभावैश्च | ३९८ |
| विधिरेष सकृत्कथ्यां | ३४६ | विभावैर्वैरकान्ताद्यैः | ४०५ |
| विनयेऽथ विचारे स्यात् | ४५ | विभाव्यतेऽथ जृम्भाक्षि० | ४५९ |
| विना निमित्तं हसितं | ४६० | विभीषिकार्थो बालादेः | ४३५ |
| विनियोगं सहस्रादि | ५१ | विभ्रमो योषितां हर्ष० | ४६१ |
| विनियोगान्तराण्यत्र | १६६ | विभ्रान्ता विभ्रमे वेगे | १४८ |
| विनियोगोऽङ्गहारेषु | २७४ | विमानानां च मायानां | ४३६ |
| विनिवृत्तं परावृत्तं | १७७ | विमुक्तं भूप्रपतनं | ३३८ |
| विनिवृत्तमिति प्राज्ञः | १७६ | वियुक्ते च विधातव्ये | ४३ |
| विन्यसेदवनौ यत्र | ३०८ | विमुक्तो विस्मितः श्वासः | १६२ |
| विप्रकीर्णौ ततः कार्यौ | २०३ | वियुते संयुते वा चेत् | ३३५ |
| विप्रकीर्णौ तु तावेव | ६१ | वियोगेऽपि तथा माल्या० | ४१४ |
| विप्रलम्भे नानुभावः | ४०९ | विरलप्रसृताङ्गुष्ठ० | २७५ |
| विप्रलम्भोद्भवा शङ्का | ४११ | विरलाः पद्मकोशोऽसौ | ४२ |
| विबोधस्त्वस्त्यसौ कस्मात् | ४१२ | विरले चेत्कपित्थस्य | ४० |
| विबोधो व्याधिश्चमादः | ४०३ | विरहः करुणाद्विभ्रः | ४१४ |
| विभावत्वेन विख्याता | ४०७ | विरूपवेषावयव० | १४ |
| विभावयन्ति रोमाश्च | ४७० | विरोधिना रसास्तेषु | ४७२ |
| विभावा अनुभावास्तु | ४५३ | विलम्बेनाविलम्बेन | ३६१, ३६२ |
| विभावाद्यैरनुचितः | ४०४ | विलम्बितो लयस्तूक्तः | ३८३ |
| विभावा यत्र दारिद्र्यं | ४५० | विलापः पतनं भूसौ | ४६३ |
| विभावा विस्वरो मिश्रः | ४७० | विलापो रोदनं शोच्य० | ४२१ |
| विभावाः शीतरोगौ च | ,, | विलासिनो विलासिन्धः | ३९५ |
| विभावाः संमताः पुंसां | ४१९ | विलासे ललिते गर्वे | २२ |
| विभावाः सन्ति यत्राथ | ४५३ | विलासो गमानादि स्यात् | ,, |

| पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----|-------------------------------------|
| विलीनो मूर्च्छिते शैला० | १६५ | विश्वासैर्जुभिर्मितैर्मन्दैः ४५० |
| विलोकनालसे तारे | १४६ | विषण्णादिष्वपि प्रायः ८६ |
| विवर्णेशिथिलाङ्गत्वं | ४४६ | विषण्णे व्याकुले भीते ८५ |
| विवर्तनं समुद्भूतं | १५५ | विषमं च प्रहरण० ३९० |
| विवर्तना त्रिकस्य स्यात् | ९८ | विषमं विकटं लघ्वि० १४ |
| विवर्तितं च गरुड० | २६९ | विषयाभिमुखान्यथौ १५६ |
| विवर्तितं चापसृतं | ८९ | विषयेऽरुचिता दृष्टया० ४१५ |
| विवर्तितः कम्पितश्च | १६६ | विषादविस्मयगत० ४६२ |
| विवर्तितमधोवक्त्रं | ३३९ | विष्कम्भापसृतो मत्तः ३५६ |
| विवर्तितौ च स्फुरितौ | १५३ | विष्णुभक्तिप्रभावाद्या ४३८ |
| विवर्तितौ पद्मकोशौ | ७८ | विष्णुमन्मथकीनाश० ४०४ |
| विवर्तितौ समुद्भूतौ | १५४ | विष्णुवेषधरेणैव ३२१ |
| विवाहस्थाननयने | ५६ | विस्मृष्टः स्याद्विनिष्क्रान्तः १६७ |
| विवाहे त्वङ्गुलाग्रस्थ० | ३८ | विस्तरवस्तचित्तेन ३४४ |
| विबुधोति मनोवृत्तिः | १८० | विस्तारणं निर्निमेषं ४३६ |
| विबुधं सममित्यूचे | १३३ | विस्तारिताक्षितावह्व्री ३३६ |
| विबुधं विनिबुधं च | १९२ | विस्तीर्णा चञ्चलोत्फुल्ल० १४८ |
| विबुधता सा कटी प्रोक्ता | ९१ | विस्मयश्चाथ निर्वेदः ४०१ |
| विबुधतोऽथ भ्रमरिका | २२८ | विस्मये च स्मिते हर्ष० २१ |
| विवेकः श्रुतिसंपत्तिः | ४५१ | विस्मये दृश्यते तच्च २४ |
| विशाखदैवतं तच्च | ३२३ | विस्मये भूरिसौभाग्य० ३२७ |
| विशालनेत्रता बिम्ब० | ३६७ | विस्मयो वीक्षणं पश्चात् ४६३ |
| विशेद्विकृतवाग्वेष० | ३८९ | विस्मापनेऽभिनेतव्ये १३६ |
| विशेषणविशेष्ये च | ३१ | विहाय त्रीनभिनयान् १४ |
| विशेषणे चोल्बणयोः | ., | विहाय विषयान्मुख्यं ४४१ |
| विश्लिष्टजङ्घयोः कृत्वा | २९५ | वीक्षणे गरुडादीनां ३१३ |
| विश्लिष्टा कातरा पार्श्वि० | २८० | वीरः स्यादुचिते युद्धे ४३१ |
| विश्लिष्टौष्ठं तु विवृतं | १७७ | वीररौद्रकृतं मल्ल० ३२४ |
| विश्लिष्य पार्श्वं स्वनीतः | २८३ | वीरे क्रोधो भयं शोके ४४३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|---|-----------|
| वीरो दानादयस्तत्र | ४३२ | वैष्णवस्थानके स्थित्वा | २४९ |
| वृत्तिः संस्कृतवाक्यैक० | ३४१ | वैष्णवे स्थानके स्थित्वा | २४५ |
| वृत्तिः सा भारती सात्त्व० | ३४० | व्यंसितं सनिकुट्टं स्यात् | २६२ |
| वृन्तात्पुष्पोद्धृतौ वर्ति० | ५० | व्यञ्जनग्रहणं स्वेदः | ४७० |
| वृश्चिकं करणं कृत्वा | २०७ | व्यथायां कम्पितोऽन्वर्थः | १६७ |
| वृश्चिकं चरणं कृत्वा | २१६ | व्यभिचारित्वमनयोः | ४४२ |
| वृश्चिकं तु लताद्यं च | २६८ | व्यरीरचत्त्रयमिदं | ४ |
| वृश्चिकं वृश्चिकाद्ये च | १९२ | व्यवस्थानानुभावानां | ४२० |
| वृश्चिकश्चरणो यत्र | २१७ | व्यसनप्रभवोऽन्वर्थः | ४१९ |
| वृश्चिकाद्यं कृद्धितं स्यात् | २६३ | व्यस्तानां वा समस्तानां | ३६८ |
| वृश्चिकोऽङ्घ्रिः पद्मकोशौ | २३२ | व्याख्यानादिप्रयासेन | ४६५ |
| वृषभासनमाख्यातं | ३३५ | व्याप्तास्यस्थोन्नताग्रा च | १७२ |
| वेणी वा सरला दीर्घा | ३६९ | व्याप्तास्यस्थोन्नतान्वर्था | १७३ |
| वेतालभृङ्गिरिख्यादि | १२६ | व्याप्ते वक्त्रे चला लोला | ॥ |
| वेपथुर्मुखवैवर्ण्य० | ४४६ | व्यादीर्णं दूरनिष्क्रान्तं | १७४ |
| वेपथं स्फुरणं कम्पः | ४७० | व्यादीर्णं श्वसितं वक्रं | ॥ |
| वेपनाद्याः कम्पभेदाः | ॥ | व्याधिर्वाप्तिर्विरेकश्च | ४४५ |
| वेषालंकारगमन० | ४१५ | व्याधिश्च यत्र बीभत्सः | ४३५ |
| वैकल्पिकं कटीछिन्नं | २६८ | व्याधौ च वीटिकाच्छेद० | १७० |
| वैतालिकश्चारणश्च | १७ | व्याध्यादेरनिवर्तित्वात् | ४६४ |
| वैवर्ष्यमश्रु प्रलयः | ४०३ | व्याभुग्नं भुग्नमुद्धादि | १७६ |
| वैवर्ष्यमस्याभिनयः | ४७१ | व्यायामे संप्रमे चेवा | ९१ |
| वैशाखं यत्र तज्ज्ञेयं . | २१६ | व्यावर्तनात्करयुगे | १९६ |
| वैशाखरेचितं कृत्वा | २६९ | व्यावर्तपरिवर्ताभ्यां | २०१ |
| वैशाखरेचितं द्वाभ्यां | २६० | व्यावर्तिताख्यं करणं | ४३ |
| वैशाखरेचितः पार्श्व० | २५६ | व्यावर्तितेन चानीय | १९९ |
| वैशाखरेचिताद्ध्वं० | २७४ | व्यावर्तितेन तत्कालं | २१५ |
| वैष्णवं समपादं च | ३१९ | व्यावर्तितेनालपद्मी० | ७६ |
| वैष्णवं स्थानकं यत्र | २३६, ३२१ | व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां २०३, २०६, २२१, २२२ | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| व्यावृत्त्या कृत्तितौ कृत्वा | २३९ | शरीरमीषद्वलितं | ३२८ |
| व्यावृत्त्या परिवृत्त्या च | ७७ | शरीरलोलनं नेत्र० | ४६५ |
| व्योमगा उभयास्तु स्यात् | २८२ | शशिनेव दिशोऽङ्गानि | १८१ |
| श्रीढानुतापशुचिभिः | ४५२ | शस्त्रजे सहसा भूमौ | ४६४ |
| श | | शस्त्रसंकटसंपात० | ३९३ |
| शकटास्यः क्रमादूरुः | ३५० | शस्त्राणां ग्रहणं पातः | ४२४ |
| शकटास्यस्ततः पादः | ३५१ | शस्त्रादिविषतोयेभ्यः | ४६३ |
| शकटास्यस्तथा वामः | ३४९ | शस्त्रे चक्राभिधे कुम्भ० | ४३ |
| शकटास्यश्वावगतिः | ,, | शार्ङ्गदेवेन गदितः | ४१८ |
| शकटास्या भवेच्चारि | २३७ | शान्तस्य शमसाध्यत्वात् | ४०० |
| शकटास्यो भवेत्पश्चात् | ३५० | शास्त्रार्थसम्यग्ग्रहणे | ५७ |
| शकटास्योद्भूताख्ये | १९३ | शिखरद्वन्द्वसंयोगात् | ८० |
| शक्तिकुन्तादिशस्त्राणि | ३४७ | शिथिलौ त्रिपताकौ तु | ९६ |
| शक्तितोमरयोर्मोक्षे | ३९ | शिरः कण्डूयने कार्यः | ४९ |
| शक्नोन्वित्यभिमाने च | १९ | शिरः कल्पितनिःश्वासं | ४२३ |
| शक्नोऽहमिह कार्येऽस्मिन् | २१ | शिरः पार्श्वगतं यत्र | ३३६ |
| शङ्कामोहावपि त्रास० | ४३३ | शिरः स्यादक्षितं किञ्चित् | २१ |
| शङ्कायां शङ्किता दृष्टिः | १४४ | शिरः स्याल्लोलितं सर्व० | २३ |
| शङ्कस्व धारणे सोऽयं | ५३ | शिरसैव भुवि स्थित्वा | २५० |
| शनैः प्राप्य शिरोऽन्योन्य० | ७९ | शिरो ढोलौ यदाह स्तौ | २३६ |
| शनैरुच्चालिता पार्श्व० | ९१ | शिरोनेत्रकरादीनां | ३६४ |
| शनैस्तिर्यङ्निगूढा या | १४५ | शिवप्रसादसंप्राप्त | २ |
| शब्दस्पर्शादिभिः स्वप्नेः | ४५९ | शीघ्रं घर्षश्चधिष्ठय . | ३३ |
| शब्दानुकरणे वक्त्र० | १६५ | शीतज्वरोऽग्निनेयोऽय | ४६० |
| शमः सर्वरसेष्वस्ति | ४४४ | शीतहृच्छत्ययोः शोके | ८८ |
| शयनं हसनं गानं | ४४९ | शीतानुलेपनाकाङ्क्षा | ४६० |
| शयानार्थेऽङ्गुलिस्फोटे | ८१ | शीतार्ते ज्वरिते भीते | १९ |
| शरमन्याकर्षणे च | ४१ | शीर्षादूर्ध्वं प्रजन्वाहुः | ९९ |
| | | शुक्रतुण्डं करं तस्यै० | २०२ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-------------------------------------|
| शुकतुण्डश्च काङ्गूलः | २५ षोडशेति त्र्यश्रमाना २५६ |
| शुकतुण्डस्तदा स स्यात् | ४१ |
| शुकतुण्डादयोऽप्यन्ये | १९७ स |
| शुद्धान्युत्प्लुतिपूर्वाणि | १६ संकोचनं च नासोष्ठ० ४३५ |
| शुद्धथर्मोद्भवोऽत्यन्त० | ४३६ संकोचात्कुक्षिताः शीत० १७९ |
| शुद्धोऽशुद्धोऽत्यन्तशुद्धः | ४३५ संकोचात्कुक्षितौ रोमा० १५९ |
| शुभ्रेः सुगन्धिभिः पुष्पैः | ३६४ संक्षिप्तकं चावपातः ३४३ |
| शुष्कोष्ठतालुता कम्प० | ४३३ संक्षिप्योत्प्लुतिपूर्वाणि २४१ |
| शून्यस्थानस्थितस्यैव | १८ संगीतज्ञैर्बुधैः सार्धं ३७४ |
| शून्यात्र मलिना भ्रान्ता | १३५ संघर्षणं कृष्टनं स्यात् १६९ |
| शृङ्गारहास्यकण्ठौ | ४०० संचारितोत्कुक्षिता च २८१ |
| शृङ्गारादिरसामासाः | ४०४ संजातमिष्टविरहात् ४५७ |
| शृङ्गाराद्विप्रलम्भाख्यात् | ,, संज्ञामात्रेण कर्तव्यः ३४७ |
| शृङ्गारी भूरिदो मान्यः | ३९४ संतापः स्मरणं ध्यानं ४५० |
| शृङ्गारे स्यात् निष्कामः | १५६ संदंशचतुरायैश्च ४५८ |
| शृङ्गारे देवतामाहुः | ४०४ संदंशकः समुद्रश्च १६६ |
| शेषे यत्रोर्ध्वविरले | ४६ संदंशकोऽधरो दन्तैः १६८ |
| शैवं च वैष्णवं क्षेत्रं | ४३८ संदेहे दधरकुल्यौ ३४ |
| शोको हि करुणे स्थायी | ४१३ संधिश्च विग्रहो यानं ४३० |
| शौर्यं भवेदनुद्भूत० | ४३१ संनतं बलितं गात्रम् २३४ |
| श्यामः सितो धूपरश्च | ४०४ सन्नं स्वस्थानविभ्रान्तं ३२१ |
| श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च | ४४१ संनिवेशविशेषोऽङ्गे ३१९ |
| श्रवणं चानुसंधानं | ४३२ संनिवेश्य समामेवं ३९६ |
| श्रीमान् गुणलवस्यापि | ३९४ संपूर्णैर्भ्रमरैः प्राग्वत् ३५३ |
| श्लक्ष्णं ध्रुवाख्यस्त्रण्डेन | ३८० संप्रदायसमुल्लासि ३७३ |
| श्लिष्टान्यजानु जानूकं | १३३ संप्रदायस्य दोषः स्यात् ३७४ |
| श्लासोच्छ्वासौ देहपात० | ४२० संप्रदाया गुणा दोषाः १६ |
| | संप्रदायागतज्ञानः ३७० |
| ष | संफेदश्चारभय्यां यत् ३४४ |
| षट्कृत्वा सप्तकृत्वो वा | ३५९ |

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|----------------------------|---------------------------------|
| संभोगेऽपि न निद्रास्ति | ४१२ सन्नेधा स्यादग्रजश्च ५० |
| संभोगविप्रलम्भौ वा | ४०६ सत्त्वमुद्गिरती दृष्टिः १४१ |
| संभ्रमादौ यथायोगं | ४५२ सद्वितीयात्पकृष्णदात् १५३ |
| संभ्रान्तं तत्प्रयोक्तव्यं | २३७ स नकमकरादीनां ५८ |
| संमुखप्रेक्षणे तच्च | २०२ स निष्कामः प्राकृतं तु १५६ |
| संमुखागत इत्येतान् | १८३ सन्ति यत्र विषादोऽसौ ४५५ |
| संयम्य सुचिरं मुक्तः | १६४ सप्त भ्रमर्यो भ्रमरी २४१ |
| संयुता विमुता वक्त्रा | १७८ सप्ताङ्गहारे प्रोक्तानि २६६ |
| संलम्बाश्चेति चरण० | १७९ सबाष्ठा मन्दसंचारा १४० |
| संलम्बोष्ठं चलं नारी० | १७५ सभाजनमनोहारि ३७४ |
| संलपकश्चतुर्थस्तु | ३४३ सभाजनमनोहारी ३८५ |
| संविदोरेकसंपत्त्या | ४०६ सभापतिः सभायाश्च १७ |
| संसारभीरुता दोष० | ४३८ सभासु परिहासज्ञः ३९१ |
| संहतं कुञ्चितं चार्ध० | १३३ सभूक्षेपकदाक्षा सा १३६ |
| संहतस्थानके स्थित्वा | ३०० समं साच्यनुवृत्तौ १५६ |
| स एव त्रिपताकः स्यात् | ३४ समं स्वाभाविकं जानु० १३४ |
| सकञ्चुकं वा चलनं | ३६९ समः स्वाभाविको भ्रान्तः १६५ |
| सकलं ध्रुवकं गीत्वा | ३७९ समतारपुटा दृश्य० १४२ |
| सकृद्भूर्ध्वं शिरो नीतम् | २१ समपादं चैरुपादं ३१९ |
| स चेत्पृष्ठत एव स्यात् | ३११ समपादस्तु पृष्ठे चेत् २२६ |
| स जङ्घास्वस्तिकेऽथान्य० | २८६ समपादाक्षितं कृत्वा २५० |
| सतालललितोपेता | ३६३ समपादाक्षितं प्राह २५१ |
| सतोः पताकौ व्यावृत्ति | ६३ समपादाक्षितं भ्रान्त० २४१ |
| सरवप्रकाशकं यत्स्यात् | ३४२ समपादानन्तरं चेत् २५० |
| सत्यं किं तु स संस्कार० | ४२७ समपादा स्थिता वर्ता २७९ |
| सत्यवादी कुलीनश्च | ३९४ समपादस्थितो यत्र २४४, २४६ |
| सत्युपायोऽपि कार्यस्य | ४५५ समपादात्परं तिर्यक् २४७ |
| सत्यैकस्मिन् समे पादे | ३८७ सममाकुञ्चितं स्थानं ३१९ |
| सत्युपायेऽपि कार्यस्य | ४५५ सममेकं विधायाङ्घ्रि० ३३४ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

५२७

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------------------------------|
| समयोऽपि वसन्तादिः | ४०७ सम्यक् च कुञ्चिता तारा १४५ |
| समस्खलितिका भौम्यः | २८१ सम्यक् स्थापिते तथ्य० ५८ |
| समस्तमुद्धृतं सारं | ४७२ सम्यग्बोधोऽथवा लोकात् ४५९ |
| समस्तशास्त्रविज्ञान० | ३९४ सम्यग्विज्ञाय षाड्गुण्यं ४३० |
| समस्याङ्घ्रेः पुरः किञ्चित् | ३३२ सरणापसृती तत्र ४६२ |
| समस्याङ्घ्रेस्तु जानूर्ध्व० | ३३० सरतो हुत्मानेन २९९ |
| समस्यैकस्य पादस्थ | ३२७ सरलः पार्श्वयोरुर्ध्वम् १०३ |
| समहस्तादिभिः पादैः | ३७५ सरितः पुण्यपयसः ४३८ |
| समाज्ञैर्विषमाज्ञैर्वा | ,, सरोमास्त्रमपाज्ञस्थ० ४२२ |
| समाङ्घ्रेः प्रपृष्ठाभ्यां | २८७ सरोषे वामहस्तेन ५० |
| समादिग्रहविज्ञश्च | ३७० सर्पशीर्षकरस्योर्ध्वे ४६ |
| समाद्यन्यतमां सूचीं | २४८ सर्पशीर्षो मिलद्वाह्य० ५४ |
| समा निवृत्ता वलिता | ९६ सर्पशीर्षो हंसपक्षः ५९ |
| समा स्वाभाविकी ध्याने | ,, सर्पशीर्षो क्रमातिर्यक् ६४ |
| समुद्रस्तु भवेदोष्ठ० | १६८ सर्वतो भ्रमणं कट्याः २७५ |
| समुत्पत्तिश्च पुत्रादेः | ४५४ सर्वतो भ्रमणादुक्ता ९१ |
| समुद्धृतं च बलनं | १५६ सर्वदा कृतकृत्येन ५ |
| समुन्नततरः पाणेः | २२२ सर्वभाषा विशेषज्ञः ३९२ |
| समे पाष्णीं सह स्निग्धभ्यां | ३३७ सर्वाङ्गपीडनं गेह० ४६२ |
| समोऽधितः कुञ्चितश्च | ९२ सर्वास्ता मिलिताः सत्यः १३६ |
| समोऽत्र स्वस्थपर्यायः | १६५ सर्वे गर्वानुभावाश्च ४२९ |
| समोत्सरितमत्तलिः | ३५०, ३५१ सर्वे घर्घरमेदास्ते ३८८ |
| समोत्सरितमत्तली | २७९, २८६ सर्वे च मिलिताः सन्तः ३० |
| समोत्सरितमध्यर्धं | ३४८ सर्वेऽमी रूपवन्तः स्युः ३७३ |
| समो भ्रान्तो विलीनश्च | १६२ सर्वेषां तरुणः प्रोक्तः ४४९ |
| समो यत्र तदादिष्टं | ३३१ सर्वेषां वच्मि लक्ष्मैषां ३२० |
| समौ च नवधेत्युक्तौ | १५३ सर्वेषामङ्गहाराणां २५७, २७२ |
| समौ स्वाभाविकावेतौ | १५४ सर्वोत्करणोपेतः ३९४ |
| समौ स्वाभाविकौ भावे० | १५९ सविलसोऽपरस्तिर्यक् ७२ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| सविस्मये व्योमयान० | २१७ | सा द्वितीयाल्पकस्पन्दाद् | १५३ |
| स विस्मितो विस्मये स्यात् | १६४ | साधारणान्यमूल्याहुः | १५८ |
| सव्यवामौ च बहुशः | ३५३ | साधारण्यात्तयोर्भेदः | ४१३ |
| सशब्दं मधुरं काला० | ४१८ | साधुवादोल्लुक्सने | ४३६ |
| सशब्दच्युतसंदंशः | ५१ | सापराधत्वशङ्का या | ४४७ |
| सशब्दां कुरुतोऽन्वर्थं | २२६ | सा पार्श्वदण्डादेति | २९१ |
| सशब्दः सन्सकृत्क्षिप्तः | १६३ | सा पूर्वं परतो वा स्यात् | ४५६ |
| स शौर्यधैर्यगाम्भीर्यं | ५८ | सामदाने भेददण्डौ | ४३१ |
| स सार्धमुत्तरोष्ठेन | १६९ | सामाजिकाणां जनयन् | ८ |
| ससौष्ठवाश्च नीचैस्तु | ८५ | सामाजिकास्तु लिहते | ४०१ |
| स स्याद्भानोरुपस्थाने | १०१ | सामादीनामुपायानां | ४२९ |
| स स्यान्मदः स च त्रेधा | ४४९ | साम्याद्भुधिरमोहादि | ४०४ |
| स स्वल्पाभिनये वेद० | ७० | सार्धतालान्तरस्वेन | ३८५ |
| सह गायति संयुक्तैः | ३७९ | सार्धद्वितालन्तरालः | ३२० |
| सहजा पतितोत्क्षिप्ता | १५० | सार्धानि द्विः कटीच्छिन्न० | २६४ |
| सहभावोऽवहित्येन | ४४७ | सालगस्थध्रुवाद्यन्ते | १२४ |
| सहसा दर्शनं यत्तद् | १५८ | सावयता वा निवद्य० | ४७३ |
| सहसापसृतिः शास्त्र० | ४६३ | सा विप्लुतार्तिदुःखादौ | १४८ |
| सहायान्वेषणोपाय० | ४५५ | सिंहविक्रीडितं सिंह० | १९३ |
| सहोरुद्धृतया चार्या | २३८ | सिंहाकर्षितकं नाग० | २६८ |
| साक्षात्कारमिवानीतैः | ४०५ | सिंहादीनामभिनये | ५८ |
| साक्षात्स्वेदोऽभिनयेः | ४२५ | सिन्दूराद्येन वा वर्णाः | ४७१ |
| सांख्योक्तो वा गुणः सत्त्वं | ४६८ | सुकम्बुकण्ठतावेष्टत् | ३६७ |
| सा चिन्तौत्सुक्ययोः शोके | १६१ | सुकुमारं तिरश्चीनं | ३६१ |
| साच्युच्यते तिरश्चीन० | १५७ | सुकुमारस्खलद्रव्या० | ४४९ |
| सात्त्वतेऽप्येवमेव स्यात् | ३४६ | सुखरूपा स्वसवेद्या | ३९९ |
| सात्त्विकैः सात्त्विकैर्भावैः | ९ | सुतालकलितप्रान्तान् | ३८१ |
| सात्त्विकाश्च रसेषु स्युः | ४७१ | सुतालैरक्षराणीव | ३६७ |
| सा देशी पद्धतिस्तृष्णा | ३७८ | सुनीलस्निग्धविस्तीर्ण० | ३६९ |

श्लोकार्थानामनुक्रमणिका

५२९

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| सुप्तं प्रसारितं स्थानं | ३३९ | सूच्यङ्घ्रिष्वेतदा सूची० | २२७ |
| सुप्तमुत्तानवक्त्रं च | ,, | सूच्यङ्घ्रिणा द्वितीयाङ्घ्रे: | २२२ |
| सुप्तस्थानानि षट्त्तानि | ३२० | सूच्यन्तेऽन्ये साहचर्यात् | २८ |
| सुप्तिमूर्च्छातिवर्षोष्ण० | १५४ | सूच्यपकान्तको वामः | ३५६ |
| सुभङ्गिरङ्गपीठस्थ | ३७५ | सूच्यर्धसूचिनी सूची० | १९३ |
| सुमनांसीव गात्राणि | ३६७ | सूच्येवैकाङ्गरचित० | २२७ |
| सुरतं प्रति सोत्साहं | ३६६ | सूक्तं वेदनादौ स्यात् | १६६ |
| सुराणां वरिवस्यायां | २२० | सूत्रधारादिना नाट्य० | ३२१ |
| सुलभा दुर्लभास्वेते | ४६९ | सूत्रधारादिविषये | २१८ |
| सूच्यन्त्यान्तरं भावं | ८६ | सूरयो विनियुञ्जन्ति | २२८ |
| सूचीं च भ्रमरो वाम० | ३५५ | सरिश्रीशार्ङ्गदेवेन | ४७२ |
| सूची च भ्रमरीं वामे | ३५८ | सूर्यचन्द्रोपरागाभ्यां | ४६२ |
| सूची दक्षिणपादः स्यात् | ३५७ | सक्कानुगा लीढसक्का | १७२ |
| सूचीपादः स्वपार्श्वे वा | ३२७ | सोऽप्ये तदनुगोऽन्यः स्यात् | २९७ |
| सूचीपादोऽङ्घ्रिणान्येन | २११ | सोच्छ्वासाभिनये मन्द० | १६० |
| सूचीपादो नतं पार्श्वं | २२५ | सोच्छ्वासेत्युदिता नासा | ,, |
| सूचीपादोऽप्यपसृतः | २१० | सोत्तमानामपि क्लीणां | ४४७ |
| सूचीपादौ पृथग्यत्र | ३३३ | सोदाहरणलक्ष्माणः | ३४४ |
| सूत्रीमुखं चापसार्य | २०९ | सौन्दर्यसौकुमार्याभ्यां | ३४३ |
| सूत्रीमुखं नृत्तहस्त० | २२० | सौभाग्यमेधाविद्यादेः | ४४८ |
| सूचीमुखः सर्पशिराः | २५ | सौम्यं मध्यस्थतारं च | १५७ |
| सूचीमुखो निकुटयेत | २३७ | सौष्ठवं यत्र तज्ज्ञेयं | ३२० |
| सूची यत्राथ वामः स्यात् | ३५५ | सौष्ठवं रूपसंपत्तिः | ३६७ |
| सूची वामस्त्वपकान्तः | ३५६ | सौष्ठवाधिष्ठितं वक्षः | ८७ |
| सूचीविद्धं वामविद्धं | ३४८ | सौष्ठवेऽङ्गं भवेत्तच्च | ३२१ |
| सूचीविद्धाभिधः प्रोक्तः | २५९ | स्कन्धकूर्परयोर्मध्यम् | ५६ |
| सूचीविद्धाभिधे चार्या० | ३५३ | स्कन्धन्यस्तशिरः सुप्तं | ३४० |
| सूची स एव भ्रमरः | ३५४ | स्कन्धभङ्गश्च जडता | ४६४ |
| सूच्याङ्घ्रिर्दक्षिणे वामः | ३५७, ३५९ | स्कन्धघ्नान्तं च षट्त्रिंशत् | २४१ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| स्कन्धयोः स्तनयोर्यद्वा | ७७ | स्थानभ्रष्टो विस्वरः स्यात् | ४७० |
| स्कन्धानतं तदाख्यातं | २४ | स्थानेऽङ्घ्रिः खण्डसूच्याख्ये | ३०४ |
| स्कन्धान्तिकमथोपेत्य | ७८ | स्थानेन समपादेन | २८२, ३५२ |
| स्कन्धे तु किञ्चिदाश्लिष्य | २४ | स्थाने विषमसूच्याख्ये | ३०५ |
| स्कन्धे वक्षसि वा शस्त्रं० | ३४६ | स्थायाधिक्योनताभिज्ञः | ३७० |
| स्खलतः प्रोच्यते चारी | ३०७ | स्थायिभावश्च ह्रासः स्यात् | ४१६ |
| स्खलिते चरणे तिर्यक् | ,, | स्थायिभेदाद्विभागोऽतः | ४१३ |
| स्खलिते विगलद्वज्ज० | ३२७ | स्थायिष्वव्यभिचारित्वं | १३५ |
| स्तनक्षेत्रगतं जानु० | १३४ | स्थायी तत्कथमुत्साहः | ४२६ |
| स्तब्धजङ्घः सार्धताल० | २१८ | स्थायी तमद्भुतं प्राह | ४३६ |
| स्तब्धस्तु निष्क्रियः स स्यात् | १२८ | स्थायी तु सूत्रस्थानीयः | ४७२ |
| स्तम्भः स्वेदश्च रोमाश्चः | ४३६ | स्थायी स्याद्विषयेष्वेव | ४०२ |
| स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाश्चः | ४०३ | स्थितः पार्श्वेऽथवा पार्श्वे | ९५ |
| स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यं० | ४२० | स्थितिस्तु चरणप्रेण | ३०७ |
| स्तम्भग्रहेऽतिभारे च | ५६ | स्थितेन समपादेन | ३७५ |
| स्तम्भद्वयोपरि न्यस्येत् | ३६४ | स्थितौ वक्षः पुरोदेशे | ५९ |
| स्तम्भाङ्गसंविक्षिप्त० | ४५९ | स्थित्यर्थे देशनिर्देशे | १९ |
| स्तम्भितोल्लासनिःश्वास० | १६२ | स्थित्वा गच्छति गत्वा च | ३१८ |
| स्तम्भो गद्गदशब्दश्च | ४६४ | स्थित्वा भुवि व्योम्नि कृत्वा | २५१ |
| स्तम्भो विवर्णता स्रस्त० | ४२० | स्थित्वा स्वस्तिकबन्धेन | २९९ |
| स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नाः | ४४३ | स्थिरप्रेम्णा कृतज्ञश्च | ३९४ |
| स्त्रीणां कोपे वितर्के च | १५१ | स्थिरहस्तोऽथ पर्यस्तः | २५६ |
| स्त्रीणां च नीचप्रकृतेः | ४३४ | स्थिराः स्युः स्थायिनस्तेन | ४२६ |
| स्त्रीणां लीलागतेष्वेषा | ९१ | स्थिरोद्धृतपुत्रं रूक्षं | १४१ |
| स्त्रीणां विलासे बिम्बोके | १६७ | स्थूलकणः कटुध्वानः | ४१८ |
| स्त्रीपुंसयोरुत्तमयोः | ४०६ | स्थैर्यं त्वचलचित्तत्वं | ४३१ |
| स्थानं चिकीर्षितासु स्यात् | ३२६ | स्निग्धा हृष्टा तथा दीना | १३५ |
| स्थानं यथाभिनेयं स्यात् | ,, | स्निह्यन्ति च निसर्गेण | ४७३ |
| स्थानं स्थितिर्गतिश्चारी | ३१७ | स्पन्दनं कम्पनिःश्वासौ | ४५६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------------------|-----------|-----------------------------|-----------|
| स्पन्दितः शकटास्यस्तु | ३५० | स्याद्दामेतरभागे तु | ३९५ |
| स्पन्दितो वामपादः स्यात् | ३५७ | स्याद्विभावोऽथानुभावाः | ४३५ |
| स्पर्शग्रहाश्रिताश्चानु० | ४३६ | स्याद्विसर्जनमाह्वानं | १८९ |
| स्पृशतो बाह्यपार्श्वभ्यां | ३०५ | स्याद्भीहासश्रमस्वास० | ८८ |
| स्पृशत्करिकराकारः | ६९ | स्यान्मत्स्यकरणं चाथ | २४१ |
| स्फुटमास्फोटितं धीरैः | ३५० | स्रस्तव्याकुलविक्षिप्तौ | ४४९ |
| स्फुरणादि प्रयोक्तव्यं | ४६४ | स्रस्तालासं जानुगतं | ३१९ |
| स्फुरितं बलितं लोलम् | १७४ | सुताश्रुधारमस्स्थ० | ४२२ |
| स्फुरिताग्रे स्रुतौ वेगात् | ३०४ | स्वकङ्कणक्षणत्कार० | ३९६ |
| स्फुरितोष्ठो मृगाक्षीणां | ४२८ | स्वतन्त्रयोरतो नास्ति | ३१ |
| स्फुरितौ कम्पितौ कार्यौ | १५९ | स्वतन्त्रोऽसौ क्रमान्मन्द० | ४६८ |
| स्फुरितौ स्पन्दितौ स्यातां | १५४ | स्वतो विषयवैमुख्यं | ४४० |
| स्फुरत्संश्लिष्टपक्षमाग्रा | १४४ | स्वदेहक्षेत्राभिमुखं | २९४ |
| स्मितं च हसितं प्रोक्तं | ४१६ | स्वनिष्ठानि नवेत्याहुः | १५५ |
| स्मितं स्याद्विहसी यस्तु | ३६३ | स्वपार्श्वं नीयतेऽन्यस्तु | ७६ |
| स्यन्दितावस्यन्दिताख्या | २७९ | स्वपार्श्वमन्यतो गच्छन् | १०४ |
| स्याच्छिन्नकरणोक्ता चेत् | ३५६ | स्वपार्श्वयोः पुरस्ताद्वा | ६७ |
| स्यालालभञ्जने तच्च | २१३ | स्वपार्श्वे कम्पमानस्तु | ३३ |
| स्यात्तिर्यक्स्वस्तिकं कृत्वा | २४८ | स्वप्नप्रलापनं श्वास० | ४५७ |
| स्यात्तु निष्क्रियता स्तम्भः | २२ | स्वप्नान्तनिद्राच्छेदाभ्यां | ४५९ |
| स्यात्पक्षानुकृतौ माने | १०४ | स्वप्नोऽवहित्यसालस्य० | ४१६ |
| स्यात्फूत्कारेऽनुकम्पायां | १६८ | स्वभावादभयौ तौ हि | ४३४ |
| स्यात्क्रिया करपादादेः | १९१ | स्वभावाद्गतुदोषाद्वा | ४३५ |
| स्यात्पार्श्वस्वस्तिकोऽभ्यासात् | २६० | स्वभावाभिनयाः पूर्वम् | ४४१ |
| स्याद्दशम्यां दशायां सः | १६४ | स्वभावाभिनये कार्याः | ९२ |
| स्याद्देवात्मपराणां यत् | ४२१ | स्वभावेन स्थितो भूमौ | ” |
| स्याद्बाह्यपार्श्वगस्तिर्यक् | ३३२ | स्वभुजप्रेक्षणैः शत्रौ | ४२८ |
| स्याद्वक्षः सममाभुमं | ८७ | स्वयं गायति वाद्यं च | ३७७ |
| स्याद्दामाङ्घ्रिरतिक्रान्तः | ३५६ | स्वशङ्कायां परज्ञान० | ४४७ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| स्वसंमुखतलश्वोर्ध्व० | १८२ | स्वेदधाकाशनिष्ठातु | ४६८ |
| स्वसंमुखौ च विततौ | ५५ | स्वेदवेपथुरोमाश्च० | ४२५ |
| स्वसमुत्था परे झस्य० | ४४७ | स्वेदोऽधोमुखता मूर्ध० | ४५४ |
| स्वस्तिकं वर्धमानाख्यं | ३१९ | | |
| स्वस्तिकं व्यंसितं तु द्वि० | २७१ | ह | |
| स्वस्तिकप्रक्रियैषा स्यात् | २०० | हंसपक्षौ परे प्राहुः | ७५ |
| स्वस्तिकाकृतितां बीतौ | ६६ | हंसपक्षौ स्वस्तिकत्वं | ५८ |
| स्वस्तिकाङ्घ्रिकृता सैव | २४४ | हंसस्यो हंसपक्षश्च | २६ |
| स्वस्तिकाद्यं रेचितं स्यात् | २६८, २६९ | हनुचालेन सर्वाङ्ग० | ४६० |
| स्वस्तिकान्यर्धदिक्पृष्ठ० | १९२ | हनुदेशगतस्तु स्याद् | ४७ |
| स्वस्तिकापस्तौ पादौ | २३६, २३९ | हन्तृप्रकृतयो रक्ष० | ४२३ |
| स्वस्तिकीकृत्य नाभिस्थः | २०५ | हरिणप्लुतमाख्यातं | २२८ |
| स्वस्तिको लमयोर्बाह्वोः | १०१ | हरिणप्लुतया चार्या | ,, |
| स्वस्तिको हंसकस्थाने | ३२९ | हर्षचिन्तादिभिः प्रोक्तः | ४०६ |
| स्वस्तिकौ विप्रकीर्णाख्यौ | २६ | हर्षमर्षाङ्गनाद्धमात् | ४७१ |
| स्वस्तिकौ स्वस्तिकौ पादौ | १९९ | हर्षशोकभयोपायान् | ४४९ |
| स्वस्थं मदालसं क्रान्तं | ३१९ | हर्षाद्रागाद्भयाद्दुःखात् | ४६९ |
| स्वस्थक्रियासु कर्तव्यौ | १६२ | हर्षाद्दिनहास्यादि | २२ |
| स्वस्थानुच्छासनिःश्वास० | ,, | हर्षामर्षविषादाश्च | ४०३ |
| स्वस्थौ चलो प्रवृद्धश्च | ,, | हर्षो धृतिः समीचीनः | ४३९ |
| स्वहेतुस्थः कृत्रिमश्च | ४३५ | हवने सज्जनानां च | ३३८ |
| स्वाङ्गुष्ठासु मिथो लग्नाः | १७९ | हसन्तमपरं दृष्ट्वा | ४१६ |
| स्वाधीनपरिवारश्च | ३९४ | हस्तं मुहुः क्रमात्कृत्वा | ७६ |
| स्वाभाविकं समं शीर्षं | २५ | हस्तः सूचीमुखः स स्यात् | ४३ |
| स्वाभाविकः प्रसङ्गश्च | १८१ | हस्तग्राह्यां तिरश्चीनां | ३६४ |
| स्वाभाविकी स्यात्सहजा | १५० | हस्तपादकटिप्रीवं | २१६ |
| स्वाभाविकी स्यादन्वर्था | १६० | हस्तपादप्रचारस्तु | ३२६ |
| स्वाभाविकी नता मन्दा | ,, | हस्तप्रसारणं त्वत्र | ७२ |
| स्वेच्छाकृतकर्मैर्यद्वा | ३७५ | हस्तलाघवतो मन्त्रैः | ४३७ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| हस्ते व्यावर्तमाने तु | २०६ | हस्तौ हृत्क्षेत्रगौ यत्र | १९९ |
| हस्तो यो रेचितस्तद्विक् | २३० | हानिगलानिमदव्याधि० | ३३७ |
| हस्तो वाभिनये गल्यां | २७७ | हासनीयस्य कक्षादि० | ४१६ |
| हस्तोऽसावलपद्मः स्यात् | २३७ | हासे घोणे च पतिते | १५१ |
| हस्तौ चिबुकविन्यस्तौ | ३३६ | हास्यरौद्रावपि त्रेधा | ४१८ |
| हस्तौ चेद्रेचिताकारौ | २२९ | द्विकोर्ध्वश्चासवमन० | ४६४ |
| हस्तौ चेदेचितौ स्यातां | २३९ | हीनाधिकविवेकज्ञः | ३९४ |
| हस्तौ भणन्ति शोभेते | ७२ | हीना शृङ्गारनिर्वेद० | ३४२ |
| हस्तौ यत्रोद्धटितं तत् | २३८ | हृदयस्थानवस्थानं | ४५३ |
| हस्तौ स्तो वामपार्श्वे तद् | २१३ | हृये गन्धे विधातव्यः | १६४ |
| हस्तौ सस्तौ विमुक्तौ च | ३३७ | होमे देवार्चने दीन० | ३३८ |

APPENDIX II

उदाहृतवाक्यानामनुक्रमः

| अ | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| | | अन्तर्बहिश्चक्रभावं | १२१ |
| अंसान्तरक्षेत्रगतौ | ११८ | अन्तर्बहिश्चेद्वलितौ | १२३ |
| अङ्गाद्यभिनयस्येह | ८२ | अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिः | १८६ |
| अतोऽनन्तत्वमेतेषां | ११२ | अन्तस्तिर्यक्चक्रभावात् | ११४ |
| अतो रङ्ग इति ज्ञेयः | २५३ | अन्यस्ततः कुट्टितश्चेत् | ३१४ |
| अतो विमुक्ता युक्ताश्च | १२४ | अन्यस्तु भजते यत्र | ११३ |
| अत्यन्तबल्लभाश्चैव | १२४ | अन्याश्च कथिताः सप्त | ११० |
| अथ तौ केशपर्यन्तं | ११५ | अन्ये त्वाचक्षतेऽन्योन्य० | १०९ |
| अथ पादनिकुट्टाख्य० | ३१३ | अन्येऽपि बहवः पूर्वं | ११२ |
| अथवा तुम्बिखण्डाब्ज० | ११३ | अन्योन्यव्यतिहारेण | " |
| अथवाविद्धकेन स्यात् | ११८ | अन्योन्यसंमुखौ सन्तौ | ६२ |
| अथवा सरलत्वेन | १२१ | अन्योन्याभिमुखे स्यातां | ११४ |
| अनन्तमङ्गलग्राह्य० | १२४ | अन्योन्याभिमुखौ चैव | ११९ |
| अनुक्त उच्यते यस्मात् | ८२ | अन्यो हस्तः शिरः क्षेत्र० | १२१ |
| अनुप्रलोच्य ढोलावत् | १२२ | अपरं तु पराचीनम् | ११३ |
| अनुलोमविलोमा च | ३१३ | अपराङ्गपरावृत्तौ | १२३ |
| अनेन रहितं नृत्तं | १११ | अपरोऽलातचक्रस्य | ११९ |
| अन्तरामण्डलग्रान्ति० | ११८ | अपविद्धं ततः पश्चात् | १११ |
| अन्तर्निवेश्य त्वरया | ११६ | अभिमण्डलसंपूर्णौ | ११५ |
| अन्तर्बहिश्चक्रचरः | ११९ | अभ्यन्तरापवेधेन | १२२ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|------------------------------|-----------|
| अभ्यन्तरे कनिष्ठाया | १०६ | आविद्धवक्रयोः पाण्योः | १०७ |
| अमुमन्तः समाक्षिप्य | ११३ | आविद्धावन्तराक्षिप्तौ | ,, |
| अरं तत्र प्रदेशेषु | १२१ | आवेष्टितक्रियापूर्वं | १०६ |
| अरालं दधदावेष्ट० | १०९ | आश्लिष्टौ स्वस्तिकौ क्षेत्रे | १०८ |
| अरालकपरावृत्त्या | ११८ | आहार्याभियं मुक्त्वा | १२ |
| अर्थस्यैकस्य भूयांसः | ८३ | | |
| अर्धमण्डलिका घात० | १०५ | इ | |
| अलपद्मकसंज्ञास्ते | १२४ | इन्वपादिभ्यः | २७७ |
| अलपल्लवसंज्ञाश्चेत् | ११० | इति कीर्तिधरस्वाह | १०८ |
| अलपल्लवितौ प्राहुः | १०९ | इतीदं तपतांश्रेष्ठ | १२३ |
| अलातचक्रकाख्यं च | ११२ | इदं तु कमनीयं वै | १२१ |
| अलातचक्रकाख्यं तत् | ११९ | इन्द्रादिदेवाः प्रीताः स्युः | ,, |
| अवहित्थः करो वक्ष० | १०६ | उ | |
| अष्टबन्धविहारं च | ११२ | | |
| अष्टबन्धविहाराख्यं | १२२ | उक्तैः संकरसंसृष्टि० | १२३ |
| अष्टासु दिक्षु स्यातां चेत् | १२२ | उचितौ विच्युतौ कार्यौ | २६ |
| असंयुतास्तावदेते | ८२ | उत्प्रकोष्ठं च पर्यायात् | ११७ |
| आ | | उत्सारितोद्वेष्टितकैः | ११५ |
| आत्मस्थापेक्षया परस्य० | ४१८ | उद्देशः क्रियतेऽन्वर्थः | ३१३ |
| आदिकूर्मावतारं तद् | ११५ | उद्वेष्टितेन निष्पन्नौ | १०९ |
| आदिकूर्मावताराख्यम् | १११ | उरः समुन्नतं सन्नं | ८५ |
| आदौ तु स्वस्तिकं बद्ध्वा | १२२ | उरोवर्तनिकां विद्यात् | १०८ |
| आदौ मध्येऽवसाने च | ,, | उल्लसद्गीतनृत्ताद्या | १० |
| आदौ वाद्यप्रबन्धस्य | ३७९ | ऊ | |
| आनुगुण्येन हस्तेन | ११३ | ऊरुपृष्ठे वर्तितश्चेत् | १०६ |
| आन्दोलितक्रियायुक्तौ | १२३ | ऊर्ध्वगो पृष्ठतो नम्र० | १०९ |
| आधम्मिल्लसमुत्क्षिपैः | ,, | ऊर्ध्ववर्तनिकाविद्ध० | १०५ |
| आपादिकगतश्चाथ० | ११८ | ऊर्ध्वाधोमण्डलाकार० | ११५ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| ऊर्ध्वाधो वदनं त्र्यश्रं | ११४ | कटीक्षेत्रगतश्चैक० | ११५ |
| ऊर्ध्वाधो वदनौ कृत्वा | १२० | कटीक्षेत्रगतौ चाथ | ११८ |
| ऊर्ध्वाधो वदनौ त्र्यश्र० | १२१ | कटीजानुसमा यत्र | ८५ |
| ए | | कथितौ पल्लवौ तौ हि | १०९ |
| एकस्मिस्तु पराचीने | १२१ | करयोः कल्पते यत्र | ११६ |
| एकस्य पार्श्वचलने | ११३ | करयोर्यत् तत्प्रोक्तं | ११३ |
| एकस्याङ्कुक्षितो मुष्टिः | १०८ | करयोर्यत्र विद्येत | ११५ |
| एकैकं स्वस्तिकं चाथ | १२१ | करयोः स्वस्तिकान्श्लेष० | ११४ |
| एकैकलुठितौ स्वैरम् | १२१ | कररेचकरत्नाख्यं | ११२, १२१ |
| एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः | ४७१ | कर्णभागगतश्चैक० | ११५ |
| एको निश्चल्य सहसा | ११८ | कलविङ्कविनोदाख्यं | ११६ |
| एको हस्तः परस्यांस० | ११५ | कलापाताः पादभागाः | २५३ |
| एतावेव चलौ मूर्ध० | १०९ | कस्यचिन्मणिबन्धे तु | ११९ |
| एते च त्रयोदश | २८ | किं तु लोके प्रयोक्तृणां | ११२ |
| एतेषां त्वभिनय० | ,, | किं त्वमी केचनान्वर्या | ,, |
| एतेषामेव मुख्यत्वं | ११२ | कुट्टयित्वा च विन्यस्य | ३१७ |
| एते सौभाग्यविजय० | १२३ | कुट्टयेच्च ततः स्थाने | ,, |
| एतौ कीर्तिधराचार्याः | १०८ | कुट्टितं चरणं पश्चात् | ,, |
| एवं पादद्वयकृता | ३१४ | कुट्टितः प्रथमं पादः | ३१४, ३१६ |
| एवं पादद्वयेनापि | ३१५ | कुट्टितश्च ततः स्थाने | ३१५ |
| एवं प्रकीर्तितश्चार्यः | ३१७ | कुट्टितश्च पुनः स्थाने | ,, |
| एवं यः पूर्वैरङ्गं तु | २५४ | कुट्टितश्चरणः पूर्वं | ३१५, ३१६ |
| एवमज्ञान्तरेणापि | १०८ | कुट्टितश्चरणः पृष्ठे | ३१६ |
| एवमन्याश्च कर्तव्याः | ३१४ | कुट्टितश्च स्वपार्श्वे च | ३१४ |
| एवमन्याश्च विज्ञेयाः | ३१७ | कुट्टितोऽङ्गुलिपृष्ठे च | ३१५ |
| क | | कुर्वन् गतागतं दिक्षु | ११७ |
| कक्षवर्तनिकोरस्थ० | १०५ | कूर्परक्षेत्रमासाथ | ११९ |
| | | कूर्परस्वस्तिकाकार० | १०९ |
| | | कूर्परस्वस्तिकेनैव | १२१ |

उदाहृतवाक्यानामनुक्रमः

५३७

| पुटसंख्या | पुटसंख्या |
|--------------------------|-------------------------------------|
| कृत्वैकं भ्रामितं चांसि | १२० चालकानां स्वरूपं वै १११ |
| कृत्वैकं मुष्टिरूपेण | ११४ चलमाने तदेतस्मिन् ११७ |
| कृदिकारादक्तिनः | २७७ |
| केचित्प्रायोगिकास्तद्वद् | ११२ ज १११ |
| क्रमपादनिकुट्टा च | ३१३ जनान्तिकं प्रयोक्तव्यं १११ |
| क्रमादेकैकपार्श्वे वा | १०८ |
| क्रमेण यत्र तत्प्रोक्तं | १२२ ड १११ |
| क्रियते चेत्पताकस्य | १०६ डोलं नीराजनं चैव १११ |
| क्रियासमभिहारेण | ११६ त |
| ख | ततः स्वस्तिकबन्धेन १२१ |
| खटकाग्रौ शिरोदेशे | १०९ ततो मण्डलवत्भ्रान्त्या १०७ |
| खटकामुखयोर्नाभिः | १०६ तत्पश्चाच्चतुराशासु ११६ |
| खड्गवर्तनिकेत्येतत् | १०८ तत्र क्रिया मनोहारी १११ |
| ग | तत्र तत्र प्रदेशेषु १२१ |
| गतागतः पार्श्वयोश्च | ११७ तत्रैव मण्डलाकारः १२० |
| गर्वेऽप्यहमिति तज्ज्ञैः | ९ तत्स्वस्तिकत्रिकोणाख्यं १२३ |
| ग्रन्थविस्तरमीतेन | १२१ तथा वामांसपर्यन्तं ११ |
| गात्रस्य प्रातिलोम्येन | ११० तथाहि कूर्पराधीतः ८२ |
| च | तथोरप्रकसंबाधं ११२ |
| चक्रवर्तनिकेत्युक्ता | १०७ तदन्यस्मिन् विच्छिन्नाः ११८ |
| चतुर्विंशतिरित्युक्ता | १०५ तदानीमेव पार्श्वं स्वम् १०९ |
| चतुष्पत्राब्जसंज्ञं च | १११ तयोर्ध्वेषा क्रिया सा स्यात् ११ |
| चरगतिभक्षणयोः | २२७ तदोर्ध्ववर्तना नाम १०६ |
| चरणाङ्गुलिपृष्ठेन | ३१४ तद्विदो वादयन्त्वेतां ३७९ |
| चारी च पृष्ठछठिता | ३१३ तद्वै कुण्डलिचाराख्यं ११७ |
| चारी डमरुकुट्टाख्या | १०६ तर्जन्यायङ्गुलीनां १०६ |
| | ११ तस्मादयं पूर्ववत्तः २५३ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु | ८३ | द्रव्यसंस्कारकर्मषु | २७६ |
| तस्याश्च बहवो भेदाः | ३१३ | द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा | २५५ |
| तस्यैव बहिरन्तश्च | ११४ | द्विगुणोदघनेनैव | ११६ |
| तस्यैव च समुत्क्षेपः | ११६ | | |
| तिर्यगूर्ध्वं प्रथमतः | १२० | ध | |
| तिर्यक्पाश्चात्तरायातं | ,, | धनुराकर्षणं चैव | १११ |
| तिर्यक्प्रसारितौ चैव | २९ | धनुराकर्षणाख्यं तत् | ११८ |
| तिर्यग्गतस्वस्तिकाग्रं | ११२, ११९ | धनुर्वल्लीविनामाख्यं | ११२ |
| तिर्यग्लुठति चैकस्मिन् | १२२ | | |
| तीक्ष्णकूर्पूरकावेव | ११९ | न | |
| तेन भावा द्वेतवस्ते | ४२० | नटी नटाश्च मोदन्ते | २५३ |
| तेषु तेषु विशेषेण | ११२ | नटो गीतेन नाटयेन | ,, |
| त्रिकोणचारी पश्चाच्च | ३१३ | नयनौपम्यं पद्मदल० | २६ |
| त्रिकोणवारी या चारी | ३१६ | नलिनीपद्मकोशौ स्तः | ६२ |
| त्रिकोणचारी सोद्दिष्टा | ३१४ | नवरत्नमुखं चेति | ११२ |
| त्रिपताकोऽपरः कर्णे | ७० | नवरत्नमुखं तत्र | १२३ |
| त्रिभङ्गीवर्णसरकं | ११४ | नानानृतकलोलास० | १२४ |
| त्र्यश्रभावात्पुनश्चापि | ३१५ | नानाप्रकाराभिव्यक्त० | १५२ |
| | | नाभिक्षेत्रसमीपस्थे | ११३ |
| | | नारदेनापि मुनिना | ११२ |
| | | नाममात्रप्रसिद्धास्ताः | ११० |
| दक्षिणो यत्र हस्तस्तु | ११८ | नाञ्चुभं प्राप्नुयादत्र | २५४ |
| दण्डवर्तनिकामेनां | १०८ | निःशङ्कः कैशिकीं ब्रूते | १० |
| दध्नो घृतमिवोदीर्णाः | ११२ | निःश्वसितमस्य वेदाः | २ |
| दैकारालंकृताद्यन्ता | ३७९ | निकुट्टनं तु पादेन | ३१३ |
| देवस्तुल्याश्रयकृतं | २५३ | निकुट्टयेत्ततः स्थाने | ३१७ |
| देवानां भुसुराणां च | १२३ | निकुट्टितः पुरस्ताच्च | ३१४ |
| देवोपहारकं नाम | ११९ | निकुट्टितौ समौ पादौ | ३१६ |
| देशीनृतसमुद्राख्ये | ११२ | निकुट्ट्य च तलेनादौ | ३१४ |
| देव्या कृतैरङ्गहारैः | २५४ | | |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|---------------------------------|-----------|---------------------------------|-----------|
| निक्षिप्तश्चापि मध्ये च | ३१६ | पर्यायात्पार्श्वयोस्तिर्यक् | १२३ |
| निजैर्या तद्विधौभेदिभिः | ३७९ | पर्यायाद्वर्तते रम्यं | ११७ |
| नितम्बकेशबन्धाख्ये | १०५ | पर्यायेण करो यत्र | ॥ |
| नितम्बवर्तना नाम | १०७ | पर्यायेण करौ सौम्यं | ११४ |
| नितम्बोक्तप्रकारेण | ॥ | पर्यायेण कृत्वाथ | ११६ |
| निबद्धस्वस्तिकौ तत्र | १२० | पश्चात्क्षेपाच्च सा प्रोक्ता | ३१५ |
| निवृत्तश्चेत्स्वपार्श्वे स्यात् | ११५ | पश्चान्निकुट्टितस्थाने | ३१५ |
| निवेशिताभिधः पादः | ३१४ | पादैर्वा रचिता किञ्चित् | ३७९ |
| निष्क्रान्तावंसदेशात् | १२२ | पादकुट्टनचारी तु | ३१३ |
| नीत्वा वामांसपर्यन्तं | ११३ | पादद्वयकृता सा चेत् | ३१५ |
| नृत्यलक्ष्यविशेषेण | १२४ | पादद्वयकृता सैव | ॥ |
| नृत्तमङ्गलशास्त्रे तु | ११२ | पादद्वयनिकुट्टाख्या | ३१३ |
| नोक्ता ये च मया ह्यत्र | ८३ | पादशिक्षासु कर्तव्याः | ३१४ |
| | | पादश्चाङ्गुलिपृष्ठेन | ॥ |
| प | | पार्श्वक्षेपनिकुट्टा च | ३१३ |
| पञ्चविंशतिसंख्याश्च | ३१३ | पार्श्वगावान्तरावृत्त्या | ११४ |
| पताकारालयोः पूर्व | १०५ | पार्श्वतश्च पुनः क्षेपात् | ३१५ |
| पताकावेव चेत्प्राहुः | १०७ | पार्श्वमण्डलिनोः पाण्योः | १०८ |
| पताकौ चेच्छनैरूर्ध्वं० | ॥ | पार्श्वयोर्मौलिपर्यन्तम् | ११३ |
| पताकौ मणिबन्धस्थौ | १०९ | पार्श्वयोर्यौगपथेन | ११६ |
| पतितौत्पतितौ बाहुः | १२१ | पार्श्वे स्वस्मिन्नुरःक्षेत्रं० | १२२ |
| पतेतां युगपद्यत्र | ११८ | पुनर्निकुट्टितस्थाने | ३१४ |
| पद्मकोशाभिधौ हस्तौ | १०८ | पुनर्नितम्बदेशे तु | १०७ |
| पद्मकोशौ पृथक्प्राप्तौ | ६२ | पुनश्च कुट्टितस्थाने | ३१६ |
| पद्मवर्तनिका दण्ड० | १०५ | पुनश्च केशदेशे च | १०७ |
| परागघोमुखत्वेन | ११६ | पुनस्तन्मुख एव स्यात् | १२१ |
| पराङ्मुखोऽपविद्धः स्यात् | ११० | पुरःक्षेपनिकुट्टा च | ३१३ |
| पर्यायगजदन्ताख्यं | ११२ | पुरःपश्चात्सरा चारी | ॥ |
| पर्यायतुष्टौ लुठितौ | १२२ | पुरःपश्चात्सरा नाम | ३१४ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| पुरस्ताच्च कृता सैव | ३१६ | ब | |
| पुरस्तात्पार्श्वयोश्चैव | ११७ | बद्धस्वस्तिकयोः पार्श्वे | ११८ |
| पुरो दण्डभ्रमं तत्तु | ११४ | बहिर्मण्डलगः स्थित्वा | ११९ |
| पुरो दण्डभ्रमाख्यं च | १११ | बहुनात्र किमुक्तेन | १२४ |
| पुरो निःसारणं पाण्योः | ११४ | | |
| पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे | २५३ | म | |
| पूर्वं पार्श्वमुखावेव | ११९ | भवतो यत्र तु करौ | ११७ |
| पूर्वपार्श्वेण विदिशि | ११४ | भावानां यानि कार्याणि | ४२० |
| पूर्वमूर्ध्वं लुठितः | ११६ | भूयते यत्र लुठितम् | ११६ |
| पूर्ववद्वलितौ यत्र | ११४ | आमयित्वा विलासेन | १२१ |
| पृथक्समुन्नतं वक्षः | ८७ | | |
| पौनःपुन्येन यस्मात्तु | ११३ | म | |
| प्रकीर्तितं तु तद्धीरैः | ,, | मणिबन्धप्रकोष्ठांस० | ११६ |
| प्रतिलोमानुलोमाभ्यां | ११७ | मणिबन्धावधिभ्रान्तिः | १०६ |
| प्रथमं पार्श्वयोरेव | ११९ | माणिबन्धावधिभ्रान्तौ | १०७ |
| प्रथमं पार्श्वयोर्गत्वा | १२० | मणिबन्धासिकर्षाख्यं | १११, ११६ |
| प्रथमं स्वस्तिकी भूत्वा | १२३ | मण्डलाभरणं चैव | ११२ |
| प्रथमं स्वस्तिकीं भूयः | १२० | मण्डलेन ततोऽप्येवं | १०९ |
| प्रधावतः पुरोदेशं | ११९ | मण्डलौ च तिरश्चीनौ | १२३ |
| प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन | १२४ | मध्यचक्रा ततो मध्य० | ३१३ |
| प्रसारितभुजोऽन्यस्तु | १०८ | मध्यस्थापनकुट्टाख्या | ३१६ |
| प्राप्तयोः स्वस्तिकत्वं प्राक् | ११३ | मध्यस्थापनकुट्टा च | ३१३ |
| प्राप्तौ स्वस्तिकतामेव | ११४ | मध्ये निवेशितश्चायं | ३१६ |
| प्रातिलोम्येन वा स्यात्तु | १२२ | मनो मधुरवागङ्ग० | १५१ |
| प्रियानुकरणं लीला | १८, १५१ | माहेश्वरैरङ्गहारैः | २५३ |
| | | मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ | १०८ |
| फ | | मिथःसमीक्ष्यबाह्यं च | १११ |
| | | मिथःसमीक्ष्यबाह्यं तद् | ११५ |
| फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् | २७६ | मुरजाडम्बरं नाम | ११८ |

उदाहृतवाक्यानामनुक्रमः

५४१

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| मुरजाडम्बरं पश्चात् | १११ | रामादितादात्म्यापत्तेः | २५३ |
| मुष्टिरूपस्तु छुठितः | ११७ | | |
| मौल्लिरेचितकं चैव | १११ | ल | |
| मौल्लिरेचितकं प्रोक्तं | ११५ | लक्षणं चालकानां वै | १२३ |
| | | लताख्यौ च करौ द्वेयौ | २९ |
| य | | छुठतो यत्र युगपत् | ११४ |
| यक्षा विद्याधरा सिद्धाः | १२१ | छुठने मण्डलेनैव | ११३ |
| यत्र कुत्रचिदाख्याता | २९ | छुठमाने तदन्यस्मिन् | ११७ |
| यत्र त्रिकोणमर्यादाम् | ११७ | छुठितः प्रसृतस्याग्रे | ११९ |
| यत्र प्रवर्तते तत्तु | ११९ | छुठितौ च तथाधस्तात् | ११७ |
| यत्र शङ्कारसंबद्धं | २५४ | छुठितौ चेत्करौ तत्तु | १२३ |
| यत्र स्यातां करौ तत्तु | ११९, १२० | लोको वेदस्तथाध्यात्मं | ८३ |
| यत्रोरभ्रकसंबाधं | १२० | | |
| यथार्हं ते प्रयुक्ताः स्युः | १२४ | व | |
| यथालक्षणमाख्याताः | ,, | वक्षःक्षेत्रं श्रयत्येकः | १०८ |
| यदा तु मकरो हस्तः | १०८ | वक्षसः स्कन्धयोरूर्ध्वं | १०९ |
| यदि स्यातां करौ प्राहुः | १२० | वर्तना खटकस्यापि | १०५ |
| यदोद्धृतौ नृत्तहस्तौ | १०६ | वर्तना नागबन्धाख्या | ११० |
| या क्रिया जायते पाण्योः | ११४ | वर्तना या शिरस्याद्या | ११० |
| या क्रिया जायते सा तु | १२० | वर्तनास्वस्तिकं कृत्वा | १२० |
| युगपत्क्रमशो वाथ | १२३ | वर्तनास्वस्तिकं चैव | १११ |
| युगपच्च करौ यत्र | ११६ | वर्तनास्वस्तिकं बध्वा | १२० |
| यो यत्सम्यग्निवजानीते | २९ | वर्तनास्वस्तिकौ पार्श्वं | ११५ |
| | | वलनं यत्र निर्दिष्टं | ११५ |
| र | | वलमाने तदन्यस्मिन् | ११६ |
| रङ्गे रामायवस्थाभिः | २५३ | वलिता गात्रपूर्वा च | २०५ |
| रतिर्देवादिविषया | ४४२ | वलितैरार्जवादन्यैः | ११६ |
| रथचक्राकृती तिर्यक् | १२२ | वागङ्गसत्त्वामिनयाः | १२ |
| रसोऽभिनेयो वागङ्ग० | १२ | वागङ्गाभिनयानां या | १० |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|------------------------------|-----------|-------------------------|-----------|
| वामदक्षतिरश्वीनं | ११५ | व्याख्या हंसपक्षाख्यः | १०८ |
| वामदक्षिणकावर्तौ | ११ | | |
| वामदक्षिणभागेन | ११३ | क्ष | |
| वामदक्षिणयोः पश्चात् | १२१ | शिरःक्षेत्रे च कट्यां च | १२० |
| वामदक्षिणयोर्यत्र | ११७ | शिरःक्षेत्रोपरिष्ठातु | ११६ |
| वालव्यजनचालाख्यं | १११ | शोभाकरी तदा यत्र | ८३ |
| वालव्यजनचालाख्य० | १२० | | |
| विचित्रवर्तनयोगात् | १०७ | स | |
| वितस्तिद्वादशाङ्गुलः | २८३ | संमुखीनरथाङ्गं तत् | ११४ |
| विपरीतप्रचारा सा | ३१६ | संयुतकरणेनैव | २६ |
| विभावानुभाव० | ४०० | संयुतासंयुतरूपोप० | २८ |
| विलोड्य तत्रैव बहिः | ११६ | संलिष्टावूर्ध्ववदनौ | ११९ |
| विलोड्य पार्श्वयोर्मन्दं | ११३ | स एव हावो हेला स्यात् | १५२ |
| विलोड्य मण्डलभ्रान्त्या | ११६ | सभापतिः सभा सभ्या | २५३ |
| विशिष्टवर्तिताश्वेक्ष | १२३ | स मन्तव्यो रसः स्थायी | ४७२ |
| विशेषादाभिमुख्येन | ४२१ | समपादनिकुट्टा च | ३१३, ३१६ |
| विशृङ्खलकबन्धाख्यं | १११, ११७ | समप्रकोष्ठवलनं | १११, ११८ |
| विभ्रामाभिमुखौ चैव | १२१ | समुत्थितौ मण्डलतः | १२० |
| विलिष्टवर्तितं पूर्वं | १११ | समुन्नतो लताहस्तः | ७० |
| वेगाद्विदिशि गत्वात्र | ११८ | सरलात्सारितोद्वेष्ट० | १२१ |
| वेगान्निवृत्तावन्योन्यं | १२० | सर्वेषां समवेतानां | ४७२ |
| वेदान्तेषु यमाहुरेक० | १८६ | सव्यापसव्यचलनं | ३१३ |
| वैष्णवं स्थानकं यत्र | ८७ | सव्यापसव्ययोस्तिर्यक् | ११५ |
| वैष्णव्येका तलमुखी | ११० | सव्यापसव्ययोश्चैव | ११८ |
| व्यावर्तितक्रिया यत्र | १०६ | सव्यापसव्यव्याख्यासा | १०६ |
| व्यावर्तिनेन हस्तश्चेत् | १०९ | स संप्रदायः काथितः | २९ |
| व्यावर्तिते बहिश्चान्तः | १०६ | सहस्रं चालकास्त्वन्ये | ११२ |
| व्यावर्तितोऽन्तर्गात्रं चेत् | ११० | सा च किञ्चित्तशिरः | ११६ |
| व्याख्या वक्षसः फालं | १०७ | सा तिरश्चीनकुड्माख्या | ३१६ |

| | पुटसंख्या | | पुटसंख्या |
|----------------------------|-----------|----------------------------|-----------|
| सानुलोमविलोमाख्या | ३१६ | स्यात्स्वस्तिकविकोणं च | ११२ |
| सा मध्यछठिता चेति | ३१७ | स्वस्तिकस्थापितः पूर्वः | ३१५ |
| सामवेदस्योपवेदः | ३ | स्वस्तिकाकुञ्चितौ हस्तौ | १०८ |
| सारसारतरास्त्वेते | ११२ | स्वस्तिकाद्विच्युतौ हस्तौ | १०७ |
| सुमन्तुना तदुद्दिष्टं | १२२ | स्वस्तिकान्मण्डलाग्राह्या० | १२२ |
| सैव पश्चात्पुरःक्षेपात् | ३१४ | स्वस्थाने स्थापितपदा | ३१६ |
| स्कन्धाभिमुखमाविद्धौ | १०९ | स्वस्यापरागवलनं | ११३ |
| स्थापितः कुट्टितस्थाने | ३१५ | | |
| स्याच्चेत्करस्तदुद्दिष्टं | १२३ | ह | |
| स्यातां चेद्यत्र हस्तौ तत् | १२२ | हस्तमन्तरितं कृत्वा | ११ |

APPENDIX III

विशेषपादानि

अ

अंश, ३४३

अंस, ६८

अंसकूट, १९७

अंसपर्यावरणं, ११२, १२२

अंसवर्तनक, १११, ११६

अंसवर्तना, ११६

अकम्पं, ८९

अकार्यकारित्व, ४५४

अकुटिल, १५०

अकुञ्जक, ३२१

अक्लिष्टं, ५

अक्षपातः, ४१

अक्षपातन, ४६

अक्षप्रेरणं, ४५

अक्षमः, १५०

अक्षिनिमीलन, ४६५

अक्षिमर्द, ४५९

अक्षिलीन, ४५७

अक्षिविस्तारः, ४२८

अक्षिव्यथा, १४६

अगणनं, ४५८

अगायन्ती, ३७७

अगाराणि, ६

अगोपितः, ३९

अग्रः, ९२, १८२, १८३

अग्निः, ४६२

अग्निजः, ४६३

अग्रजः, ५०

अग्रतलः, ९२, २९३

अग्रतस्तलः, १८२

अग्रतलसंचरः, ९२, ९३, १९३, २२१,

२८३, २८४, २८६, २८७, २८८,

२८९

अग्रपार्श्वः, ५२

अग्रविवर्तन, ५०

अग्रसंदंशः, ५०

अङ्कुशः, ३९

अङ्कुरः, १५

अङ्गानि, १५

अङ्गकम्प, ४६०

अङ्गक्रिया, २९६

अङ्गद, २१८
 अङ्गपीठन, ४६२
 अङ्गप्रतिसारण, २१३
 अङ्गमोटन, १७९, ४५०
 अङ्गरक्षा, ३९६
 अङ्गवलन, ४५९
 अङ्गविपर्यास, २६५
 अङ्गविवर्तन, ३६५
 अङ्गहार, १३, १५, १६, २५२, २५६,
 २५७, २५८, २५९, २६०, २६३,
 २६४, २६५, २७२, २७४, २७५,
 २८९, ३६०, ३६३
 अङ्गहारक, १९०
 अङ्गसंज्ञ, ४५९
 अङ्गानि, १५
 अङ्गान्तर, १६
 अङ्गुल, १७१
 अङ्गुलि, १६
 अङ्गुलिकुञ्चन, ३४
 अङ्गुलिमोटन, ३२६
 अङ्गुलित्रोटन, ४५९
 अङ्गुलिसङ्गता, १७८
 अङ्गुलिस्फोटन, ८१
 अङ्गुलीः, ५५
 अङ्गुष्ठः ३७, ३९, ४०, ४५, ४६, ५०
 अङ्गुष्ठमध्यमा, ४२, ४६
 अङ्गुष्ठसंलिष्ट, १७८
 अङ्गोपाङ्ग, २९७
 अङ्गिः, ९४
 अङ्गिप्रताडिता, २८१, ३१०

अङ्गिप्रस्वस्तिक, २४९
 अचञ्चल, ३२१
 अचल, ७९
 अचलचित्तस्व, ४३१
 अचलस्थिति, ३२१
 अचेष्टा, ४५३
 अञ्चित १४, १७, २१, ९२, ९६, ९८,
 ९९, १०१, १९२, १९९, २०२,
 २०३, २३०, २४०, २४२, २४३,
 २५०, २५१, २६७, २७३, २९२,
 ३३६, ३३७
 अञ्चितभ्रमरी, २४१
 अञ्चितादिः, १४
 अञ्जन, १५४, ४७१
 अञ्जलिः, २६, १९७
 अट्टबोधक, ३८९
 अट्टताल, ३७८
 अट्टस्खलितिका, २८१, ३०७
 अट्टावज, ३७२
 अङ्कित २१९, २७९, २८७, ३४८, ३४९,
 ३५०, ३५१, ३५२
 अतात्त्विक, ४३४
 अतिकौतुक, २०२
 अतिक्रम, ४६१
 अतिक्रान्त १९२, १९४, २१५, २२३,
 २२५, २६१, २८०, २९०, २९४,
 ३४८, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७,
 ३५८, ३५९, ४६२
 अतिक्रान्तमद, २२३
 अतिवृत्ति, ४५३

- अतिद्वतम्, ३६०
 अतिनिर्मल, १३६
 अतिपान, ४४५
 अतिप्रयत्न, ५५
 अतिभार, ५६
 अतिभोग, ४५१
 अतिमन्द, ३६०
 अतिवर्ष, १५४
 अतिव्यायाम, ४४५
 अतिशायी, ४३६
 अतिश्रान्त, ९३
 अतिश्रान्तगति, ९३
 अतिहसित, ४१६, ४१८
 अत्यन्तशुद्ध, ४३५, ४३६
 अत्यक्षित, १२६, १२७
 अत्याहार, ४६५
 अथर्वण, ३४१
 अदृश्यदशन, ४१७
 अद्भुत १३५, १३९, १५६, १६४, १७४,
 १८१, ३४२, ४००, ४०४, ४३६, ४३८
 अधःक्षिप्ता, १७९
 अधःस्त, १७४
 अधम, ८४, १४९, २२९, ४१९, ४४९,
 ४५५
 अधमप्रकृति, २३४
 अधमसत्त्व, ४४९
 अधर, १६, १५४
 अधरचर्वण, १६६
 अधश्च्युति, २८७
 अधस्तल, ३४, ४१, ५५, ६३, १८२
 अधिक्षेप, ४४४, ४५४, ४६१
 अधीरा, ४६२
 अध्वति, ४५०
 अधोगत, ३७, १८३
 अधोगतिः, १५५
 अधोनमनं, ३६२
 अधोभागचरी, १४९
 अधोमुख १७, २३, ३४, ४४, ५७
 ५८, ६०, ६२, ६६, ७३, १००,
 १७६, १८२
 अधोमुखी, ४४
 अधोबदन, ४६, १८२
 अध्ययन, १७०
 अध्यर्घ, ३४८
 अध्यर्घमण्डल, ३५२
 अध्यर्धिकः, ३५१
 अध्यर्धिका, २७९, २८५, ३५२
 अध्यर्धिकी, ३५०
 अध्यात्मविषया, ४३८
 अध्वगमन, ४४५
 अध्वव्यायाम, ४५०
 अनङ्गहार, १९०
 अनङ्गीकार, ५५
 अनत्युष्ट, ३२१
 अनभिमानिन्, ४६९
 अनर्थः, ४१८
 अनवस्थान, ४५३
 अनवस्थित, १४८, १४९
 अनादरः, २२, ३४, १७६
 अनाश्रुम, १९९

अनामिका, ३४, ३५, ४०, ४१, ४२
 अनाविष्ट, १८१
 अनावेश, १५९
 अनिमेषेक्षण, ४५६, ४७१
 अनिमेषिणी, १४८
 अनिल, ३५, १६४
 अनिश्चयिनी, ४५३
 अनिष्ट, १४६
 अनिष्टगन्ध, ३५
 अनिष्टघोष, ३५
 अनिष्टदर्शन, ४५६
 अनिष्टफल, ४३५
 अनिष्टवाक्, ३५
 अनुकम्पा, ६८
 अनुकम्पाविधान, २३५
 अनुकार, ४१५
 अनुचित, ४०४, ४३१
 अनुताप, १९९, ४५२
 अनुतापिता, ४५२
 अनुत्तरदान, ४६१
 अनुद्भूतभय, ४३१
 अनुनय, ८१
 अनुजता, ३२५
 अनुभाव, ४७, ३९८, ३९९, ४०५, ४०८,
 ४०९, ४१०, ४१६, ४२०, ४२४,
 ४२९, ४३३, ४३५, ४३६, ४३८,
 ४३९, ४४४, ४४६, ४४८, ४४९,
 ४५०, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६,
 ४५७, ४६०, ४६२, ४६३, ४६४,
 ४६५, ४६९, ४७०

अनुभावक, ४५०, ४५४, ४५५, ४५८,
 ४५६
 अनुभावित, ४५७
 आनुमोदनं, ३१
 अनुराग, ४६१
 अनुलेपन, ४६, ३६४
 अनुलोम, ११७
 अनुलोमविलोम, ३१६
 अनुल्बण, १३९, ४१७
 अनुवृत्त, १५६, १५७
 अनुवृत्ति, ३७४
 अनुशय, १६५
 अनुसंधानं, ४३२
 अनुस्मरण, ४५३
 अनुस्मृति, ४१५
 अनृत, ४३, ४२३
 अन्तराल, २०७
 अन्तरालग, २४०, २४४
 अन्तरालताल, ३२१
 अन्तर्गत, १७८
 अन्तर्गत, २१९
 अन्तर्निहित, १६७
 अन्तर्भ्रमण, १५५, १६५
 अन्तर्भ्रमिका, २४८
 अन्तर्भ्रमरी, २४१
 अन्तर्याति, १७८
 अन्तस्थवीक्ष, १७३
 अन्यथाकथन, ४५८
 अन्यदार, ४२३
 अन्यपरत्व, १६४

| | |
|---------------------------------|------------------------------|
| अन्यविग्रह, ४२४ | अपसर्पित, २५६ |
| अन्यायकारिन्, ४२३ | अपसारण, २०९ |
| अन्योन्यामिलाषी, ४१२ | अपसारित, २१४, ३७४ |
| अन्वे, ७३, ७४, ८० | अपसृत, ८९, १४३, २०९, २१०, |
| अन्यैः, ८४ | २२९, २३६, २३९ |
| अन्वेष, २०१ | अपसृति, २८६, ४६२, ४६३ |
| अन्वयव्यतिरेकोत्थ, ४५८ | अपस्मार, ४०३, ४१०, ४३३, ४३५, |
| अपक्रान्तः १९३, १९४, २०५, २०८, | ४५६, ४६१ |
| २११, २३१, २४१. २६४, २८०, | अपहसितं, ४१६, ४१८ |
| ३५१, ३५३, ३५६, ३५७, ३५९, | अपांग्रहणं, ५४ |
| ४६२ | अपाङ्ग, १३७, ४२८ |
| अपक्षेप, २८१, ३०९ | अप्ररूढवचः, २०४ |
| अपघातज, ४६३ | अप्रसिद्धार्थ, १९८ |
| अपङ्गः, ३८५, ३८६, ३९० | अप्रिय, ४६२ |
| अपनयन, ३५, ४४९ | अप्रियात्मक, ४३५ |
| अपरतन्त्रत्व, ४१५ | अप्रेक्षण, ४४८ |
| अपरस्थानि, ४१८ | अभञ्जक, ४१५ |
| अपराजित, २५६ | अभयदान, १३१ |
| अपराध, ४४७ | अभाषण, ४६१ |
| अपरे, १५, १६, ७२, ७७, ७९, ९२ | अभिघात, १४६, १५४, ४६०, ४६४, |
| अपविद्धः, ९९, १००, १०३, १०९, | ४७१ |
| ११०, १११, ११३, ११८, १२३, | अभिचारकर्म, ४ |
| १९४, २०२, २५६, २५८, २६०, | अभिजन, ४२८ |
| २६६, २६७ | अमितप्ता, १३६, १४६ |
| अपवेध, १२२ | अभिनन्दन, १६८ |
| अपवेष्टन, २०१, २०९, २२० | अभिनयः, ४, ७, ८, १२, १४, २९, |
| अपवेष्टित, ७५, २२४ | ५३, ५८, ३४२, ४०८ |
| अपसरन्, ९५ | अभिनयहस्त, २६, २२५ |
| अपसरण, ९३, १३२, ३४७ | अभिनवगुप्त, २७२, ३२६ |
| अपसर्पण, ९०, २०९, २३०, २३४, २८७ | अभिनेता, ८४ |

| | |
|--------------------------------|-------------------------------------|
| अभिनेयः, २६, ४३, ८१, ८४, ३२६, | अरालवर्तना, १०६ |
| ४२५ | अरुचिता, ४१५ |
| अभिमन्त्रण, २०५ | अरुचिर, ४३५ |
| अभिमुख, ५३, ५५, ७१, ७९, ९१ | अरुण, १८१ |
| अभिमुखीभूय, ९७ | अर्गल, १९२, १९४, २१८ |
| अभिलापः, ४१५ | अर्थः, ४, १६७ |
| अभिलाष, १४०, ३२६, ४४१, ४६० | अर्थचिन्तन, १६४ |
| अभिलाषविलोकन, ३२८ | अर्थनिर्वाह, ३५२ |
| अभिवादन, १०१ | अर्थप्रचारिका, ३१६ |
| अभिषेकः, ६ | अर्थकुञ्चित, १३३ |
| अभीक्ष्ण, ३०९ | अर्धचन्द्रः, २५, ३६, २००, २०५, |
| अभीष्टसंप्राप्ति, ४३६ | २२६, २२७, २९८ |
| अभ्यन्तराक्षिप्त, १०३ | अर्धतल, ३२८ |
| अभ्युत्थान, ४६३ | अर्धताल, ३२३ |
| अभ्युपगमः, २० | अर्धत्रयश्र, २८७ |
| अमङ्गल, ४०२ | अर्धनिकुट्टक, १९२, १९४, २०४, २५६, |
| अमरभूह, १२३ | २६०, २६५, २६७, २७० |
| अमर्श, १४८ | अर्धनिमेषिणी, १४७ |
| अमर्ष, २१, ३२६, ४०३, ४२५, ४४८, | अर्धपतिता, १४० |
| ४५३, ४५४, ४६१, ४७१ | अर्धपुराटिका, ३०६ |
| अम्बर, ३२४ | अर्धपुराटी, २८१ |
| अयुक्त, ४३ | अर्धमण्डल, १०९ |
| अयुक्तविषया, ४४२ | अर्धमण्डलिन्, २७ |
| अरण्यप्रवेश, ४३२ | अर्धमण्डलवर्तना, १०९ |
| अराल, २५, २६, ३७, ४१, ५०, ५३, | अर्धमण्डलिका, २८१, ३०२ |
| ५५, ६२, ८१, १०९, २०७, २०८, | अर्धमत्तलि, १९२, १९४, २०९, २६९, ३५१ |
| २३३, २३४, २३८, ४७० | अर्धमीलित, १४४ |
| अरालक, ११८ | अर्धमुकुल, १३५, १४४ |
| अरालखटकामुख, ६२, ६९ | अर्धरेचित, २७, ६५, १९२, १९४, २०९, |
| अरालता, ७६ | २६९, २७० |

| | |
|----------------------------------|---------------------------------|
| अर्धवीक्षण, ९८ | अलातक, २६२, २६३, २७१, ३५४, |
| अर्धव्याकोश, १४४ | ३५९ |
| अर्धसूचि, १९३, १९४, २२७, २६४, | अलातचक्रक, ११२, ११९ |
| २६५ | अल्प, ४२, ४६ |
| अर्धसूची, २५९, २६१, २७१, २७३ | अल्पाक्ष, ४२८ |
| अर्धस्वस्तिक, १९२, १९४, २००, २७३ | अलस, १४६, ३३७ |
| अर्धेन्दु, ३६ | अवकुञ्चित, २८१, ३०४ |
| अर्पण, ५४ | अवज्ञा, १६६, १६८, ४४८, ४५२, ४६१ |
| अलंकार, ९९, ४०७ | अवत्स, १२४, ३२८, ३७५ |
| अलंकारबन्ध, ९८ | अवधूतं, १७, १९ |
| अलक, ३५, ३९ | अवनत, १५९ |
| अलक्तक, ३७, ५०, १६७ | अवनमन, ४५२ |
| अलग, २४०, २४३, २४४, २४६ | अवनम्र, ९८ |
| अलगपाटः, ३८५, ३८७ | अवनिकुट्टन, ३८६ |
| अलगभ्रमरी, २४१, २४९ | अवपात, ३४३ |
| अलम, ८० | अवभाषण, ४५६ |
| अलमाम्र, ४२ | अवमर्श, ४२९ |
| अलपद्म, २७, ४३, ७६, ७९, २०२, | अवयवव्यापार, १४ |
| २०८, २१२, २१६, २२०, २२७, | अवलगित, ३४३ |
| २३७, २३९ | अवलेहिनी, १७२ |
| अलपद्मक, ७८, १२४ | अवलोकन, १९८ |
| अलपद्मवर्तना, १०६ | अवलोकित, १५७ |
| अलपद्माकृति, २०४ | अवस्था, ४५७ |
| अलपल्लवः, २५, ३१, ४३, ७६, ७८, | अवस्पन्दित, २७९, २८८, ३४९ |
| १०९, ११०, २१४, २१८, २२५, | अवहित्य, २३, २६, ५७, १०६, २०३, |
| २३३, २३६ | ३१९, ३२७, ४०३, ४१६, ४४७, |
| अलात, १९२, १९४, २०६, २३२, | ४५७, ४५८, ४६६ |
| २३९, २५६, २६१, २७१, २८०, | अवहित्यकं, १९३, १९५, २३३ |
| २८१, २९२, ३१०, ३५५, ३५७, | अवास्तव, ४३५ |
| ३५८, ३५९ | अविलम्ब, ३६१, ३६२ |

अविवाद, ४५१

अविवेक, ४५६

अविभ्रान्त, १४८

अविषाद, ४२८

अविस्मय, ४२८

अविस्रब्ध, १४८

अवेक्षण, १५८

अव्यक्त, ४४९

अव्यक्तचेष्ट, ४२८

अव्यक्ताक्षर, ४६४

अव्यभिचार, ४२६

अव्यभिचारी, ४४४

अवकुक्षित, २८१, ३०४

अवज्ञा, १६६, १६८, ४४८, ४५२, ४६१

अशन, ४५३

अशुद्ध, ४३५

अशु, ४०३, ४२०, ४२३, ४५४, ४६३

अश्रुधारा, ४२२

अश्रुपात, ४२०

अश्रुस्रवण, ४७१

अश्रूणि, ४६८

अश्लिष्ट, ३६, ६१, ७७

अश्वकान्त, ३१९, ३२७

अश्वारोहण, ३२७

अष्टबन्धविहार, ११२, १२२

असंगत, ४४९

असंबद्धप्रलपन, ४६०

असंबद्धभाषण, ३८

असंभाव्य, ४३७

असंलाप, १४३

असंमोह, ४२८

असंयुतः, २६

असदृश, ४५१

असद्दोष, ४४७

असद्वाद, ३९३

असितः, ४०४

असूया, १४५, १५१, १६१, १६६,

१९७, २०२, २१४, ४०३, ४१०,

४४८, ४६१, ४६२

असूयित, १४६, १७७

असमञ्जसचेष्टन, २०९

अस, ३९

अस्थान, ४५२

अस्थानज, ४१८

अस्पष्टालोकिनी, १४१

अस्वस्थचेष्ट, ४२२

आ

आकम्पः, ४१८

आकम्पित, १७, २०

आकर्षण, ५९

आकाशयान, २१७

आकाशिक, ३४८

आकाशिकी, २७९

आक्रेकरा, १४७

आकुक्षत्, ५६, ३०८

आकुक्षित, ९८, १०८, १३१, १३२,

१४०, १५३, ३०३, ३०४, ३०९,

३१०, ३११, ३१९, ३३५, ३३९,

४१८, ४३८

आकुञ्चितपुटा, १३३

आकृष्ट, १८९

आकेकरा, १३६

आक्रोशन, ४४४

आक्षिप्ता, १२८, १९२, १९४, १९८,

२०२, २१७, २१८, २२१, २३४,

२५६, २५८, २५९, २६०, २६१,

२६३, २६४, २६५, २६८, २७१,

२७२, २७३, २८०, २९५, ३५३,

३५७, ३५९

आक्षिप्तचारी, २१२

आक्षिप्तचित्त, १९२, १९४, १९९,

२५६, २६९

आक्षिप्ती, ३५८

आगम, ३०

आघात, १५४

आघूर्णमान, १४९

आङ्गिक, १, ८, १२, १४, ४४१

आङ्गिकाभिनयः, ११, १५

आचमन, ४६

आचार्य, १६, ६८, १२५, २७२, ३९१

आच्छुरितक, ४९, २५६ २६३ ४७०

आज्ञनेय, २१५

आतप, ४७०

आतुर, १२६

आतोय, ३७८

आतोयध्वनि, ३८९

आत्मनिन्, ४६९

आत्मनिर्भास, ४४०

आत्मपर, ४२१

आत्मसंभावना, २०४

आत्मस्थः, ४१६

आत्मैक्यगोचर, ४१९

आथर्वण, ४

आदिकूर्मावतार, १११, ११५

आद्यभरत, १४

आधूत, १७, १९

आनन्द, ५, १४४, ४२२

आनन्दज, ४२२, ४३८

आनन्दनिर्भर, २२१

आनन्दप्रद, ४३१

आनन्दाश्रु, ४३९

आन्तर, ८६

आन्दोलित, ९९, १०४, ११३, १२१,

१२३, १६२, १६५, ३१२

आपात, ३२५

आपादिक, ११८

आपिबन्ती, १३३

आबद्धमण्डल, ११८

आभरणदान, ४६३

आभाषण, ३२६

आमिमुख्य, ३३

आमुग्र, ८७, ८८, १९९

आभोग, ३८२, ३९०

आमुख, ३४३

आयत, १५३, १६६, १६९, ३१९, ३२६

आयामिवक्त्र, ३७६

आरभटी, ३४०, ३४१, ३४२, ३४४

आरात्रिकं, १८, २४, ३६४

आरिराघयिषु, ४७३

आर्ति, ५, १४१, १५४, १६१, ४२२
 आर्तिज, ४२२
 आर्द्रता, ४४१
 आलस्य, १४५, १७४, ३४०, ४०३,
 ४०९, ४१६, ४५३, ४६५
 आलापः, १९
 आलिङ्गन, ४७, ५५, ४७०
 आलीढ, २१५, २५६, २५८, २६३, ३१९,
 ३२४
 आलोकित, १५६, १५८
 आलोकिनी, १४४
 आवजधर, ३७२
 आवर्त, १९२, १९४, १७५, २२०, २५९,
 ३४८, ३५०
 आवर्तिता, १२८, १२९
 आवाहन, १९, २०, १३२, ३२६
 आविद्ध, ७४, ९९, १०३, १०६, १२३,
 २०३, २३७, २९५, २९६, ३३९
 आविद्धक, ११८
 आविद्धवक्त्र, २७, ६३, १०७, २०४
 आविद्धवर्तना, १०५, १०७
 आविष्टगमन, १२९
 आवृत्ताङ्ग, २३८
 आवेग, १६०, ४०३, ४२५, ४२९, ४३३,
 ४३५, ४३६, ४६२
 आवेश, ४०६, ४५५
 आवेशभाक्, १५६
 आवेष्टकरण, १०९
 आवेष्टन, १८४
 आवेष्टित, १०, १८३, १८४, १८५

आवेष्टितक्रिया, १०६
 आशीःस्वीकार, ३२२
 आश्लिष्ट, १९७
 आश्लेष, ९५
 आसन, १३३, ३३६, ३३७, ४३०, ४५३
 आस्कन्दिता, ३४८, ३५०
 आस्फोटित, ३५०
 आस्य, १६८, २८४
 आस्वाद, ३९९
 आहार्य, १, २, ८, ९, ४६१
 आह्लाद, ४३७
 आह्लात, ३४, ३८, ४१, १८९

इ

इन्द्रः, ४०४
 इन्द्रजाल, ३४२, ३४७, ४३६, ४३७
 इष्टानिष्टपरिहारज्ञानं, ४५६
 इष्टार्थापहृतिः, ४५०

ई

ईर्ष्या, १३३, १५४, १६७, १७७, २३८,
 २८९, ३२४, ३२६, ४५३
 ईषत्फुल्ल, ४१७
 ईषद्दृश्य, १६८
 ईषद्द्रुकः, १०३

उ

उचितभ्रमरी, २५०
 उच्चपतन, ४६३
 उच्चलिता, ९१

| | |
|-------------------------------------|-----------------------------------|
| उच्छ्रित, ३३, ९५ | उत्प्लुति, १६ |
| उच्छ्वसित, ४४५, ४६५ | उत्प्लुतिकरणानि, २४१ |
| उच्छ्वास, १६२, १६५ | उत्प्लुतिपूर्व, २४०, २८५, ३८८ |
| उद्धवण, ३७९, ३८९ | उत्फुल्ल, १६१, ४१७, ४१८ |
| उत्कट, ३१९, ३३७, ३३८ | उत्फुल्लतारा, १४६, १४८, १४९ |
| उत्कटासन, २४७, २५१, ३३७ | उत्सङ्ग, २६, ५५ |
| उत्कम्प, १४९, ४३५ | उत्सारित, ९९, १०४, ११५, १५९ |
| उत्कुञ्चित, २८१, ३०३ | उत्साह, ४२५, ४२६, ४२९, ४०१, |
| उत्कृष्ट, १८९ | ४०२, ४४४, ४४६ |
| उत्क्रोश, ४५९ | उत्साहसंश्रय, ४५५ |
| उत्क्षिप्त, १७, २३, ४०, ८९, ९२, ९३, | उत्सेध, ९२ |
| १५०, १५१, १५२, १६८, १७६, | उत्स्पन्दित, २१९, २८७ |
| १७८, १७९ | उदञ्चन, ११६ |
| उत्क्षिप्तपतिता, १७८ | उदर, १६, १२६ |
| उत्क्षिप्तपार्श्वि, ९३ | उद्गीव, ४६१ |
| उत्क्षेप, २८२, ३११ | उद्धटित, ९२, ९४, १९३, १९५, २०४, |
| उत्क्षेपाभिनय, ३३ | २०९, २१०, २१४, २३७, २३८, |
| उत्तम, (नायकादि) ८४, ३७३, ४१६, ४१९, | २५६, २६६, २६७, २७०, २९१, ३५१ |
| ४२०, ४२२, ४२३, ४३४, ४४४, | उद्धाटन, ५८ |
| ४४७, ४४९, ४५५, ४६०, ४६१ | उद्घाल्यक, ३४३ |
| उत्तान, ३७, ४१, ४४, ४६, ६०, ६२, | उद्गीप्त, ४५७ |
| ६६, ७१, ७६, १८२, १९७, २२०, २९५ | उद्धत, ३, ४, १३, १८०, ३४२ |
| उत्तानतल, ६५ | उद्धतपरिक्रम, २१२, २१४, २१५, २२०, |
| उत्तानवञ्चित, २७, ६८ | २२१, २२३, २२४ |
| उत्तानवक्त्र, ३३९ | उद्धताश्रय, ३४२ |
| उत्थापक, ३४३ | उद्धृताग्र, १८० |
| उत्थापन, २७४ | उद्ध्रम, १४९ |
| उत्पतन, २०४, २०७, २१७ | उद्धामित, १४६ |
| उत्पात, ४६२ | उद्धर्तित, १२७, १२८ |
| उत्पीडन, ३९ | उद्धाहि, १७६ |

उद्गाहित, १७, २१, ८७, ८९, ९०,
९१, १२८, १२९, २०५, २८४,
३१९, ३४०, ४५१
उद्धृत, २६, ६०, १६६, १६८, १९३,
१९५, २३५, २७३, २८०, २९३,
३०६, ३१२, ३५१, ३५४, ३५५,
३५७, ३५८
उद्धृतक, २५६, २७१, २७३
उद्धृतचारी, २३५
उद्धृततारका, १३८, १४२
उद्धृतपुष्टा, १३८, १४०
उद्धृति, ४६०
उद्वेग, १३९, २०९, ४१५, ४३२, ४६६
उद्वेष्टन, १२१, २०९, २२०, २६७,
२८२, ३११, ३४६
उद्वेष्टित, ७५, ७६, ७८, ९९, १०२,
१०९, ११२, १८३, १८५, १९८,
२००, २०१, २१२, २१५, २२४,
२३०, २३३, २६७
उद्धत, (जान्वादि) ८८, ८९, ९०, ९६,
९९, १३३, १३४, १७२, १७३
उद्धताग्र, ६१, १७२
उद्धमन, ३४
उद्धमत्, ८६, १९२, १९४, २०३,
२६०, २६९, २७२
उद्धमथित, १४७
उद्धमाद, १४८, ४०३, ४१०, ४१५,
४३९, ४६०

उद्धमादक, ३६६

उद्धमेषित, १५३, १५४

उपविष्टस्थानक, ३१९

उपवेशन, ४६०

उपशम, १२४, ३७४, ३७५, ३७८, ३८९

उपसृत, १९५, १९६, २३४

उपहसित, ४१६, ४१८

उपाङ्ग, १६

उपाध्याय, १६, ३६४, ३७०

उपायचतुष्टय, ४३१

उपायचिन्तन, ४५५

उरःपार्श्वार्धमण्डल, २७, ७६, १०९

उरभ्रकसंवाध, ११२, १२०

उरोङ्गण, ३६०, ३६२

उरोमण्डल, २७, ३१, ७५, १०८, १९२,

१९४, २२०, २५८, २५९, २६०,

२६१, २६२, २६३, २६४, २६५,

२६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७३

उरोवर्तनिका, ७५, १०५, १०८

उल्लालन, ३१२

उल्लासित, १६२, १६४

उल्लुक्कसन, ४३६, ४७०, ४३७

उल्लोकिता, १५६, १५८

उल्लोल, २५१, २८२, ३१२

उल्का, ४६२

उल्बण, २७, ३१, ७९, २१२

उषा, ३, ४

उष्णीषधारण, ३४

ऊ

ऊरु, १२७, १९०

ऊरुताहिता, २८०, ३०१

करुवेणी, २८०, ३०२

करुद्धत, १९३, १९५, २३८, २५८, २५९,

२६०, २६१, २६२, २६४, २६७, २६८,

२६९, २८९, ३४९, ३५०, ३५७, ३५९

कर्णनाभ, २६, ५०, २३२

कर्धग, १८३

कर्धजानु, १९२, १९४, २०६, २०८, २११,

२२१, २६३, २६७, २८०, २९२, ३५६

कर्धदशन, १६८

कर्धदेश, ३५

कर्धपुटा, १३७, १४३

कर्धप्रदर्शन, ९९

कर्धप्रसारित, ४३

कर्धमण्डल, २७, ७३, ७५, १०७, १९६,

१९८, २२८

कर्धमुख, १८२, २०८

कर्धवर्तना, १०५, १०६

कर्धश्वास, १६१, ४६४

कर्धस्थ, ९९

कर्धकुली, ७१

कर्धालग, २४०, २४४

कहापोह, ४५, ४५८

ऋ

ऋवेद, ४, ३४१

ऋजुभ्रमणादि, १४

ऋज्वी, १७२

ए

एकचरणाश्रित, २४०, २४२

एकजानुनत, ३१९, ३३२

एकताल, ३२२, ३२३

एकताली, ३७८, ३८३

एकपाद, ३१९, ३३०

एकपादकुट्टित, ३१३, ३१४

एकपादलुठित, २४५

एकपादलोहडी, २४१, २४५

एकपादाश्रित, २४२

एकपार्श्वगत, ३१९, ३३२

एकभ्रूसमुत्क्षेप, १४०

एकाङ्गरचित, २२७

एकोच्च, ९५

एडकाकीडित, १९३, १९५, २३४, २७९,

२८६, ३४८, ३५०, ३५३

एण्छुत, २४१, २४७

एलादि, १२४, ३७६, ३७७

ऐ

ऐरावण, २१६

ओ

ओता, १२४, ३७५

ओयारः, ३६०, ३६३

औ

औध्य, ४०३, ४०९, ४२९, ४४८,

४७०

औत्सुक्य, ५७, १६१, १६३, १७६,

२०७, ३३६, ४०३, ४१०, ४२०,

४४८, ४५७

औदार्य, ५, १३८

क

कक्षवर्तनिका, ७४, १०५, १०८

कटाक्ष, १३६, १५६, ४०९, ४१६

कटिक्षेत्र, ७३

कटिभ्रान्त, १९२, १९४, २१४

कटीच्छिन्न, १९२, १९४, २०५, २१२,

२५७, २५९, २६०, २६१, २६२,

२६३, २६४, २६५, २६६, २६७,

२६८, २६९, २७०, २७१, २७३, २७४

कटीतट, १५

कटीरेचक, २७५

कटीसम, १९२, १९४, २०५

कटुध्वान, ४१८

कण्टकित, ४७०

कण्टकोद्धरण, ४८, ५०

कण्ठरेचक, २७५

कथकाः, ३९६

कथाभङ्ग, ४५८

कथोद्धात, ३४३

कनिष्ठ, ३७३

कपालचूर्णन, २४१, २४६

कपित्थ, २५, ४०, ४२, ५७, ७७

कपीश्वराः, ४७३

कपोतः, २६, ५२

कपोल, १६, ६८, १५९

कपोलालङ्कृति, २२५

कमलवर्तना, १०८

कमला, ३२५

कम्पः, ३८७, ४२०, ४३२, ४५६, ४५७

४५९, ४६४, ४७०

कम्पन, १५६

कम्पभेदाः, ४७०

कम्पित, १७, २०, ८८, ९०, ९१, १२७,

१२९, १३१, १४१, १५९, १६२,

१६५, १६६, १६७, १७५, ४५१

करकर्म, १८९

करक्रिया, १९६

करटाधर, ३७२

करण, १३, १४, १५, १६, ७५, १०५,

१४०, १८४, १८५, १९०, १९१,

१९६, २०८, २२५, २४०, २४८,

२५५, २५७, २५८, २५९, २६०,

२६१, २६२, २६३, २६४, २६६, २६८,

२६९, २७२, २७३, २७४, २७७,

२७८, ४१२

करणव्रात, २५६

करणसंश्रय, २५२

करणाग्रणीः, २५७, ४६१, ३२०, ३३५,

३६७

करणाधिप, २४५

करणानुग, २४०

कररेचक, ११२, २७५

कररेचकरत्न, ११२, १२१

करवर्तना, १५

करव्यापार, ३१४

करस्पर्शन, २४१, २४७

करिकर, ६९, २००

करिकुम्भ, ४४

| | |
|--------------------------------|----------------------------------|
| करिहस्त, २७, ३०, ६९, ७०, १९३, | कविवर, ४०७ |
| १९४, २००, २०२, २१०, २१६, | कांदिशीकता, ४३३ |
| २२४, २३०, २५८, २६०, २६१, | कांस्यतालधर, ३७३ |
| २६२, २६३, २६४, २६६, २६७, | काङ्गूल, २५, ४२ |
| २६८, २७०, २७१, २७२, २७३, | कातरा, २८०, ३०१ |
| २८०, ३०० | कान्ता, २२, २४, १३५, १३६, ४१५ |
| करुण, १३५, १३७, १५६, १८१, ३४२, | कान्तादृष्टि, ४०५, ४०९ |
| ४००, ४०४, ४१३, ४१४, ४२०, ४२३ | कान्तानुकरण, ४०७ |
| करोपगूढ, ४१८ | कान्तासंयोग, ४०६ |
| कर्कट, २६, ५२, ५३, ८६, ३२८ | कापुरुष, ५२ |
| कर्ण, १९० | कामशास्त्र, ४१४ |
| कर्णपूर, ४८ | कामसूत्रज्ञाः, ४९ |
| कर्णयुग्मप्रकीर्णक, ११२, १२२ | कामावस्था, ३२८ |
| कर्णलभ, ९५ | कार्यतत्त्वविनिश्चय, ४३५ |
| कर्णाटदेशज, ३७७ | कार्यासिद्धि, ४५५ |
| कर्णाटमण्डल, ३७८ | काल, ४०४ |
| कर्णावतंसक, ११८ | काव्यबद्ध, ७ |
| कर्तरीमुख, २५, ३७ | काहलिक, ३७३ |
| कर्तरीलुठित, २४४ | किङ्किणीवाद्य, ३९२ |
| कर्तरीलोहरी, २४१, २४४ | किरीट, ९, ३५ |
| कर्तर्यञ्चित, २४०, २४३ | किलिकिञ्चित, २२, १५२, १७९ |
| कलविद्धविनोद, १११, ११६ | कीनाशः, ४०४ |
| कलशवर्तना, ११० | कीर्ति, ५, ४२८, ४३१ |
| कला, २५७ | कीर्तिधर, १०८, १४० |
| कलाभिज्ञाः, १३६ | कुक्कुटासन, २४३ |
| कलाप, २५५ | कुञ्चित, ३७, ४९, ९२, ९३, ९६, ९८, |
| कलास, १२२, ३८१ | ९९, १०३, १२३, १३३, १३८, |
| कवयः, ३९५ | १३९, १४६, १४७, १५०, १५३, |
| कविचार, ३८५, ३९० | १५४, १५९, १७९, १९२, १९४, |
| कवित, १२५, ३७५, ३७८, ३९० | २०६, २०८, २२१, २२२, २२७, २३६, |

२३९, २९०, २९१, २९२, २९३,
 २९५, ३०२, ३०३, ३०७, ३०८,
 ३१२, ३२२, ३२८, ३३४
 कुञ्जर, ४६२
 कुटिल, १४१, ३७३, ३७४, ४२८, ४४९
 कुट्टन, ९३, १६९
 कुट्टमित, २२, १५२
 कुट्टित, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७
 कुण्डलिचार, १११, ११७
 कुलीरिका, २८०, ३००
 कुसुमगुम्फ, ४७२
 कुसुमघ्राण, १६५
 कुशल, ३९४, ४०८
 कुसुत्ववासन, ३३८
 कुसुमाञ्जलि, ३७४
 कुसुमावचय, ४१, ४६, ५०
 कुहनावह, ४१६
 कूटनिबद्ध, ३९०
 कूर्पर, ५६, ६३, ६८, ७३, ७९, १०३,
 ३२१, ३४०
 कूर्परक्षेत्र, ११९
 कूर्परस्वस्तिक, १०९, ११६, १२१
 कूर्पासक, ३६९
 कूर्मक, ५२
 कूर्मालग, २४०, २४३
 कूर्मासन, २४३, ३१९, ३३५
 कृतिनः, १५८
 कृत्रिम, ४२८, ४३३, ४३४, ४३५, ४५८
 केतुदर्शन, ४६२
 केशग्रह, ४९

केशदेश, १०७
 केशबन्ध, २७, ३८, ६७, ६८, २०९
 केशबन्धवर्तना, १०५, १०७
 कैशिक, १०, १२५, ३४५, ३४७
 कैशिकी, १०, ३४०, ३४१, ३४३, ३४४
 कोप, २३, ४१, १५१, १७५, २०२,
 २३८, ४२८
 कोमल, ३६०, ३६७, ३७७, ३४७
 कोहल, १०५, १११, १२४, १६२, ३१३
 कोह्माटिक, १७, ३९३
 कौटिल्य, ४५८
 क्रमपादनिकुट्टित, ३१३, ३१५
 क्रव्याद, ५८
 क्रान्त, १९२, २१५, ३१९, ३३६, ३४८,
 ३५५
 क्रुद्धा, १३५, १४०
 क्रोध, ९४, १५४, १६८, १७१, १९७,
 ३२४, ४०१, ४२३, ४२५, ४२८,
 ४४३, ४४४, ४७०
 क्षाम, १२६, १२७, १५१, १५९
 क्षिप्त, ४६
 क्षिप्ता, १२८, १२९
 क्षेप, १८९

ख

खटकामुख, २५, २६, ४०, ४३, ५५, ५९,
 ६२, ६९, ७७, ७९, ८०, १०६, १०९,
 २००, २०२, २०५, २०६, २०९, २११,
 २१५, २१७, २२२, २२५, २२७,
 २२८, २३०, २३३, २३४, २३८

खटकामुखवर्तना, १०५, १०६

खटकावर्धमान, २६, ५५

खटकास्य, १०८, २०८

खड्गवर्तनिका, १०५, १०८

खड्गादिभ्रमण, १०१

खण्ड, १२४, २५५, २७७, २७८

खण्डन, १६९, १७०

खण्डसूची, २४९, ३०४, ३१९, ३३३

खल्लुलः, ३८५, ३८८

खल्ल, १२६

खुत्ता, २८१, ३०५

ग

गङ्गावतरण, १९३, १९५

गङ्गावतार, २३९

गजदन्त, २६, ५६, ५८

गजर, १२४, ३७४, ३७५, ३७८

गजविम्भीडित, १९३, १९४, २२४, २६८

गण्डसूचि, १९३, १९४, २२५, २६६, २७३

गतागत, ३१९, ३२८

गति, ३१७

गतिमङ्ग, ४४९

गतिमण्डल, २५६, २६६

गदा, ४०

गद्गद, ४२५, ४३६, ४६४, ४७०

गन्ध, १४४, १६४

गन्धर्वाप्सराः, ३

गम्भीरभाव, ३९४

गरुडपक्षक, २७, ७३

गरुडप्लुत, १९३, १९४, २२५, २६९

गर्व, १९, २२, ५८, ८८, ९४, ९५,

१४८, १५९, १७६, २०३, ३२६,

४०३, ४२९, ४५८

गर्वज, ३२७, ४६१

गर्वोत्सेक, ८८

गाढसंश्लेष, १७०

गात्रकार्य, ५७

गात्रगौरव, ४५७

गात्रधूनन, ४३५, ४३७

गात्रमोटन, ४६५

गात्रवर्तना, १०५, ११०, ३४५

गात्रविक्षेप, १२, ३६७, ४६०

गात्रसंवाहन, ४५०

गात्रस्पर्श, ४७०

गात्रसंकोचक, ४६४

गात्रसंस्, ४३३

गात्रोत्कम्पी, ४६४

गान, ४४९

गान्धर्ववेदः, ३, ४

गाम्भीर्य, ५८, १३८, ३२६, ४३१

गारुगि, ३८९, ३९०

गारुड, ३१९, ३३५

गीत, ४, १३, २००, ३४४, ४०७, ४६०

गीतक, २७४

गुणकीर्तन, ४१५

गुणदोष, १६, ३६८

गुणनिक्षेपण, ५०

गुणनिहव, ४४८

गुरु, ४२८

गुरुभक्ति, ४५१

गुरुव्यतिक्रम, ४५२

गुरुसंभाष, ५२

गुर्वी, ४४९

गुल्फ, १६, १७८

गूढावलोकिनी, १४४

गूढवचन, ४५२

गुग्गुलुलीनक, १९३, १९४, २२६, २७३

गृहादिभजन, ४२३

गोपनोपाय, २३३

गोपी, ३, ४

गोप्यगोपन, ३२७

गोमुख, २७४

गोष्ठी, ४३८

गौण्डली, १६, ३७७, ३७८, ३७९,

३८२, ३८३, ३८८, ३८९

गौरः, ४०४

ग्रहण, १६९, १७१

ग्रहादित, १७९

ग्रहावेश, २३, १७४

ग्राम्यत्वं, ३७७

ग्रीवा, १६, ९६

ग्लाना, ८६, १३५, १४५

ग्लानि, १४५, ३३६, ३३७, ४०३,

४१०, ४२०, ४४६, ४६६

घ

घटितोत्सेध, ९२, ९४

घर्घर, ३८५, ३८८, ३९०

घर्घरिका, १३१

घर्घरिकाजाल, ३८४

घर्घरिकावाच, ३८५

घर्षण, १७९

घातवर्तनिका, १०५, १०९

घूर्णित, ११५, १९२, १९४, २०८,

२६८, ४४९, ४६४

च

चक्रकभ्रान्ति, १२२

चक्रकुट्टनिका, ३१३, ३१७

चक्रभ्रमरिका, २४१, २४९

चक्रमण्डल, १९२, ९९४, २१९, २६९

चक्रवर्तनिका, ७३

चतुर, २५, ४५, १३९, १५० १५३,

१९२, १९४, २१४, २१८, २७०,

२७३, ३३१, ३९३, ३९५, ३९६, ४५८

चतुरश्र, २६, ५९, ६०, ६२, ६४, ६७

६९, ८७, १९८, १९९, २०३, २०४,

२०६, २१४, २५६, २७८, ३२१,

३१९, ३३०

चतुरश्रकर, २०२

चतुरश्रमान, २६५

चतुरहस्त, ४५७

चतुरश्री, ७९

चतुरानन, ३२२

चतुर्मुखः, ३

चतुष्कोणकुट्टिता, ३१३, ३१५

चतुष्पत्राब्ज, १११, ११७

चतुस्ताल, २९०, ३२३

चन्द्रोपराग, ४६२

चरण, ३४८

| | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| चल, १३१, १३२, १४०, १४४, १६२, | चिन्ता, २१, २४, ५३, १४२, १६१, |
| १६३, १७३, १७४ | १६३, १७६, २२७, २३३, ३२७, |
| चलन, १५५, १५६, ४६३ | ४०३, ४०६, ४१०, ४१३, ४१४, |
| चलसंहत, १७४, १७५ | ४१५, ४२०, ४४८, ४५०, ४५७, ४६५ |
| चलासन, २४६ | चिबुक, १६, ४९, ३३६ |
| चलिता, ११४, १७५ | चुक्ति, १६९, १७० |
| चापल, १४८, ४०३, ४२५, ४३३, ४५४ | |

छ

| | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| चामरधारण, ४१ | छव्रभ्रमरी, २४१, २४९ |
| चामरधारिन्, ३९६ | छिन्न, ९०, ९१, १६९, १७०, १९२, |
| चारण, १७, ३९२ | १९४, २०५, २१२, २६१, २६४, |
| चारी, १६, १९८, २०२, २०३, २०५, | २६५, २६६, ३५४, ३५६ |
| २०६, २०७, २०८, २११, २१३, | छुरिकानर्तन, ३९३ |
| २१५, २१९, २२२, २२४, २२५, | छेद, १८९, ४२४ |
| २२८, २२९, २३३, २३४, २३५, | |
| २३७, २३८, २३९, २७६, २७७, | |
| २७८, २८२, २८४, २८७, २८८, २८९, | |
| २९१, २९६, २९७, ३०३, ३१३, ३१४, | |
| ३१७, ३१८, ३४७, ३४८, ३५०, ३८२ | |

ज

| | |
|--------------------------------|--------------------------------|
| चालक, ११०, ११२, १२३, १२४, | जका, ३७९ |
| १२५, ३८२ | जहा, १६, १२८ |
| चालन, १११, ११३, ११४, ३६०, ३६१, | जङ्गलङ्घनिका, २८१, ३१० |
| ३६२ | जङ्गलस्वस्तिक, २०८, २८६, २८७ |
| चालिः, ३६० | जङ्गलवती, २८१ |
| चालिवहः, ३६०, ३६१ | जङ्गलवर्ता, ३१० |
| चाषगत, ३४८, ३५४ | जठर, ५३, १२६ |
| चाषगति, २२०, २७९, २८५, ३४९, | जहता, १४५, ४०३, ४१०, ४१५, |
| ३५०, ३५१, ३५४ | ४५६, ४६४ |
| चित्तश्रुत्यर्पिका, ९ | जनान्तिक, ११ |
| चित्तोत्साह, ४५५ | जनित, १९३, १९५, २३३, २३४, २७१, |
| चित्रयुद्ध, ३४२ | २७९, २८८, ३४९, ३५०, ३५१, |
| | ३५२, ३५४, ३५५, ३५७ |
| | जन्यजनक, ४०४ |

जयशब्द, ६०

जरा, १६९, ४७०

जर्जर, २०५

जलशयन, २४१, २४५

जलशय्यासन, २४५

जवनिका, ३७४

जाख्य, ४३६, ४६९

जानु, १६, १३३, १३४

जानुनत, ३१९, ३२०, ३३८

जिह्वा, १३५, १४५

जिह्वा, १६, १७२, १७३

जुगुप्सा, ८६, १५१, १६१, ४०१, ४०९,

४३५, ४४३

जुगुप्सिता, १३५, १४१

जृम्भण, १७०, ४७१

जृम्भा, ५३, ८९, १२६, १२७, १७४,

४५९, ४६५

उयोतिर्विदः, ३९५

ड

डमरी, २८१, ३०९

डमरुकुटिता, ३१३, ३१५

डमरुद्वयकुटिता, ३१३, ३१५

डिण्डिम, २७४

डोलः, २६, ५४, १११, ११४, १२२, २१९,

२२०, २२१, २२८, २२९, २३४, २३६

डोलापाद, १९२, १९४, २२१, २२४,

२२९, २३१, २३५, २८०, २९३

डोलाकर, २०६, २०८, २१०

डोलित, ६८

त

तण्डुः, ३, ४, १४, ११५

तक्षण, १४९, २०९, ४४९

तरुणमह, २३९

तर्जन, २०, २८९, ३२०

तल, १८०, १८५

तलदर्शिनी, २८१, ३०५

तलपुष्पपुट, १९२, १९४, १९६, २५८

तलमुखः, २६, ६०

तलमुखवर्तना, ११०

तलविलासित, १९२, १९४, २१८

तलसंघट्टित, १९३, १९५, २३५, २६९

तलसंस्फोटित, १९३, १९४, २६२, २२६,
२६६

तलोद्धत, २८०, ३०२

ताडन, १८९, ३१३, ४२४, ४४४, ४५३

ताडित, ८२, ९४

ताण्डव, ३, ४, १३, ११२, १२८,
१२९, १३०, ३८३

ताम्रचूडः, २६, ५१

तारकाकर्म, ४०९

तारकाभेदाः, १५५

तारा, १६, १६३, १३७, १४०, १४१,

१४३, १४४, १४५, १४७, १४८, १५७

ताराकर्म, १५५, १५६

तार्क्ष्यपक्षविलासक, ११२, १२०

ताल, २७४, २७८

तालत्रय, २९५

तालधर, ३७३, ३८९

तालमान्न, २८५

तालमान, ५१
 ताललास्ययुक्, ३६०
 तालवृन्त, ६०
 तालानुसंधान, २०७
 तालानुवृत्ति, ३७४
 तालान्तर, ३२७
 तालान्तराल, २१४
 तालिका, २२५, २३७
 तिरश्चीन, १२३, १२९, १३०, १५७,
 १८०, ३६१, ३६४
 तिरश्चीनकुट्टित, ३१३, ३१६
 तिरिपञ्चमरी, २४१, २४९
 तिरोभाव, ४२७
 तिर्यक्, ६२, ६४, ६८, ७२, ७३, १४५,
 १६६, ३०९, ३६२, ३६३
 तिर्यकरण, २४१, २४७
 तिर्यक्कुञ्चित, २८१, ३०३
 तिर्यक्ताण्डवचालन, ११२, १२०
 तिर्यक्प्रसारित, ३०३, ३०४, ३३३
 तिर्यक्स्वस्तिक, २४१, २४८
 तिर्यगञ्चित, २४१, २४७
 तिर्यगायत, १७७
 तिर्यग्गत, १००
 तिर्यग्गतस्वस्तिकाग्र, ११२, ११९
 तिर्यग्गतागत, १७५
 तिर्यग्भ्रम, २४९
 तिर्यग्भ्रमण, २७५
 तिर्यङ्गत, १७४
 तिर्यङ्गतोन्नत, १८, २४
 तिर्यङ्मुख, ९१, ११४, २८०, २९९

तिलकवर्तना, ११०
 तिलतण्डुलवर्तना, ११२
 तीक्ष्णकूर्पर, ११४, ११९
 तीव्रमदः, १४९
 तुडुका, ३७५
 तुण्डकैशिक, १२५
 तुष्णा, ४४२, ४६६
 तैर्थिकाः, ४३८
 तोमर, ३९
 तोलन, १८९
 तौर्यत्रय, ३९१
 तौर्यत्रिक, ३९७
 वस्ता, १३६, १४९
 वास, १४९, १७९, ४०३, ४३२, ४३३,
 ४६४, ४६५
 त्रिक, ८९, २१२, २२१, २४४
 त्रिकपरिवर्तन, २६३
 त्रिकपर्यन्त, १२१
 त्रिकवलन, २६७
 त्रिकविवर्तन, २२४
 त्रिकोणचारी, ३१३, ३१४
 त्रिकोणमर्यादा, ११७
 त्रिपताकः, २५, ३४, ३७, ३८, ६६,
 ६८, ६९, ७१, ७३, २३०, २३९,
 त्रिभङ्गीवर्णसरक, १११, ११४
 त्रिवली, ३७७
 त्र्यश्र, ६०, ९६, ११४, २७८, २९४,
 ३२०, ३२१, ३२३, ३२४, ३२५
 त्र्यश्रकर, १२१
 त्र्यश्रगमन, १५५

त्र्यश्रता, २८५, ३६०
 त्र्यश्रपक्ष, ३२३
 त्र्यश्रभाव, ११६, ३१५
 त्र्यश्रमान, २५६

द

दण्डपक्षः, २७, ७२, १९२, १९३, २११,
 २१३, २६८
 दण्डपाद, १९२, १९४, २१३, २२५,
 २२८, २५९, २७३, २८०, २८१,
 २९४, ३०९, ३४८, ३५४, ३५५,
 ३५७, ३५८

दण्डप्रणामाञ्जित, २४०, २४२
 दण्डरेचित, १९२, १९४, २१४, २६९, २७०
 दण्डवर्तना, १०५, १०८
 दन्तकर्म, १६९
 दर्दुर, २७४
 दर्पसरण, २४१, २४५
 दशन, १६
 दशमीदश, १६४
 दशावस्था, ४१४, ४१५
 दष्ट, १६८, १६९, १७१

दानवीर, ४३२
 दिक्स्वस्तिक, १९२, २६०, २६८
 दिग्भ्रमरी, २४१, २५०
 दीना, १३५, १४०
 दुःख, ५, २२, २३, ४७, ९५, १४८, १५९,
 १६३, १६४, ४१४, ४२२, ४६९
 द्यूती, ४०७
 दृष्टा, १३५, १४१

दृश्य, ५
 दृष्टि, १६, १५०
 देवा, ४५५
 देवार्चन, ४२, ३३८
 देवोपहारक, १११, ११९
 देशी, १६, २४०, २८२, ३६०
 देशीचारी, २८०, ३१३
 देशीनृतसमुद्र, ११२
 देशीपद्धति, ३७८
 देशीविदः, ३६०
 दैत्याः, ४२३
 दैन्य, ४०३, ४१०, ४३३, ४४८
 दोलित, ४४, ६९
 द्रुतभ्रम, ६५, १०७, १९९, २०३
 द्रुतमान, ११६, १२१, २९९
 द्रुतलय, ३८३
 द्वारदामविलासक, १११, ११८
 द्वारवती, ३
 द्विताल, २८५
 द्वितालान्तराल, ३२०
 द्विशिखर, ३२, ८०

ध

धनुराकर्षण, १११, ११८
 धनुर्वल्लीविनाम, ११२, १२०
 धर्मवीर, ४३२
 धसक, ३६०, ३६२
 धुत, १७, १८
 धूनन, १८९
 धृति, ४०३, ४२९, ४३९, ४५१

धैर्यं, ५, ५८, १३७, ४२९, ४३१, ४५८,
४६२
ध्यान, ९६, १६४, ३३७, ४५०, ४५१, ४५५
ध्रुवक, ३७९
ध्रुवखण्ड, ३८१, ३८३
ध्रुवपद, ३८०
ध्रुवा, १३, १२४, ३७७, ३८२
ध्रुवांशक, ३८२
ध्रुवाखण्ड, ३८०

न

नगराणि, ६
नट, ७, १६, १५९, ३२१, ३९८, ४०
नत, ४२, ६७, ८९, ९०, ९६, ९८,
१२८, १३३, १६०, २०५, २२५,
३१९, ३४०
नतजातुक, २८९
नतपृष्ठ, २४१, २४६
नतोन्नत, ३४, १२६
नन्यावर्त, ३००, ३०१, ३१९, ३३०, ३३१
नय, ४५, ४२८
नर्तक, १६, ३९२
नर्तकी, ३२८, ३६५
नर्तन, २, ७, ३२५
नर्तनाधार, ३६५
नर्म, ३४४
नर्मकर्म, ३९२
नर्मगर्भ, ३४४
नर्मनिर्माणनिपुण, ३९४
नर्मभेदाः, ३४४

नर्मस्फुञ्ज, ३४४
नर्मस्फोट, ३४४
नलिनीपद्मकोशक, २७, ७७, १०८
नवरत्नमुख, ११२, १२३
नवोढा, २२, १७९
नागबन्ध, २४१, २४५, ३१९, ३३५
नागबन्धवर्तना, ११०
नागबन्धवासन, २४५
नागाः, ४५५
नागापसर्पित, १९३, १९५, २३९
नाटक, ८, १४, ४७१
नाटकगोचर, ३४४
नाट्य, ३, ६, ७, १४, २९६, ३२४
नाट्यतत्त्वज्ञ, २०१, २०७
नाट्यधर्मी, ९, १०
नाट्यनिर्वाहक, ४४०
नाट्यविशारद, २५८
नाट्यवेद, ३, ४, २९०, ४७२
नाट्यस्थितिकर्ता, ३२१
नाट्यैकगोचर, ३२५
नाट्योपयोगिनी, १०
नाडीपीठन, ४७१
नाभि, १९०
नारद, ५, ११२
नासिकानिल, १६
निःशङ्क, ५१, १०३, १४४, १६२,
२५९, २६६, २९०, ३०९, ३२०,
३४३, ३४४, ३६३
निःश्वास, ५७, १६२, १६५, ४४५,
४५६, ४६५

निःसाक्षताल, ३८९, ३९०

निःसृता, १२९, १३०

निकुम्भ, ८०, १३१, १३२

निकुञ्चित, १३९, १५२, १९४, २०७,
२२९, २६७, २७०, २७१, ४१८

निकुट्ट, १९२, १९४, २०४, २५८, २५९,
२६०, २६२, २६५, २६७, २७०,
२७४, ३०६

निकुट्टित, २१९, २७१, २८१, ३१४,
३१५, ३१६

नितम्ब, २७, ६६, ९०, १३३, १९३,
१९४, २०६, २०९, २३१, २५८,
२६१, २६३, २६४, २६७, २६८,
२७०, २७१, २७२, २७३, २९५, ३०९

नितम्बक, २६०

नितम्बवर्तना, १०५, १०७

निद्रा, २३, २४, ४०३, ४१०, ४१२,
४१६, ४५३, ४५५, ४५७, ४६५, ४७१

निबद्धस्वस्तिक, १२०

निमेषित, १५३, १५४

निमेषिणी, १४०, १४७, १४९

नियुद्ध, ४४, २०७, २२६, २९६,
३५२, ३५४

निरस्त, १६२, १६३

निर्भुम, ८७, ८८

निर्वेद, ५, १४६, १६१, १६३, १७३,
१७६, ३३६, ३४२, ४०१, ४०२, ४०३,
४१०, ४२०, ४३९, ४४४, ४४५, ४६६

निर्वर्तित, १२७, १२८

निवृत्त, ९३, ९७

निवेशक, १९३, १९५, २३३

निशुम्भित, १९२, १९४, २२३, २६८

निषध, २६, ५७, ५८

निष्कर्षण, १६९, १७१

निष्क्रम, १५५, १५६, १९९, २०२, २१५

निसारु, ३७८

निहृष्टित, १७, २२, १९६

नीच, ४१६, ४२३, ४३४, ४४४, ४४६,
४६०, ४६१

नीराजन, १११

नीराजित, ११४

नूपुर, १९२, १९४, २१२, २६०, २६१,
२६२, २६३, २६४, २६९, २७०,
२७३, २९४

नूपुरपाद, २२८

नूपुरपादिका, २१२, २८०, २९३

नूपुरबन्धन, ९२, ९३

नूपुरविद्धका, २८०, २९९

नृगोचर, ४४१

नृत्त, ३, ६, १२, १४, १५, २९, २९६,
३२४, ३४४, ४६०

नृतकन्या, ३६४

नृत्तकरण, १३, १९१, २७८

नृत्तकला, ११२

नृत्तकोविद, ६०, १७९, ३११

नृत्तगोचर, १५१

नृत्तज्ञाः, ९६

नृत्ततत्त्वज्ञ, ३७०

नृत्तमङ्गलशास्त्र, ११२

नृत्तविदः, १२

नृत्तवेदिन्, ११, ७३, ७४, २४३
 नृत्तहस्त, २७, ३२, ८०, १०६, २२५
 २३७, २८७
 नृत्ताब्ज, ३४२
 नृत्ताभिनय, २०३
 नृत्ताश्रय, १२४
 नृत्य, ३, ६, ११
 नृत्यशाला, ३९५
 न्यक्षित, ७३, ९०, ९३
 न्याय, १६, ३४५, ३४७
 न्यायवेदी, ३९३

प

पक्षप्रद्योतक, २७, ७१, २००, २०३, २९८
 पक्षवक्षितक, २७, ७१, २००, २०३,
 २०८, २२७, २२७, २९८
 पक्षस्थित, ३२०, ३२१
 पक्षानुकृत, १०४
 पक्षमात्र, १३९, १४३, १४४, १४५
 पञ्चताल, २८८, ३२४
 पञ्चाङ्ग, ३८५
 पञ्चाङ्गकुशल, ३८४
 पटह, २७४
 पडिवाट, ३८५, ३८६
 पणव, २७४
 पण्डित, ३८३
 पताक, २५, ३२, ३३, ४४, ४७, ५३,
 ५४, ५८, ६१, ६३, ६४, ६६, ६७,
 ६८, ७३, ७४, ८०, १०७, १०९,
 १९७, २०७, २१८, २३१, २३५

पताकवर्तना, १०५, १०६
 पतिता, १५०, १५१, १७८
 पतिताग्र, १८०
 पद, ३७५
 पदार्थाभिनय, १४
 पद्धति, ३७५, ३७८
 पद्मकोश, २५, ४२, ४९, ६२, ६७, ७७,
 ७८, १०८, २३२
 पद्मभूः, ४, १२१
 पद्मवर्तना, १०८
 पद्मवर्तनिका, १०५
 पराङ्मुख, ३४, ३६, ५८, ६१, ७१,
 ७७, ९१, ११९, १८२, २११
 परावृत्त, १७, २३, ८९, १३०, १७७,
 २४६, २५६, २७१, ३१९, ३२२
 परावृत्ततल, २८०, २९९
 परावृत्ति, ११८, ३२९
 पराश्रित, ४१९
 परिग्रह, १८९, १९९
 परिच्छिन्न, २५६, २६२
 परिदेवन, ४२०, ४२१, ४६०
 परिवर्तन, ६१, ७७, १९६, २०६,
 २०८, ४३७, ४६३
 परिवर्तित, ४३, ६०, ६४, ६६, १२८,
 १३०, १८३, १८५, १९७, १९८,
 २१४, २३४, २३७
 परिवाहित, १७, २१, २३६, २३९
 परिविडि, ३७५
 परिवृत्त, १९२, १९४, २०२, २२८,
 २३१, २७२

| | |
|--|-------------------------------------|
| परिक्लृतेचित, २५६, २७२ | पार्श्वजानु, १९३, १९४, २२६ |
| परिश्रुति, २०३, २९५, २२१, २२२, २२८, २३३, २६९ | पार्श्वतोमुख, १८२ |
| पर्यस्त, २५६, २५७ | पार्श्वदण्डपादा, २९१ |
| पर्यायगजदन्त, ११०, १२२ | पार्श्वद्वयचरी, ३१३ |
| पल्लव, २७, ६६, ६७, ७९, २०५ | पार्श्वद्वयचारिणी, ३१५ |
| पल्लववर्तना, १०५, १०९ | पार्श्वनिकुट्टक, १९०, १९४, २१९, २६८ |
| पश्चात्क्षेपनिकुट्टिता, ३१३, ३१५ | पार्श्वमण्डलिन, २७, ३१, ७४ |
| पश्चात्पुरःसरा ३१३, ३१४, | पार्श्वमुख, ५०, ५५ |
| पाट, ३७५, ३८५ | पार्श्वव्यत्यास, १०१ |
| पाठ्य, ४ | पार्श्वसंभ्रान्त, २७० |
| पाणिका, २७४ | पार्श्वस्वस्तिक, २५६, २६० |
| पातः, १५५, १५६ | पार्श्वि, १६, ९२, ९३, ९४, ९५ |
| पादद्वयकुट्टिता, ३१३, ३१४ | पार्श्विग, ९२, ९५ |
| पादरजन, ३७ | पार्श्विपार्श्व, ३१९, ३३१ |
| पादरेचक, २७५ | पार्श्विरेचित, २८०, ३०१ |
| पादापविद्ध, २११ | पार्श्विविद्ध, ३०१, ३३१, ३१९, ३२९ |
| पादस्वस्तिक, २१२ | पिष्टकुट्ट, ३४८, ३५३ |
| पापस्थितिनिक्कुट्टिता, ३१३, ३१४ | पिहित, १५३, १५४ |
| पादापविद्ध, १९२, १९४ | पीत, ४०४ |
| पार्वती, ३, ४ | पुत्रजन्म, ६ |
| पार्श्व, १५, ८९ | पुरःक्षेपनिकुट्टिता, ३१३, ३१५ |
| पार्श्वकान्ता, १९२, १९४, २२२, २८०, २९१, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९ | पुरःक्षेपा, २८१ |
| पार्श्वक्षेपाख्यकुट्टिता, ३१३, ३१५ | पुरःपश्चात्सरा, ३१३, ३१४ |
| पार्श्वग, ४५, ९२, ९५ | पुरस्ताल्लुठित, ३१३, ३१६ |
| पार्श्वगत, १८२, १८३ | पुराटिका, ३०६ |
| पार्श्वच्छेद, २५६, २६३ | पुराटी, २८१ |
| पार्श्वज, ५० | पुरारिन्, १२१ |
| | पुरोदण्डभ्रम, १११, ११४ |
| | पुलकोद्गम, ४३६, ४५४ |
| | पुष्पपुट, २६, ५४, १९६ |

पुष्पाञ्जलि, ५४, ३३०, ३७५, ३७८
 पुष्पाञ्जलिक्षेप, १९६
 पुष्पाञ्जलिविसर्जन, ३२६
 पुष्पावतंसक, ३६९
 पूर्ण, १२६, १५९
 पूर्वरङ्ग, २५२, २७४, ३२६
 पृष्ठ, १६, १२६
 पृष्ठलुठित, ३१३, ३१६
 पृष्ठसौष्ठव, ३७५
 पृष्ठस्वस्तिक, १९२, २०१, २६८
 पृष्ठानुसारी, ९९, १०२
 पृष्ठोत्क्षेप, २८२, ३११
 पृष्ठोत्तान, ३१९
 पृष्ठोत्तानतल, ३३०
 पेरणी, १४, १६, ३८५, ३८९,
 ३९०
 प्रकम्पन, ३८७, ४६९
 प्रकम्पित, ८७, ८८
 प्रचार, १६, १८२, १८३
 प्रताप, ४२८, ४३१
 प्रतिमण्ड, ३७९, ३८३
 प्रतिमुखरी, ३७२
 प्रतिवर्तनिका, १०५, ११०
 प्रत्यङ्ग, १६, ९७, १३४
 प्रत्यङ्गमङ्गि, ३६३
 प्रत्यालीढ, २५८, ३१९, ३२४
 प्रबन्ध, ३७४, ३७५, ३७७
 प्रमोदनृत्त, २१४
 प्रयोगातिशय, ३४३
 प्ररोचना, ३४३

प्रलय, ४०३, ४०५, ४२०, ४३६, ४६८,
 ४७१
 प्रविचार, ३४५, ३४६, ३४७
 प्रविलोकित, १५६
 प्रवृद्ध, १६२, १६३
 प्रवेशन, १५५, १५६
 प्रसङ्ग, १८१
 प्रसर्पित, १९३, १९४, २३०, २५९,
 २६९
 प्रसारित, ३२, ६२, ६५, ७६, ८९, ९०,
 ९९, १०१, १०३, १०९, १२१,
 १२२, १७२, १७५, १७९, २८८,
 ३१९, ३३३, ३३४, ३३६, ३३९
 प्रसृत, ९३, ९८, १६२, १५३, १६५,
 १७८
 प्रहरण, १२४, ३८२, ३९०
 प्रहसन, ३४३
 प्रहार, ९५, १०३, ३४७, ४२४, ४५३
 प्राकृत, १५५, १५६
 प्रावेशिकी, १३
 प्रेक्षण, ८१
 प्रेक्षक, ३७४
 प्रेङ्गोलित, १९३, १९४, २२९
 प्लुत, ३१०

फ

फालवर्तनिका, १०५, १०७
 फुल्ल, १५९
 फुल्लकपोल, ४२२
 फूत्कार, १६८

ब

बद्धा, १९८, २२०, २२२, २२८, २३१,
२६७, २७९, २८८, २९१
बद्धस्वस्तिक, ११८
बन्दिनः, ३९६
बहिर्गता, १३१, १७८
बाणः ३
बाहु, १६
बाह्यपार्श्व, ३३२
बह्यभ्रमरक, ३५४, ३५६
बाह्यभ्रमरी, २४१, २४८
बाह्यवस्त्वनुकारिणी, ९
बिम्बोक, २२, २४, १६७, १७९
बीभत्स, १३५, १३९, १५६, १८१,
४००, ४०४, ४३५, ४६१
ब्रह्मा, ६, ४०४

भ

भट्ट, १८२, ३२६
भट्टतण्डु, १०८, ११२, ११७, ११८
भय, १५९, १७१, १७७, २२०, ४०१,
४२०, ४३३, ४३४, ४४३, ४४९,
४५२, ४५८, ४६२, ४६५, ४६९,
४७०, ४७१
भयानक, १३५, १३८, १५६, १८१,
४००, ४०४, ४३५, ४४३, ४४७, ४६१
भयान्विता, १३५, १४१
भरत, ३, ४, १८, १९१, १८२, २५९,
२७४, २८०, ३१३, ३४१, ३४४
भर्त्सन, ५१, ४२८, ४५३

भववल्लभ, २३६
भाण, ३९१
भारतीय, १३
भारत, ३४५, ३४६, ३४७
भारती, ३२७, ३४०, ३४१, ३४३
भावदृष्टि, १३९
भावलक्षण, १७
भावाः, ९, ११, १५०, ४०३, ४०७
४०८, ४२५, ४२९, ४६८, ४७१
भावामिनय, १४
भावभ्रम, ३८५, ३८८, ३९०
भावुक, ९
भी ८८, १६९
भीत, ८५, १३८, १६१, १६७, १७०
१७५, ३३७
भीमसेन, १९१, २२२
भुयं, १७६
भुजङ्गवस्त्ररेवित, १९२, १९४, २१३, २६९
भुजङ्गनासित, १९२, १९४, २०६, २१३,
२६०, २६२, २६४, २६५, २६७,
२७३, २८०, २९५, ३५५, ३५३,
३५७, ३५८, ३५९
भुजङ्गाश्रित, १९२, १९४, २१३,
२६९, २७३
भूतवाक्यार्थ, १५
भूमिकुट्टन, ३८६, ३८८
भूमिताडन, ९३
भूमिलम्, १८०
भूषण, १६, १३४
भेद, १८९

मेरी, २७४
 मेरवाधित, २४०, २४२
 मौमी, २७९, २८१
 अमण, ७५, ८१, ९१, ९३, १०१,
 १५५, १५६, २७५, ४६२
 अमर, ४८, ५१, १९२, १९४, २१२,
 २५६, २६१, २६३, २६४, २६७,
 २६८, २७१, २७२, २७३, ३४८,
 ३४९, ३५०, ३५१, ३५३, ३५४,
 ३५५, ३५८
 अमरक, ९२, २९६, ३५६, ३५७, ३९३
 अमरिका, २२१, ३५९
 अमरी, २०५, २१०, २१२, २१४, २२९,
 २८०, २९४, ३५८
 आन्त, १६२, १६५
 आन्तपादाधित, २४१, २५२
 आमित, १३१, १३२, २२३, ३१७
 झुङ्डी, १५०, १५२, ४२८
 झूपट, १६, १४५
 झुझिरिटि, १२६

म

मकरवर्तना, १०५, १०६
 मणिबन्धगतागतं, ११२, ११९
 मणिबन्धासिकर्ष, १११, ११६
 मण्डल, ३१९, ३२९
 मण्डलभ्रान्ति, ३५३
 मण्डलाग्र, ११७, ११८
 मण्डलाभरण, ११२, १२२
 मल्लि, १९२, १९४, २०९, २७९, २८७

मदस्खलित, १९३, १९४, २३६
 मदालस, २८१, ३०३, ३१९, ३३६
 मदिरा, १३६, १४९
 मध्य, ३३५
 मध्यचक्रा, ३१३, ३१७
 मध्यलुठित, ३१३, ३१७
 मध्यस्थापनकुटिता, ३१३, ३१६
 मन्दा, १६०, १६१
 मलिना, १३५, १४६
 मातुः, ३९६
 मातृका, २५५
 मातृकोत्कर, २५२
 माधुर्य, १३८, ३६७, ३८१
 मान, २२, ८८, १०४, ४५७
 मानावलम्बन, ३२६
 मानिनी, ३३८
 माया, ३६२, ४६३, ४३७
 मार्कण्डेयपुराण, ३६८
 मार्ग, ११, २८२
 मार्गनृत्त, ३९२
 मिथःसमीक्ष्यबाह्यं, १११, ११५
 मिथोयुक्त १७८
 मिथोलम्, १७९
 मुकुलः, ४९, ५७
 मुकुला, १३५, १४४
 मुक्तजालु, ३१९, ३३८
 मुखराग, १६, ८३, १८०, १८१, ४०९, ४१६
 मुखरी, ३७२
 मुखवैवर्ण्य, ४४६
 मुखशोष, ४४६, ४५५, ४६०

| | |
|---|---|
| मुखसंकोच, ४६० | यजुर्वेद ४, ३४१ |
| मुखसंदंश, ५० | यतिः २१४ |
| मुख्यगायन, ३७३ | युद्ध, २०७, २२६, २९६, ३२३ |
| मुग्ध, ३६५ | युद्धपरिक्रम, २०१, ३४८ |
| मुनिः, ३, ११, २६, ७०, ७३, ९२, ११२, १५७, १७३, २५५, २५६, २६३, ३१९, ३२०, ३२३, ३४३, ४०२, ४३८, ४४२ | युद्धप्रवर्तन, ४३१ |
| मुरजाडम्बर, १११, ११८ | युद्धवीर, ४३२ |
| मुष्टि, २५, ३९, ७७, ९५, २२६, २३४, २२९ | यौवनत्रितय, ३६५ |
| मुष्टिकस्वस्तिक, २७, ७७, ८०, १०८ | र |
| मुष्टिरूप, ११६, ११७ | रक्त, १८१ |
| मूकगौणहली, ३७७ | रज्ज, १९०, ३७८, ४४९ |
| मूर्च्छा, २१, २३, २४, ५४, ८८, ९३, १५४, १७९, ३३७, ४७१ | रज्जपीठ, ३७५ |
| मृति, ४०३ | रज्जप्रवेश, ४४९ |
| मृत्यु, ४१०, ४३२ | रज्जभुव, ३७४ |
| मृगशीर्षक, २५, ४६ | रज्जभूमि, ३७४ |
| मृगप्लुता २२९, २८०, २९२ | रज्जस्थाः, ३८९ |
| मृदङ्ग, २७४ | रज्जावतरण, ३२६ |
| मेलापक, ३७४, ३७८ | रज्जुभ्रमण, १४ |
| मोक्षण, १८९ | रज्जुसंचार, ३९३ |
| मोटन, ५३, १८९, ४२४ | रज्जक, ३७० |
| मोटित, ३१९, ३२८ | रति, १४२, ४०६, ४१०, ४१३, ४१४, ४४०, ४४३, ४६६, ४६७ |
| मोहायित, २२, १५२ | रतिनैपुण, ३६६ |
| मोह, २१, ४०३, ४२०, ४३३, ४३५, ४५३, ४५६, ४७०, ४७१ | रतिभेद, ४४२ |
| मौलिरेचितक, १११, ११५ | रतिश्रम, ४१२ |
| य | रथचक्र, १२०, १२२, २८०, २९८ |
| यक्ष, १२१, ४१५ | रथनेमि, ११२, १२३ |
| | रथाङ्ग, ४३ |
| | रस, ७, ३९७, ३९९, ४०० |
| | रसदृष्टि, १३५, १३९ |

रसदेवता, ४०४
 रसनिर्भर, ३४२
 रसनीयता, ४०५
 रसभाव, १८१
 रसभावज्ञाः, ३९३
 रसभावाः, १५९
 रसवर्णाः, ४०४
 रसविदः, ४७२
 रसवृत्ति, ११३
 रससंविद्, ७, ८
 रसाः, ४, ४०४, ४७२
 रसात्मिका, १८०
 रसादिः, ४०५
 रसाभासाः, ४०४
 रसाभिनय, १४
 रसामिव्यक्ति, ७
 राग, ४५३, ४६९
 रागालप्ति, ३७९
 रिक्तपूर्ण, १२६
 रिगोणी, १२४, ३७५, ३७८, ३७९,
 ३८९

रुद्र, ३२४, ४०४

रुद्रदेवत, ३२४

रूपक, ३८३

रेखा, १६, ११०, ३६४, ३६५

रेचक, १६, ६६, ९२, ९३, २७५

रेचकनिकुट्टक, १९३, १९४, २१०, २६९,
 २७०

रेचित, २७, ६५, ९०, ९१, ९६, ११४,
 १५०, १५१, १६६, १६९, १९९,

२००, २०३, २०९, २१०, २१२,

२१३, २१५, २१६, २१७, २२१,

२२२, २२४, २२५, २२९, २३०,

२३४, २३६, २३९, २६८, २६९,

२८६, २८७, २९९, ३०१, ३५४

रेचितवर्तना, १०५, १०७

रेचितस्वस्तिक, ६४

रोदसी, १९०

रोमन्थ, १७५

रोमहर्षण, १५९

रोमाञ्च, ४७, १५९, ४०३, ४०९, ४२५,

४२९, ४३९, ४४९, ४६३, ४६४,

४६८, ४७०, ४८६

रोमाञ्चनिचय, ४३२

रोषः, २०, २२, ५०, १३३, १५१, १६१,

१६७, १७७, ३४४, ४७०

रौद्र, १५६, १८१, २३२, ३२४, ३४२,

३४३, ४००, ४०४, ४१८, ४२५, ४३१

रौद्रप्राय, २२२

रौद्री, १३५, १३७

ल

लक्षणावृत्तिः, ७

लभ, ३४, ४०, ४६, ५०

लङ्घितजङ्घा, २८१, ३०४

लज्जा, २३, ५५, ८८, १४३, १७६,

१९६, १९९, २८९, ४७०

लज्जाभर, २१

लज्जिता, १३५, १४३

लठि, ३६०, ३६१

लता, २७, २१७, २२५
लताकर, २९, ६८, ६९, ७०, ७२, ७९,
२२६, २३०, २३४, २६५, २७४, ३२५
लताक्षेप, २८१, ३०७
लतावृक्षिक, १९२, १९४, २१७, २६५,
२६८, २७०, २७२, २७३
लतावेष्टितक, ११२, १२३
लताहस्त, २०२, २१०, २१२, २१३
लय, ३६२, ३६३, ३६५, ३६७, ३७४,
३८३
लयचालन, ३६१
लयानुग, २७४
ललाटतिलक, १९२, १९४, २१९, २६८
ललित, २२, २७, ७९, १३६, १३८,
१४७, १५१, १५३, १९२, १९४,
२०६, २१०, २११, २६९, २७०,
२९६, ३१२, ३४८, ३५९, ३६२, ३६३
ललितवर्तना, १०५, १०९
ललितसंचर, ३४८, ३५६
लहरीचक्र, १११
लहरीचक्रसुन्दर, ११३
लास्य, ३, १३
लास्याङ्ग, १६, ३६०, ३६५, ३७७
लीढसूक्त, १७२
लीन, १९२, १९४, १९७, २५८, २६६,
३८१
लीला, ४५, १५१, १७६, ३२७, ३४०
लुठित, ११९, १२२, १२३, २४४, ३१५,
३१६, ३१७
लेह्न, ४५५

लेहनी, १७३
लोकधर्मी, ९
लोलित, १८, २३, ९५, ९६, १९३,
१९५, २६९, २३६
लोल, ९८, १७२, १७३, १७४, १७५
लौहवी, २४१, २४४
लौल्य, ४४१, ४४२
लौहिल्यमट्ट, १२३

व

वक्र, ३७, ४२, १७२, १७४, १७८
वक्त्रकुट्टनिका, ३१७
वक्त्रकुट्टिता, ३१३
वक्षः, १५, ८४, ८७, ८९
वक्षःस्वस्तिक, १९२, १९४, १९९, २६८,
२६९
वङ्गोल, २४६
वदन, १६, १७६
वर्णसर, ३९०
वर्तनक्रिया, ११८
वर्तना, १५, १०२, १०५, १२६, २०९
वर्तनाभरण, १११, ११५
वर्तनास्वस्तिक, १११, ११३, ११५, १२०
वर्तित, ७९, १२३, १९२, १९४,
१९७, २५८
वर्धमान, २६, ५८, २९९, ३१९, ३२९,
३२०
वर्धमानासारित, १३, २७४
वल्ल, ९१, १५५, १५६, २८८, ३११,
३६५

वलित, २७, ७९, ८०, ९६, ९७, १०९,
 १२७, १७४, १७८, १९२, १९४,
 २११, २१२, २३४, २८९, २९४,
 ३०२, ३१२, ३१९, ३२८
 वलितवर्तना, १०५, १०९
 वलितोरु, १९२, १९४, १९८
 वस्तुस्थापन, ३४३
 वह्निः, ३८५
 वांशिक, ३७३, ३७९
 वाक्पारुष्य, ४५३
 वाक्यार्थाभिनय, १४, २०७, २३३
 वाक्यैकप्रधान, ३४१
 वाग्गेयकारक, ३९३
 वाङ्मेपथ्य, ४१५, ४१८
 वाचिक, १, ८, १४
 वाचिकादिः, १२
 वाचिकाभिनय, ११
 वाद्यघात, ३८१
 वाद्यप्रबन्ध, ३७७
 वाद्यभाण्डानि, ३६४
 वाद्यसंघात, ३८९
 वामदक्षतिरश्चीन, ११५
 वामदक्षविलासित, १११, ११५
 वामबिद्ध, ३४८, ३५७
 वामावर्त, २४८
 वामावर्तभ्रम, २४९
 वार्षगण्यः, ३४५, ३४६
 वालव्यजनचालन, १११, ११७, १२०
 विकट, १४
 विकासी, १६६, १६८

विकूणिता, १६०, १६१
 विकृष्टा, १६०, १६१
 विकृष्टि, १८९
 विकोशा, १३६, १४८
 विक्षिप्त, १९२, १९४, २२४, २५९,
 २६१, २६४, २७१, २७२, २७३,
 ४४४, ४५९
 विक्षिप्ताक्षिप्तक, १९४, २०७
 विक्षेपा, २८१, ३०८
 विचालित, १५३, १५४
 विचित्रवर्तना, १०७
 विच्यव, १९८, २७९, २८५, ३५७, ३५८
 विच्युत, ५४, ५९, २१७, २५८
 विच्छिन्न, १४७, १६०, ४७०
 विटनर्तन, ९३
 विडम्बन, ११९, ३६८
 वितत, ५५, ७३
 वितर्क, २०, ६२, १४६, १५१, २०७,
 ३२७, ४०३, ४५०, ४५७
 वितर्किता, १३६, १४६
 वितस्ति, ३३०
 विताडित, १५३, १५४
 विदूषक, २१८, २९२, ४०४
 विद्याधर, १२१
 विद्याधरगति, २१९
 विद्युद्भ्रान्त, १९२, १९४, २२३, २२४,
 २५६, २६५, २६८, २७५, २८०,
 २८१, २९४, ३०८, ३५१
 विद्धा, २८०, २८२, ३१२
 विधुत, १७, १७६, १७७

विधुतभ्रान्ता, ९७

विधूनित, ४६

विनय, ४५, ५२, ४२८, ४६०

विनिगूहित, १६६, १६७

विनिवृत्त, १४४, १७६, १७७, १९२,

१९४, ३१९, ३२९

विप्रकीर्ण, २६, ३१, ४२, ६१, २०३, २१५

विप्रलम्भ, ४०४, ४०६, ४०९, ४१०,

४११, ४१३, ४६०, ४६१

विप्लुता, १३६, १४८,

विबोध, ४०३, ४१०, ४१२, ४३९, ४५९

विभावाः, ७, ८, ३९८, ४००, ४०४,

४०५, ४०७, ४१३, ४१४, ४१६,

४१९, ४२३, ४२४, ४३२, ४३५,

४३६, ४३८, ४४३, ४४४, ४४६,

४४७, ४८८, ४४९, ४५०, ४५१,

४५२, ४५३, ४५६, ४६७, ४५७, ४७०

विभावैकगोचर, ४०९

विभ्रम, १४८, ३२७, ४६१

विभ्रान्ता, १३६, १४८

विमुक्त, १६२, १६४, ३३७, ३३८, ३१९

वियुक्त, ८१, १२४, १७८

वियोग, ४१४

विरल, ४०, ४२

विरह, ४४, ३३१, ४०६, ४१४, ४५७

विरिञ्चः, १५०

विरूपवेष, १४

विरिक, ४४५

विलक्षत, ४३३

विलज्जता, ४१५

विलाप, ४१५, ४२०, ४२१, ४६३

विलम्ब, ३६१, ३६२

विलम्बित, ३८३

विलम्बितप्राय, ३८९

विलास, ५, २२, १३८, १५२, १६७,

१६९, १९१, ३२७, ३९०

विलासिनः, ३९५

विलासिनीवृत्त, २१०

विलासिन्यः, ३९५

विलीन, १६२, १६५

विलोकन, १४६, १४८

विलोकित, १५६, १५८

विवर्तन, १५५, १५६, २९५

विवर्तित, ७८, ८९, ९१, १५३, १५४,

१६६, १९२, १९४, २२४, २६९, ३१९,

३३९

विश्रुत, ९०, १३३, १३४, १७७

विश्रुत, ८०, ९१, १७६, १९२, १९४,

२२१, २२८, २६९, २७०

विशाखदैवत, ३२३

विश्रृङ्गाटकबन्ध, १११, ११७

विश्लिष्ट, १६०, १७५, १७७, २८०, ३०१

विश्लिष्टवर्तित, १११, ११३

विश्लेष, १५४, १८९

विषण्णा, १३६, १४७,

विषम, १४, ३१९, ३८५, ३८८, ३९०

विषमसूची, ३०५, ३३३

विषमोज्ञ, ३७५

विषयभाव, ४५१

विषयवैमुख्य, ४४०

विषयामिमुख, १५५, १५६

विषयोपप्लव, ४४०

विषयौन्मुख्य, ४४१

विषाद, ८८, १२८, ४०३, ४२०,
४६२, ४५५, ४६९विष्कम्भ, १९३, १९५, २३७, २५६,
२६७, ३३७

विष्कम्भापस्त, २५६, २६५

विष्कम्भित, ३१९

विष्णु, ४०४

विष्णुकान्त, १९३, १९५, २३६, २६८

विष्णुदैवत, ३२०

विष्णुभक्ति, ४३८

विष्णुवेषधर, ३२१

विसंस्थुल, ३०३

विसर्जन, ४१, १८९

विसृष्ट, १६६, १६७

विस्मय, २१, २४, ८८, १५१, १५३,
१६४, २१४, २१७, २६५, ३२७,
४०१, ४३६, ४४४, ४६२, ४६३, ४६९

विस्मित, १३५, १४२, १६२, १६४

विहसित, ४१६, ४१८

वीटिकाप्रहण, १०२

वीथी, ३४३

वीर, १३५, १३७, १३८, १५३, १५६,
१८१, ३२४, ३४२, ४००, ४०४,
४२६, ४२९, ४३१, ४३२, ४४३

वीरसंकर, ४२५

वीरा, १३५, १३८

वीरुधबन्धन, १११, ११७

वृत्ति, १६, ३४०, ३४१, ३४२, ३४४, ३४५

वृश्चिक, १९२, १९४, २०७, २१६, २३२,
२६८, २७४वृश्चिककुट्टित, १९२, १९४, २१६, २६३,
२७०वृश्चिकरेचित, १९२, १९४, २१७, २६८,
२६९

वृश्चिकाङ्घ्रि, २१९, २२५, २२९

वृश्चिकहस्त, २२३

वृश्चिकापस्त, २५६, २७१

वृषभकीडित, १९३, १९५, २३९, २६९

वृषभासन, ३१९, ३३५

वेताल, १२६, १२७

वेतालाभिनय, १७३

वेत्रधर, ३९६

वेद, ४

वेदाध्ययन, ८०

वेपथु, ४०३, ४२५, ४३६, ४४६, ४६२,
४६४, ४६८, ४७०

वेपथुल्यञ्जक, १११, ११३

वेष्टन, २८१, ३११

वैतालिक, १७, ३९२

वैदूषिकी, २१४

वैवर्ण्य, ४०३, ४२०, ४६२, ४७१

वैशाख, २१२, २१६, ३१८, ३१९, ३२३

वैशाखरेचित, १९२, १९४, २१६, २५६,
२६०, २६४, २६९, २७०, २७४वैष्णव, २३४, २३६, २४५, ३१८, ३१९,
३२०, ३२१, ३३४, ४३८

वैष्णवस्थान, २०५, २४९

वैष्णवीवर्तना, ११०

व्यंसित, १९२, १९४, २१५, २५८,
२५९, २६२, २६३, २६४, २७१

व्यञ्जक, ४१५

व्यभिचारि, ८४, १३६, ३९८, ४०४,
४०६, ४१३, ४०२, ४०३, ४०९,
४१६, ४२६, ४२९, ४३९, ४४३,
४४४, ४७१

व्यस्तोत्प्लुतनिवर्तक, ११२, ११९

व्यादीर्ण, १७४

व्याधि, ५४, ८८, १२६, १६३, १६४,
१७०, ३३७, ३४५, ४०३, ४१०,
४१५, ४४४, ४४५, ४५३, ४६०,
४६३, ४६४

व्यामुम, १७६

व्यायाम, ९१, १२८, १७०, २७७, ४७०

व्यावर्त, २०१, २०६

व्यावर्तन, १९६, २०८, २३८

व्यावर्तित, ४३, ६६, ७६, १०९, १८३,
१८५, १९९, २१५

व्यावर्तितक्रिया, १०६

व्यावृत्त, ६४, ७७, १०८, १९७, १९८,
२१४, २३४, २३७

व्यावृत्तप्रेक्षण, ९१

व्यावृत्ति, ६०, ६१, ६२, ६३, ७७, २०३,
२०६, २२१, २२२, २३३, २३९

व्रीडा, ४०३, ४५२, ४५८

व्योमग, २८२

व्योमज, ३४८

व्योमयान, २१७

श

शंकर, ४३८

शंकरकिंकर, ८८

शंकरप्रिय, ३५४, ४३०

शंकरवल्लभ, २५०, ३२४

शंभु, ११२

शकट, २४८

शकटास्थ, २, १९३, १९५, २३८, २४८,

२७१, २८४, ३४८, ३४९, ३५०,

३५१, ३५२, ३५४

शकदैवत, ३२३

शङ्का, १४४, ४०३, ४११, ४३३, ४४७

शङ्किता, १३५, १४४

शब्दानुकरण, १६५

शरसंधान, ११२, १२१

शाखा, १५

शाखाङ्कुर, १५

शान्त, ४००, ४०१, ४३९, ४४०, ४४१,
४४३

शार्ङ्गदेव, २, ४४, १२८, १६७, १८३,

२१८, २२७, २७२, २९४, २९९,

३३०, ४१८, ४७२

शार्ङ्गिन्, १९८, २३९, २५२, ३०४,

३३९, ३५७, ४४७

शार्ङ्गलमुनिः, ११०, १२४

शिखर, २५, ३९, ४०, ७७, ८०, ८१

शिथिल, ४६, ५४, ६६, ६७, ८८, १४५

शिरस्, १५

शिरोभ्रमरी, २४१, २५०

शिरोवर्तना, ११०

शिलोत्पाट, ५६

शिल्पादि, ४३६

शिववल्लभ, २२०, २५८, ३६९

शुकतुण्ड, २५, ४१, ५७, १३९, १९८,

३०२

शुकतुण्डवर्तना, १०६

शुद्धपद्धति, ३७४

शुद्धप्रबन्ध, ३७५

शून्या, १३५, १४२

शृङ्गार, १३९, १५३, १५६, १८१,

३४२, ३४३, ४००, ४०४, ४०६,

४०७, ४०९, ४१३, ४१४, ४१५,

४४३, ४४७

शोक, ५, ४४, ८६, १३७, १६१,

१६३, १७७, ३३६, ४१३, ४२०,

४४३, ४४९, ४६२, ४७१

शोभा, १०, १३८

शोष, ४२०

शौर्य, ७१, ३४२, ४२९, ४३१

श्याम, १८१, ३६७, ४०४

श्रम, १६, ८८, ५५, १७२, ३४०,

३६४, ४०३, ४१०, ४२०, ४५०,

४५३, ४७०, ४७१

श्रान्ता, १३५, १४३

श्राव्य, ५

श्रीकरणाग्रणीः, २३२, २५१, ३९५,

३०३, ३४७

श्रीसोढलसुत, ५६

श्रीवल्लभ, ३१२

श्लेष, १८९

श्वसित, १७४

श्वस, १६२

श्वसरोग, १२६, १२७

श्वेत, ४०४

स

संक्षिप्तक, ३४३

संगीतमेरु, १२४

संगीतज्ञ, ३७४

संघट्टित, २३५, २८१, ३०५

संघात, २५५

संघर्षण, १६९

संघात्यक, ३४३

संचारिणः, ४२०, ४२५, ४३३, ४६५, ४३६

संचारिता, ३२८

संचारिसंभव, ४४०

संचारी, ४२५

संदंश, २६, ५०, ४५८

संदष्टक, १६६, १६८

संनत, १९३, १९४, १९६, २०९, २२९,

२३४, २३७, २३९, २६८

संप्रदाय, १६, ३७३, ३७४

संफेट, ३४४

संभोगशृङ्गार, ४०९

संभ्रम, ५४, ८८, ९१, १२८, १४८,

४३६ ४६३

संभ्रान्त, १४६, १९३, १९५, २३७,

२५६, २६१, २७३

संमुख, ४१, ५०, ६८, ७७, १८२

संमुखप्रेक्षण, २०२

| | |
|-------------------------------|-------------------------------------|
| संमुखस्थल, ६० | समुद्र, १६, ६, १६८ |
| संमुखागत, १८३ | समुद्रत, १५०, १५४, १५५ |
| संमुखीनरथाङ्ग, १११, ११४ | समोत्सरित, ३४८, ३५२ |
| संयुत, २६, ४५, १७८, ३३५ | समोत्सरितमत्तलि, २७९, २८६, ३५०, |
| संलग्न, १७७, १७९ | ३५१ |
| संलग्न, १७०, ३२७, ३४३ | सरस्वतीकण्ठाभरण, ३८९ |
| संलग्नक, ३४३ | सरिका, २८१, ३०६ |
| संहत, १३३, १७४, १९८, ३१९, ३३० | सर्पशिखाः, २५, ४४, ५६ |
| संहतस्थानक, ३००, ३०५ | सर्पशीर्ष, ४६, ५४, ५५, ५९, ६४, १९३, |
| संप्रविचार, १६ | १९४ |
| सभापति, १७, ३९४, ३९५ | सर्पित, १९३, १९४, २३०, २६९ |
| सभासदः, ३९३ | सर्वतोमण्डल, २२३ |
| सम, १८, ८७, ९२, ९३, १३१, १३२, | सर्वाङ्गनर्तन, ३७८ |
| १३३, १३४, १५३, १५४, १५६, | ससंभ्रमपरिक्रम, २३७ |
| १५७, १५९, १६२, १६५, १६९, | सहजा, १५० |
| १७१, २४८, ३१९, ३२५, ३२७, | सविलासक, २५२ |
| ३३१, ३३४, ३३७, ३३९ | सहायान्वेषण, ४५५ |
| समनख, १९२, १९४, २०२, २५८, | सांख्य, ४६८ |
| २६१, २८२ | साचि, १५६, १५७ |
| समपाद, २२६, २४२, २४४, २४६, | साटोपपरिक्रम, २२८ |
| २५०, २७९, २८२, २८५, ३१६, | सात्त्वत, ३४२, ३४५, ३४५ |
| ३१९, ३२२, ३३०, ३५२, ३७५ | सात्त्वती, ३४०, ३४१, ३४३ |
| समपादाक्षित, २४१, २५०, २५१ | सात्त्विक, १, २, ८, ९, १२, १४, ४०३, |
| समप्रकोष्ठ, ११८ | ४६१, ४६७, ४६८, ४७१ |
| समप्रकोष्ठवलन, १११, ११४ | सात्त्विकोत्तर, ४०९ |
| समसूची, ३३३ | साधारण, १११, ११८ |
| समस्त्रलितिका, २८१, ३०७ | साम, ४, ४३१ |
| समहस्त, ३७५ | सामवेद, ४, ३४१ |
| समाङ्ग, ३७५ | सामाजिक, ८ |
| समाङ्घ्रि, २४४ | सालग, १२४, ३८८ |

| | |
|--|--|
| सालगगीत, ३८३ | सूच्यास्य, २७, ६४, २०७ |
| सालगसूड, ३७७, ३८३, ३९० | सुत्कृत, १६२, १६५, १६६ |
| सित, ४०४ | सूत्रधार, २०५, २१८, ३२१ |
| सिरिपाट, ३८५, ३८७ | सूरिशार्ङ्गिन्, १६०, २४३, ४०६ |
| सिरिहिर, ३८५, ३८७ | सुक्कानुगा, १७२ |
| सिंहमुखवर्तना, ११० | सोच्छ्वासा, १६०, १६१ |
| सिंहविक्रीडित, १९३, १९५, २३३ | सोढलनन्दन, २४१, ४३६ |
| सिंहाकर्षित, १९३, १९५, २३३ | सोढलसूनु, ५४, १५३, २०२, २७१, ३०३ |
| सिंहाभिनय, २३२ | सौष्ठव, ८५, ८७, ३२०, ३२१, ३२२, ३४७, ३६७, ३७४ |
| सीत्कृत, १६२, १६५, १६६ | सौष्ठवाधिष्ठित, ३३५ |
| सुप्त, ८६, ३३९, ३४०, ४०३, ४१०, ४५७ | स्कन्ध, १५, ५६, ६६, १९० |
| सुप्तस्थान, ३१९, ३२० | स्कन्धभञ्ज, ४६४ |
| सुमन्तु, १२२ | स्कन्धभ्रान्त, २४१, २५१ |
| सुरज्येष्ठ, ३७५ | स्कन्धान्त, १८, २४ |
| सूक, ३६०, ३६१ | स्खलित, १६२, १६४, १९३, १९५, २३२, २६९, ३०७, ३२७, ४४९ |
| सूचि, १९३, १९४, २२७, ३१९ | स्तब्ध, १२७, १२८ |
| सूचिका, २८२ | स्तम्भ, ८८, १७९, ४०३, ४२०, ४३२, ४३६, ४५६, ४५९, ४६४, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९ |
| सूची, १५, ९२, ९३, १९९, २०१, २२२, २२७, २४७, २४८, २६३, २७३, २८०, २९२, ३१२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९ | स्तम्भक्रीडनिका, २८१, ३०४ |
| सूचीपाद, २१०, २११, २१४, २२५, २३७, ३२७, ३३३ | स्थलकुट्टित, ३१५ |
| सूचीमुख, २५, ४३, ६४, २०९, २१०, २२५, २३७ | स्थान, १९८, २१२, ३१७, ३२७, ३३३, ३३८, ३३९, ३७५ |
| सूचीविद्ध, १९३, १९४, २२७, २५६, २५९, २६०, ३४८, ३५३, ३५६ | स्थानक, १६, ३२६, ३७४ |
| सूच्यङ्घ्रि, २२७, २२८ | स्थानकादि, १७८, २०९, २१५, २१६, ३४० |
| सूच्यन्त, २४१ | स्थानकानि, ३२५ |
| सूच्यन्तानि, २४८ | स्थानानि, ३२० |
| | स्थापन, ३६५ |

| | |
|----------------------------------|------------------------------------|
| स्थाय, ३६३ | स्फुरित, १५३, १५४, १५९, १७४, १७५ |
| स्थायि, ४३३ | स्पोटन, १८९ |
| स्थायिता, ४२६ | स्मित, २१, १४७, १६८, १६९, |
| स्थायिदृष्टयः, १३५ | ३६३, ४१६ |
| स्थायिनः, ४०२, ४२६, ४४१, ४४२, | स्मृति, ४०३, ४२९, ४३९, ४५२, ४५५ |
| ४४३, ४६५, ४७१ | स्मृतिनाश, ४४९ |
| स्थायिभाव, ४०१, ४०५, ४१६, ४२९ | स्रस्तालस, ३१९, ३३७ |
| स्थायिभावज, १३५ | स्वनिष्ठानि, १५५ |
| स्थायिभेद, ४१३ | स्वप्न, ४१०, ४१६, ४५७, ४५९ |
| स्थायिरूप, ३९८ | स्वभावाभिनय, ८७, ९२, १५४, १७१, ४४१ |
| स्थायिनी, ४०६, ४३५ | स्वरभङ्ग, ४२०, ४२२ |
| स्थायी, ३७९, ३९९, ४०२, ४१३, ४२०, | स्वरभेद, ४०३, ४३३, ४६८, ४७० |
| ४२५, ४२६, ४२८, ४३६, ४३९, | स्वल्पाभिनय, ८० |
| ४४०, ४५७, ४७२ | स्वसंमुखतल, १८२ |
| स्थाय्यादि, ४०७ | स्वसमुत्था, ४१८, ४४७ |
| स्थितावर्त, २२०, २७९, २८३, ३५०, | स्वस्तिक, २६, ३१, ५०, ५३, ५४, |
| ३५१, ३५७ | ५५, ५८, ५९, ६१, ६२, ६३, ६६, |
| स्थिति, ३१७ | ७६, ७७ ७९, ९९, १०१, १०७, |
| स्थिरहस्त, २५६, २५८ | १०८, १०९, ११३, ११४, ११५, |
| स्थूलकर्ण, ४१८ | १२०, १२१, १२२, १२३, १२२, |
| स्थैर्य, ५, ४२९, ४३१, ४४४ | १९४, १९७, १९८, १९९, २००, |
| स्थैर्ययोगिनः, ४२७ | २०१, २०३, २०५, २०९, २१७, |
| स्निग्धा, १३५, १४० | २१९, २२२, २२९, २३९, २३६, |
| स्नेह, ४४१ | २४८, २५८, २६३, २६८, २७१, |
| स्पन्द, १५३, २८७, ४१६ | २८१, २८३, २८८, २९५, ३०२, |
| स्पन्दन, १४३, ४५६ | ३०५, ३०९, ३१५, ३१९, ३२९ |
| स्पन्दित, १९४, ३४९, ३५०, ३५१, | स्वस्तिकात्रिकोण, ११२, १२३ |
| ३५२, ३५७, ३५८ | स्वस्तिकबन्धन, ११९, १२१, १२३, २९९ |
| स्पन्दिता, २७९, २८८ | स्वस्तिकरोचित, १९२, १९४, २०३, |
| स्फुरिका, २८१, ३०४ | २५३, २६९, २७२, २७४ |

स्वास्तिकाङ्घ्रि, २४३
 स्वस्तिकाश्लेषचालनम्, १११, ११४, ११५
 स्वस्थ, १६२, ३१९, ३३६
 स्वहेतुत्थ, ४३५
 स्वाप, १७९, ४४९
 स्वाभाविक, २५, ९२, १५१, १५४,
 १५९, १६५, १८०
 स्वाभाविकी, १५०, १६१
 स्वेद, ४०३, ४२५, ४३६, ४४१, ४५४,
 ४५६, ४६८, ४७०

ह

हंसकस्थान, ३२९
 हंसपक्ष, २६, ४७, ५८, ५९, ६०, ६१,
 ६५, ७२, ७५, १०७, १०८, १९९,
 २०३, २३१, २७५
 हंसयुग्म, ४०७
 हंसास्य, २६, ४६
 हनुचालन, ४६०
 हनुदेश, ४७
 हनुधारण, २१, ४७
 हर, ३, ४
 हरप्रिय, १४०, २६४, २८५
 हरिणत्रासिका, २८०
 हरिणप्लुत, १९३, १९४, २२८, २८१,
 ३०२ ३०९

हर्ष, २१, २२, ९५, १५१,
 १५३, ३४२, ४०३, ४०३, ४३९,
 ४४९, ४५४, ४६९, ४६९, ४७०,
 ४७१
 हर्षगोचर, ४३६
 हसित, ४१६, ४१७, ४२०
 हस्त, १५
 हस्तकरण, १८३
 हस्तपादप्रचारी, ३२६
 हस्तप्रचार, ८५
 हस्तप्रसारण, ७२
 हस्ताभिनय, ८६
 हास, ८८, १५१, ४०४, ४१६, ४४३,
 ४४९
 हासनीय, ४१६
 हास्य, २२, ९६, १२६, १२७,
 १५६, १६१, १७७, १८१, ३८९,
 ४००, ४०४, ४१६, ४१७, ४१८,
 ४४२
 हास्यरस, ४१६
 हास्या, १३५, १३६, १६६
 द्विक्का, ८८, ४४९, ४६४
 हुडुकावाद्य, ९६
 हृष्टा, १३५, १४०
 हेला, १५१
 क्षेमराज, १२३

RECURRENCES AND PARALLELS

A number of verses in the Saṅgītaratnākara chapter 7 are also found in other works. We are giving here the references as regards to important books considered older than the Saṅgītaratnākara. These would therefore be borrowings.

| | | |
|----|------------|---------------------------------------|
| SR | stands for | Saṅgīta Ratnākara |
| NS | „ | The Nāṭya S'āstra |
| AD | „ | The Abhinaya Darpaṇa of Nandikes'vara |
| VD | „ | The Viṣṇu Dharmottara |

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।

आहार्यं चन्द्रतारादि तं जुमः सात्त्विकं शिवम् ॥ SR 1 AD 1

नाट्यं नृत्यं तथा नृत्यं त्रेधा तदिति कीर्तितम् । SR 4

„ नृत्यं „ नृत्यमग्रे शंभोः प्रयुक्तवान् । AD 3

प्रयोगमुद्धतं स्मृत्वा स्वप्रयुक्तं ततो हरः । SR 5 AD 3

तण्डुना स्वगणाग्रण्या भरताय न्यदीदृशत् । SR 5

„ „ „ „ न्यदीदृशत् । AD 4

लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदृशत् । SR 6

„ „ „ „ समदीदृशत् । AD 4

बुद्ध्या ताण्डवं तण्डोर्मर्त्येभ्यो मुनयोऽवदन् । SR 6 AD 5

पार्वती त्वनुशास्ति स्म लास्यं बाणात्मजामुषाम् । SR 7 AD 5

तथा द्वारवतीगोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः । SR 7 AD 6

ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदाश्रिताः । SR 8

„ तत्तद्देशीयास्तदशिक्ष्यन्त योषितः । AD 6

| | | | | |
|---|----|----|----|--------|
| एवं परंपराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् । | SR | 8 | AD | 7 |
| ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाचार्यवर्णः क्रमात् । | SR | 9 | AD | 7 |
| पाठ्यं चाभिनयान् गीतं रसान् संगृह्य पद्यभूः । | SR | 9 | | |
| „ चाभिनयं „ „ „ पङ्कजः । | | | AD | 8 |
| व्यरीरचत्त्रयमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् । | SR | 10 | | |
| व्यरीरचच्छास्त्रमिदं „ „ । | | | AD | 8 |
| कीर्तिप्रागल्भ्यसौभाग्यवैदग्ध्यानां प्रवर्धनम् | SR | 10 | | |
| औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम् ॥ | SR | 11 | AD | 9 |
| दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेदकारणम् । | SR | 11 | AD | 10 |
| अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं ध्रुवम् ॥ | SR | 12 | | |
| „ „ „ „ मतम् । | | | AD | 10 |
| द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये ते पर्वकाले विशेषतः । | SR | 14 | | |
| „ „ „ च „ „ । | | | AD | 12 |
| नृतं त्वत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे । | SR | 14 | AD | 12 |
| यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे । | | | | |
| नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि ॥ | SR | 15 | AD | 13, 14 |
| ब्रह्मणोक्तं प्रयोक्तव्यं मन्त्रत्यं सर्वकर्मसु । | SR | 16 | AD | 14 |
| आङ्गिको वाचिकस्तद्वदाहार्यः सात्त्विकोऽपरः । | SR | 20 | AD | 38 |
| चतुर्धाभिनयस्तत्राङ्गिकोऽङ्गैर्दर्शितो मतः ॥ | SR | 20 | | |
| „ „ „ „ ऽङ्गैर्निर्दर्शितः । | | | AD | 38 |
| वाचा विरचितः काव्यनाटकादिषु वाचिकः । | SR | 21 | AD | 39 |
| आहार्यो हारकेयूरकिरीटादिविभूषणम् । | SR | 21 | | |
| „ „ „ „ वेषादिभिरलङ्कितः । | | | AD | 40 |

| | | | |
|---|----|----|-----------|
| सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावकेन विभावितः । | SR | 22 | |
| सात्त्विकः सात्त्विकैर्भावैर्भावकेन विभावितः । | | | AD 40 |
| अज्ञान्यत्र शिरो हस्तौ वक्षः पार्श्वे कटीतटम् । | SR | 38 | |
| ” ” ” ” पार्श्वौ कटीतटौ । | | | AD 42 |
| पादाविति षडुक्तानि स्कन्धावप्यपरे जगुः । | SR | 38 | |
| ” ” ग्रीवामप्यपरे ” । | | | AD 43 |
| प्रत्यङ्गानि पुनर्ग्रीवा बाहू पृष्ठं तयोदरम् । | SR | 39 | |
| प्रत्यङ्गान्यथ च स्कन्धौ ” ” | | | AD 43 |
| ऊरू जङ्घे षडित्याहुरपरे मणिबन्धकौ । | SR | 39 | AD 44 |
| जानुनी भूषणानीति त्रयमत्राधिकं जगुः । | SR | 40 | |
| ” कूर्परावेतत् ” ” | | | AD 44 |
| दृष्टिभ्रूटताराश्च कपोलौ नासिकानिलः । | SR | 41 | |
| ” ” ” नासिकाहनु । | | | AD 45 |
| अधरो दशना जिह्वा चिबुकं वदनं तथा । | SR | 41 | AD 46 |
| पार्श्विण्गुल्फौ तथाङ्गुल्यः करयोः पादयोस्तले । | SR | 42 | AD 47 |
| निहश्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्ताधोमुखे तथा । | SR | 50 | |
| ” ” मुत्क्षिप्तं चाप्यधोमुखम् । | | | NS 8-18 |
| लोलितं चेति विज्ञेयं चतुर्दशविधं शिरः । | SR | 50 | |
| ” ” ” त्रयोदशविधं ” । | | | NS 8-18 |
| यदधः सकृदानीतमवधूतं तदुच्यते । | SR | 56 | |
| ” सकृदाक्षिप्तं ” तदिष्यते । | | | NS 8-28 |
| शिरः स्यादश्चितं किञ्चित्पार्श्वतो नतकंधरम् । | SR | 64 | |
| किञ्चित्पार्श्वनतग्रीवं शिरो विज्ञेयमश्चितम् । | | | VD 3-24-8 |

- उत्क्षिप्तबाहुशिखरं मग्नग्रीवं निहृक्षितम् । SR 65
 उत्क्षिप्तबाहुशिखरं निकुक्षितशिरोधरम् । NS 8-30
 „ „ तथाचितशिरोधरम् । VD 3-24-9
- पताकस्त्रिपातकोऽर्धचन्द्राख्यः कर्तरीमुखः । SR 78
 „ स्त्रिपातकश्च तथा वै कर्तरीमुखः । NS 4 VD 3-26-1
 „ स्त्रिपातकोऽर्धपताकः कर्तरीमुखः । AD 89
- हंसास्यो हंसपक्षश्च भ्रमरो मुकुलस्तथा । SR 80
 „ „ संदंशो मुकुलस्तथा । NS 9-7 VD 3-26-3
- अञ्जलिश्च कपोताख्यः कर्कटः स्वस्तिकस्तथा ॥ SR 82
 अञ्जलिश्च कपोतश्च „ „ NS 9-8 VD 3-26-5
- ढोलः पुष्पपुटोत्सङ्गौ खटकावर्धमानकः ।
 गजदन्तोऽवहितश्च निषधो मकरस्तथा ॥
 वर्धमानश्चेति हस्ताः संयुताः स्युस्त्रयोदश । SR 83-84
 ढोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च । NS 9-9 VD 3-26-6
 गजदन्तोऽवहितश्च वर्धमानस्तथैव च । NS 9-9 VD 3-26-6
 एते वै संयुता हस्तौः मया प्रोक्तास्त्रयोदश । NS 9-10 VD 3-26-7
- चतुरभ्रौ तथोद्धतौ हस्तौ तलमुखाभिधौ । SR 85
 चतुरभ्रौ तथोद्धतौ तथा तलमुखौ स्मृतौ । NS 9-11
 चतुरश्रस्तथावृत्तौ तथा तलमुखौ स्मृतौ । VD 3-26-8
- स्वस्तिकौ विप्रकीर्णख्यावराखटकामुखौ । SR 85
 स्वस्तिकौ विप्रकीर्णौ चाप्यराखटकामुखौ । NS 9-11
- आविद्धवक्त्रौ सूच्यास्यौ रेचितावर्धरेचितौ । SR 86 NS 9-12 VD 3-26-9
- नितम्बौ पल्लवौ केशबन्धासुत्तानवक्षितौ । SR 86
 उत्तानवक्षितौ चैव पल्लवौ च तथा करौ ।
 नितम्बावपि विज्ञेयौ केशबन्धौ तथैव च । NS 12-13

- लताख्यौ करिहस्तश्च पक्षवञ्चितकामिधौ । SR 87
लताख्यौ च तथा प्रोक्तौ करिहस्तौ तथैव च । NS 13
लताख्यौ करिहस्तौ च पक्षयोतावहित्यकौ । VD 3-26-10
- पक्षप्रयोतकौ दण्डपक्षौ गरुडपक्षकौ । SR 87
पक्षवञ्चितकौ चैव पक्षप्रयोतकौ तथा । NS 14
- ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ पार्श्वमण्डलिनावपि ।
उरोमण्डलिनौ स्यातामुरःपार्श्वार्धमण्डले ॥ SR 88
ऊर्ध्वमण्डलिनौ चैव पार्श्वमण्डलिनौ तथा ।
उरोमण्डलिनौ चैव उरःपार्श्वार्धमण्डले ॥ NS 15
ऊर्ध्वमण्डलजौ चैव पार्श्वमण्डलजावपि ।
पार्श्वार्धमण्डलौ चैव उरोमण्डलकौ तथा ॥ VD 3-26-11
- मुष्टिकस्वस्तिकावन्यौ नलिनीपद्मकोशकौ ।
अलपद्मबुल्वणौ च ललितौ वलितावपि ॥ SR 89
मुष्टिकः स्वस्तिकश्चापि नलिनीपद्मकोशकौ ।
अलपल्लवोल्बणौ च ललितौ वलितौ तथा ॥ NS 9-16
इष्ट (मुष्टिकः) स्वस्तिकावन्यौ तथा वै पद्मकोशकौ ।
आल(अल)पल्लवसंज्ञौ च तथा चोल्बणसंज्ञितौ ॥ VD 3-26-12
- भालस्वेदापनयने त्रिपताकोदितेषु च । SR 127
स्वेदस्य चापनयने शेषे चैष करो भवेत् । VD 3-26-25
- तलमध्यस्थितैर्लग्नैरङ्गुलाग्रैरगोपितैः । SR 128
अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः । VD 3-26-27
- मुष्टेरूर्ध्वकृतोऽङ्गुष्ठः शिखरः संप्रयुज्यते । SR 128
ऊर्ध्वाङ्गुष्ठोऽयमेव स्यात्करः शिखरसंज्ञितः । VD 3-26-29
- काङ्गूलेऽनामिका वक्रा भवेदूर्ध्वा कनीयसी । SR 140
काङ्गूलेऽनामिका वक्रा तथा चोर्ध्वा कनीयसी । VD 3-26-38
- ऊर्ध्वप्रसारिता यत्र खटकामुखतर्जनी । SR 147
प्रसृता तर्जनी चात्र यदा सूचीमुखस्तदा । VD 3-26-33

लम्बास्त्रेतामिसंस्थानास्तर्जन्यङ्गुष्ठमध्यमाः । SR 161

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठा त्रेतामिस्था निरन्तरम् ।

भवेयुर्ह्रस्वक्त्रस्य शेषा ह्यन्याः प्रसारिताः ।

VD 3-26-45, 46

अयं मृदुनि निःसारे श्लक्ष्णे ऽल्पे शिथिले लघौ । SR 162

श्लक्ष्णलाघवनिःसारमाद्वेषु प्रयोजयेत् ।

VD 3-26-46

अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ श्लिष्टाग्रे तर्जनी नता । SR 167

मध्यमाङ्गुष्ठसंदंशो वक्रा चैव प्रदेशिनी ।

ऊर्ध्वमन्याः प्रकीर्णाश्च भ्रमरश्च तदा भवेत् ॥

VD 3-26-44

अरालाङ्गुष्ठतर्जन्यौ लम्बाग्रे निम्नतां गतः ।

किञ्चिच्चैतलमध्यस्थस्तदा संदंश उच्यते ।

स त्रेधा स्यादग्रजश्च मुखजः पार्श्वजः क्रमात् ॥ SR 175, 176

तर्जन्यङ्गुष्ठसंदंशस्त्वरालस्य यदा भवेत् ।

निर्भुम्रतलमध्यश्च स संदंश इति स्मृतः ।

संदंशस्त्रिविधो ज्ञेयस्त्वग्रजो मुखजस्तथा ।

तथा पार्श्वकृतश्चैव ।

VD 3-26-49, 50

एकस्य मणिबन्धेऽन्यमणिबन्धस्थितौ करौ ।

देहस्य वामपार्श्वस्यावुत्तानौ स्वस्तिको मतः । SR 192, 193

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ वर्धमानकः ।

उत्तानौ नतपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ।

VD 3-26-57

गगने सागरादौ च विस्तीर्णे संप्रयुज्यते । SR 194

विस्तीर्णं सर्वमेतेन ऋतवो गगनं घनम् ।

समुद्रश्चाभिनेयः स्यात्

VD 3-26-58

लम्बमानौ पताकौ तु श्लथांसौ शिथिलाङ्गुली ।

ढोलो भवेत् । SR 195

पताकौ लम्बितौ हस्तौ दोळेति परिकीर्तितः ।

VD 3-26-62

मुकुलस्य कपित्थेन वेष्टनान्निषधो भवेत् । SR 209

मुकुलं तु यदा हस्तं कपित्थं परिवेष्टयेत् ।

VD 3-26-61

उपर्युपरिविन्यस्तौ यत्रान्योन्यमधोमुखौ ॥

ऊर्ध्वाङ्गुष्ठौ पताकाख्यौ करौ स मकरः स्मृतः ॥

स नक्रमकरादीनां क्रव्यादद्वीपिनामपि ।

सिंहादीनामभिनये नदीपूरस्य चेध्यते ॥ SR 212, 213

पताकौ तु यदा हस्तौ मूर्त (ऊर्ध्व) हस्तावधोमुखौ ।

उपर्युपरि विन्यस्तौ तदा स मकरः करः ।

सिंहव्याघ्रमृगाद्यानां कर्तव्येऽभिनये भवेत् ॥

VD 3-26-64, 65

हंसपक्षौ स्वस्तिकत्वं प्राप्तौ यदि पराङ्मुखौ । SR 214

ज्ञेयो वै वर्धमानस्तु हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।

VD 3-26-68

पुरोमुखौ समस्कन्धकूर्परौ खटकामुखौ ।

स्थितौ वक्षःपुरोदेशे वक्षसोऽष्टाङ्गुलान्तरे ।

चतुरश्राविति प्रोक्तौ स्रगायाकर्षणे करौ । SR 216, 217

वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ खटकामुखौ ।

समानकूर्परांसौ तु चतुरश्रौ प्रकीर्तितौ ।

VD 3-26-71

प्रसारितोत्तानतलाबुच्येते रेचितौ करौ ।

अथवा रेचितौ प्रोक्तौ हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ । SR 235

रेचितौ चापि विज्ञेयो हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।

प्रसारितोत्तानतलौ रेचितावेव संज्ञितौ ॥

VD 3-26-77

नतोन्नतौ पद्मकोशौ शिथिलौ मणिबन्धयोः । SR 241

मणिबन्धननिर्मुक्तौ शिथिलौ पल्लवौ स्मृतौ ।

VD 3-26-80

पताकौ डोलितौ तिर्यक्प्रसृतौ तौ लताकरौ ।

अनयोः करयोः केशबन्धयोश्च नितम्बयोः ।

त्रिपताकाकृतिं केचिदाचार्याः प्रतिजानते । SR 246, 247

तिर्यक्प्रसारितावेव पार्श्वसंस्थौ तथैव च ।

लताख्यौ तु करौ ज्ञेयौ वृत्ताभिनयनं प्रति ।

VD 3-26-82

त्रिपताकौ कटीशीर्षे न्यस्ताग्रौ पक्षवञ्चितौ । SR 255

कटीशीर्षनिविष्टाग्रौ त्रिपताकौ यदा करौ ।

पक्षवञ्चितकौ । VD 3-26-84

पल्लवौ शीर्षदेशस्थौ ललितौ कलितौ बुधैः । SR 278

पल्लवौ तु शिरोदेशे संप्राप्तौ ललिताविति । VD 3-26-90

निर्भुमं निम्नवृष्टत्वादुन्नतं स्तब्धमप्युरः । SR 300

स्तब्धं च निम्नवृष्टं च निर्भुमं नाम तत्स्मृतम् । VD 3-24-27

माने च सत्यवचने स्तम्भे विस्मयवीक्षिते । SR 300

स्तम्भे सविस्मये माने विषादे च तथेष्यते ॥ VD 3-24-28

स्याद्वक्षः सममाभुमं निर्भुमं च प्रकम्पितम् ।

उद्वाहितं पञ्चधेति तेषां लक्ष्माभिदध्महे ॥ SR 296, 297

आभुममथ निर्भुमं तथा चैव प्रकम्पितम् ।

उद्वाहितं समं चैव पञ्चधोरः प्रकीर्तितम् । VD 3-24-25, 26

कम्पितोद्वाहिता छिन्ना विवृता रेचिता तथा ।

कटी पञ्चविधेत्युक्ता तल्लक्ष्म व्याहरेऽधुना ॥ SR 307

प्रकम्पिता च छिन्ना च निवृत्ता रेचिता तथा ।

उद्वाहिता चैव कटिर्गुत्ते पञ्चविधा स्मृता ॥ VD 3-24-38

द्वृतं गतागते पार्श्वे दधती कम्पिता मता ।

तां कुब्जवामनादीनां गमने च प्रयोजयेत् ॥ SR 308

तिर्यग्गतागते क्षिप्रं विज्ञेया च प्रकम्पिता । VD 3-24-39

नीचवामनकुब्जानां गतौ कार्या प्रकम्पिता । VD 3-24-41

छिन्ना तिर्यङ्मुखे पार्श्वे मध्यस्य वलनात्कटी । SR 310

मध्यस्य वलनाच्चैव छिन्ना संपरिकीर्तिता । VD 3-24-39

व्यायामे सञ्जमे चैषा व्यावृत्तप्रेक्षणादिषु । SR 310

व्यायामे त्वथ संप्राप्ते व्यावृत्तप्रेक्षितेषु च । VD 3-24-42

सर्वतो भ्रमणादुक्ता रेचिता भ्रमणे भवेत् । SR 312

सर्वतो भ्रमणाच्चैव रेचितेत्यभिधीयते ।

VD 3-24-40

समा निवृत्ता बलिता रेचिता कुञ्चिताञ्चिता ।

अथवा नतोन्नता चेति ग्रीवा नवविधा भवेत् ।

समा स्वाभाविकी ध्याने जपे कार्ये स्वभावजे । SR 329, 330

समा नतोन्नता अथवा रेचिता कुञ्चिताञ्चिता ।

बलिता च निवृत्ता च ग्रीवा नवविधार्थतः ।

समा स्वाभाविकी ध्यानस्वभावजपकर्मसु ।

NS 8-167, 168

निवृत्तेत्युच्यते सा स्यात्स्वस्थानाभिमुखादिषु । SR 331

निवृत्ताभिमुखीभूता स्वस्थानाभिमुखादिषु ।

NS 8-172

पार्श्वोन्मुखी स्वाद्वलिता ग्रीवामङ्गे तथेक्षणे । SR 332

” ” ” ” ” च वीक्षणे ।

NS 8-171

रेचिता विधुतभ्रान्ता वर्तुले मथने तथा । SR 332

” ” ” हावे मथनवृत्तयोः ।

NS 8-170

आकुञ्चिता कुञ्चिता स्यान्मूर्धभारे स्वगोपने । SR 333

कुञ्चिताकुञ्चिते मूर्ध्नि धारिते गलरक्षणे ।

NS 8-171

अञ्चिता प्रसृता लोला केशाकर्षेऽर्धवीक्षणे । SR 333

अञ्चितापसृतोद्वन्धकेशाकर्षोच्चदर्शने ।

NS 8-171

अथवा पार्श्वगता खेदे पार्श्वेक्षास्कन्धभारयोः । SR 334

अथवा पार्श्वगता चैव स्कन्धभारे च दुःखिते ।

NS 8-169

नतावनम्रालंकारबन्धे कण्ठावलम्बने । SR 334

नता नतस्यालंकारबन्धे कण्ठावलम्बने ।

NS 8-168

क्षामं खल्लं तथा पूर्णं कथितं कुञ्चितं समम् । SR 354

क्षामं फुल्लं च पूर्णं च कथितं कुञ्चितं समम् ।

NS 8-133

कम्पितो बलितः स्तब्धोद्वर्तितौ च निवर्तितः । SR 357

कम्पनं बलनं चैव स्तम्भनोद्वर्तने तथा ।

विवर्तनं च पञ्चैव ।

VD 3-24-43,44

आवर्तिता नता क्षिप्तोद्वाहिता परिवर्तिता । SR 361

आवर्तितं नतं क्षिप्तं चोद्वाहितमथापि च ।

परिवृत्तं तथा पञ्च ।

VD 3-24-50

वामे दक्षिणतः पादे दक्षिणे वामतः कृते ।

मुहुरावर्तिता प्रोक्ता । SR 363

आवर्तितं तु व्यत्यासाद्वामदक्षिणजङ्घयोः ।

VD 3-24-51

नमज्जानुर्नता जङ्घा स्थानासनगतादिषु । SR 364

जान्वोराकुञ्चनाच्चैव नतं ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ।

VD 3-24-51

बहिर्विक्षेपतः क्षिप्ता व्यायामे ताण्डवे च सा । SR 364

विक्षेपाच्चैव जङ्घायाः क्षिप्तमित्यभिधीयते ।

VD 3-24-52

प्रतीपं गच्छतो जङ्घा ताण्डवे परिवर्तिता । SR 365

प्रतीपनयनं यत्र परिवृत्तं तदिष्यते ।

VD 3-24-53

सत्त्वमुद्गिरती दृष्टिर्दृष्टा विकसिता स्थिरा । SR 398

सत्त्वमुद्गिरती दृष्टा दृष्टिस्तसाद्वसंभवा ।

NS 8-57

आकेकरा दुरालोके स्याद्विच्छिन्ने च वस्तुनि । SR 421

आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रेक्षितेषु च ।

NS 92

अनवस्थिततारा च विकोशा कीर्तिता बुधैः । SR 422

अनवस्थिततारा च विकोशा दृष्टिरिष्यते ।

NS 8-79

दृष्टिर्विकसितापाङ्गा क्षामीभूतविलोचना । SR 427

दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ।

NS 8-82

अमणं बलनं पातश्चलनं च प्रवेशनम् ।

निवर्तनं समुद्धृतं निष्कामः प्राकृतं तथा । SR 447, 448

अमणं बलनं पातश्चलनं संप्रवेशनम् ।

निवर्तनं समुद्धृतं निष्कामः प्राकृतं तथा ।

NS 8-95

चलनं कम्पनं प्रोक्तमथ द्वेयं प्रवेशनम् । SR 450

चलनं कम्पनं द्वेयं प्रवेशोऽन्तःप्रवेशनम् । NS 8-97

समं साच्यनुवृत्तावलोकितानि विलोकितम् । SR 455

समं साच्यनुवृत्ते च ह्यालोकितविलोकिते । NS 8-103

उल्लोकितालोकिते च प्रविलोकितमित्यपि । SR 455

प्रलोकितोल्लोकिते वाप्यवलोकितमेव च । NS 8-103

रूपनिर्वर्णनायुक्तमनुवृत्तं मतं मुनेः । SR 457

रूपनिर्वर्णनायुक्तमनुवृत्तमिति स्मृतम् । NS 8-105

सहसा दर्शनं यत्तदालोकितमुदीरितम् । SR 460

सहसा दर्शनं यत्स्यात्तदालोकितमुच्यते । NS 8-105

” ” ” ”

VD 3-25-50

स्वाभाविकी नता मन्दा विकृष्टा च विकृणिता । SR 465

सोच्छ्रसेत्युदिता ।

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्रासा च विघूर्णिता ।

स्वाभाविकी चेति । NS 8-126

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्रासा कृणितानता । VD 3-25-62, 63

स्वाभाविके च ।

विवर्तितः कम्पितश्च विसृष्टो विनिगूहितः ।

संदष्टकः समुद्रश्चेत्यधरः षड्विधो मतः ॥ SR 488

विवर्तनं कम्पनं च विसर्गो विनिगूहनम् ।

संदष्टकं समुद्रश्च षट्कर्माण्यधरस्य तु । NS 8-138

विवर्तनं तथा कम्पो विमर्शोऽथ विगूहनम् ।

संदष्टश्च समुद्रश्च कर्माण्यधरजानि च । VD 3-25-69, 70

समुद्रस्तु भवेदोष्ठसंपुटो दधदुञ्जतिम् ।

स्यात्फूत्कारेऽनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने । SR 493,494

समुद्रस्त्वनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ।

NS 143

कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चुकितं ग्रहणं समम् ।

दष्टं निष्कर्षणं चेति दन्तकर्माष्टकं जगुः । SR 497

कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चिकितं लेहनं समम् ।

दष्टं च दन्तक्रियया

NS 8-144

तलपुष्पपुटं लीनं वर्तितं बलितोरु च । SR 550

तलपुष्पपुटं पूर्वं बलितं बलितोरु च ।

NS 4-34

अपविद्धं समनखोन्मत्ते स्वस्तिकरेचितम् । SR 551

अपविद्धं समनखं लीनं स्वस्तिकरेचितम् ।

NS 4-35

मत्तल्लि चार्धमत्तल्लि स्यादेचकनिकुट्टकम् । SR 553

मत्तल्ली त्वर्धमत्तल्ली स्यादेचकनिकुट्टकम् ।

VD 3-20-44

ललाटतिलकं पार्श्वनिकुट्टं चक्रमण्डलम् । SR 557

ललाटतिलकं क्रान्तं कुञ्चितं चक्रमण्डलम् ।

NS 4-44

ललाटतिलकं चैव कुण्डलं(कुञ्चितं)चक्रमण्डलम् ।

VD 3-20-47

विवृतं विनिवृतं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम् । SR 558

NS 4-46

परिवृतं निवृतं च पार्श्वक्रान्तं निकुञ्चितम् ।

VD 3-20-49

विशुद्धान्तमतिक्रान्तं विक्षिप्तं च विवर्तितम् । SR 558

“ “ “ विवर्तितकमेव च ।

NS 4-46

प्रेङ्खोलितं संनतं च सर्पितं करिहस्तकम् । SR 561

प्रेङ्खोलितं नितम्बं च स्थलितं प(क)रि हस्तकम् INS 4-50

VD 3-20-52

देहः स्वाभाविको यत्र पादौ समनखौ युतौ । SR 598

देहः स्वाभाविको यत्र भवेत्समनखं तु तत् ।

NS 4-66

समपादा स्थितावर्ता शकटास्या च विच्यवा । SR 902

समपादा स्थितावर्ता शकटास्या तथैव च ।

NS 10-8

अध्यर्धिका चाषगतिरेडकाक्रीडिता तथा । SR 903

अध्यर्धिका चाषगतिर्विच्यवा च तथापरा ।

NS 10-8

अतिक्रान्ताप्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता मृगप्लुता ।

ऊर्ध्वजानुरलाता च सूची नूपुरपादिका । SR 905

अतिक्रान्ता ह्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता तथैव च ।

ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका ॥

NS 10-11

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।

आलीढप्रत्यालीढे च स्थानानीति नरेषु षट् । SR 1019

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।

प्रत्यालीढं तथालीढं स्थानान्येतानि षण्मृणाम् ।

NS 50

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।

प्रत्यालीढमथालीढं षट् पुंसां स्थानकानि तु ।

VD 3-23-1

एकः समस्थितः पादस्त्र्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः ।

सार्धद्वितालान्तरालो जङ्घा किञ्चिन्नता भवेत् ।

सौष्ठवं यत्र तज्ज्ञेयं वैष्णवं विष्णुदेवतम् ।

प्रकृतिस्थस्य संलापे नानाकार्यान्तरान्विते । SR 1031, 1032, 1033

द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।

तयोः समुत्थितस्त्वेकस्त्र्यश्रपादस्थितोऽपरः ।

किञ्चिदधितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।

वैष्णवस्थानमेतद्धि विष्णुरेवाधिदैवतम् ।

स्थानेनानेन कर्तव्यः संलापस्तु स्वभावतः । NS 10-51, 52, 53

स्वभावसंश्रितः पादस्त्र्यंशः पक्षगतोऽपरः ।

किञ्चिदधितजङ्घश्च वैष्णवं स्थानमुच्यते ।

स्थानेनानेन कर्तव्यः संलापस्तु स्वभावतः ।

VD 3-23-2, 3

प्रधानं सौष्ठवं पादावेकतालान्तरीं समौ ।

यत्र तत्समपादं स्याच्चतुराननदेवतम् । SR 1041

समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ।

स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्म चात्राधिदेवतम् । NS 10-57, 58

समपादं तु विज्ञेयं समैस्तालान्तरेः पदैः ।

स्वभावसौष्ठवोपेतं रुद्रब्रह्माधिदेवतम् । VD 3-24-3, 4

धनुर्वज्रादिशस्त्राणां प्रयोगे गजवाहने । SR 1047

धनुर्वज्राणि शस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् । NS 10-65

धनुर्वज्रप्रहरणं मण्डलेन प्रयोजयेत् । VD 3-24-10

वामो यत्र निषण्णोरुम्बरे पूर्वमानतः ।

दक्षिणश्वरणश्चाग्रे पञ्चतालं प्रसारितः ।

अथौ द्वावपि तद्विद्यादालीढं रुद्रदेवतम् । SR 1049, 1050

अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चतालान् प्रसार्य च ।

आलीढं स्थानकं कुर्याद्ब्रह्मात्राधिदेवतम् । NS 10-66, 67

आदौ च दक्षिणं पादं पञ्चतालं प्रसारयेत् ।

आलीढं नाम तत्स्थानं रुद्रकाल्यत्र देवतम् । VD 3-24-11

आलीढाङ्गविपर्यासात्प्रत्यालीढमुदीरितम् । SR 1052

आलीढपरिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम् । NS 10-69

आलीढं परिवर्तन्ते प्रत्यालीढमिति स्मृतम् । VD 3-24-16

वामस्तलान्तरस्थ्यश्रो दक्षिणश्वरणः समः ।

प्रसन्नं वदनं वक्षः समुज्जतमनुग्रता ।

कटीनितम्बगो हस्तो दक्षिणोऽन्यो लताकरः । SR 1055, 1056

तालमात्रान्तरन्यस्तस्त्र्यश्रः (व)क्षगतोऽपरः ।

प्रसन्नमाननमुरः समं यत्र समुज्जतम् । VD 3-24-19, 20

लतानितम्बगौ हस्तौ स्थानं ज्ञेयं तदायतम् ।

रत्नावतरणारम्भे पुष्पाञ्जलिविसर्जने । SR 1058

रत्नावतरणे ह्येतत्तथा पुष्पाञ्जलौ भवेत् । VD 3-24-20

भारतः सात्त्वतो वार्षगण्यः कैशिकसंज्ञकः । SR 1125

भारतः सात्त्वतश्चैव वार्षगण्योऽथ कैशिकः । NS 10-71

अमरास्कन्दितावतशकटास्यानि चाङ्कितम् ।

समोत्सरिमध्यर्धमेडकाक्रीडितं ततः ।

पिष्टकुट्टं चाषगतं भौमानीति दशावदन् । SR 1143, 1144

अमरास्कन्दिते स्यातां मार्दवं च ततः परम् ।

समासरितमित्याहुरेडकाक्रीडितं तथा ।

पिष्टकुट्टं च विज्ञेयं तथा चाषगतं पुनः । VD 3-20-26, 27, 28



Central Archaeological Library,

NEW DELHI.

35969

Call No. 5a 75 / Ser. Sub.

Author— by Pt. S. S. Sastri

Title— *Sangitmakara*

| Borrower No. | Date of Issue | Date of Return |
|--------------|---------------|----------------|
| Sh. D. P. | 11/7/22 | 25.7.22 |

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.